अनुक्रमणिका

क्रम	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1.	आधारभूत संकल्पनाएं	**1 - 2**
2.	भारतीय संविधान का विकास एवं विशेषताएं	**3 - 19**
3.	संविधान के भाग एवं अनुसूचियाँ	**20 - 23**
4.	संविधान की उद्देशिका	**24 - 27**
5.	परिसंघ प्रणाली	**28 - 35**
6.	नागरिकता	**36 - 39**
7.	मौलिक अधिकार	**40 - 69**
8.	राज्य के नीति निदेशक तत्व	**70 - 77**
9.	मूल कर्त्तव्य	**78**
10.	विधायिका	**79 - 106**
11.	कार्यपालिका	**107 - 133**
12.	न्यायपालिका	**134 - 156**
13.	संघ राज्य संबंध	**157 - 169**
14.	निर्वाचन	**170 - 178**
15.	स्थानीय शासन	**179 - 187**
16.	साझा सरकार	**188 - 193**
17.	दबाव एवं हित समूह	**194 - 196**
18.	विविध	**197 - 204**
19.	संविधान में संशोधन	**205 - 215**
20.	अधिकरण एवं आयोग	**216 - 234**
21.	सुशासन	**235 - 240**
22.	सामाजिक न्याय	**241 - 248**
23.	मुख्य परीक्षा हेतु अभ्यास प्रश्न	**249 - 263**

1. आधारभूत संकल्पनाऐ

राजनीति (Politics)

देश/राज्य की नीति को निर्धारित करने वाली संस्था/प्रणाली राजनीति कहलाती है। ये नीतियाँ किसी राज्य या राष्ट्र को आंतरिक अथवा बाह्य रूप से प्रभावित करती हैं। इसके द्वारा सामाजिक, आर्थिक विकास की दिशा निर्धारित की जाती है।

राज्य (State)

राजनीतिक संदर्भ में राज्य को परिभाषित क्षेत्र, स्थाई जनसंख्या, सरकार तथा संप्रभुता के आधारों पर विभाजित किया जाता है, लेकिन भारतीय संविधान के अनुछेद 12 में राज्य को शासकीय संदर्भ में परिभाषित किया गया है। इस कारण राज्य की परिभाषा में निम्नलिखित अवयवों की पहचान की जाती है-

1. विधायी अवयव: संसद एवं राज्य वियायिका
2. कार्यपालिका अवयव: केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार
3. अन्य अवयव: स्थानीय एवं अन्य प्राधिकारी।

राष्ट्र (Nation)

जिसकी अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि होती है उसे राष्ट्र कहते हैं। जहाँ राज्य के लिए चार अवयवों (परिभाषित क्षेत्र, स्थाई जनसंख्या, सरकार तथा संप्रभुता) की आवश्यकता होती है वहीं राष्ट्र के लिए उपरोक्त अवयव अनिवार्य नहीं हैं। उदाहरण: फिलीस्तीन को एक राष्ट्र के रूप में मान्यता प्राप्त है वहीं इजरायल को एक राज्य के रूप में मान्यता प्राप्त है।

संविधान (Constitution)

किसी देश की जनता की अभिव्यक्ति का प्रतीक संविधान कहलाता है। संविधान में संबंधित देश की जनता की शक्ति अधि ग्रहित होती है। यह संविधान देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों को दिशा प्रदान करता है। संविधान लिखित (जैसे अमेरिका, भारत) एवं अलिखित (जैसे यू.के) प्रकार का होता है। अलिखित संविधान विकास की सतत प्रक्रिया का परिणाम होता है जबकि लिखित संविधान एक निश्चित समय में लिखा जाता है। अत: लिखित संविधान सतत विकास की प्रक्रिया का परिणाम नहीं है जैसे भारत का संविधान एक निश्चित समय सीमा में लिखा गया।

प्रभुतासम्पन्न (Sovereignty)

उद्देशिका के अनुसार भारत के लोगों ने भारत को एक प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक धर्म-निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य बनाने का निश्चय किया है। 'प्रभुतासम्पन्न' शब्द इस बात का द्योतक है कि भारत आन्तरिक या बाह्य दृश्टि से किसी भी विदेशी सत्ता के अधीन नहीं है। यह सम्प्रभुता भारत की जनता में निहित है। भारत अपनी विदेशी-नीति के मामले में पूर्णतया स्वतंत्र है। वह किसी देश से मित्रता और सन्धि कर सकता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी भारत राष्ट्रमण्डल (Commonwealth) का सदस्य है, किन्तु यह सदस्यता भारत की सम्प्रभुता पर अंशमात्र भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालती है। भारत ने इसकी सदस्यता को अपनी इच्छा से स्वीकार किया है और वह जब चाहे इसकी सदस्यता से अपने को अलग कर सकता है।

'पंथ-निरपेक्षता' (Secularism)

पंथनिरपेक्षता शब्द 42वें संविधान संशोधन द्वारा भारतीय संविधान में जोड़ा गया है। 'पंथ-निरपेक्ष' की धारणा संविधान में प्रयुक्त ''विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता'' की पदावली में पहले से ही अन्तर्निहित थी। प्रस्तुत संशोधन द्वारा उसे स्पष्ट कर दिया गया है। 'पंथ-निरपेक्ष' राज्य से तात्पर्य ऐसे राज्य से है जो किसी विशेष धर्म को राजधर्म के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करता है। वरन् सभी ध र्मों के साथ समान व्यवहार करता है और उन्हें समान संरक्षण प्रदान करता है। धर्म मानने, आचरण करने तथा प्रचार करने में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है।

Aruna Roy बनाम **भारत संघ 2002** के मामले में अपने हाल के निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है कि 'पंथ निरपेक्षता का सकारात्मक अर्थ है जिसके अनुसार सभी धर्मों का ज्ञान होना और उनके प्रति आदर का भाव होना चाहिए और उनके प्रति आपस में आदर की भावना का बीज पैदा करना है। संविधान की उद्देशिका तथा अनु. 25 से 30 और भाग 4A में पंथनिरपेक्षता शब्द जोड़ा गया

है। संविधान के 50 वर्षों के कार्यकाल में इसका तात्पर्य सभी धर्मों के प्रति तटस्थता और उपेक्षा माना गया। किन्तु इससे हम विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों के बीच आपसी गलतफहमी को दूर करने तथा एक-दूसरे के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करने में विफल रहे। अत: हमें पंथनिरपेक्षता का सकारात्मक अर्थ लेना चाहिए जिसके अनुसार नागरिकों को धर्म का ज्ञान कराया जाना चाहिए ताकि उनमें एक-दूसरे के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो।

'समाजवाद' (Socialism)

समाजवाद शब्द भी 42वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया है। उद्देशिका में प्रयुक्त ''आर्थिक न्याय'' पदावली में समाजवाद की अवधारणा अन्तर्निहित है। संविधान-निर्माताओं ने इस 'आर्थिक न्याय' पदावली की कोई निश्चित परिभाष नहीं दी है। देश में किस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था की स्थापना की जाये, इसको सरकार बनाने वाले लोगों पर छोड़ दिया गया था। प्रस्तुत संशोधन इस 'आर्थिक न्याय' को एक निश्चित दिशा देता है।

'समाजवाद' शब्द की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है। समाजवादी और लोकतांत्रिक दोनों प्रकार के संविधानों में इस शब्द का सामान्यत: प्रयोग किया जाता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि समावादी व्यवस्था में उत्पादन के मुख्य साधनों पर सरकार का नियंत्रण होता है। नियंत्रण की मात्रा कितनी अधिक या कितनी कम है। भारतीय संविधान ने इस दिशा में एक बीच का मार्ग अपनाया है, जिसे आश्रित अर्थव्यवस्था कहते हैं। भारतीय समाजवाद लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के प्रयास में अग्रसर है। प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द के साथ 'लोकतांत्रिक' शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है। लोकतंत्र और समाजवाद के इस अनोखे सामंजस्य के प्रयास की परिकल्पना इस दिशा में एक नवीन कदम है।

डी.एस. नकारा बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि समाजवाद का मूल तत्व कमजोर वर्ग और कर्मकारों के जीवन-स्तर को ऊँचा करना है और उनके लिए जन्म से मृत्यु तक सामाजिक सुरक्षा की गारण्टी देना है। इसका अर्थ आर्थिक समानता एवं आय के समान वितरण से है। यह गाँधीवाद और मार्क्सवाद का अनोखा मिश्रण है जो निश्चित रूप से गाँधीवाद की ओर झुका हुआ है। यही वहीं समाजवाद का स्वरूप है जिसकी स्थापना हम भारत में करना चाहते है।

लोकतंत्र (Democracy)

लोकतंत्र शब्द इस बात का परिचायक है कि भारत की सरकार की शक्ति का स्त्रोत भारत की जनता है। लोकतन्त्रात्मक सरकार जनता की, जनता के लिए तथा जनता के द्वारा स्थापित सरकार है। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि देश का शासन चलाते हैं। वे जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सामान्यत: पाँच वर्ष बाद जनता को अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अवसर मिलता है। विश्व में मुख्यतया दो प्रकार की लोकतांत्रिक शासन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं-प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष लोकतांत्रिक प्रणाली में विधिक राजनीतिक सम्प्रभुता का प्रयोग जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि करते हैं। प्रत्यक्ष लोकतं.त्र से आशय Recall System से है जिसमें निर्धारित कार्यकाल से पूर्व भी जनता द्वारा अपने चुने गए प्रतिनिधियों को वापस बुलाया जा सकता है उदाहरणस्वरूप स्विटजरलैंड भारत में अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि-प्रणाली को अपनाया गया है। इस प्रणाली में जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से सरकार चलती है।

'गणतन्त्र' (Republic)

गणतंत्र शब्द से स्पष्ट है कि भारत में वंशानुगत राज की परम्परा का अन्त हो गया है। भारत का राजाध्यक्ष जनता का अप्रत्यक्ष चुना हुआ प्रतिनिधि होता है। भारत का राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि (5वर्ष) के लिए चुना जाता है। देश की समस्त कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है; किन्तु वह उसका प्रयोग-मंन्त्रिमण्डल के परामर्श से करता है।

'अखण्डता' (Integrity)

अखण्डता शब्द भी 42वें संविधान संशोधन द्वारा समाविष्ट किया गया है। इस शब्द का समावेश पृथकतावादी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए किया गया है। यह उपधारणा संविधान की संघात्मक प्रवृत्ति में ही निहित है। अनुच्छेद 1 में प्रयुक्त ''भारत राज्यों का एक संघ होगा'' पदावली का प्रयोग संविधान के जनकों ने इसी उद्देश्य से किया है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीयों संघ के किसी भी राज्य को अलग होने का अधिकार नहीं है। यही नहीं, संविधान किसी भी व्यक्ति की देश की अखण्डता के विरूद्ध कुछ भी कहने या ऐसा करने के लिए उत्प्रेरित करने से वर्जित करता है अनुच्छेद 19 के अन्तर्गत राज्य को नागरिकों की स्वतंत्रताओं पर देश की 'अखण्डता' के आधार पर युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने की शक्ति प्राप्त है।

2. भारतीय संविधान का विकास एवं विशेषताऐ

भारत का संविधान एक दिन की उपज न होकर वर्षों के अनुभव का प्रकाश-पुंज है। इसकी जड़ें स्वतंत्रता के वट-वृक्ष की जड़ों से जकड़ी हुई हैं। इसका इतिहास ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ प्रारम्भ होकर इतिश्री सन् 1950 में होता है।

अन्य राष्ट्रों की भांति भारत के संविधान में भी नागरिकों के अधिकारों की रक्षा, उनके व्यक्तित्व के विकास आदि से संबंधित उपबंध किये गये हैं। साथ ही, शासन व्यवस्था एवं नागरिकों के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या भी संविधान का एक अभिन्न अंग है। प्राचीन भारत में भी वस्तुतः संवैधानिक तंत्र कमोवेश विकसित रहा था। हांलाकि आधुनिक संविधान की भांति उसमें विशिष्ट उपबंध नहीं थे लेकिन शासन, पद्धति की नियमावली के अनुरूप ही कार्य किये जाते थे।

प्राचीन काल में धर्म की सर्वोच्चता भी शासन पद्धति की नियमावली के अनुरूप ही रही है। भारत के आधुनिक संविधान का विकास ईस्ट इंडिया कंपनी के दृष्टिकोण में परिवर्तन से प्रारंभ होता है। आरंभिक चरणों में यह कंपनी पूर्णतः व्यापारिक थी लेकिन कालांतर में इसने अपने दृष्टिकोण को राजनीतिक स्वरूप प्रदान किया। ईस्ट इंडिया कंपनी को दिये गये शासनाधिकार के संबंध में सन् 1773 के **रेग्यूलेटिंग एक्ट** का विशेष महत्व है। इस कानून के प्रावधानों के अनुरूप बंगाल के गवर्नर जनरल को ब्रिटिश अधिकार वाले सभी क्षेत्रों का गवर्नर जनरल बना दिया गया था। साथ ही, ब्रिटिश संसद को कंपनी के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी प्राप्त हो गया। सन् 1773 के नियामक कानून (Regulating Act) की विसंगतियों को दूर करने के मूल उद्देश्य से सन् 1781 में एक संशोधन कानून पारित किया गया। इस कानून के तहत यद्यपि गवर्नर जनरल के अधिकारों में वृद्धि हो गई लेकिन अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया।

रेग्यूलेटिंग एक्ट, 1773 (Regulating Act 1773)

पृष्ठभूमि

इस अधिनियम के द्वारा बंगाल में गर्वनर को बंगाल का गवर्नर जनरल पद नाम दिया गया।

सन् 1765 में शाह आलम द्वारा कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का दीवानी अधिकार प्रदान कर दिया गया। जिससे इन प्रदेशों का वास्तविक प्रशासन कम्पनी के हाथों में आ गया। कंपनी के अधिकारियों ने इस अवसर का लाभ उठाकर भारतवासियों का शोषण शुरू कर स्व-हित के लिए अधिक से अधिक धन एकत्रित करना शुरू कर दिया। इससे कंपनी का व्यापार घाटे में जाने लगा। इसलिए ब्रिटिश संसद ने एक समिति गठित की जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप ब्रिटिश संसद ने यह एक्ट पारित किया।

21 जून, 1773 से प्रभावी इस कानून के जरिए निम्नांकित उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रावधान किया गया था:-

1. ईस्ट इंडिया कंपनी के संविधान में सुधार
2. भारत में कंपनी की सरकार में सुधार
3. कंपनी के कर्मचारियों द्वारा भारत में की जाने वाली अनियमितताओं के विरूद्ध उपचार

कानून के तहत किए गए प्रावधान

1. **गवर्नर जनरल तथा परिषद:-** एक गवर्नर तथा परिषद के स्थान पर कलकत्ता में एक गवर्नर जनरल तथा चार-सदस्यीय एक परिषद की स्थापना की गई। परिषद् द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों के लिए बहुमत को आधार बनाया गया था। मतों को समानता की स्थिति में गवर्नर जनरल अथवा उसकी अनुपस्थिति में वरिष्ठतम पार्षद को निर्णायक मत देने का अधिकार था।
2. **परिषद के कार्य और अधिकार:-** कलकत्ता प्रेसीडेन्सी तथा बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रांतों में कंपनी द्वारा अधिगृहीत भूमि तथा राजस्व से संबंधित आदेश, प्रबंधन तथा प्रशासन के लिए सैन्य तथा असैन्य सभी शक्तियां गवर्नर जनरल तथा परिषद् में निहित थीं।
3. **मद्रास तथा बम्बई परिषदों पर नियंत्रण:-** मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेंसी पर नियंत्रण का अधिकार गवर्नर जनरल तथा परिषद् को सौंप दिया गया। इन्हें यह अधिकार नहीं था कि वे किसी भी राज्य के साथ संधि/ समझौता अथवा उसके विरूद्ध युद्ध की

PERFECTION IAS

घोषणा कर सकते थे। प्रशासन तथा राजस्व एवं अन्य संबंधित मामलों में गवर्नर जनरल तथा परिषद् के निर्णयों को उनपर बाध्यकारी बना दिया गया।

4. **परिषद् की विधायी शक्तियां:-** कानून और व्यवस्था बनाए रखने तथा बेहतर प्रशासन के लिए परिषद् को नियम तथा विनियम बनाने की शक्ति प्राप्त थी। इन शक्तियों का प्रयोग निम्नांकित के सापेक्ष किया जा सकता था:-

1. बनाए गए नियम इंगलैंड में प्रचलित कानूनों से असंगत नहीं हो सकते थे।
2. उच्चतम न्यायालय में पंजीकृत तथा प्रकाशित होने के बाद ही प्रभावी हो सकते थे।
3. पंजीकरण की तिथि से 60 दिनों की अवधि में उच्चतम न्यायालय में दिए गए आवेदन के आधार पर नियमों तथा विनियमों को राजा तथा उसकी परिषद् द्वारा निरस्त किया जा सकता था।
4. उच्चतम न्यायलय कानून की धारा 13 के तहत कलकत्ता में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया। न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीश नियुक्त थे। न्यायालय के पास निम्नांकित प्रकार की अधिकारिता थी:-

(A) दीवानी अधिकारिता (Civil Jurisdiction)

यह अधिकारिता दो प्रकार की थी:- क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक। कलकत्ता प्रेसीडेंसी में क्षेत्रीय तथा उसके बाहर वैयक्तिक अधिकारिता प्रभावी थी। क्षेत्रीय अधिकारिता के तहत प्रेसीडेंसी में सभी व्यक्तियों तथा सभी मामलों में न्यायालय को सुनवाई का अधिकार था जबकि वैयक्तिक अधिकारिता में निम्नांकित श्रेणियों में ही मामला दायर किया जा सकता था-

- ईस्ट इंडिया कंपनी
- मेयर
- बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा प्रांत में किसी व्यक्ति द्वारा रखी गई संपत्ति।

(B) दांडिक अधिकारिता (Criminal Jurisdiction)

कलकत्ता, बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में रहने वाले सभी ब्रिटिश नागरिकों पर न्यायालय की दांडिक अधिकारिता प्रभावी थी। अन्य स्थानीय तथा मूल निवासियों पर इसका प्रभाव नहीं था। गवर्नर जनरल अथवा पार्षदों अथवा न्यायाधीशों के विरूद्ध धोखाधड़ी अथवा जघन्य अपराधों को छोड़कर अन्य मामलों में दांडिक अधिकारिता प्रभावी नहीं थी।

इन अधिकारिताओं के अतिरिक्त न्यायालय को यह अधिकार भी प्राप्त था कि वह भारत में ब्रिटिश नागरिकों विशेषकर बच्चों की देखभाल तथा संपत्ति के रख-रखाव के मामले में अभिभावकों एवं रक्षकों की नियुक्ति कर सकता था। इसी प्रकार, सभी सामुद्रिक अपराधों की सुनवाई का अधिकार भी न्यायालय को प्राप्त था।

उच्चतम न्यायालय की विशेषताओं में निम्नांकित प्रमुख थे

(i) भारत में पहले ब्रिटिश न्यायालय के रूप में स्थापना जिसमें अधिवक्ता-न्यायाधीश नियुक्त किए गए।

(ii) भारत में कंपनी की सरकार से पूर्णत: स्वायत्त संस्था के रूप में कार्यरत।

(iii) अत्यधिक विस्तृत अधिकारिता के कारण अत्यन्त प्रभावशाली।

(iv) विधि के शासन की स्थापना में सबसे महत्वपूर्ण योगदान देने वाली संस्था।

अधिनियम की आलोचना

1. गर्वनर जनरल नियुक्त करने के साथ ही उस पर एक परिषद भी थोप दी गई जिससे वह पूर्णतया असहाय हो गया।
2. अधिनियम ने न्यायालय तो स्थापित कर दिया परन्तु उसे कौन से कानून के अनुसार चलना है (भारतीय अथवा ब्रिटिश) यह निश्चित नहीं किया और न ही परिषद तथा न्यायालय का अधिकार क्षेत्र निश्चित किया गया।

अधिनियम का महत्व

PERFECTION IAS

1. इसके द्वारा बंगाल, मद्रास तथा बम्बई में एक ईमानदार तथा कुशल प्रभुसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।
2. कंपनी के अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरूपयोग न कर सकें, इस उद्देश्य से उन्होंने कलकत्ता में एक उच्च न्यायालय भी स्थापित कर दिया।

बंदोबस्त कानून, 1781 (The Act of Settlement, 1781)

- हांलाकि इस कानून ने न तो सरकार और न ही उच्चतम न्यायालय के ढाँचे में परिवर्तन किया लेकिन रेग्यूलेटिंग एक्ट में कई आवश्यक संशोधन किए।
- कलकत्ता सरकार को बंगाल, उड़ीसा और बिहार के लिए भी विधि बनाने का प्राधिकार प्रदान किया गया।
- गवर्नर जनरल तथा परिषद् को उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता से बाहर रखने का प्रावधान।
- उन सभी व्यक्तियों को, जो गवर्नर जनरल तथा परिषद् के आदेश पर कार्यरत थे, न्यायालय की अधिकारिता से बाहर रखने का प्रावधान।
- राजस्व से संबंधित सभी मामलों को न्यायालय की अधिकारिता से बाहर रखने का प्रावधान।
- हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिए उनके वैयक्तिक कानूनों के आधार पर निपटारे का प्रावधान।
- सन् 1772 में स्थापित सदर दीवानी अदालत को अभिलेखीय न्यायालय का दर्जा।
- गवर्नर जनरल तथा परिषद् की विधायी शक्तियों का विस्तार। अब वे बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा प्रांतों के लिए भी नियम-विनियम बना सकते थे।

पिट्स इंडिया एक्ट, 1784 (The Pitt's India Act, 1784)

- ब्रिटिश संसद ने कंपनी के ऊपर नियंत्रण को बढ़ाने के उद्देश्य से यह एक्ट पारित किया।
- एक्ट द्वारा कंपनी के व्यापारिक एवं राजनीति कार्यकलापों को एक-दूसरे से पृथक कर दिया गया।
- व्यापारिक कार्यों का प्रबंधन कंपनी के निदेशकों के हाथों में ही रहने दिया लेकिन इस पर राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित करने हेतु एक ''बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल'' की स्थापना की। जिसके सदस्यों की नियुक्ति इंग्लैण्ड का सम्राट करता था

इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को आपातकाल में कार्यकारिणी परिषद के बहुमत की अवहेलना कर निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त हो गया। कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की संख्या 4 से 3 कर दी गई तथा उच्चतम न्यायालय के कार्यक्षेत्र को और अधिक स्पष्ट कर दिया गया। परिषद को गैर-हस्तक्षेप की नीति के अनुपालन के निर्देश दिये गये।

चार्टर एक्ट, 1793 (Charter Act, 1793)

ब्रिटिश संसद द्वारा 1793 में चार्टर एक्ट पारित किया गया। इसके आधार पर कंपनी को भारत में 20 वर्षों के लिए व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया गया। साथ ही, गवर्नर जनरल की शक्तियों में भी वृद्धि की गई और सहयोगी प्रेसीडेंसियों पर भी अधीक्षण का अधिकार दिया।

चार्टर एक्ट, 1813 (Charter Act 1813)

इस अधिनियम के तहत ब्रिटिश संसद ने कंपनी को कमोबेश भारत का प्रशासक बना दिया। ब्रिटिश अधिकार वाले भारतीय क्षेत्रों को सर्वप्रथम परिभाषित किया गया। इनके अतिरिक्त अन्य अंग्रेज व्यापारियों को भी भारत में व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया गया तथा ईसाई पादरियों को भारत में धर्म प्रचार की अनुमति भी प्राप्त हुई।

चार्टर एक्ट, 1833 (Charter Act 1833)

इस अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारत में कंपनी के व्यापारिक

PERFECTION IAS

अधिकारों की समाप्ति थी तथा भारत के क्षेत्रों पर कंपनी को अगले 20 वर्षों के लिए प्रशासनिक अधिकार प्रदान किये गये। बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया। कार्यकारिणी परिषद में सदस्यों की संख्या में एक सदस्य की वृद्धि की गई। इस नये सदस्य को विधि सदस्य की संज्ञा दी गई। इसी अधिनियम के द्वारा भारत में अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया था। इस निर्णय ने भारत में पश्चिमी शिक्षा तथा संस्कृति के आगमन में विशिष्ट भूमिका निभाई। इस अधिनियम द्वारा सरकारी सेवा में अर्हता का उपबंध भी किया गया।

चार्टर एक्ट, 1853 (Charter Act 1853)

इस अधिनियम ने कार्यपालिका एवं विधायी शक्तियों को पृथक करने का एक निश्चित कदम उठाया।

- भारत के लिए एक पृथक् विधान परिषद् की स्थापना की गई
- सर्वप्रथम् भारतीय विधान परिषद् में क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त प्रारंभ किया गया।

इस अधिनियम के द्वारा कंपनी के संचालकों की संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गई जिनमें से 6 का मनोनयन ब्रिटिश साम्राज्ञी द्वारा किया जाना था। विधायी कार्यों के लिए गवर्नर जनरल की परिषद में सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई। भारत के गवर्नर जनरल के अतिरिक्त बंगाल के लिए एक नये गवर्नर की नियुक्ति की गई।

भारतीय शासन अधिनियम, 1858 (The Government of India Act 1858)

पिट्स इंडिया एक्ट ने जिस उद्देश्य से दोहरी सरकार की स्थापना की थी, वह पूरा न हो सका। बोर्ड ऑफ कंट्रोल कंपनी के ऊपर नियंत्रण नहीं रख सका। कंपनी की सरकार एक गैर जिम्मेदार सरकार की तरह कार्य करती रही। इसी समय जब परिस्थितियां कंपनी के विरूद्ध थीं, 1857 की राज्यक्रान्ति हुई, जिसने कंपनी के शासन को एक तरह से समाप्त कर दिया। ब्रिटिश संसद ने इसी पृष्ठभूमि में विचार विमर्श करने के बाद 1858 में ''एक्ट फॉर दी बेटर गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया'' के नाम से एक अधिनियम पारित किया।

प्रावधान

A. भारत के शासन को कंपनी के हाथों से सीधे सम्राट को हस्तान्तरित कर दिया गया। अब भारत का शासन इग्लैण्ड की सम्राज्ञी के नाम से किया जाने लगा।

B. बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स एवं बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के पद को समाप्त कर दिया गया तथा समस्त अधिकार **भारत सचिव** (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) को सौंप दिए गए जो ब्रिटिश संसंद के प्रति उत्तरदायी था।

C. भारत सचिव एक 15 सदस्यीय परिषद् (भारत परिषद्) द्वारा भारत का प्रशासन चलाता था।

- भारत के प्रशासन का ब्रिटिश सम्राट के हाथों में हस्तान्तरण का कार्य इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी की एक ''राजकीय घोषणा'' द्वारा किया गया। जिसका भारतीय संवैधानिक विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

अधिनियम की आलोचना

1. इस अधिनियम द्वारा विधि निर्माण की प्रणाली त्रुटिपूर्ण थी। भारतीयों को विधानसभा में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। गवर्नर जनरल की परिषद ही अन्य प्रान्तों के लिए विधि निर्माण करती थी।
2. विधानसभा को न तो प्रान्तों की क्षेत्रीय परिस्थितियों का पूरा ज्ञान ही था और न ही इनके लिए विधि बनाने का समय ही मिल पाता था।

- किन्तु, निश्चित रूप से इस अधिनियम ने भारतीय इतिहास के एक नए युग का सूत्रपात किया। जिसने भारतीय सांविधानिक विकास को एक दिशा और गति प्रदान की।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 (The Indian Council Act, 1861)

भारतीय संसद की मांग के संदर्भ में ब्रिटिश संसद ने प्रशासन में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से भारतीय परिषद

PERFECTION IAS

अधिनियम पारित किया। इसके द्वारा यह व्यवस्था की गई कि भारत में कानून बनाने के कार्य में गवर्नर जनरल के सहायतार्थ उसके परिषद में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी जाये जो कम से कम 6 तथा अधिक से अधिक 12 हो। इनमें से कम से कम आधे गैर-सरकारी होने चाहिए जो अंग्रेज अथवा भारतीय, दोनों हो सकते थे। कमांडर-इन-चीफ को परिषद का अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किया गया।

भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 (The Indian Council Act, 1892)

इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय विधानपरिषद की सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। परोक्ष निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की गई तथा सदस्यों को बजट पर वाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार दिया गया। विश्वविद्यालयों, जिला परिषदों, नगरपालिकाओं, जमींदारों तथा वाणिज्य मंडलों को सदस्यों के नाम अग्रसारित करने का अधिकार भी इस अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया।

मार्ले-मिन्टो सुधार, 1909 (The Morley-Minto Reforms, 1909)

1892 ई. के सुधारों से कांग्रेस की मांगों की पूर्ति नहीं हुई तथा लोगों में असन्तोष बढ़ा। लार्ड कर्जन की साम्राज्यवादी तथा कठोर नीतियों, जिसका एक परिणाम बंगाल विभाजन भी था, से लोगों में अंग्रेजी राज के प्रति आंदोलन की भावना प्रबल हुई। ब्रिटिश संसद ने यह सब देखते हुए नये सुधार प्रस्ताव बनाये जो सन् 1909 के एक्ट के रूप में पारित हुए।

भारतीय परिषद अधिनियम के पश्चात् पारित होने वाला अधिनियम सन् 1909 का परिषद अधिनियम था जिसे मार्ले-मिन्टो सुधार भी कहा जाता है। 1909 के अधिनियम द्वारा भारतीयों को प्रशासन तथा विधि निर्माण के कार्यों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य एस.पी. सिन्हा की नियुक्ति की गई। साथ ही, निर्वाचित एवं नामजद सदस्यों का समन्वय किया गया। इसके तहत निम्नांकित प्रमुख निर्णय लिये गये :

(i) केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान परिषदों की विधायी शक्ति को बढ़ा दिया गया।

(ii) विधान परिषदों के सदस्यों को बजट पर चर्चा करने एवं प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया, किन्तु उनको बजट पर मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं था।

(iii) केन्द्रीय तथा प्रांतीय परिषदों की सदस्य संख्या में वृद्धि की गई की गई।

(iv) निर्वाचन के सिद्धांतों को मान्यता एवं पृथक् निवचिन पद्धति की शुरूआत।

(v) अप्रत्यक्ष निर्वाचन

(vi) विदेशों से संबंद्ध, देशी राजाओं से संबंद्ध तथा न्यायालयों में लंबित मामलों पर बहस वर्जित थी।

आलोचना

1. बहुत सी विशेषताओं के बाबजूद इन सुधारों से भारतीय राजनैतिक प्रश्न का कोई हल नहीं निकला। वास्तविक शक्ति सरकार के पास रही और परिषदों को केवल आलोचना के अधिकार के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।
2. इसके द्वारा ब्रिटिश संसद ने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल बनाये जिसने पृथकता के बीजारोपण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके आधार पर मुस्लिम मतदाता पृथक निर्वाचन मण्डल के माध्यम से अपने प्रतिनिधि प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान मण्डलों के लिए चुन सकते थे जबकि साधारण मतदाता को अप्रत्यक्ष रूप से ही अपने प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार था। इस आधार पर स्पष्ट है कि इन सुधारों ने भारत में सांम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली विकसित की।
3. इस अधिनियम के द्वारा कई प्रकार के सुधार किये गये लेकिन इनका उद्देश्य संसदीय लोकतंत्र की स्थापना करना नहीं था वस्तुतः यह अधिनियम भारतीयों की एक उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना की मांग को पूरा करने में असफल रहा।

मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार अधिनियम, 1919/भारत शासन अधिनियम, 1919 (The Montague-Chelmsford Reform Act, 1919/The Government of India Act, 1919)

भारत के सांविधानिक विकास में मोटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन का महत्वपूर्ण स्थान है जिसने आगे चलकर भारत शासन अधिनियम,

1919 का रूप लिया।

कारण :–प्रथम विश्व युद्ध के कारण ब्रिटेन पर बढ़ता दबाव, कांग्रेस की सक्रियता, होम रूल लीग आंदोलन, कांग्रेस–मुस्लिम लीग समझौता, खिलाफत आंदोलन आदि ऐसे महत्वपूर्ण कारण थे। जिनकी वजह से ब्रिटिश सरकार ने 20 अगस्त, 1917 को यह घोषणा की कि हिज मैजेस्टी की सरकार की नीति यह है कि ''प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को अधिकाधिक सम्मिलित किया जाये और धीरे–धीरे स्वतंत्र संस्थाओं का विकास किया जाये जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य भाग के रूप में ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जा सके।

विधिक रूप :–इसके परिणामस्वरूप तत्कालीन भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट मांटेग्यू और गवर्नर जनरल लार्ड चेम्सफोर्ड को उक्त नीति के क्रियान्वयन के लिए प्रस्ताव बनाने का कार्य सौंपा गया एवं इनकी सिफारिशों को एक विधिक रूप भारत शासन अधिनियम में प्रदान किया गया।

विशेषताएं

1. द्वैध शासन प्रारम्भ
2. द्विसदनीय केन्द्रीय विधानमण्डल।
3. मुसलमानों के अतिरिक्त यूरोपीय, सिख आदि को भी पृथक निर्वाचन पद्धति का विस्तार।
4. वायसराय की कार्यकारिणी के 8 सदस्यों में से 3 सदस्य भारतीय होने थे, इन्हें कुछ सरकारी विभाग दिये गये।
5. भारत के लिए ब्रिटेन में एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की गई।
6. भारत सचिव के भारतीय शासन में नियंत्रण को कुछ शिथिल किया।
7. भारत राज्य सचिव को भारतीय राजस्व से वेतन मिलता था वह अब भारत की बजाय ब्रिटेन के राजकोष से दिया जाने लगा।

इसे भारत शासन अधिनियम, 1919 भी कहा जाता है। इसका उद्देश्य प्रांतों में उत्तरदायी शासन पद्धति का निर्माण करना नहीं था। हांलाकि अंग्रेजों ने सदैव इस दिशा में दावे किये थे।

(i) वस्तुतः एक नई प्रणाली का विकास किया गया जिसे **द्वैध शासन** (Dyarchy) कहा जाता है। इसके अनुसार, प्रशासन के विषयों को दो सूचियों में विभक्त किया गया : केन्द्रीय तथा प्रांतीय। प्रांतीय सूची को पुनः आरक्षित विषय तथा हस्तांतरित विषय के रूप में वर्गीकृत किया गया। कार्यकारिणी परिषद सहित गवर्नर जनरल को आरक्षित विषयों पर नियंत्रण प्राप्त था। हांलाकि वह संसद के प्रति उत्तरदायी था लेकिन संसद में कोई भी भारतीय नहीं था। दूसरी ओर, प्रांतों को जो शक्तियां प्रदान की गईं उसमें परिसंघ प्रणाली जैसा वितरण नहीं था। परिसंघ प्रणाली में केन्द्र, राज्य या प्रांतीय विषयों में अतिक्रमण नहीं कर सकता था।

(ii) केन्द्रीय विधान मंडल को द्विसदनीय बना दिया गया– ''विधानसभा'' और ''राज्य परिषद्'' केन्द्रीय विधान मंडल को सभी विषयों पर विधान बनाने की शक्ति प्राप्त थी। साथ ही, गवर्नर जनरल को यह अधिकार प्राप्त था कि वह विषयों का चयन केन्द्रीय अथवा राज्य सूची के लिए कर सकता था। स्पष्टतः इसे एकल संरचना कहा जा सकता है। केन्द्रीय शासन परिषद सहित गवर्नर जनरल के अधीन था। केन्द्रीय विधान मंडल में राज्य परिषद थी जिसमें 60 सदस्य थे जिनमें से 34 निर्वाचित होते थे। दूसरे सदन को विधान सभा की संज्ञा दी गई थी जिसमें 144 सदस्य थे। इनमें से 104 निर्वाचित तथा 40 मनोनीत होते थे। इस व्यवस्था की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि दोनों सदनों को समान शक्तियां प्राप्त थीं तथा वित्त विधेयक के संबंध में भी दोनों सदनों को समान अधिकार थे।

(iii) अधिनियम में मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल का प्रावधान पूर्व की भांति ही था। इसके अतिरिक्त पंजाब में सिक्खों, भारतीय ईसाइयों तथा आंग्ल भारतीयों और मद्रास के गैरब्राह्मणों के लिए भी पृथक निर्वाचक मंडल का प्रावधान किया गया।

(i) केन्द्र सरकार

केन्द्रीय कार्यपालिकाः– भारत सरकार के अधीक्षण, मार्गदर्शन तथा नियंत्रण की शक्तियां गवर्नर जनरल तथा परिषद् को सौंप दी गईं तथा परिषद् में सदस्यों की संख्या पर लगाया गया नियंत्रण भी समाप्त कर दिया गया। किसी भारतीय को परिषद् में शामिल करने का कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं था। इसी प्रकार, ऐसा कोई प्रावधान नहीं था कि कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी हो।

केन्द्रीय विधानमंडलः– विधानमंडल को भारतीय विधानमंडल की संज्ञा दी गई तथा यह द्विसदनी (Bicameral) थी। उच्च सदन को राज्य परिषद् (Council of States) तथा निम्न सदन को विधान सभा (Legislative Assembly) कहा गया था। परिषद् की अधिकतम संख्या 60 थी जिसमें से 20 अधिकारिक सदस्य थे। इसी प्रकार, विधान सभा की कुल सदस्य संख्या 140 थी जिसमें से 100 निर्वाचित तथा 40 मनोनीत थे। मनोनीत सदस्यों में से 26 अधिकारिक सदस्य थे।

निर्वाचन प्रचलित विधियों के आधार पर किया जाना था। परिषद् का कार्यकाल 5 वर्षों का जबकि विधान सभा का 3 वर्षों का था। गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह विधानमंडल का पूर्व विघटन अथवा उसके कार्यकाल का विस्तार कर सकता था। विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक को कानून का दर्जा देने के लिए गवर्नर जनरल की सहमति अनिवार्य थी। गवर्नर जनरल को आपातकालीन परिस्थितियों में अध्यादेश निर्गत करने की भी शक्ति प्राप्त थी।

(ii) प्रांतीय सरकार

प्रांतीय कार्यपालिकः– प्रांतों में लागू किए गए द्वैध शासन के तहत विभिन्न विषयों को रक्षित तथा अंतरित (हस्तांतरित) श्रेणियों में विभक्त किया गया। राजस्व, न्याय प्रशासन, खनिज संसाधन, पुलिस आदि विषय सुरक्षित थे जबकि स्थानीय स्वशासन, जन स्वास्थ्य, शिक्षा आदि विषय अंतरित (हस्तांतरित) श्रेणी में रखे गए। सुरक्षित विषयों पर गवर्नर जनरल तथा परिषद के दिशा निर्देशों पर जबकि अंतरित विषयों के लिए मंत्रियों के दिशा निर्देशों पर कार्य किए जाते थे। उन व्यक्तियों को मंत्रियों के रूप में नियुक्त करने का प्रावधान था जो न तो पार्षद हों और न ही कोई अन्य पदाधिकारी।

प्रांतीय कार्यपालिका का गठन एक गवर्नर तथा मंत्रि परिषद् से होता था। गवर्नर को भी कई मामलों में विवेकाधिकार प्राप्त थे। यह भी प्रावधान था कि किसी प्रांत में संवैधानिक तंत्र की विफलता की स्थिति में प्रांत की समस्त शक्तियां गवर्नर–जनरल में निहित हो जाती थीं।

विधायिकाः प्रत्येक प्रांत में विधायिका की संरचना भिन्न होती थी। कुल 11 प्रांतों में से 6 में द्विसदनी तथा 5 में एकल सदनी विधायिका थी। द्विसदनी विधायिका के उच्च सदन को विधान परिषद तथा निम्न सदन को विधान सभा कहा जाता था। परिषद् एक स्थायी सदन था जिसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक 3 वर्ष पर सेवा–निवृत होते थे। विधान सभा का कार्यकाल 5 वर्षों का था।

उल्लेखनीय है कि मताधिकार के लिए आर्थिक एवं शैक्षिक योग्यताओं को आधार बनाया गया था तथा केवल 14% जनसंख्या को ही यह अधिकार प्राप्त था।

(iii) प्रांतीय विधानमंडल

प्रांतों के विधानमंडल को विधान परिषद् कहा जाता था जिसमें सदस्यों की संख्या अनिश्चित थी, यथा बंगाल में 139 तथा असम में 50। कुल सदस्यों में से 70 प्रतिशत निर्वाचित तथा अधिकतम 20 प्रतिशत अधिकारिक सदस्य थे।

परिषद् का कार्यकाल 3 वर्षों का था लेकिन राज्यपाल उसका पूर्व विघटन अथवा विस्तार कर सकता था। केन्द्रिय विधानमंडल की भांति राज्य विधानमंडल को अपने क्षेत्र में वित्त संबंधी विषयों सहित अन्य विषयों पर विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त थी। यह अनिवार्य था कि विधेयक को अधिनियमित करने के पूर्व गवर्नर तथा गवर्नर–जनरल की सहमति ली जाए। गवर्नर को यह भी अधिकार था कि वह किसी विधेयक को गवर्नर–जनरल की सहमति के लिए सुरक्षित रख सकता था।

अधिनियम की आलोचना

(i) व्यवहारिक रूप में यह अधिनियम भारतीयों की उत्तरदायी सरकार की माँग को पूरा कर पाने में असफल रहा।

(ii) हालांकि प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई थी, किन्तु केन्द्रीय सरकार का स्वरूप एकात्मक ही बना रहा।

(iii) कोई विषय केन्द्र अथवा प्रांत के प्रशासन क्षेत्र में है या नहीं, इस बात का अन्तिम निर्णय गवर्नर जनरल को प्राप्त था न कि न्यायालयों को।

(iv) साथ ही, इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में स्थापित द्वैध शासन पद्वति भी पूर्णतः असफल रही।

(v) इसके अतिरिक्त अधिनियम के तहत जो मताधिकार प्रदान किया गया था वह सीमित था।

साइमन आयोग–1927 (Simon Commission– 1927)

विदित है कि 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित दोहरी शासन प्रणाली पूर्णतः असफल रही क्योंकि वह भारत में एक उत्तरदायित्व–पूर्ण सरकार की स्थापना न कर सकी। फलस्वरूप, सुधारों की निरन्तर माँग और असहयोग आन्दोलन से उत्पन्न स्थिति के कारण ब्रिटिश सरकार ने 1927 में साइमन आयोग की नियुक्ति की।

उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के आयोग की नियुक्ति हेतु 1919 के अधिनियम में उपबंध था। आयोग में कोई भी भारतीय सदस्य नहीं था। फलतः भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इस कमीशन का बहिष्कार किया।

आयोग की रिपोर्ट से यह स्पष्ट था कि वह भारत में उत्तरदायी केन्द्रीय सरकार की स्थापना के विरूद्ध था। जिसके आधार पर ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि भारतीय राजनैतिक विकास का उद्देश्य डोमिनियन प्रस्थिति देना है। आयोग की रिपोर्ट पर गोलमेज सम्मेलन में विचार किया गया। जो आगे चलकर 1935 के भारत शासन अधिनियम का महत्वपूर्ण आधार बनी।

भारत शासन अधिनियम, 1935 (The Government of India Act, 1935)

राजनीतिक दृष्टिकोण से भारत शासन अधिनियम, 1935 भारतीय संविधान के विकासवाद में विशिष्ट स्थान रखता है। इसके अन्तर्गत केन्द्र में द्वैध शासन स्थापित किया गया था। केन्द्रीय सरकार का स्वरूप परिसंघीय था जिसका गठन ब्रिटिश अधिकार वाले भारतीय क्षेत्रों तथा देशी रियासतों से किया जाना सुनिश्चित था। केन्द्रीय विधान मंडल में दो सदन थे जिन्हें समान शक्तियां प्रदान की गई थीं। राजाओं को अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था। स्थानों का वितरण सांप्रदायिक आधार पर किया गया तथा मुसलमानों को एक तिहाई स्थान प्रदान किये गये। इसी प्रकार एक परिसंघ की संकल्पना के आधार पर परिसंघीय न्यायालय, रिजर्व बैंक तथा परिसंघीय लोक सेवा आयोग का गठन किया गया। सन् 1927 में साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई लेकिन इसके उपरांत सन् 1929 के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की मांग की गई। सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम में प्रथम बार संसदीय प्रणाली की सरकार पूर्णतया क्रियान्वित की गई।

भारत शासन अधिनियम, 1935 को स्वीकार कर लिए जाने के साथ–साथ नेहरू समिति रिपोर्ट में एक उत्तरदायी परिसंघीय सरकार की स्थापना की मांग की गई। उल्लेखनीय है कि संवैधानिक सुधारों पर चर्चा के लिए इंग्लैंड में तीन गोलमेज सम्मेलन आयोजित किए गए थे। हांलाकि पहले दो सम्मेलन सफल नहीं हो सके लेकिन तीसरे सम्मेलन में एक समझौता किया गया तथा 202 पैरा वाले एक श्वेत पत्र जारी किया गया। इस श्वेत पत्र में शामिल तथ्यों में निम्नांकित अत्यंत महत्वपूर्ण थे:–

1. स्वायत्त राज्यों के साथ एक परिसंघ का गठन।
2. केन्द्र तथा राज्यों में उत्तरदायी सरकार का गठन।

श्वेत पत्र पर उठे विवादों को दूर करने के लिए लिंनलिथगो की अध्यक्षता में एक प्रवर समिति गठित की गई जिसकी अनुशंसाओं के आधार पर भारत शासन अधिनियम, 1935 पारित किया गया जिसे 2 अगस्त, 1935 को ब्रिटिश साम्राज्ञी द्वारा अनुमोदित किया गया।

अधिनियम में शामिल तथ्यों में निम्नलिखित को अत्यंत महत्वपूर्ण कहा जा सकता है :–

1. देश का गवर्नर के प्रांतों तथा भारतीयों प्रांतों में विभाजन।
2. विधि निर्माण के लिए विषयों का केन्द्रीय, प्रांतीय एवं समवर्ती विषयों में विभाजन।
3. अवशिष्ट शक्तियों को गवर्नर–जनरल में निहित करने का प्रावधान।
4. शासन व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व होने के कारण एक अर्द्ध–परिसंघीय ढाँचे का निर्माण।
5. परिसंघीय विधायिका में निम्नांकित शामिल थे :–

PERFECTION IAS

(a) ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर-जनरल।

(b) राज्यों की परिषद्।

(c) विधायी सभा।

6. साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का विस्तार मुसलमानों के साथ-साथ सिक्खों, एंग्लों-इंडियन, यूरोपीय तथा इसाईयों तक कर दिया गया।
7. इसके द्वारा प्रांतीय स्वशासन की स्थापना की गई क्योंकि इसमें कहा गया कि गवर्नर व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी भारतीय मंत्रियों की सलाह से कार्य करेंगे।
8. इसके द्वारा भारत परिषद को समाप्त कर दिया गया इसके स्थान पर भारत सचिव के लिए कुछ सलाहकारों की व्यवस्था की गई।

भारत शासन अधिनियम, 1935 में परिसंघीय प्रणाली की विशेषताएं:-

1. देश की सभी इकाइयों को दो भागों में विभाजित-गवर्नर का प्रांत तथा भारतीय राज्य किया गया। पहली श्रेणी के प्रांत परिसंघ के अनिवार्य अंग थे जबकि भारतीय राज्यों को परिसंघ में शामिल होने अथवा नहीं होने का विकल्प दिया गया था।
2. गवर्नर के प्रांतों के लिए समरूप संवैधानिक व्यवस्था थी जबकि भारतीय राज्यों के नियमन के लिए समझौता पत्र के प्रावधानों को आधार बनाया गया
3. विभिन्न विषयों को केन्द्रीय, प्रांतीय तथा समवर्ती श्रेणियों में विभक्त किया गया था।
4. गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह अवशिष्ट शक्तियों पर विधान बनाने के लिए केन्द्र अथवा प्रांतों को अधिकृत कर सकता था।
5. केन्द्रीय सरकार को सभी प्रांतीय सरकारों पर तथा अधिकांश विषयों पर नियंत्रण प्राप्त था। इस कारण प्रणाली को अर्द्ध-परिसंघ कहा जा सकता था।
6. प्रांतों की तुलना में केन्द्र सरकार को अधिक प्रशासकीय शक्तियाँ प्राप्त थी।

परिसंघीय सरकार (Federal Government)

कार्यपालिका:- केन्द्रीय स्तर पर द्वैध प्रणाली लागू की गई थी। कार्यपालिका का गठन गवर्नर जनरल तथा मंत्रिपरिषद् से होता था। मंत्रिपरिषद् का कार्य गवर्नर-जनरल को परामर्श देना था लेकिन कई विषयों जैसे वैदेशिक मामले, प्रतिरक्षा तथा जनजातीय मामलों में गवर्नर जनरल को विवेकाधिकार था। गवर्नर जनरल दो भूमिकाओं में अपने अधिकारों का प्रयोग करता था। गवर्नर के प्रांतों के लिए जहां वह गवर्नर जनरल की भूमिका में कार्य करता था वहीं भारतीय राज्यों के लिए वह ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधि था।

विधायिका:- परिसंघीय विधायिका के अवयव निम्नांकित थे:

1. गवर्नर जनरल के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधि
2. राज्य परिषद्
3. विधान सभा

राज्य परिषद् में ब्रिटिश भारत के 156 प्रतिनिधि तथा भारतीय राज्यों के 104 प्रतिनिधि थे। विधान सभा में भारतीय राज्यों के अधिकतम 125 प्रतिनिधि थे जिनका मनोनयन प्रांतों के शासक द्वारा किया जाता था जबकि ब्रिटिश भारत के 250 सदस्यों का निर्वाचन होता था। सांप्रदायिक आधारों पर निर्वाचन का प्रावधान था तथा अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय मत पद्धति को अपनाया गया था। राज्य परिषद एक स्थायी सदन था जबकि विधान सभा का कार्यकाल 3 वर्षों का था।

परिसंघीय न्यायालय :-इस कानून के तहत दिल्ली में एक परिसंघीय न्यायालय की स्थापना की गई। न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा 6 न्यायाधीश नियुक्त किए गए। न्यायाधीशों के कार्यकाल को पूर्णतः सुरक्षित कर दिया गया था। परिसंघीय न्यायालय को आरंभिक, अपीलीय तथा परामर्शी अधिकारिता प्राप्त थी।

PERFECTION IAS

विधायिका: प्रत्येक प्रांत में विधायिका की संरचना भिन्न होती थी। कुल 11 प्रांतों में से 6 में द्विसदनी तथा 5 में एकल सदनी विधायिका थी। द्विसदनी विधायिका के उच्च सदन को विधान परिषद तथा निम्न सदन को विधान सभा कहा जाता था। परिषद् एक स्थायी सदन था जिसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक 3 वर्ष पर सेवा निवृत होते थे। विधान सभा का कार्यकाल 5 वर्षों का था।

उल्लेखनीय है कि मताधिकार के लिए आर्थिक एवं शैक्षिक योग्यताओं को आधार बनाया गया था तथा केवल 14% जनसंख्या को ही यह अधिकार प्राप्त था।

आलोचना

(i) व्यवहारिक दृष्टिकोण से अधिनियम में उल्लिखित परिसंघीय प्रणाली क्रियान्वित नहीं हो सकी। क्योंकि देशी-रियासतों के लिए संघीय प्रणाली में सम्मिलित होना वैकल्पिक था, अनिवार्य नहीं।

(ii) साथ ही, प्रान्तों में स्वयात्त शासन की संकल्पना भी मूर्त रूप नहीं ले पाई, क्योंकि गवर्नर जनरल को किसी भी प्रांतीय विधेयक पर वीटो का अधिकार प्राप्त था।

(iii) इसके अतिरिक्त यह अधिनियम अत्यन्त कठोर था तथा इसमें संशोधन का अधिकार केवल ब्रिटिश संसद को था।

मूल्यांकन

हालांकि उल्लिखित अधिनियम भारतीय जनमानस की आंकाक्षाओं को पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं कर पाया। किन्तु अधिनियम में उल्लिखित प्रावधानों ने भारतीय सांविधानिक विकास पर दूरगामी प्रभाव डाला। जिन्होंने वर्तमान भारतीय संविधान के आधार का कार्य किया। साथ ही, संविधान लागू होने तक इसी अधिनियम के प्रावधानों से देश का शासन चलता रहा।

क्रिप्स मिशन 1942 (Cripps Mission 1942)

जब ब्रिटिश सरकार को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि भारतीयों की मांगों की अधिक दिनों तक उपेक्षा नहीं की जा सकती है, फलत: तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक दूत मण्डल भारत भेजा जो क्रिप्स मिशन के नाम से प्रसिद्ध है। क्रिप्स मिशन को भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करके भारत के बारे में भावी नीति निर्धारित करने के सुझाव तो प्रेषित करने ही थे, साथ ही साथ युद्ध हेतु भारतीयों का सहयोग भी प्राप्त करना था। क्रिप्स मिशन द्वारा यह प्रस्ताव किया गया था कि युद्ध की समाप्ति के उपरांत संविधान की रचना के लिए एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा तथा भारत को एक उपनिवेश का दर्जा प्राप्त होगा। रियासतों को यह अधिकार होगा कि वे स्वतंत्र रहें अथवा भारत में मिल जायें। इन प्रस्तावों में भारत के विभाजन का बीजारोपण था। इन प्रस्तावों को भारतीय नेताओं ने अस्वीकार कर दिया था। इसके उपरांत भारत छोड़ो आंदोलन के तहत स्वाधीनता की मांग की गई।

यह भी प्रस्ताव किया गया था कि संविधान सभा तथा ब्रिटिश सरकार के बीच एक समझौता किया जाएगा ताकि शक्तियों के हस्तांतरण के विषय पर उठे किसी विवाद का समाधान किया जा सके। साथ ही, इस समझौते के जरिए प्रजातीय एवं भाषाई अल्पसंख्यकों की रक्षा का भी प्रावधान किया गया था।

संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष होगा जिसके लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय मत पद्धति को अपनाए जाने का प्रस्ताव किया गया था। नए संविधान के निर्माण तक ब्रिटिश सरकार भारत की प्रतिरक्षा के लिए उत्तरदायी होगी। हांलाकि मुस्लिम लीग ने इस प्रस्ताव को पूर्णत: अस्वीकार कर दिया था लेकिन कांग्रेस ने यह शर्त रखी थी कि यदि केन्द्र में एक राष्ट्रीय कैबिनेट का गठन किया जाए तो वह क्रिप्स प्रस्तावों को समर्थन देगी। लेकिन क्रिप्स मिशन द्वारा इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिए जाने के बाद अंतत: क्रिप्स मिशन विफल हो गया।

वैवल योजना 1945 (Wavell Plan 1945)

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के उपरांत सन् 1945 में लार्ड वैवल ने यह घोषणा की कि भारत का संविधान भारतीयों द्वारा ही रचित होगा। योजना में यह भी उल्लेख था कि हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों ही समुदायों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रदान किया जायेगा।

साथ ही, अनुसूचित जातियों एवं अन्य दलितों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने का प्रस्ताव वैवल योजना की विशेषता थी। इस योजना को मुस्लिम लीग ने अस्वीकार कर दिया था।

मंत्रिमंडल मिशन 1946 (Cabinet Mission 1946)

मार्च 1946 में एक तीन सदस्यीय मंत्रिमंडल मिशन भारत भेजा गया था जिसने भारत के नये संविधान के निर्माण के लिए एक संविधान सभा के गठन की व्यवस्था की। इसमें यह प्रस्ताव रखा गया था कि संविधान सभा का निर्माण प्रांतीय विधान मंडलों द्वारा किया जायेगा। इसके उपरांत जुलाई 1946 में संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन कराया गया तथा 9 दिसंबर, 1946 को संविधान सभा की प्रथम बैठक आयोजित की गई।

कैबिनेट मिशन योजना द्वारा किए गए प्रस्तावों में निम्नांकित प्रमुख थेः-

1 भारत एक संघ होगा जिसमें प्रांत तथा भारतीय राज्य शामिल होंगे तथा संघ को प्रतिरक्षा, विदेशी मामले तथा संचार जैसे विषयों को विनियमित करने का अधिकार होगा।

2. संघ में कार्यपालिका तथा विधायिका होगी जिसमें ब्रिटिश भारत तथा भारतीय राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। किसी भी महत्वपूर्ण सांप्रदायिक विषय पर निर्णय दोनों बड़े समुदायों के उपस्थित तथा मतदान करने वाले प्रतिनिधियों के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले कुल सदस्यों के बहुमत से ही लिया जाएगा।

3. संघीय विषयों तथा अवशिष्ट शक्तियों को छोड़कर सभी शक्तियां प्रांतों में निहित होंगी।

4. संघ को सौंपी गई शक्तियों को छोड़कर भारतीय राज्यों की शेष सभी शक्तियां उन्हीं में निहित होंगी।

5. प्रांतों को समूह बनाने की स्वतंत्रता होगी तथा समूह द्वारा यह निर्णय लिया जा सकेगा कि वे किन-किन विषयों में शक्तियों की साझेदारी करेंगे।

6. अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एक संविधान सभा का तत्काल गठन।

7. भारतीय राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन परामर्श के आधार पर निर्धारित मापदंडो के अनुरूप होगा।

8. सभी प्रतिनिधि संविधान सभा की बैठक में शामिल होंगे।

9. संविधान सभा में प्रांतों के प्रतिनिधि तीन श्रेणियों में विभक्त होंगेः-

- श्रेणी (क) – मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा
- श्रेणी (ख) – पंजाब, नार्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस, सिंध
- श्रेणी (ग) – बंगाल तथा असम

ये सभी श्रेणियां अपने प्रांतों के लिए संविधान का निर्माण करेंगी तथा एक सामूहिक संविधान के निर्माण के विषय पर भी विचार करेंगी।

10 अपने संविधान के विषय पर चर्चा कर निर्णय लेने के बाद इन श्रेणियों के प्रतिनिधि संघीय संविधान के निर्माण पर विचार करेंगे।

11. भारतीय राज्यों पर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभुत्व की समाप्ति।

12. संविधान सभा तथा ब्रिटिश सरकार के बीच एक संधि के माध्यम से शक्तियों के हस्तांतरण का प्रावधान।

13. संविधान के निर्माण तक प्रमुख राजनीतिक दलों के समर्थन से एक अंतरिम सरकार का गठन।

माउंटबेटन योजना (Mountbattein Plan)

3 जून, 1947 को लॉर्ड माउंटबेटन द्वारा एक वक्तव्य में यह कहा गया कि भारत की समस्याओं का निराकरण विभाजन से ही

PERFECTION IAS

हो सकता था। भारत तथा पाकिस्तान के लिए दो अलग संविधान सभाओं का गठन किया जाना चाहिए। एक न्यायिक आयोग द्वारा विभाजित भारत के क्षेत्रों की सीमाओं का निर्धारण किया जाएगा।

इस योजना को भारतीय स्वाधीनता अधिनियम 1947 द्वारा अंतिम रूप दिया गया था।

भारतीय स्वाधीनता अधिनियम, 1947 (The Indian Independence Act 1947)

यह अधिनियम आधुनिक भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह देश के संवैधानिक विकास के अन्तिम चरण एवं एक नवीन युग की ओर संकेत करता है। यह ब्रिटिश संसद द्वारा पारित अंतिम अधिनियम था इसके पश्चात स्वतंत्र भारत का अपना संवैधानिक इतिहास प्रारम्भ होता है।

आधार

इस अधिनियम का आधार मांउटबेटन योजना थी जिसके आधार पर ब्रिटिश सरकार ने 18 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को पास किया। ब्रिटिश संसद द्वारा पारित इस अधिनियम के तथ्यों में निम्नांकित प्रमुख थे:-

1. 15 अगस्त 1947 से भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र डोमिनियन का निर्माण।
2. पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान तथा नार्थ वेस्ट फंटियर प्रोविंस को छोड़कर अन्य क्षेत्र भारत डोमिनियन में शामिल।
3. भारतीय राज्यों को भारत अथवा पाकिस्तान, किसी एक में विलय की स्वतंत्रता।
4. ब्रिटिश सम्राट द्वारा भारत तथा पाकिस्तान के लिए गवर्नर जनरल की नियुक्ति।
5. दोनों देशों की विधायिका को विधि निर्माण की पूर्ण स्वतंत्रता तथा इंग्लैंड के कानूनों से असंगति की स्थिति में उनके निरस्तीकरण के प्रावधान की समाप्ति।
6. ब्रिटिश भारत के क्षेत्रों पर 15 अगस्त, 1947 से ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभुत्व की समाप्ति।
7. ब्रिटिश भारत तथा भारतीय राज्यों के बीच की गई सभी संधियां अप्रभावी।
8. संविधान सभा द्वारा विधायी शक्तियों का प्रयोग।
9. नए संविधान के निर्माण तक भारत शासन अधिनियम 1935 को आवश्यक परिवर्तनों के साथ भारत की संवैधानिक विधि के रूप में मान्यता।

संविधान (Constitution)

संविधान से तात्पर्य ऐसे दस्तावेज से है जिसकी एक विशिष्ट विधिक पवित्रता होती है जो सरकार के अंगों (कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका) के ढांचे को और उनके प्रमुख कार्यो को निर्दिष्ट करता है और उन अंगों के संचालन के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त विहित करता है।

संवैधानिक विधि

ये ऐसे नियम होते हैं जो सरकार के प्रमुख अंगो की संरचना उनके पारस्परिक संबंधों और प्रमुख कार्यो को विनियमित करते हैं।

संविधान का महत्व

1. यह एक विशेष दस्तावेज है जो लोगों के विश्वास एवं अपेक्षाओं को रेखांकित करता है। जिसे एक विशेष विधिक मान्यता भी प्राप्त होती है।
2. यह किसी राष्ट्र का मूल कानून होता है।
3. विश्व भर में विभिन्न सरकारों का अस्तित्व है। किसी राष्ट्र विशेष में किस प्रकार की सरकार है यह संविधान से ही ज्ञात होता है।
4. संविधान राष्ट्र के आदर्शों, मूल्यों को रेखांकित करता है।
5. संविधान सामान्यत: अपने नागरिकों को कुछ अधिकार एवं कर्तव्य प्रदान करना भी सुनिश्चित करता है।

संविधान सभा (Constituent Assembly)

किसी प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक राष्ट्र की संविधान रचना का कार्य सामान्यतया उसकी जनता के प्रतिनिधि निकाय द्वारा किया जाता है। संविधान पर विचार करने तथा उसे अंगीकार करने के लिए जनता द्वारा चुने गये इस प्रकार के निकाय को संविधान सभा कहा जाता है।

संविधान सभा की पृष्ठभूमि

संविधान सभा की संकल्पना भारत में सदैव राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ जुड़ी रही है। भारत की संविधान सभा का निश्चित उल्लेख सन् 1922 में महात्मा गांधी ने किया था। इसके बाद कई प्रयासों के पश्चात सन् 1928 में नेहरू रिपोर्ट भारतीयों द्वारा अपने देश के लिए सर्वांगपूर्ण संविधान बनाये जाने का प्रथम प्रयास था। इसके बाद 1935 के अधिनियम ने भारत की जनता के लिए संविधान सभा की मांग को बल प्रदान किया।

1940 के अगस्त प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने संविधान सभा की मांग को पहली बार अधिकारिक रूप से स्वीकार किया, भले ही कैबिनेट मिशन योजना के तहत भारतीयों द्वारा अपना संविधान निर्माण करने के लिए संविधान सभा के गठन की बात निहित थी। संविधान सभा के सदस्य कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार ब्रिटिश भारत में स्थित विधान सभाओं द्वारा निर्वाचित किये गये थे। रियासतों के शासकों ने अपने प्रतिनिधि नामनिर्दिष्ट किए जो सभा के सदस्य बने। संविधान सभा का एक भाग निर्वाचित था लेकिन यह निर्वाचन अप्रत्यक्ष था। संविधान सभा के निर्वाचन के लिए निम्नलिखित तथ्य थे :

1. प्रत्येक दस लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि,
2. निर्वाचन प्रांतीय विधान सभाओं द्वारा समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर हुआ,
3. निर्वाचन में वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को मान्यता नहीं दी गई, बल्कि प्रांतीय विधानमंडलों को ही विधान सभा के सदस्यों को निर्वाचन का अधिकार प्रदान किया गया।

- कैबिनेट योजना के अनुसार नवंबर, 1946 को संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया गया। कुल स्थानों में से 211 स्थानों के लिए कांग्रेस के सदस्य चुने गए शेष 73 पर मुस्लिम लीग ने सदस्य चुने गए जबकि शेष स्थान खाली रहे।
- **संविधान सभा के प्रमुख सदस्य निम्नलिखित थे–** जवाहर लाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, आयंगर, गोविदं बल्लभ पंत, अब्दुल गफ्फार खाँ, टी. टी. कृष्णामाचारी, अल्लादी कृष्णास्वामी, कुंजरू, के.टी. शाह, मसानी, कृपलानी, डॉ अंबेडकर, डॉ. राघाकृष्णन, लियाकत अली खाँ, ख्वाजा नजीमुद्दीन, सर फिरोज खान नून, सुहरावर्दी आदि।
- सविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर, 1946 को हुई तो उसके सामने अनेक चुनौतियाँ थीं। एक ओर तो वे सीमाएँ थीं जिन्हें कैबिनेट-योजना ने लगाया था दूसरी ओर मुस्लिम लीग ने यह निर्णय लिया था कि वह संविधान सभा की बैठक में सम्मिलित नहीं होगी। 3 जून, 1947 को देश के विभाजन का निर्णय हो गया।
- विभाजन के पश्चात जब 31 अक्टूबर, 1947 को संविधान सभा की बैठक बुलाई गई थी तब उसमें कुल 299 सदस्य थे जिनमें से 70 रियासतों के प्रतिनिधि थे। संविधान का प्रारूप संविधान 4 नवम्बर, 1947 को पुर:स्थापित हुआ जिसे प्रथम वाचन कहा जाता है। दूसरे वाचन पर विचार-विमर्श 15 नवम्बर, 1948 को प्रारंभ हुआ तथा 17 अक्टूबर, 1949 को समाप्त हुआ। इसके आधार पर 8 प्रमुख समितियों का गठन किया गया था जिसे विशिष्ट कार्य सौंपे गये थे। तृतीय वाचन 17 नवम्बर, 1949 को प्रारंभ हुआ तथा 26 नवम्बर, 1950 को समाप्त हुआ। इसी तिथि को संविधान के पारित होने की घोषणा की गई। नागरिकता, अंत:कालीन संसद, अस्थायी और संक्रमणकालीन उपबंध 26 नवम्बर, 1949 से ही प्रभावी हो गये थे तथा संविधान के शेष उपबंध 26 जनवरी, 1950 से प्रभावी बनाये गये। आरंभ में संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थीं।

भारतीय संविधान के स्रोत एवं विशेषताएं (Features and Sources of Indian Constitution)

स्रोत

भारतीय संविधान के विशालतम होने का मुख्य कारण उस पर कई प्रमुख स्रोतों का पड़ने वाला प्रभाव है। इन प्रभावों को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है :

1. **भारत शासन अधिनियम, 1935 (Government of India Act, 1935)**

सामान्यतः यह विदित है कि भारतीय संविधान पर भारत शासन अधिनियम, 1935 का प्रत्यक्ष एवं व्यापक प्रभाव परिलक्षित है। दूसरे शब्दों में भारत का संविधान वस्तुतः इस अधिनियम का ही संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप है। भारतीय संविधान के लगभग 250 अनुच्छेद इसी अधिनियम से लिये गये हैं। निम्नांकित तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि भारत शासन अधिनियम का व्यापक प्रभाव भारत के संविधान पर है :

A. दोनों का ही स्वरूप परिसंघात्मक है।

B. दोनों में संसदीय शासन पद्धति अपनाई गई है।

C. केन्द्र तथा राज्यों में द्विसदनात्मक विधायिका की स्थापना का प्रावधान है।

D. 1935 के अधिनियम के आधार पर ही भारतीय संविधान में आपातकाल संबंधी उपबंध समावेशित हैं।

2. **विदेशी संविधानों के प्रभाव (Effects of Foreign Constitutions)**

A. **ब्रिटिश संविधान का प्रभाव :-** भारतीय संविधान में संसदीय शासन पद्धति का समावेश ब्रिटिश संविधान से प्रेरणा लेकर किया गया है। अतः ब्रिटिश सम्राट की भांति ही भारत के राष्ट्रपति को संवैधानिक प्रमुख बनाया गया है। हांलाकि ब्रिटेन में सम्राट के कारण संसदीय प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था है जबकि भारत में राष्ट्रपति का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होता है जिसके आधार पर भारत की शासन व्यवस्था को संसदीय लोकतंत्र कहा जाता है।

B. **अमेरिकी संविधान का प्रभाव :-** भारत में उच्चतम न्यायालय की स्थापना, राष्ट्रपति के अधिकार एवं शक्तियां, उपराष्ट्रपति की संविधानिक स्थिति तथा संविधान में संशोधन संबंधी उपबंध अमेरिकी संविधान से प्राप्त प्रेरणा के आधार पर समावेशित हैं। साथ ही, भारतीय संविधान की प्रस्तावना पर अमेरिकी 'स्वतंत्रता की घोषणा' के प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित हैं।

C. **आयरिश संविधान का प्रभाव :-** भारतीय संविधान के भाग 4 में समावेशित राज्य के नीति निदेशक तत्वों की प्रेरणा आयरलैंड के संविधान से प्राप्त की गई है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित निर्वाचक मंडल तथा राज्य सभा में साहित्य, कला, विज्ञान एवं समाजसेवा के क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के मनोनयन की संकल्पना भी आयरलैंड के संविधान से ही प्रेरित है।

D. **आस्ट्रेलियाई संविधान का प्रभाव :-** भारतीय संविधान की प्रस्तावना, जो अब संविधान का ही भाग है, की प्रेरणा आस्ट्रेलिया के संविधान से प्राप्त की गई है। साथ ही, संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची तथा केन्द्र-राज्य संबंधों के विस्तृत प्रावधान भी आस्ट्रेलियाई संविधान की ही देन हैं।

E. **कनाडा के संविधान का प्रभाव :-** भारत में संघीय शासन व्यवस्था का प्रावधान कनाडा के संविधान से प्रेरणा प्राप्त कर ही समावेशित किया गया है। इसके अतिरिक्त केन्द्र सरकार की अवशिष्ट शक्तियां भी इसी संविधान से प्रेरित हैं।

F. **जापान और दक्षिण अफ्रीका के संविधान का प्रभाव :-** कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया की संकल्पना जापान के संविधान से तथा संविधानिक संशोधन की प्रणाली दक्षिण अफ्रीकी संविधान से ली गई है।

भारतीय संविधान की विशेषताएं

संविधान की विशेषताओं को उसका आधारिक लक्षण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि संविधान के आधारिक लक्षणों में ऐसे

संविधान की विशेषताएँ

1. *लिखित एवं निर्मित संविधान*
2. *एक लम्बा प्रलेख*
3. *संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न लोकतांत्रिक धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य*
4. *संसदीय शासन प्रणाली*
5. *नमनशीलता तथा अनमनशीलता का सम्मिश्रण*
6. *लोकप्रिय संप्रभुता पर आधारित*
7. *विश्व के विभिन्न संविधानों का सम्मिश्रण*
8. *एकल नागरिकता*
9. *एकता को सुदृढ़ करने वाले अन्य तत्व*
10. *धर्म निरपेक्ष राज्य*
11. *संघात्मकता तथा एकात्मकता*
12. *गांधीवाद एवं मार्क्सवाद में सामंजस्य*
13. *अतीत से संबंध*
14. *मौलिक अधिकार एवं कर्तव्य*
15. *राज्य के नीति निदेशक तत्व*
16. *वयस्क मताधिकार*
17. *लोक कल्याणकारी संविधान*
18. *अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा*
19. *न्यायपालिका की सर्वोच्चता*
20. *सीमित शक्ति पृथकीकरण का सिद्धान्त*
21. *राज्य शक्ति एवं वैयक्तिक स्वतंत्राता के मध्य सामंजस्य*
22. *विश्व शांति का समर्थक*
23. *विधि का शासन*

PERFECT

उपबंधों को सम्मिलित किया गया है जिनमें संशोधन नहीं किया जा सकता है। यह सिद्धान्त **केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य ए.आई.आर.** 1973, **एस.सी.** 1461 **तथा मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ ए.आई.आर.** 1980, **एस.सी.** 1789 में प्रतिपादित है। इन उपबंधों को छोड़कर अन्य लक्षणों को विशेषताओं की संज्ञा दी जाती है जिनमें प्रमुख का वर्णन निम्नलिखित है:

1. **एक लंबा प्रलेख (A Long Document):** भारत का संविधान एक लंबा प्रलेख है जो संसार के प्राय: सभी लिखित संविधानों से लंबा एवं विशाल है। भारत के संविधान के सबसे लंबा होने के कई महत्वपूर्ण कारण हैं :
   A. भारतीय संविधान में संघ तथा सभी राज्यों (जम्मू कश्मीर को छोड़कर) के प्रशासन से संबंधित उपबंध किये गये हैं।
   B. संघ की विभिन्न इकाइयों को कई वर्गों में रखा गया है तथा प्रत्येक के लिए अलग-अलग शासन व्यवस्था की गई है
   C. मूल अधिकारों के साथ-साथ राज्य के नीति निदेशक तत्वों को भी समावेशित किया गया है।
   D. संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा मौलिक कर्तव्यों का समावेश भी संविधान में किया गया है।
   E. अनुसूचित जातियों, जनतातियों तथा अन्य कमजोर वर्गों के लिए संविधान में पृथक व्यवस्था की गई है।
   F. राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का विस्तृत उल्लेख है।
2. **लिखित एवं निर्मित संविधान (Written and Enacted Constitution):** भारत का संविधान एक लिखित दस्तावेज है जिसमें आरंभिक चरणों में 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थीं। वर्तमान में इसमें कुल 443 अनुच्छेद तथा 12 अनुसूचियां हैं।
3. **नम्य एवं अनम्य (Flexible and Rigid):** एक लिखित परिसंघीय संविधान को नम्यता प्रदान करना भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। यह न तो ब्रिटिश संविधान की भांति अत्यन्त नम्य है और न ही अमेरिकी संविधान की भांति अत्यन्त अनम्य। नम्य संविधान में वैधानिक दृष्टिकोण से संविधानिक और सामान्य विधियों में कोई अन्तर नहीं होता है तथा सामान्य विधिक प्रक्रिया द्वारा ही उसमें संशोधन किया जा सकता है, जबकि अनम्य संविधान में संशोधन के लिए विशिष्ट प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। भारतीय संविधान में इन दोनों ही तथ्यों का अनोखा सम्मिश्रण है।
4. **एकल नागरिकता (Single Citizenship):** यद्यपि भारतीय संविधान में संघ तथा राज्यों की शक्तियां पृथक हैं लेकिन नागरिकता एकल है। अमेरिका तथा स्विट्जरलैंड के संविधानों की भांति भारत में दोहरी नागरिकता का प्रावधान नहीं किया गया है। एकल नागरिकता भारत के परिसंघ की सुदृढ़ता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।
5. **संघात्मकता एवं एकात्मकता का मिश्रण (Combination of Federalism and Unitarism):** शासन के इन दो विरोधाभासी स्वरूपों के मध्य सामंजस्य की स्थापना भारत के संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। संकल्पनात्मक दृष्टिकोण से संविधानों को संघात्मक एवं एकात्मक रूपों में विभाजित किया जाता है। संघात्मक संविधान के तहत सामान्यत: संविधान लिखित होता है तथा शक्तियों का विभाजन केन्द्र एवं राज्यों के मध्य किया जाता है, जबकि एकात्मक संविधान में सभी शक्तियां केन्द्र में निहित होती हैं। भारतीय संविधान में ये दोनों ही गुण समावेशित हैं।
6. **पंथ निरपेक्ष राज्य (A Secular State):** संविधान में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा यह है कि पंथ, जाति या संप्रदाय के आधार पर किसी भी पंथानुयायी से कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा और न ही उसे कोई संरक्षण अथवा प्राथमिकता प्रदान की जायेगी। 1976 के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा पंथनिरपेक्ष शब्द का समावेश संविधान की प्रस्तावना में किया गया है।
7. **वयस्क मताधिकार (Adult Franchise):** वयस्क मताधिकार भारतीय संविधान की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। भारतीय संविधान में स्पष्ट उल्लेख है कि वयस्क मताधिकार के संबंध में किसी भी प्रकार का विभेद नहीं किया जा सकता है।
8. **लोक कल्याणकारी संविधान (A Welfare Constitution):** भारतीय संविधान विश्व के समक्ष लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा प्रस्तुत करता है। इस क्रम में राज्य के नीति निदेशक तत्वों का समावेश संविधान की विशिष्टता है जो लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के महत्वपूर्ण कारक हैं।
9. **स्वतंत्र न्यायपालिका (Independent Judiciary):** भारतीय संविधान में स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है तथा उसे न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार भी प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय वस्तुत: देश की विधि का रूप लेता है।
10. **लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty):** भारत का संविधान जनता द्वारा निर्मित है तथा इसमें जनता को अंतिम शक्ति प्राप्त है।

PERFECTION IAS

11. **सीमित शक्ति पृथक्कीकरण का सिद्धांत (Principle of Limited Separation of Powers):** संसदीय शासन प्रणाली अपनाए जाने के कारण भारतीय संविधान के तहत विधायिका एवं कार्यपालिका के मध्य शक्ति संबंध का सिद्धांत अपनाया गया है लेकिन विधायिका एवं न्यायपालिका के मध्य पृथक्कीकरण के सिद्धांत के कारण इसे सीमित शक्ति पृथक्कीकरण कहा जा सकता है।
12. **अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा (Safeguarding the Interests of Minorities):** भारतीय संविधान में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इसके लिए संविधान के विभिन्न भागों में विशिष्ट उपबंध भी किये गये हैं।
13. **राज्य के नीति निदेशक तत्व (Directive Principles of State Policy):** संविधान के भाग 4 में निहित राज्य के नीति निदेशक तत्वों का विशिष्ट स्थान है। इनके आधार पर सरकार को लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने में व्यापक सहायता प्राप्त होती है।
14. **राज्यशक्ति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता में सामंजस्य (Coordination between State Authority & Personal Liberty)** संविधान में निहित मूल अधिकारों के कारण भारत का संविधान राज्य सत्ता एवं व्यक्तियों की स्वतंत्रता के मध्य स्पष्ट रूप से सामंजस्य की स्थापना करता है।
15. **सामाजिक-आर्थिक विकास का साधन (Instrument of Socio-economic Development):** विभिन्न वर्गों के सामाजिक-आर्थिक शोषण का विरोध, विभेदीकरण की नीति का प्रतिषेध तथा ऐसे कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए किये गये विशिष्ट उपबंधों के कारण भारतीय संविधान सामाजिक-आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है।
16. **गांधीवाद एवं मार्क्सवाद का समन्वय (Coordination between Gandhism and Marxism):** आधुनिक समाज की आर्थिक एवं राजनीतिक विसंगतियों को दूर करने के लिए भारतीय संविधान में गांधीवाद एवं मार्क्सवाद का समन्वय किया गया है। ये दोनों ही विचार वर्ग विहीन समाज का समर्थन करते हैं।
17. **विश्व शांति का समर्थक (Supporter of World Peace):** भाग 4 के अनुच्छेद 51 के तहत भारतीय संविधान विश्व शांति का समर्थक है।
18. **विधि का शासन (Rule of Law):** भारतीय संविधान विधिक दृष्टिकोण से कोई विभेद नहीं करता है जिसके आधार पर यह स्पष्ट है कि भारत में विधि का शासन स्थापित है। यह संकल्पना अनुच्छेद 14 से प्राप्त की गई है।

संविधान और राजव्यवस्था का दर्शन (Philosophy of Constitution and Polity)

भारत का संविधान सकारात्मक स्वतंत्रता को चित्रित करता है जिसके माध्यम से व्यक्तित्व के विकास को प्रश्रय दिया जाता है। इसी आधार पर संविधान में विचारों की अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म तथा उपासना की स्वतंत्रता को समुचित स्थान प्रदान किया है। समानता के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि विभेदीकरण का विरोध करते हुए प्रत्येक नागरिक को व्यक्तित्व विकास हेतु आवश्यक अवसरों की समानता अपेक्षित है। यह समानता सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक, सभी स्तरों पर उपलब्ध कराना राज्य का दायित्व है। संविधान की प्रस्तावना में ऐसे सभी स्तरों पर समानता सुनिश्चित करने का उल्लेख किया गया है। समानता के साथ-साथ भारतीय संविधान में बन्धुत्व की भावना का भी समावेश किया गया है। इसके लिए सर्वसामान्य नागरिकता के माध्यम का उपयोग करना संविधान की एक प्रमुख विशेषता है। विभेदीकरण के बिना नागरिकों के मूल अधिकारों का सुनिश्चितीकरण तथा आर्थिक समानता के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु विशेष सांविधानिक उपबंध किये गये हैं। बंधुत्व की भावना भारतीय संविधान में वर्णित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में भी परिलक्षित होती है जहां विश्व शांति हेतु प्रयास करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करने का दायित्व राज्य को सौंपा गया है।

इसी आधार पर संविधान भारत की ''वसुधैव कुटुम्बकम'' की संकल्पना को साकार करता है। व्यावहारिक रूप से किसी देश में बंधुत्व की भावना का विकास तभी संभव है जब व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित की जाए। इस दृष्टिकोण से भारत के संविधान में कई विशेष उपबंध किये गये हैं। अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता के उन्मूलन का उल्लेख किया गया है। साथ ही, अनुच्छेद 32 में यह उल्लेख किया गया है कि व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों तथा गरिमा की सुरक्षा हेतु न्यायालय की सहायता प्राप्त कर सकता है। स्पष्टतः प्रस्तावना संविधान के कई लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु राज्य के दायित्वों का उल्लेख करती है, यथा

PERFECTION IAS

1. सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय का सुनिश्चितीकरण।
2. स्वतंत्रता के सिद्धान्त का अनुपालन।
3. स्वतंत्रता के पूरक के रूप में समानता।
4. भ्रातृत्व की भावना।

संविधान के मूल ढ़ाँचे या आधारभूत सिद्धान्त की अवधारणा (Doctrine of the Basic Structure of the Constitution)

आष्ठाय-संविधान के मूल ढ़ांचे की धारणा का आशय है कि संविधान की कुछ व्यवस्थाएं अन्य व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं, वे संविधान के मूल ढ़ांचे के समान हैं और समस्त संवैधानिक व्यवस्था उन पर ही आधारित है।

उद्देष्ठय-इस अवधारणा को प्रतिपादित करते हुए कहा गया था कि इस का उद्देश्य-शासन के तीनों अंगों कार्यपालिका विधायिका एवं न्यायपालिका में संतुलन बनाये रखना है।

ष्ठुरूआत-सर्वप्रथम इस अवधारणा का प्रतिपादन सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 24 अप्रैल, 1973 को केशवानन्द भारती वाद में किया गया। इसमें सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि ''संसद मौलिक अधिकारों को संशोधित या सीमित कर सकती है, किन्तु संविधान के अनुच्छेद 368 से संसद को संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन का अधिकार प्राप्त नहीं होता।''

मिनर्वा मिल्स वाद (1980) में सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा पुनः इस बात का प्रतिपादन किया गया।

स्पष्टतया परिभाषित नहीं- न्यायालय ने स्पष्ट रूप से आधारिक लक्षणों को परिभाषित नहीं किया है लेकिन समय-समय पर दिये गये निर्णयों के आधार पर आधारभूत ढ़ांचे में निम्न विषयों को शामिल किया गया है-

1. संविधान की सर्वोच्चता।
2. विधि का शासन।
3. शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त।
4. संविधान की प्रस्तावना में घोषित उद्देश्य।
5. न्यायिक पुनरावलोकन।
6. परिसंघवाद।
7. पंथनिरपेक्षता।
8. लोकतांत्रिक गणराज्य।
9. व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा।
10. सामाजिक और आर्थिक न्याय की संकल्पना।
11. लोक कल्याणकारी राज्य का सृजन।
12. मूल अधिकार एवं नीति-निदेशक तत्वों के बीच संतुलन।
13. संसदीय प्रणाली।
14. स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन।
15. न्यायपालिका की स्वतंत्रता।
16. अनु. 32, 136, 141, 142 के अधीन सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति।

PERFECTION IAS

3. संविधान के भाग एवं अनुसूचियाँ

- **भाग 1** में अनुच्छेद 1 से 4 तक हैं, जो भारत के क्षेत्र, नए राज्यों के प्रवेश अथवा स्थापना, नए राज्यों के निर्माण, उनके क्षेत्र सीमाओं व नाम में परिवर्तन से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 2** में अनुच्छेद 5 से 11 तक हैं, जो नागरिकता से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 3** में अनुच्छेद 12 से 35 तक हैं, जो मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 14 से 18 समानता के अधिकार से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 19 नागरिकों की 6 स्वतंत्रताओं से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 21-22 जीवन तथा निजी स्वतंत्रता की रक्षा व बन्दीकरण और नज़रबन्दी से सुरक्षा प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 23-24 शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान करते हैं तथा मानव व्यापार, बलात् श्रम, 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में काम पर लगाने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। अनुच्छेद 25-28 धर्म के अधिकार से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 29-30 सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों से सम्बन्धित हैं तथा अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 31 सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित था परन्तु इसे 44वें संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों की सूची से हटा दिया गया है। अनुच्छेद 32-35 नागरिकों को संवैधानिक संरक्षण का अधिकार प्रदान करते हैं।
- **भाग 4** में अनुच्छेद 36-51 आते हैं, जो कि राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं। इनका मुख्य उद्देश्य देश में सामाजिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करना है।
- **भाग 4 (क)** भाग में केवल एक अनुच्छेद 51 (क) आता है, जो 42वें संशोधन द्वारा संविधान में जोड़ा गया तथा नागरियों के मौलिक कर्त्तव्यों का उल्लेख करता है।
- **भाग 5** में अनुच्छेद 52-171 है, जो केन्द्रीय स्तर पर सरकार से अनुच्छेद 74-75 मंत्री परिषद् व प्रधानमंत्री से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 76 भारत के महान्यायवादी से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 77 प्रयोजन करता है कि सभी कार्यकारिणी आदेश राष्ट्रपति के नाम में जारी किए जाएंगे। अनुच्छेद 78 भारत के प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रपति को दिए जाने वाले परामर्श सम्बन्धी कर्त्तव्यों का उल्लेख करता है। अनुच्छेद 79-106 भारत की संसद से सम्बन्धित हैं। यह लोक सभा व राज्य सभा के संगठन, निर्वाचन क्षेत्रों के पुनर्गठन, संसद के सदस्यों की योग्यताओं, राष्ट्रपति द्वारा दोनों सदनों में से किसी भी सदन को बुलाने, स्थगित करने तथा सम्बोधित करने की शक्ति, सदस्यों की अयोग्यताएं, संसद तथा इसके सदस्यों की शक्तियां, विशेषाधिकार तथा संसद के सदस्यों के वेतन व भत्ते, इत्यादि। अनुच्छेद 107-122 संसद की विधायिनी प्रक्रिया से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 123 राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियों का उल्लेख करता हैं अनुच्छेद 124-147 संघीय न्यायपालिका से सम्बन्धित है तथा अनुच्छे 148-151 नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के बारे में है।
- **भाग 6** जिसमें अनुच्छेद 152-237 हैं, राज्य स्तर पर सरकार के ढांचे से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 152 जम्मू व कश्मीर को अन्य राज्यों की श्रेणी से अलग घोषित करता है। अनुच्छेद 153-162 राज्य के राज्यपाल से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 163-164 मुख्यमंत्री तथा उसकी मंत्री परिषद् के बारे में हैं। अनुच्छेद 165 राज्य के Advocate General से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 166 राज्य की सरकार के संचालन से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 167 मुख्यमंत्री द्वारा राज्यपाल को सूचना प्रदान करने से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 168-195 राज्यों की विधायिकाओं के संगठन इत्यादि से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 196-212 राज्य की विधायिनी प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। अनुच्छेद 213 राज्यपाल की विधायिनी शक्तियों का उल्लेख करता है। अनुच्छेद 214-325 राज्यों के उच्च न्यायालयों के सगठंन व शक्तियों का उल्लेख करते हैं। अनुच्छेद 233-237 निम्न अदालतों से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 7** में केवल अनुच्छेद 2,3,8 सम्मिलित हैं जो प्रथम अनुसूची में दी गई ख श्रेणी के राज्यों से सम्बन्धित था। 1956 मे सातवें संशोधन द्वारा इस अनुसूची को समाप्त कर दिया गया।
- **भाग 8** में अनुच्छेद 239-241 हैं, जो केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों के प्रशासन से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 9** जो प्रथम सूची में दिये गए 'घ' श्रेणी के राज्यों से सम्बन्धित था, 1956 में संवैधानिक संशोधन द्वारा समाप्त कर दिया गया। 1992 में 73वें संशोधन द्वारा एक नई नंवी सूची संविधान में जोड़ी गई। इस सूची में 16 नए अनुच्छेद तथा एक नई ग्यारहवीं सूची जोड़ी गई। इन अनुच्छेदों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज संस्थाओं के गठन, चुनाव, अवधि, शक्तियों, कर लगाने की शक्ति तथा कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया। ग्यारहवीं सूची में 29 विषय जोड़े गए जिन पर पंचायतों को प्रशासनिक नियन्त्रण था।

1992 में किए गए 74वें संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग 9-A जोड़ा गया जिसमें 18 अनुच्छेद तथा एक नई सूची-12वीं सूची-जोड़ दी गई। इन अनुच्छेदों में नगर पालिकाओं के निर्माण, संगठन, चुनाव कार्यकाल, शक्तियों तथा उत्तरदायित्व का उल्लेख किया। 12वीं सूची में कुल 18 विषय सम्मिलित किए गए जिन पर नगर पालिकाओं का प्रशासनिक नियन्त्रण है।

- **भाग 10** में अनुच्छेद 244-244A हैं जो अनुसूचित तथा जनजातीय क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 11** केन्द्र तथा राज्यों के बीच सम्बन्धों के बारे में है। इस भाग में 245-263 अनुच्छेद हैं। 245-255 अनुच्छेद केन्द्र व राज्यों के बीच विधायी सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं तथा 256-263 अनुच्छेद उनके प्रशासनिक सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 12** में अनुच्छेद 264-300A सम्मिलित हैं जो वित्त, सम्पत्ति समझौतों तथा मुकदमों से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 268-300A केन्द्र व राज्यों के बीच राजस्व के बंटवारे, वित्त आयोग की नियुक्ति, भारत तथा राज्य सरकारों द्वारा ऋण लिए जाने, सम्पत्ति समझौतों, अधिकारों, उत्तरदायित्व सम्बन्धी मुकदमों से सम्बन्धित प्रावधान हैं।
- **भाग 13** में अनुच्छेद 301-307 हैं, जो व्यापार, उद्योग तथा देश के भीतर आदान-प्रदान से सम्बंधित हैं।
- **भाग 14** में अनुच्छेद 308-323 तक हैं, जो संघीय लोक सेवा आयोग तथा राज्य लोक सेवा आयोगों से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 308-314 संघीय लोक सेवा आयोग तथा अनुच्छेद 315-323 राज्य लोक सेवा आयोग से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 14A** में केवल दो अनुच्छेद-323A तथा 323B-हैं, जिन्हें संविधान में 42वें संशोधन द्वारा 1976 में जोड़ा गया। यह प्रावधान प्रशासनिक अदालतों से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 15** में अनुच्छेद 324-329 हैं जो चुनाव से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 324 चुनाव आयोग से सम्बन्धित है।
- **भाग 16** (330-342) में कुछ वर्गों के लिए विशेष प्रावधान किया गया है जैसे कि अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए लोक सभा तथा विधान सभाओं में कुछ स्थान सुरिक्षत रखे गए हैं, एंग्लो-इण्डियन समुदाय के व्यक्तियों को, लोक सभा तथा राज्यों की विधान सभाओं में प्रतिनिधित्व प्रदान करना, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों को लोक सेवाओं तथा पदों में स्थान प्रदान करना, शिक्षा के लिए विशेष अनुदान प्रदान करना तथा पिछड़ी जातियों इत्यादि की स्थिति की छानबीन करने हेतु आयोग गठित करना।
- **भाग 17** में अनुच्छेद 343-351 हैं, जो राजभाषा से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 18** में अनुच्छेद 352-360 हैं, जो आपातकालीन प्रावधानों से सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद 352 बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह के कारण उत्पन्न होने वाली आपातकालीन परिस्थितियों से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 354 आपात स्थिति में केन्द्र व राज्यों के मध्य राजस्व के बंटवारे से सम्बन्धित है।

  अनुच्छेद 355 केन्द्र सरकार को उत्तरदायित्व देता है कि राज्यों की बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक अशांति से रक्षा करे तथा यह सुनिश्चित करे कि उनकी सरकार संविधान के प्रावधानों के अनुसार चलाई जा रही है। अनुच्छेद 356 राज्य में राष्ट्रपति के शासन से सम्बन्धित है। अनुच्छेद 357 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को राज्य सूची में दिए गए विषय पर कानून बनाने तथा राज्य की संचित निधि से कोई भी खर्च करने की अनुमति दे सकती है। अनुच्छेद 358 में प्रावधान किया गया है कि अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत की गई आपातकालीन घोषणा की स्थिति में अनुच्छेद 19 में दिया गया स्वतंत्रता का अधिकार स्वयमेव स्थगित हो जाता है। अनुच्छेद 359 राष्ट्रपति को संवैधानिक संरक्षण के अधिकार को स्थगित करने का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 360 वित्तीय संकट से सम्बन्धित है।
- **भाग 19** में अनुच्छेद 361-67 है, जिनमें अनेक प्रकार के मिश्रित प्रावधान हैं जैसे कि राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के विरुद्ध अपने पद पर रहते हुए की गई कार्यवाही के लिए फौजदारी कार्यवाही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार संसद अथवा राज्य विधान सभा की गतिविवियों के प्रकाशन के विरुद्ध भी अदालती कार्यवाही नहीं की जा सकती, इत्यादि।
- **भाग 20** में अनुच्छेद 368 सम्मिलित है, जो संविधान के संशोधन से सम्बन्धित है।

संविधान के भाग (Parts of Constitution)

भाग	विषय	अनुच्छेद
भाग-1	संघ और उसका राज्यक्षेत्र	अनुच्छेद 1-4
भाग-2	नागरिकता	अनुच्छेद 5-11
भाग-3	मौलिक अधिकार	अनुच्छेद 12-35
भाग-4	राज्य की नीति के निदेशक तत्व	अनुच्छेद 36-51
भाग-4 क	मूल कर्त्तव्य	अनुच्छेद 51 ए
भाग-5	संघ	अनुच्छेद 52-151
भाग-6	राज्य	अनुच्छेद 152-237
भाग-7	पहली अनुसूची के भाग ख के राज्य	अनुच्छेद 238-4
भाग-8	केंद्रशासित प्रदेशों का प्रशासन	अनुच्छेद 239-242
भाग-9	पंचायतें	अनुच्छेद 243 (क-ण तक)
भाग-9क	नगरपालिकायें	243 (त-छ तक)
भाग-10	अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्र	अनुच्छेद 244-244 ए
भाग-11	केंद्र एवं राज्यों के बीच संबंध	अनुच्छेद 245-263
भाग-12	वित्त, संविदायें, संपत्ति और वाद	अनुच्छेद 264-300
भाग-13	भारत के राज्यक्षेत्र के भीतर व्यापार, वाणिज्य एवं सामागम	अनुच्छेद 301-307
भाग-14	संघ तथा राज्यों के अधीन सेवायें	अनुच्छेद 308-323
भाग-15	निर्वाचन	अनुच्छेद 324-329
भाग-16	कुछ वर्गों के संबंध में विशेष उपबंध	अनुच्छेद 330-342
भाग-17	राजभाषा	अनुच्छेद 343-351
भाग-18	आपात उपबंध	अनुच्छेद 352-360
भाग-19	प्रकीर्ण	अनुच्छेद 361-367
भाग-20	संविधान संशोधन	अनुच्छेद 368
भाग-21	आस्थाई, संक्रमणकालीन और विशेष उपबंध	अनुच्छेद 369-392
भाग-22	संक्षिप्त नाम, प्रारंभ, हिंदी में प्राधिकृत पाठ एवं निरसन	अनुच्छेद 393-395

- **भाग 21** में बहुत से अस्थाई तथा विशेष प्रावधान हैं। अनुच्छेद 368 संसद को अस्थाई रूप से अधिकार प्रदान करता है कि यह राज्य सूची में दिए गए कुछ विषयों पर इस प्रकार कानून बना सकती है, जैसे कि वे समवर्ती सूची के विषय हों। अनुच्छेद 370 में जम्मू तथा कश्मीर से सम्बन्धित अस्थाई प्रावधान दिए गए हैं। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संसद की शक्तियों को सीमित कर दिया गया है तथा यह केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकती है जो परिग्रहण उपकरण (Instrument of Accession) में सम्मिलित किए गए थे अथवा राज्य व समवर्ती सूची में दिए गए उन विषयों पर कानून बना सकती है जो राष्ट्रपति द्वारा राज्य सरकार की अनुमति से घोषित किए हों।

  अनुच्छेद 371A, 371B, 371C, 371D, 371E, 371F, 371G, 371H, 371I, महाराष्ट्र, नागालैण्ड, असम, मणिपुर, आन्ध्र प्रदेश, सिक्किम, मिज़ोरम, अरूणाचल प्रदेश तथा गोवा राज्यों से सम्बन्धित विशेष प्रावधानों से सम्बन्धित हैं।
- **भाग 22** में अनुच्छेद 393-395 सम्मिलित हैं, जो कि संविधान के शीर्षक लागू होने की तिथि तथा परिवर्तन से सम्बन्धित हैं।

अनुसूचियाँ (Schedules)

- **अनुसूची 1:** यह भारतीय संघ के 28 राज्यों तथा 7 संघ-शासित प्रदेशों के क्षेत्र-विस्तार के संबंधित है।
- **अनुसूची 2:** यह भारत के राष्ट्रपति, राज्यों के राज्यपाल, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक के वेतन तथा भत्ते से संबंधित है।
- **अनुसूची 3:** इसमें उन शपथ एवं प्रतिज्ञाओं का उल्लेख है जो जन कार्यालय पदभार ग्रहण करने के पूर्व पदाधिकारी को लेने पड़ते हैं।
- **अनुसूची 4:** यह राज्यों तथा संघ शासित प्रदेशों के लिए राज्यसभा में स्थानों के आवंटन से संबंधित है।
- **अनुसूची 5:** यह अनुसूचित क्षेत्र प्रशासन तथा नियंत्रण से संबंधित है।
- **अनुसूची 6:** यह असम, मेघालय, मिजोरम राज्य के जनजातीय क्षेत्र के प्रशासनिक उपबंधों से संबंधित है। 1988 में 67वें अधि नियम द्वारा इस अनुसूची में संशोधन किया गया तथा 16 दिसम्बर 1988 से इसे त्रिपुरा तथा मिजोरम राज्य के लिए लागू किया गया।
- **अनुसूची 7:** इसमें तीन सूचियों-संघसूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची का उल्लेख है। (i) संघ सूची-इसमें अखिल भारतीय महत्त्व के विषयों यथा रक्षा, अंतर्राष्ट्रीय मामले, रेलवे, डाकसेवा, आयकर आदि शामिल हैं। इन विषयों पर संसद को विधान बनाने की अनन्य शक्ति है। इसमें कुल 97 विषयं हैं। (ii) राज्यसूची-इसमें क्षेत्रीय महत्त्व/स्थानीय महत्त्प के विषयों का उल्लेख है। इन विषयों पर आमतौर पर केवल राज्यों की विधायिकाएं विधि निर्माण कर सकती हैं। इसमें 66 विषय है।

  (iii) समवर्ती सूची- इन विषयों पर राज्यों की विधायिकाएं तथा संसद, दोनों ही विधान बना सकती है।
- **अनुसूची 8:** इसमें संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 22 भाषाओं का उल्लेख है। मूलरूप से इस अनुसूची में केवल 14 भाषाएं थी। संविधान (21वां संशोधन) अधिनियम, 1967 द्वारा सिन्धी भाषा को शामिल किया गया। संविधान (71वां संशोधन) अधिनियम, 1992 द्वारा कोंकणी, मणिपुरी तथा नेपाली भाषा को शामिल किया गया। 22 भाषाएं निम्नलिखित हैं- (1) असमिया (2) बंगाली (3) गुजराती (4) हिन्दी (5) कन्नड़ (6) कश्मीरी (7) मलयालम (8) मराठी (9) उड़िया (10) पंजाबी (11) संस्कृत (12) सिन्धी (13) तमिल (14) तेलुगू (15) उर्दू (16) कोंकणी (17) मणिपुरी (18) नेपाली,
- **अनुसूची 9:** यह राज्य विधायिकाओं के जमींदारी व्यवस्था उन्मूलन एवं भूमि सुधार से सम्बन्धित अधिनियमों से सम्बन्धित है। इसमें 284 अधिनियम हैं। यह अनुसूची 1951 में प्रथम संविधान संशोधन द्वारा जोड़ी गयी थी।
- **अनुसूची 10:** दल-बदल के आधार पर अयोग्यता के प्रावधानों से संबंधित है।
- **अनुसूची 11:** इसमें उन 29 विषयों का उल्लेख है जिस पर पंचायत को प्रशासनिक नियंत्रण दिया गया है। यह अनुसूची 20 अप्रैल 1992 को संविधान संशोधन द्वारा जोड़ी गयी।
- **अनुसूची 12:** इसमें उन 18 विषयों का उल्लेख है जिस पर नगरपालिका को प्रशासनिक नियंत्रण दिया गया है। यह 20 अप्रैल 1992 को 74वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया।

परिशिष्ट- इसके तीन भाग हैं-

i. परिशष्ट I- संविधान (जम्मू कश्मीर पर लागू) आदेश, 1954
ii. परिशष्ट II- संविधान के वर्तमान संस्करण के सन्दर्भ में जम्मू कश्मीर राज्य के सन्दर्भ में लागू प्रावधानों अपवादों सुधारों का पुनर्कथन।
iii. परिशष्ट III- संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 के अंश

4. संविधान की उद्देशिका

संविधान की पृष्ठभूमि एवं आधार (Background & Basis of Constitution)

पृष्ठभूमि

सभी लिखित लोकतांत्रिक संविधानों में एक प्रस्तावना दी गई होती है जो भविष्य के लिए एक अभिदृष्टि प्रस्तुत करती है। ऐसी सभी अभिदृष्टियां इस प्रवृत्ति के लिए होती हैं कि पिछली सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था के दोषों व पूर्वाग्रहों को निरस्त करना है और एक ऐसा भविष्य बनाने का वचन देते हैं जो न्यायसंगत, सुखद और गौरवमय हो।

आधार

भारतीय संविधान की उद्देशिका का आधार पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत ''उद्देश्य प्रस्ताव'' है। जिसे संविधान सभा द्वारा 22 जनवरी 1947 को अंगीकार किया गया। इस उद्देश्य प्रस्ताव में निम्न बातें कही गई थीं-

1. संविधान सभा भारत को स्वतंत्र प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य के रूप में घोषित करती है।
2. ऐसी देशी रियासतों तथा ऐसे अन्य राज्यक्षेत्रों का जो स्वतन्त्र प्रभुत्वसम्पन्न भारत के भाग बनने के लिए सहमत हैं, से मिलकर एक संघ बनेगा।
3. प्रभुत्वसंपन्न स्वतंन्त्र भारत की शक्तियाँ और प्राधिकार, उसके संघटक भाग और शासन के सभी अंग जनता से व्युत्पन्न हैं,
4. भारत की जनता सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय; प्रतिष्ठा और अवसर की तथा विधि के समक्ष समता; विचार, अभिव्यक्ति, धर्म, विश्वास, उपासना, व्यवसाय संगम और कार्य की स्वतंन्त्रता विधि और सदाचार के अधीन रहते हुए होंगी,
5. अल्पसंख्यकों के लिए, पिछड़ी और जनजाति क्षेत्रों के लिए और दलित तथा अन्य पिछड़े हुए वर्गो के लिए पर्याप्त रक्षोपाय किए जाएंगे।

उक्त संकल्प में जिन आदर्शों को सम्मिलित किया गया है, वे संविधान की प्रस्तावना में समाहित हैं।

42 वें संविधान संशोधन, 1976 के बाद संशोधित उद्देशिका:-1976 में यथा- संशोधित उद्देशिका में संविधान के उद्देश्य एवं दर्शन का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है-

''हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबों में, व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26-11-1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।''

उद्देशिका क्या है (What is preamble)

किसी भी संविधान की प्रस्तावना अथवा उद्देशिका उसका वह भाग होती है जो संविधान के निर्वचन में प्रत्यक्ष रूप से सहयोग करती है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारतीय संविधान का सार है। यह उसकी प्रेरणा और आधारशिला है।

उद्देशिका का महत्व (Significance of Preamble)

1. उद्देशिका शासन प्रणाली को स्पष्ट करती है, शासन का स्वरूप लोकतंत्रात्मक होगा अथवा स्वेच्छाचरी तंत्र, इसका आभास प्रस्तावना की मूल भावना से ही लगाया जा सकता है।
2. उद्देशिका शासन के सिद्धान्तों को प्रकट करती है। शासन का लक्ष्य लोकहित साधना होगा अथवा स्वार्थों की पूर्ति करना मात्र, इसका अनुमान प्रस्तावना में निहित दर्शन से लगाया जा सकता हैं।
3. राजनीतिक और नैतिक दृष्टि से उद्देशिका शासनकर्ताओं के दायित्वों का बोध कराती है।
4. जटिल परिस्थितियों में उद्देशिका संविधान के ध्येयों को इंगित कराती है।
5. उद्देशिका संविधान के संचालन में प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती है।
6. उद्देशिका में संविधान और शासन व्यवस्था का वह दर्शन अन्तर्निहित होता है जो संविधान के अनुच्छेदों की अस्पष्ट भाषा को

समझने तथा उसे व्यवहारिक बनाने में सहयोग देता है। इसी आधार पर कहा जाता है कि प्रस्तावना किसी भी संविधान का दर्पण है।

उद्देशिका पर प्रभाव (Impact on Preamble)

जहां तक भारत के संविधान की उद्देशिका का प्रश्न है, इसमें कई ऐसे शब्द और पद हैं जिनमें प्राच्य या पाश्चात्य, सभी परंपराओं के सर्वश्रेष्ठ तत्व समाहित हैं और प्रयोग की दृष्टि से भी सार्वभौम हैं।

उल्लेखनीय है कि भारत के संविधान की उद्देशिका पर तीन प्रमुख क्रांतियों का प्रभाव पड़ा है। **फ्रांसीसी क्रांति** में स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व पर, **अमेरिकी क्रांति** में राजनीतिक स्वतंत्रता और व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर तथा **रूसी क्रांति** में आर्थिक समानता पर बल दिया गया था। भारत के संविधान में इन सभी प्रभावों को शामिल किया गया है।

उद्देशिका संविधान का भाग है या नहीं (Whether Preamble is a part of Constitution)

उच्चतम न्यायालय ने उद्देशिका को संविधान का अभिन्न अंग माना है। इसके बावजूद उच्चतम न्यायालय ने **इन री बेरूबारी यूनियन,** ए.आई.आर. 1960 मामले में यह कहा था कि उद्देशिका संविधान का भाग नहीं है। यह संविधान के निर्वचन में भले ही प्रेरणा स्रोत का कार्य करती हो लेकिन इसके नहीं रहने से संविधान के उद्देश्यों की पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन अपने निर्णय का पुनर्विलोकन करते हुये **केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य** ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461 मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया है कि उद्देशिका संविधान का ही भाग है। इस निर्णय के उपरांत उद्देशिका के महत्व में अप्रत्याशित वृद्धि हो गई है क्योंकि यह संविधान के विभिन्न उपबंधों के निर्वचन में सहायक है। लेकिन इस संबंध में निम्नलिखित प्रस्थापनाएं लागू होती हैं :

1. उद्देशिका शक्ति का स्रोत नहीं है। शक्ति का आधार कोई विनिर्दिष्ट उपबंध ही हो सकता है।
2. उद्देशिका को विधान मंडल की शक्तियों पर प्रतिबंध लगाने के लिए स्रोत नहीं बनाया जा सकता।
3. यदि किसी अनुच्छेद की भाषा संदिग्ध है वहीं उद्देशिका की सहायता सीमित दायरे में ही ली जा सकती है।

एस.आर.बोम्बई बनाम यूनियन ऑफ इंडिया के मामले में भी उच्चतम न्यायालय ने उद्देशिका को संविधान का अभिन्न अंग माना है।

अत: स्पष्ट है कि प्रस्तावना किसी भी संविधान का वह भाग होता है जिसके माध्यम से शासन व्यवस्था को समुचित मार्गदर्शन प्राप्त होता है। साथ ही, वह राज्य एवं उसके समाज की प्रकृति का निर्धारण भी करती है। भारत के संविधान की उद्देशिका में ही **भारतीय राजव्यवस्था का दर्शन** अन्तर्विष्ट है। इसके अनुसार, भारतीय राजव्यवस्था संविधान के मूल उद्देश्य को प्राप्त करने के प्रति कटिबद्ध है। इसी दर्शन को उद्देशिका के अवयवों के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। उद्देशिका की भाषा से यह स्पष्ट है कि भारत एक लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। उद्देशिका में उल्लिखित शब्दों **'हम भारत के लोग'** से स्पष्ट है कि भारत के संविधान को जनता ने अधिनियमित किया है जो लोकतांत्रिक व्यवस्था का परिचायक है।

उद्देशिका के लाभ (Benefits of Preamble)

प्रस्तावना से पता चलता है कि:

1. संविधान का स्रोत क्या है, अर्थात् भारत के लोग।
2. संविधान का उद्देश्य क्या है, अर्थात् इसमें उन महान् अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की घोषणा की गई है। जिन्हें भारत के लोगों ने सभी नागरिकों के लिए सुनिश्चित बनाने की इच्छा की थी।
3 इसमें संविधान के प्रवर्त्तन की तिथि का उल्लेख है।

उद्देशिका में उल्लिखित महत्वपूर्ण शब्द (Important Terms Enshrined in the Preamble)

1. **लोकतंत्रात्मक :-** लोकतंत्र एक प्रक्रिया है जिससे राज्य अपने उद्देश्यों का चयन करता है अथवा लोकतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें नागरिक को शासन व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। व्यापक रूप से लोकतंत्र को राजनीतिक विचारधारा के अतिरिक्त एक सामाजिक विचारधारा भी माना जाता है। लोकतांत्रिक समाज का तात्पर्य एक ऐसे समाज से है जहां विचारों की स्वतंत्रता तथा भयमुक्त वातावरण स्थापित हो। भारत में राजनीतिक तथा सामाजिक, दोनों ही प्रकार का लोकतंत्र स्थापित है। इसके प्रमाण के रूप में सार्वभौम मताधिकार, निर्वाचित सदन के प्रति मंत्रिमंडल का उत्तरदायित्व, सभी नागरिकों को समान अधिकार

तथा एक ही निर्वाचक नामावली का होना महत्वपूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त भारत में आर्थिक लोकतंत्र भी प्रचलन में है। ऐसे लोकतंत्र का अभिप्राय एक ऐसी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था से है जिसमें अधिकारों के संरक्षण के साथ संसाधनों का समतामूलक वितरण हो।

2. **गणराज्य :-** गणराज्य शब्द के उल्लेख से स्पष्ट है कि संविधान के अधीन सभी प्राधिकारों का स्रोत कोई आनुवांशिक शासक नहीं बल्कि भारत के लोग हैं।
3. **समाजवादी :-** सैद्धांतिक रूप से समाजवादी अर्थव्यवस्था में संसाधनों पर राज्य का वर्चस्व होता है जबकि पूंजीवादी व्यवस्था में निजी क्षेत्र की अहम भूमिका होती है। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाई गई है। स्पष्टत: भारतीय संविधान ने समाजवाद की एक वृहत संकल्पना को समावेशित किया है। इसके अनुसार, भारत लोकतंत्रात्मक समाजवाद की स्थापना करने के लिए कटिबद्ध है। इस शब्द का समावेश प्रस्तावना में संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया था।
4. **पंथनिरपेक्ष :-** इस शब्द का समावेश भी प्रस्तावना में 42वें संशोधन द्वारा किया गया था। अनेक मतों को मानने वाले भारत के लोगों की एकता और बंधुत्व के सुनिश्चितीकरण के लिए ही पंथ निरपेक्षता की संकल्पना संविधान में समावेशित है। इस संकल्पना को अनुच्छेद 25-28 में धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों के साथ ही क्रियान्वित किया गया है। सैद्धांतिक रूप से पंथ निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत और समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, जो सांविधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से संबद्ध नहीं है और जो न तो धर्म का प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है। इसी संकल्पना के आधार पर भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य भी कहा जा सकता है। यद्यपि भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है लेकिन नये संविधान और लोकतंत्र की स्थापना के लिए भारत ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत का अनुपालन किया। धर्मनिरपेक्षता ही भारत की राष्ट्रीयता का आधार है। **इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण** ए. आई. आर. 1975, एस.सी. 2299 मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि पंथ निरपेक्षता संविधान का आधारभूत लक्षण है।
5. **न्याय :-** न्याय एक सिद्धांत है जो अधिकारों के साधारण वितरण को नियंत्रित करता है। यह मानव संबंधों की धर्मसम्मत व्यवस्था है। प्रस्तावना में सामजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय की संकल्पना का समावेश किया गया है।

सामाजिक न्याय से अभिप्राय है कि मानव-मानव के मध्य जाति, धर्म तथा वर्ण के आधार पर विभेद नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही, प्रत्येक नागरिक के लिए उन्नति के अवसर समान रूप से उपलब्ध हों। दूसरी ओर, आर्थिक न्याय का तात्पर्य संसाधनों का न्यायोचित वितरण है ताकि आर्थिक संकेन्द्रण का प्रतिषेध किया जा सके।

इसी प्रकार राजनीतिक न्याय राज्य के अन्तर्गत सभी नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार प्रदान करने वाली संकल्पना है। स्पष्टत: प्रस्तावना में उल्लिखित न्याय की संकल्पना लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के प्रति कटिबद्ध है।

6. **स्वतंत्रता :-** संविधान की प्रस्तावना में स्वतंत्रता का तात्पर्य केवल नियंत्रण या आधिपत्य का अभाव ही नहीं है बल्कि इसमें विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता के अधिकार की सकारात्मक संकल्पना है। प्रस्तावना से स्वतंत्रता के व्यापक अर्थ का बोध होता है। दूसरे शब्दों में प्रस्तावना एक ऐसी स्वतंत्रता का उल्लेख करती है जिसमें समाज में भयमुक्त वातावरण का निर्माण हो।
7. **समता :-** संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 के मध्य समता के अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि प्रस्तावना में उल्लिखित समता शब्द इन्हीं अधिकारों का प्रेरणा स्रोत है। समता का अर्थ विभेदीकरण का प्रतिषेध है जो सभी परिस्थितियों में किया जाना चाहिए।
8. **बंधुता :-** सर्वसामान्य नागरिकता से संबंधित उपबंधों का उद्देश्य भारतीय बंधुत्व की भावना को सुदृढ़ करना तथा एक सुदृढ़ लोकतंत्र का निर्माण करना है। व्यापक स्तर पर बंधुता का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बंधुत्व की भावना का विकास भी है।
9. **प्रभुता सम्पन्न :-** प्रस्तावना में वर्णित प्रभुता सम्पन्न शब्द का अर्थ यह है कि भारत आंतरिक अथवा बाह्य दृष्टि से किसी भी विदेशी सत्ता के अधीन नहीं है। यह संप्रभुता भारत की जनता मे ही निहित है।

उद्देशिका संविधान की आत्मा है (Preamble is the Soul of Constitution)

इसमें अग्रलिखित गुण हैं जिससे यह कहा जा सकता है-

1. प्रस्तावना संविधान की प्रेरणा और प्राण है।
2. नूतन भावनाओं और संकल्पों का बोध होता है।

3. उद्देशिका में चित्रित है स्वाधीनता संघर्ष की कल्पना का भारत।
4. उद्देशिका पर किसी वाद या एक विचारधारा का प्रभाव नहीं।
5. भारतीय क्रांन्ति की सूत्रधार प्रस्तावना।
6. उद्देशिका में चित्रित है भावी भारत का स्वरूप।

प्रस्तावना में संशोधन (Amendment in Constitution)

क्या उद्देशिका में अनुच्छेद 368 के तहत संशोधन किया जा सकता है? केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मामले में न्यायालय द्वारा यह निर्णय दिया कि उद्देशिका भी संविधान का एक भाग है, अतः अनुच्छेद 368 के तहत इसमें संशोधन किया जा सकता है।

उद्देशिका संविधान का एक आधारभूत ढाँचा है। जिसे संशोधन करके नष्ट नहीं किया जा सकता।

5. परिसंघ प्रणाली

यद्यपि परिसंघ को पूर्णत: परिभाषित नहीं किया जा सका है लेकिन अमेरिकी संविधान को परिसंघीय सविधान का सर्वोत्तम उदाहरण माना गया है। परिसंघ वस्तुत: एक व्यावहारिक संकल्पना है। भीमराव अंबेडकर के अनुसार, परिसंघ का आधारभूत सिद्धांत यह है कि संविधान द्वारा विधायिका और कार्यपालिकीय शक्तियों को केन्द्र और राज्य के बीच विभाजित किया जाता है।

भारत के संविधान को कई अवसरों पर अर्द्ध-परिसंघीय कहा जाता है लेकिन वास्तव में भारत का संविधान भारत को एक **परिसंघीय** संघ (Federatiton) के रूप में स्थापित करता है।

दूसरे शब्दों में, भारत में परिसंघ तथा संघ दोनों के ही गुण विद्यमान हैं। सामान्यत: यह माना जाता है कि परिसंघ में सरकार के कृत्यों में केन्द्र और राज्यों के मध्य सहभागिता होती है। कोई भी सरकार दूसरे की अभिकर्ता या प्रत्यायोजित नहीं होती बल्कि दोनों सरकारें एक दूसरे के समानान्तर एवं स्वतंत्र होती हैं।

स्पष्टत: सरकार के एक-दूसरे से स्वतंत्र दो केन्द्र बिन्दु परिसंघ का सारतत्व है।

भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 1** में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भारत राज्यों का संघ है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय परिसंघ राज्यों के मध्य किसी करार का परिणाम नहीं है तथा राज्यों को केन्द्र से विलग होने का अधिकार प्राप्त नहीं है। हमारी यह व्यवस्था कनाडा की संघीय व्यवस्था के तुल्य है, किन्तु अमेरिकी संघीय व्यवस्था से भिन्न है जहां संघ राज्यों के आपसी समझौते का परिणाम है।

न्यायपालिका द्वारा किये गये निर्वचन से स्पष्ट है कि संविधान के भाग 1 में वर्णित विभिन्न अनुच्छेदों (1 से 4) के तहत भारत के राज्य क्षेत्र का तात्पर्य अनुच्छेद 1(3) में व्याख्यायित तथ्यों से है। **विशेष संदर्भ,** 1956, ए. आई. आर. 1965, एस.सी.745, 762, **अमर सिंह बनाम राजस्थान सरकार,** ए. आई. आर. 1955, एस.सी. 504 तथा **मस्तान साहिब** बनाम मुख्य आयुक्त पांडिचेरी, ए. आई. आर. 1962, एस.सी. 797 मामलों में उच्चतम न्यायालय द्वारा इस संबंध में विस्तृत व्याख्या की गई है।

संघवाद (Federalism)

संघवाद राज्य का वह संगठनात्मक स्वरूप है जिसमें किसी समाज में राष्ट्रीय एकता तथा क्षेत्रीय स्वायत्तता के बीच संतुलन स्थापित किया जाता है। वस्तुत: यह साझे राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु संवैधानिक यंत्र है जिसमें देश में विद्यमान विविधता में एकता सुनिश्चित की जाती है।

भारतीय संघवाद का स्वरूप

''भारतीय संघवाद का स्वरूप संघात्मक है लेकिन आत्मा एकात्मक है''।

भारतीय संविधान के विवादास्पद विषयों में एक उसका संघात्मक स्वरूप है। ऐसा संविधान के प्रथम अनु. से ही विदित हो जाता है जिसमें भारत को राज्यों का संघ (Union of States) कहा गया है इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय संविधान में परिसंघात्मक की जगह **'संघ'** शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी कारण भारतीय संघ व्यवस्था के स्वरूप के बारे में विद्वानों में एकमतता का अभाव है। इसी को निरूपित करते हुए ग्रेनविल ऑस्टिन कहते है। कि भारतीय संघवाद का स्वरूप अनोखा है।

भारतीय राज्य/संविधान के संदर्भ में तीन प्रकार के विचार प्रचलित हैं-

1. कुछ न्यायविद् व राजनीति सिद्धान्त शास्त्री, जिनमें डॉ. अम्बेडकर व सी.एच. एलेक्जेड्रोविच शामिल हैं, इसे संघात्मक राज्य मानते हैं।
2. भारतीय संविधान एकात्मक राज्य है इसका समर्थन पी.टी. चार्को व एच.पी.पास्कर ने किया है।
3. कुछ विचारक मध्यमार्ग का अनुसरण करते हुए अर्धसंघात्मक राज्य कहते हैं। इसका समर्थन करने वालों में के.सी. व्हेयर व आइवर जैनिंगन प्रमुख है।

कुछ विचारक यह भी मानते है कि भारतीय राज्य का स्वरूप संघात्मक है लेकिन इसकी आत्मा एकात्मक है।

भारतीय संविधान में संघात्मक लक्षण (Federal Features of Indian Constitution)

भारत का संविधान प्रधानत: परिसंघात्मक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत संघ सरकार के प्राय: सभी लक्षण निहित हैं। संघीय शासन प्रणाली की अनेक विशेषताएं होती हैं जो भारतीय शासन प्रणाली में मौजूद हैं। इन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया गया है:

1. **संविधान की सर्वोच्चता :-** संविधान की सर्वोच्चता संघीय शासन व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता है जिसके तहत संघ तथा विभिन्न इकाइयों की सरकारों को संविधान की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत कार्य करना होता है।

   स्पष्टत: भारत में केन्द्र तथा राज्य सरकारों को संविधान से ही सभी शक्तियां प्राप्त हैं जो संविधान की सर्वोच्चता का प्रमाण है।

2. **द्वैध शासन :-** द्वैध सरकार का अर्थ है दो सरकारों का विद्यमान होना। भारतीय संघ में केन्द्र तथा विभिन्न राज्यों की सरकारें हैं और दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। दोनों ही सरकारों का आधार संविधान है। सामान्यत: यह प्रतीत होता है कि दोनों सरकारें समानान्तर रूप से कार्य करती हैं लेकिन एकल नागरिकता, न्यायपालिका की सर्वोच्चता आदि विषयों के समावेश से यह स्पष्ट है कि द्वैधता के सिद्धांत का अक्षरश: पालन संविधान में नहीं किया गया है।

   इसका उद्देश्य निश्चित रूप से समन्वयकारी भावना है जो भारतीय परिसंघ के ढांचे को सुदृढ़ बनाये रखने में सहायक है।

3. **शक्तियों का बंटवारा :-** संघात्मक शासन व्यवस्था में सामान्यत: केन्द्र तथा राज्य सरकारों के मध्य शक्तियों का विभाजन किया जाता है। भारतीय संविधान में भी ऐसे प्रावधान किये गये हैं। शक्तियों के बंटवारे के लिए संविधान में संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची नामक सूचियों का प्रावधान है।

   विश्व के अन्य संघीय संविधानों की भांति भारत के संविधान में भी शक्तियों का बंटवारा होने से भारत को एक परिसंघ कहा जाता है।

4. **न्यायपालिका की स्वतंत्रता :-** संघात्मक व्यवस्था की सफलता न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर निर्भर करती है। भारत के संविधान के तहत भी न्यायपालिका को स्वतंत्र रखा गया है। भारत का उच्चतम न्यायालय न केवल संसद तथा राज्य विधान मंडलों द्वारा पारित विधियों की सांविधानिकता की जांच करता है बल्कि उन्हें अवैध भी घोषित करता है तथा विभिन्न राज्य सरकारों के मध्य उत्पन्न सांविधानिक विवादों पर निर्णय देने का अधिकार भी रखता है।

5. **लिखित संविधान-** संघात्मक संविधान आवश्यक रूप से लिखित संविधान होता है। संघ राज्य की स्थापना एक जटिल संविदा द्वारा होती है। जिसमें संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयाँ कुछ शर्तों पर ही संघ में सम्मिलित होती हैं।

   इन शर्तों का लिखित होना आवश्यक होता है अन्यथा संविधान की सर्वोपरिता को बनाए रखना असंभव होगा।

''एस आर. बोम्मई बनाम भारत संघ'' के मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि भारतीय संविधान एक परिसंघात्मक संविधान है और परिसंघवाद संविधान का आधारभूत ढाँचा है।

उपरोक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि भारत की संघीय व्यवस्था संघात्मक शासन की सभी विशेषताओं को पूरा करती है। अत: इसे संघात्मक माना जा सकता है।

लेकिन संघात्मक व्यवस्था की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ ही भारतीय संविधान में अनेक ऐसे प्रावधान मौजूद है जो इसे एकात्मक व्यवस्था का लक्षण प्रदान करते हैं।

भारतीय संविधान में एकात्मक प्रवृत्तियां (Unitary Features of Indian Constitution)

भारतीय संविधान की विशेषताओं में उसका परिसंघात्मक तथा एकात्मक होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

1. **केन्द्र के पक्ष में शक्ति वितरण :-** यद्यपि विभिन्न सूचियों के माध्यम से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन किया गया है लेकिन कई अवसरों पर केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। साथ ही, अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) भी केन्द्र के ही अधीन रखी गई हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से केन्द्र के अधीन ही राज्य सरकारें कार्य करती हैं।

2. **संघ तथा राज्यों का एक संविधान :-** सामान्यत: परिसंघीय व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों के संविधान अलग होते हैं। लेकिन भारत में ऐसे प्रावधान नहीं किये गये हैं। एक संविधान होने के कारण केन्द्र को अधिक शक्तिशाली कहा जा सकता है।

3. **एकल नागरिकता :-** एकल नागरिकता का गुण भारतीय संविधान में केन्द्र को पुन: राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बनाता है। हालांकि सरकार ने नागरिकता कानून में संशोधन कर अनिवासी भारतीयों और भारतीय मूल के व्यक्तियों के लिए दोहरी नागरिकता का प्रावधान किया है लेकिन यह प्रावधान वस्तुत: एक राजनीतिक सुविधा के रूप में दिया गया है और इससे संविधान के मूल ढांचे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

4. **राज्यपालों की नियुक्ति :-** विभिन्न राज्यों के राज्यपाल वस्तुत: राष्ट्रपति के प्रतिनिधि होते हैं। इस आधार पर उनकी नियुक्ति की जाती है, न कि उनका निर्वाचन। ऐसी स्थिति में उन्हें राष्ट्रपति के अधीन कार्य करना होता है।

5. **आपातकालीन उद्घोषणा :-** संविधान में विशेष रूप से भारतीय राष्ट्रपति को आपातकालीन अधिकार प्रदान किये गये हैं। अनुच्छेद 356 के तहत किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल होने की स्थिति में राष्ट्रपति उस राज्य में आपातकाल की उद्घोषणा कर सकता है।
6. **राज्यों में स्वायत्तता का अभाव :-** संविधान के अनुच्छेद 3 के तहत केन्द्र को राज्यों के पुनर्गठन का अधिकार प्रदान किया गया है जो इस तथ्य का प्रमाण है कि केन्द्र अपनी इच्छा के अनुरूप यह कार्य कर सकता है।
7. **संवैधानिक संशोधनों में केन्द्र को प्राथमिकता :-** संविधान में किये जाने वाले संशोधनों में निश्चित रूप से केन्द्र को अधिक शक्ति प्राप्त है।
8. एकीकृत न्यायपालिका की व्यवस्था।
9. वित्तीय शक्तियों का वितरण संघ के पक्ष में संघ की आय के स्रोत ज्यादा महत्वपूर्ण और व्यापक हैं।
10. **अनुच्छेद** 365- भारतीय संविधान में संघ द्वारा राज्यों को निर्देश देने का प्रावधान है और राज्य द्वारा निर्देशों का पालन न करने पर अनु.356 के तहत संवैधानिक तंत्र की विफलता की घोषणा करने का अधिकार है।
11. **अनुच्छेद** 200, 201- भारत में राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित कानून राज्यपाल के द्वारा राष्ट्रपति के विचार हेतु आरक्षित किये जा सकते हैं और राष्ट्रपति उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।
12. संघ द्वारा कुंछ विशेष परिस्थितियों में राज्यसूची के विषयों पर भी कानून बनाये जा सकते हैं। ऐसी पांच परिस्थितियां हैं-
    - **(A) अनुच्देद 249** के तहत अगर राज्यसभा अपने उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रपति महत्व का घोषित कर दे।
    - **(B) अनुच्देद 250** के अनुसार अगर राष्ट्रीय आपात की घोषणा की गई है।
    - **(C) अनुच्देद 252** के तहत दो या दो से अधिक राज्यों के द्वारा आपसी सहमति द्वारा अनुरोध करने पर।
    - **(D) अनुच्देद253** के तहत किसी अंतर्राष्ट्रीय संन्धि या करार को पूरा करने के लिए।
    - **(E) अनुच्देद 357** के अनुसार राज्य सूची के विषय पर संघ कानून बना सकता है अगर संबंधित राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू है
13. **अखिल भारतीय सेवायें-** जैसे **आई.ए.एस.**, **आई.पी.एस.** और **आई.एफ.एस.** आदि भी राज्यों में तैनात होने के बावजूद संघ के द्वारा नियंत्रित होते हैं।
14. व्यवहार में भी कुछ कारणों से भारत में एकात्मक व्यवस्था को मजबूती मिलती है-
    - (A) दल व्यवस्था।
    - (B) योजना आयोग।
    - (C) राज्यपाल के पद का दुरूपयोग।
    - (D) अनु. 356 का बार बार दुरूपयोग।

निष्कर्ष

हम कह सकते है कि भारत एक संघ राज्य है लेकिन एक विशेष प्रकार का संघ है जो हमारे विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक परिवेश की देन है।

भारत में संविधान निर्माताओं के समक्ष दो प्रकार की समस्याएं थीं एक ओर देश में धर्म, क्षेत्र, भाषा के आधार पर विविधता थी जिसे बचाना आवश्यक था दूसरी ओर आजादी के तुरंत बाद सांप्रदायिक दंगे, अलगाववाद, क्षेत्रवाद, क्षेत्रीय विषमता, राष्ट्रीय एकीकरण आदि की समस्याएं थीं जिसके लिए मजबूत केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता थी।

अत: संविधान निर्माताओं ने दुनिया के सभी संविधानों को अपनाते हुए भारतीय संविधान का निर्माण किया और उन्होंने संघात्मक व्यवस्था को अपनाते हुए भी मजबूत केन्द्र की स्थापना की।

अत: डॉ. अम्बेडकर से सहमति व्यक्त करते हुए भी हम कह सकते हैं कि मूलत: संघात्मक होते हुए भी समय और परिस्थितियों के अनुसार भारतीय व्यवस्था एकात्मक भी रह सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन विशेषताओं को ग्रहण करते हुए भारतीय संघ व्यवस्था भी अनोखी व विशिष्ट प्रकार की हो गई है

भारतीय संघवाद में नवीन प्रवृतियां (New trends in Indian Federalism)

1989 के पश्चात् भारत की संघीय व्यवस्था में कुछ नयी प्रवृतियों का विकास दिखता है जो पहले से अलग हैं। 1989 के पश्चात् केन्द्र विमुखता कम हो रही है और राज्य भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे है इसके पीछे राजनीतिक और आर्थिक तत्वों का योग है।

प्रथम प्रवृति

1989 के चुनाव में एकदलीय व्यवस्था खत्म हो गई और गठबंधन की राजनीति की शुरूआत हुई। क्षेत्रीय दलों का महत्व बढ़ा। राज्य में शासन करने वाले दल भी सत्ता में सहभागी बने अत: राज्यों की स्थिति महत्वपूर्ण हुई।

गठबंधन की राजनीति के पहले दौर में चुनाव पश्चात गठबंधन बनते थे। अत: देश की संघीय व्यवस्था में सौदेबाजी की प्रवृति विकसित हुई। जिसे मोरिस जोंस की शब्दावली का प्रयोग करते हुए सौदेबाजी के संघवाद की संज्ञा दे सकते है। लेकिन अब गठबंधन की राजनीति परिपक्व हो चुकी है और चुनाव पूर्ण गठबंधन बनने लगे हैं। चुनाव पूर्ण गठबंधन की व्यवस्था के कारण अब भारतीय संघवाद में भी नई प्रवृति सहयोगी संघवाद के रूप में देखी जा सकती है।

अब संघ व राज्य एक-दूसरे के साथ सौदेबाजी करने के बजाय एक दूसरे के साथ सहयोग कर रहे हैं।

सहकारी संघवाद: सहकारी संघवाद का अर्थ एक ऐसे परिसंघीय ढाँचे से है जिसमें राष्ट्रीय तथा उपराष्ट्रीय (राज्य) सरकारों के बीच परस्पर समन्वय बना होता है। साथ ही सभी राज्य सरकारों के बीच भी ऐसा समन्वय देखा जा सकता है। हालांकि दोनों स्तरों की सरकारों स्वतंत्र तथा स्वायत्त रूप से कार्य करती हैं। लेकिन इसे दोहरी संप्रभुता नहीं कहा जा सकता। इसके बदले यह एक एकीकृत प्रणाली का अवयव माना जा सकता है।

प्रमुख अभिलक्षण

(i) नीतिगत उत्तरदायित्वों की साझेदारी

(ii) वित्तीय संसाधनों की साझेदारी

(iii) प्रशासनिक अंतनिर्भरता

(iv) राज्य स्तरीय सरकारों को अनुदान के रूप में सहायता देने वाले प्रावधान

(v) स्वतंत्र अथवा स्वायत्त रूप में उपराष्ट्रीय सरकारों द्वारा कार्य

सहाकरी संघवाद के संबंध में Corwin ने कहा है यह एक ऐसे प्रणाली है जिसमें राष्ट्रीय और क्षेत्रीय सरकारों एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करती हैं। तथा दोनों का उद्देश्य मूल रूप से जन-कल्याण होता है।

भारत के संविधान में यद्यपि सहकारी संघवाद शब्दावली का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। लेकिन कई विशिष्ट प्रावधानों से ऐसे संघवाद के विद्यमान होने की पुष्टि की जा सकती है। जैसे-

(i) अनु. 1 में राज्यों के संघ के रूप में भारत की स्थापना।

(ii) अनु. '245' से '281' के बीच संघ-राज्य संबंधों के लिए विशेष प्रावधान, जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं:-

(क) अनु. 245 में विधि-निर्माण के लिए संघ और राज्यों के अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख ताकि किसी भी संघर्ष से बचा जा सके।

(ख) अनु. '246' में विधि निर्माण के लिए शक्तियों का स्पष्ट विभाजन जिसके लिए संघ, राज्य तथा समवर्ती सूचियों का प्रावधान है।

(ग) अनु. 258 तथा 258 (a) (7वें संशोधन 1956 से शामिल) क्रमश: संघ और राज्यों द्वारा किसी विशेष कार्य के लिए एक-दूसरे की सहायता देने का प्रावधान।

उल्लेखनीय है कि इन्हीं प्रावधानों के संबंध में 1983 केन्द्र-राज्य संबंधों पर गठित सरकारिया आयोग ने यह कहा था कि केन्द्र राज्य समन्वय के लिए इन अनु. का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाना चाहिए।

(घ) अनु. '262' में अंतरराज्यीय जल-विवादों के समाधान में संघ की भूमिका का उल्लेख।

(ड.) अनु. 263' से '279' के बीच संघ और राज्यों के बीच राजस्व की साझेदारी संबंधी प्रावधान।

(घ) अनु. '280' में एक 'पाँच वर्षीय' वित्त आयोग का उल्लेख जो संघ और राज्यों के बीच राजस्व की साझेदारी के लिए

अनुशंसा करता है।

(iii) अनु. 282 में राज्यों को अनुदान के माध्यम से वित्तीय सहायता देने का प्रावधान।

भारत में सहकारी संघवाद के समक्ष चुनौतियाँ

(Challenges before Cooperative Federalism in India)

(i) पिछले दो दशकों में आर्थिक उदारीकरण और बाजारी अर्थव्यवस्था के विस्तार से अधिक-से अधिक निवेश प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा।

(ii) असंतुलित क्षेत्रीय विकास जो देश के कई भागों से उठने वाली राजनीतिक, आर्थिक माँगों को प्रेरित करती है। इन माँगों में नए और छोटे राज्यों के गठन की माँग शामिल है।

(iii) क्षेत्रीय दलों का उदय और साझा राजनीति से उत्पन्न समस्याएँ।

(iv) क्षेत्रवाद के फैलाव के कारण भाषा, धर्म तथा अन्य सांस्कृतिक आधारों पर परस्पर विरोध की भावना।

(v) पुलिस तथा सुरक्षा बल पर नियंत्रण रखने के विषय पर संघ और राज्यों के बीच कई अवसरों पर हितों का टकराव।

द्वितीय प्रवृति

वर्तमान समय में भारतीय संघ व्यवस्था में कुछ पदों का संघीकरण हो रहा है और कुछ सरकारी प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया अधिक लचीली होने के रूप में आयी है। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति या मुख्य चुनाव आयुक्त का पद। उदाहरण के तौर पर भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. के.आर.नारायण के द्वारा सरकार बनाने के लिए पूर्व लिखित समर्थक पत्र की मांग करना, राष्ट्रपतियों द्वारा विधेयकों को अब बार बार पुनर्विचार के लिए भेजा जा रहा है।

इसी प्रकार भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त टी.एन.शेषन के द्वारा राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र लाने का निर्देश देना। जे.एम.लिंगदोह के द्वारा गुजरात में राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश करना इस नई प्रवृति का परिचायक है।

इस प्रकार इस नई प्रवृति के अर्न्तगत राष्ट्रपति और चुनाव आयोग ज्यादा सक्रिय हो गये हैं।

तृतीय प्रवृति

1991 के पश्चात् भारतीय संघ व्यवस्थायें एक और नई प्रवृति दिखी है जिसे कभी-कभी परंपरागत संघवाद से अलग दिखने के लिए नव संघवाद का नाम दिया जाता है।

परंपरागत रूप में संघ व्यवस्थाओं को द्वि-स्तरीय माना जाता है अर्थात शक्तियों का विभाजन संघ और इकाइयों के बीच होता है। परन्तु अब इसे नये संघीय रूप में माना जा रहा है। संघीय व्यवस्था त्रिस्तरीय हो गई।

73वें और 74वें संशोधन के बाद स्थानीय स्वशासन संस्थाओं (पंचायत और नगरपालिकाओं) को भी संवैधानिक रूप से शक्ति के विभाजन में स्थान दिया गया तथा 11वीं व 12वीं अनुसूची जोड़ी गई।

इस प्रकार भारतीय संघीय व्यवस्था में नई प्रवृति दृष्टिगोचर हो रही है।।

संघ का राज्य क्षेत्र (The Union and its Territory)

संविधान में भारत के प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य को ''राज्यों का संघ'' घोषित किया गया है। विभाजन के पश्चात् सुदृढ़ केन्द्रयुक्त परिसंघ की स्थापना का उद्देश्य राजनीतिक एवं प्रशासनिक दोनों ही रहा है।

संघ का नाम ''इण्डिया'' अथवा ''भारत'' है। प्रथम अनुसूची में विनिर्दिष्ट इसके सदस्यों को राज्य कहा जाता है।

भारत का राज्यक्षेत्र (Territory of India)

भारत के राज्यक्षेत्र में

1. राज्यों के राज्य क्षेत्र,
2. संघ-राज्य क्षेत्र, और
3. सरकार द्वारा अर्जित राज्य क्षेत्र शामिल हैं।

संविधान के सातवें संशोधन अधिनियम 1956 के पूर्व संघ से संबद्ध राज्यों की चार श्रेणियां थीं- प्रथम अनूसूची में भाग 'अ', 'ब' और 'स' राज्य आते थे। अर्जित किए गए राज्यक्षेत्रों को भाग 'ड' में रखा गया था।

7वें संशोधन अधिनियम द्वारा उपर्युक्त तीनों को समाप्त कर दिया गया और संघ के अधीन सभी को राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 के द्वारा केवल एक ही स्तर प्रदान किया गया। इस अधिनियम ने राज्यों की उक्त चार श्रेणियों की जगह दो राज्य एवं संघ राज्य क्षेत्र ही श्रेणियां रखी।

भारत के राज्य क्षेत्र के अधीन समुद्री जल को भी सम्मिलित किया गया है। इस संदर्भ में सांविधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त सन् 1976 में पारित क्षेत्रीय जल, महाद्वीपीय निमग्नतट, विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र एवं अन्य समुद्रवर्ती क्षेत्र कानून का भी विशेष महत्व है।

वस्तुतः महासागरीय पट्टी अथवा क्षेत्रीय महासागर मुख्यतः महासागर के ही भाग हैं जो तटीय राज्यों के निकटस्थ हैं तथा जिन पर उन राज्यों का अधिकार होता है।

सन् 1956 तक भारत के क्षेत्रीय महासागर की चौड़ाई 3 समुप्रीम मील थी लेकिन राष्ट्रपति द्वारा की गई घोषणा के आधार पर उसी वर्ष इसे 6 समुद्र मील कर दिया गया था। सन् 1967 में इसका विस्तार 12 समुद्री मील तक कर दिया गया। भारत के संविधान में भी समुद्री पट्टी का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

सांविधानिक प्रावधानों के अनुसार, सम्पूर्ण भूमि, खनिज तथा समुद्र में उपलब्ध अन्य पदार्थ जो महाद्वीपीय निमग्नतट, विशेष आर्थिक क्षेत्र तथा क्षेत्रीय जल के अधीन हैं, भारतीय सीमा के अन्तर्गत रखे गये हैं, जिन पर भारत की संघीय व्यवस्था समय-समय पर विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, तथा विद्यमान वैधानिक एवं संवैधानिक प्रावधानों के तहत विशेष कदम उठा सकती है (अनुच्छेद 297 (1))। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 297 (3) के अनुसार समय-समय पर पारित विभिन्न कानूनों तथा संसदीय प्रावधानों के अंतर्गत भारतीय महासागरीय क्षेत्रीय सीमा, महाद्वीपीय निमग्न तट तथा विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र को परिभाषित किया गया है। इन संवैधानिक प्रावधानों के अनुरुप भारत सरकार ने सन् 1976 में क्षेत्रीय जल, महाद्वीपीय निमग्न तट, विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र तथा अन्य महासागरीय क्षेत्र कानून (The Territorial Waters, Continental Shelf, Exclusive Economic Zone and other Maritime Zone Act) पारित किया। उक्त वैधानिक प्रावधान के तहत विभिन्न महासागरीय सीमाओं का निर्धारण किया गया है।

सन् 1977 से प्रभावी इस कानून के अन्तर्गत क्षेत्रीय जल की सीमा 12 समुद्री मील, कटिबंधीय क्षेत्र की सीमा 24 समुद्री मील तथा विशिष्ट आर्थिक क्षेत्र की सीमा 200 समुद्री मील कर दी गई है। स्पष्टतः इस कानून द्वारा भारत का अधिकार क्षेत्र 83,200 वर्ग किलोमीटर से 2.2 से 2.8 लाख वर्ग कि.मी. कर दिया गया है। यह महासागरीय सीमा कुल भूखंण्ड का 2/3 भाग है। सभी राष्ट्रों की भांति भारत की जलीय राजनीतिक सीमा भी 1982 के संयुक्त राष्ट्र सामुद्रिक विधि सम्मेलन (United Nations Convention on the Law of the Sea, UNCLOS) के अनु. 4 से नियंत्रित होती है। यह सीमा आधार रेखा से 12 समुद्री मील तक है।

नए राज्यों की स्थापना या प्रवेश (Admission or establishment of new States)

अनुच्छेद-2 के अन्तर्गत संसद ऐसे निर्बन्धनों या शर्तों के साथ, जिन्हें वह उचित समझे नए राज्यों का प्रवेश या स्थापना कर सकती है। इस प्रकार **अनुच्छेद-2** द्वारा संसद को दो प्रकार की शक्ति प्राप्त है।

1. नए राज्यों को संघ में शामिल करने की शक्ति, और
2. नए राज्यों की स्थापना की शक्ति।

पहले का संबंध उन राज्यों से है जो पहले से विद्यमान हैं। दूसरा उन राज्यों से संबंधित है जो भविष्य में स्थापित या अर्जित किए जा सकते हैं। अर्जित किए गए क्षेत्र भारत के राज्य क्षेत्र में अधिगृहीत क्षेत्रों को भी सम्मिलित किया जाता है। अधिगृहीत क्षेत्र का अर्थ उन क्षेत्रों से है जिन्हें भारत क्रय कर अथवा किसी संधि के आधार पर प्राप्त करेगा। इस प्रकार पांडिचेरी सन् 1962 तक एक अधिगृहीत क्षेत्र था जिसके उपरांत इसे एक संघ शासित प्रदेश के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

इसी प्रकार, गोवा, दमन तथा दीव जो पूर्व में पुर्तगाल के अधिकार क्षेत्र में था, को भारत ने अधिगृहीत कर सन् 1961 में उन्हें संघ शासित प्रदेश घोषित किया। इसके उपरांत सन् 1987 में गोवा को एक राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। सिक्किम को जनमत संग्रह के आधार पर भारतीय राज्य क्षेत्र में एक राज्य के रूप में समावेशित किया गया था।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 2 तथा 3 में राज्यों के गठन तथा पुनर्गठन की विस्तृत व्याख्या की गई है। अनुच्छेद 2 के तहत संसद विधि द्वारा संघ के राज्य क्षेत्र में नये राज्य का समावेश कर सकती है।

नए राज्यों का निर्माण (Formation of New States)

नए राज्यों का निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों का बदलना, अनुच्छेद 3 के अनुसार, नए राज्यों का निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों में परिवर्तन करने का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद में उल्लेख है कि संसद विधि द्वारा

क. किसी राज्य में से उसका राज्य क्षेत्र अलग कर अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नये राज्य का निर्माण कर सकती है। अथवा

ख. किसी राज्य का क्षेत्र विस्तार कर सकती है। अथवा

ग. किसी राज्य के क्षेत्र को कम कर सकती है। अथवा

घ. किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है। अथवा

ड. किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकती है।

परन्तु इस प्रयोजन के लिए कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना और जहां विधेयक में अन्तर्विष्ट प्रस्थापना का प्रभाव राज्यों में से किसी के क्षेत्र, सीमाओं अथवा नाम पर पड़ता है, वहां जब तक उस राज्य के विधान मंडल द्वारा उस पर अपने विचार, ऐसी अवधि के भीतर जो निर्देश में विनिर्दिष्ट की जाये या ऐसी अवधि के भीतर जो राष्ट्रपति द्वारा अनुज्ञात की जाये, प्रकट किये जाने के लिए वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्देशित नहीं कर दिया गया है और इस प्रकार विनिर्दिष्ट या अनुज्ञात अवधि समाप्त नहीं हो गई है, संसद के किसी सदन में पुर:स्थापित नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद के खण्ड (क) द्वारा संसद को प्रदत्त शक्ति के अन्तर्गत किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के किसी भाग को किसी अन्य राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के साथ मिलाकर नये राज्य या संघ राज्यक्षेत्र का निर्माण करना है।

संप्रभुता में अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा किया गया परिवर्तन राष्ट्र की सीमा में अनुच्छेद 3 के तहत नये राज्यों के गठन पर लागू नहीं होता है। (**पंजाब राज्य बनाम बलबीर** ए.आई.आर. 1977 एस.सी. 629) अनुच्छेद 4 के अन्तर्गत पहली तथा चौथी अनुसूची के संशोधन तथा अनुपूरक, आनुषांगिक और परिणामिक विषयों का उपबंध करने के लिए अनुच्छेद 2 और अनुच्छेद 3 के अधीन बनाई गई विधियों का उल्लेख है। अनुच्छेद 2 एवं 3 में निर्दिष्ट किसी विधि में पहली अनुसूची और चौथी अनुसूची के संशोधन के लिए ऐसे उपबंध अन्तर्विष्ट होंगे जो उस विधि के उपबंधों को प्रभावित करने के लिए आवश्यक हों तथा ऐसे अनुपूरक, आनुषांगिक तथा परिणामिक उपबंध भी अन्तर्विष्ट हो सकेंगे जिन्हें संसद आवश्यक समझे। अनुच्छेद 4 (ख) में यह उल्लेख है कि ऐसी कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिए संविधान का संशोधन नहीं समझी जायेगी।

राज्य पुनर्गठन आयोग (State Reorganization Commission)

भारत सरकार द्वारा सन् 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गई थी जिसका मुख्य उद्देश्य स्वतंत्र भारत में सीमा निर्धारण करना था। वस्तुत: भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति तथा विभाजन के फलस्वरूप राष्ट्र के समक्ष सीमांतीय अखंडता की रक्षा सर्वाधिक प्रमुख चुनौती थी। उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश फजल अली की अध्यक्षता में गठित इस आयोग में एच.एन. कुंजरू तथा के. एम. पाणिक्कर को सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। आयोग द्वारा राज्यों की सीमा के निर्धारण हेतु निम्नांकित तथ्यों को आधार बनाया गया :

1. सांस्कृतिक समरूपता।
2. भाषाई समायोजन।
3. व्यवहार्य सामुदायिक सहायता।
4. सांप्रदायिक एवं अलगाववादी शक्तियों का अभाव।

आयोग की रिपोर्ट में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया कि भाषाई तथा सांस्कृतिक आधारों पर राज्यों का पुनर्गठन न्यायोचित नहीं है। इस कारण प्रशासनिक आधार पर ही पुनर्गठन का कार्य किया जाना चाहिए। आयोग की रिपोर्ट में राज्यों **'ए', 'बी'** तथा **'सी'** श्रेणियों को समाप्त करने का सुझाव भी दिया गया।

- सन् 1956 में आयोग द्वारा दी गई रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार ने राज्य पुनर्गठन कानून पारित किया जिसके परिणामस्वरूप

प्रशासनिक तथा राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुरुप 8 राज्यों का सृजन किया गया। भारत में राज्यों के गठन हेतु संसदीय शासन प्रणाली तथा कुछ सीमा तक औपनिवेशिक आधारों का प्रयोग किया जाता रहा है। कमोबेश यही आधार 1 नवंबर 2000 को छत्तीसगढ 9 नवबंर को उत्ताराखण्ड़ 15 नवबंर को सन् 2000 को झारखंड नामक नव सृजित तीन नये राज्यों, का गठन किया गया हैं।

भाषाई आधारों पर बम्बई प्रेसीडेंसी को महाराष्ट्र एवं गुजरात नामक दो राज्यों में विभक्त किया गया था। संत फतेह सिंह के नेतृत्व में शिरोमणि अकाली दल की निरंतर की जा रही मांगों के आधार पर पंजाब को तीन भागों में विभक्त कर हरियाणा, हिमाचल प्रदेश एवं पंजाब राज्यों का गठन किया गया। इसी प्रकार भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्रों को असम के प्रशासनिक अधिकार क्षेत्र से बाहर कर सात पूर्वोत्तर राज्यों का गठन किया गया, यथा – अरूणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैंड, सिक्किम तथा त्रिपुरा। इन राज्यों के गठन का मुख्य कारण इनकी सांस्कृतिक धरोहरों, भाषाओं तथा जनजातीय विशेषताओं को अक्षुण्ण रखना था। भारत के पश्चिमी भाग में पुर्तगालियों के अधिकार क्षेत्र से मुक्त होने के उपरांत गोवा को सन् 1961 में केन्द्रशासित प्रदेश के रूप में स्थापित किया गया लेकिन 1987 में इसे एक स्वतंत्र राज्य के रूप में पुनर्गठित किया गया।

वर्ष 2014 को आन्ध्र प्रदेश से अलग कर एक नऐ राज्य तेलंगाना का गठन किया गया जो देश का 29 वां राज्य बनां

क्षेत्रीय परिषद (Zonal Council)

भारतीय संविधान में राज्यों के अतिरिक्त किसी अन्य क्षेत्र का उल्लेख नहीं किया गया था। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल उपरांत संपूर्ण देश को कई बृहत क्षेत्रों में विभक्त कर उनके प्रशासन को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से क्षेत्रीय परिषदों के गठन पर बल दिया गया। अन्ततः राज्य पुनर्गठन कानून की धारा 15 के तहत क्षेत्रीय परिषदों का गठन किया गया है।

वर्तमान में भारत में कुल पांच क्षेत्रीय परिषदें कार्यरत हैं। इन क्षेत्रीय परिषदों का गठन भारत के राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। प्रत्येक क्षेत्रीय प्ररिषद में निम्नांकित सदस्य होते हैं : 1. गृह मंत्री, 2. संबद्ध राज्यों के मुख्यमंत्री, 3. संबद्ध राज्यों के राज्यपाल द्वारा मनोनीत दो मंत्री, 4. संघशासित प्रदेश के लिए राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य तथा 5. योजना आयोग के सदस्य (सलाहकार के रूप में)। भारत में वर्तमान में कार्यरत क्षेत्रीय परिषदों के मुख्यालय तथा इनके अधीन आने वाले क्षेत्रों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है :

1. **उत्तर क्षेत्रीय परिषद**

मुख्यालय	:	नई दिल्ली
अधीनस्थ क्षेत्र	:	जम्मू-कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, चंडीगढ़ एवं दिल्ली।

2. **दक्षिणी क्षेत्रीय परिषद**

मुख्यालय	:	चेन्नई
अधीनस्थ क्षेत्र	:	आंध्र प्रदेश, केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु एवं पांडिचेरी।

3. **मध्य क्षेत्रीय परिषद**

मुख्यालय	:	इलाहाबाद
अधीनस्थ क्षेत्र	:	उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़।

4. **पूर्वी क्षेत्रीय परिषद**

मुख्यालय	:	कोलकाता
अधीनस्थ क्षेत्र	:	बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, असम, नागालैंड, सिक्किम, मिजोरम, मेघालय, मणिपुर एवं अरुणाचल प्रदेश।

5. **पश्चिमी क्षेत्रीय परिषद**

मुख्यालय	:	मुम्बई
अधीनस्थ क्षेत्र	:	गुजरात, महाराष्ट्र, गोवा, दमन, दीव, दादरा एवं नागर हवेली।

क्षेत्रीय परिषद के कार्य

1. देश के विभिन्न भागों में राजनीतिक संतुलन स्थापित करना।
2. भाषाई एवं क्षेत्रीय विवादों का निपटारा।
3. सामाजार्थिक नीतियों के निर्धारण में केन्द्र के साथ सहयोग।

भारत संघ के राज्य एवं संघशासित प्रदेश

राज्य/प्रदेश	स्थापना वर्ष	राज्य/प्रदेश	वर्ष
आंध्र प्रदेश	1956	जम्मू एवं कश्मीर	1956
असम	1956	नागालैंड	1962
बिहार	1956	हरियाणा	1966
गुजरात	1960	हिमाचल प्रदेश	1971
केरल	1956	मणिपुर	1972
मधय प्रदेश	1956	त्रिपुरा	1972
तमिलनाडु	1956	मेघालय	1972
महाराष्ट्र	1960	सिक्किम	1975
कर्नाटक	1968	मिजोरम	1986
उड़ीसा	1956	अरूणाचल प्रदेश	1986
पंजाब	1966	गोवा	1987
राजस्थान	1956	छत्तीसगढ़	2000
उत्तर प्रदेश	1956	उत्तराखंड	2000
पश्चिम बंगाल	1956	झारखंड	2000
		तेलंगाना	2014

संघशासित प्रदेश

दिल्ली	दमन एवं दीव
अंडमान एवं निकोबार	पुडुचेरी
लक्षद्वीप	चंडीगढ़
दादरा एवं नागर हवेली	

6. नागरिकता

संविधान के भाग 2 में अनुच्छेद 5 से 11 के मध्य नागरिकता के प्रावधान किये गये हैं। अनुच्छेद 11 के अंतर्गत संसद को नागारिकता के तहत् संसद द्वारा भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 पारित किया गया है। इस अधिनियम 1955, 1992, 2003, 2005 और 2015 में संशोधन किया।

नागरिकता वस्तुतः लोकतंत्रात्मक राज व्यवस्था के मूल अपरिहार्य सिद्धांत को कानूनी स्वरूप प्रदान करती है। वैधानिक रूप से किसी राष्ट्र में तीन प्रकार के व्यक्ति निवास करते हैं:

1. **नागरिक** : वे व्यक्ति जो राज्य के पूर्ण सदस्य हैं और राज्य के प्रति निष्ठा रखते हैं। नागरिकों को सभी असैनिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं।
2. **अन्यदेशीय** : वे व्यक्ति जो किसी अन्य राज्य के नागरिक हैं। वे सभी सांविधानिक और अन्य अधिकारों के अधिकारी नहीं होते।
3. **नागरिकताहीन व्यक्ति** : किसी देश में निवास करने वाले ऐसे व्यक्ति जो किसी भी देश के नागरिक नहीं होते हैं। इन व्यक्तियों को भी अन्यदेशीय व्यक्तियों की भांति अधिकार प्राप्त होते हैं।

भारत में नागरिकता एक संघीय विषय है। दूसरे शब्दों में, संघ के अधीन किसी राज्य को नागरिकता के विभिन्न आयामों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

भारत के संदर्भ में एकल नागरिकता की व्यवस्था है जो राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के दृष्टिकोण से की गई है। अनुच्छेद 11 द्वारा संसद को भविष्य में नागरिकता के संबंध में कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस अधिकार का प्रयोग कर संसद ने नागरिकता के संबंध में नागरिकता अधिनियम, 1955 बनाया है।

संविधान के प्रारंभ पर निम्नलिखित व्यक्ति भारत के नागरिक होंगे-

(i) **अधिवास द्वारा नागरिकता(अनुच्छेद-5):** अनुच्छेद-5 के अनुसार इस संविधान के आरंभ से प्रत्येक व्यक्ति, जिसका भारत में अधिवास है, भारत का नागरिक होगा, यदि-

1. वह भारत में जन्मा हो, अथवा
2. उसके माता या पिता में से कोई भारत में जन्मा हो अथवा
3. जो संविधान के प्रारंभ होने से ठीक कम से कम पाँच वर्षों से भारत का साधारण तौर से निवासी रहा हो।

अधिवासः- एक व्यक्ति तथा राज्य क्षेत्र के पारस्परिक संबंध को अधिवास कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर रहता है और उसका आशय उस स्थान को अपना स्थाई निवास बनाना है तो वह स्थान उस व्यक्ति का अधिवास होता है। संकल्पनात्मक दृष्टिकोण से अधिवास दो प्रकार का होता है :

1. उद्भव अधिवास
2. विकल्प अथवा अर्जित अधिवास

प्रत्येक व्यक्ति का जन्म से ही एक उद्भव अधिवास होता है। यह वह देश अथवा स्थान है जहां उसके जन्म के समय उसके पिता का अधिवास था। दूसरी ओर, किसी विशेष स्थान में निवास कर और उस स्थान में स्थाई रूप से या अनिश्चित काल तक निवास करने के आशय द्वारा अर्जित किया गया अधिवास विकल्प अधिवास है।

शंकरन गोविंदन बनाम लक्ष्मी भारती, ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 1764 मामले में न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि विकल्प अधिवास, निवास के तथ्य और उसे स्थाई बनाने के आशय के संयोजन से प्राप्त होता है।

(ii) **पाकिस्तान से प्रव्रजन करके आए व्यक्तियों की नागरिकता (अनुच्छेद-6)**: ऐसे लोगों को नागरिकता के प्रयोजनों हेतु दो श्रेणियों में विभक्त करता है-

1. वे व्यक्ति जो 19 जुलाई, 1948 से पूर्व भारत आए,
2. वे व्यक्ति जो 19 जुलाई, 1948 के बाद भारत आए,

जो 19 जुलाई, 1948 से पूर्व भारत आए, वे भारत के नागरिक समझे जाएंगे, यदि-

1. वह या उनके माता-पिता में से कोई या पितामह या पितामही में से कोई भारत सरकार अधिनियम, 1935 में यथा परिभाषित

भारत में जन्मा हो, तथा

2. यदि वह जुलाई, 1948 से पहले भारत में प्रव्रजन कर आया हो तब से भारत में साधारण रूप से रह रहा हो।

जो 19 जुलाई, 1948 के पश्चात् भारत आए, वे भारत के नागरिक होंगे यदि-

1. वह या उनके माता-पिता में से कोई या पितामह या पितामही में से कोई भारत सरकार अधिनियम, 1935 में यथा परिभाषित भारत में जन्मा हो, तथा
2. उन्हें नागरिकता प्राप्ति हेतु आवेदन पत्र देना अनिवार्य है,
3. वे आवेदन की तिथि से 6 माह पूर्व से भारत में रहे हैं।
4. वे भारत सरकार द्वारा नियुक्त पदाधिकारी द्वारा पंजीकृत हैं।

(iii) **पाकिस्तान को प्रव्रजन करने वालों को नागरिकता (अनुच्छेद-7)**: अनुच्छेद-7 में प्रावधान है कि अनुच्छेद 5 और 6 में किसी बात के होते हुए भी जो व्यक्ति 1 मार्च 1947 के पश्चात् भारत से पाकिस्तान को प्रव्रजन कर गया है वह भारत का नागरिक नहीं समझा जाएगा।

किन्तु यह नियम उस व्यक्ति पर लागू नहीं होगा जो पाकिस्तान को प्रव्रजन करने के पश्चात् एक ऐसी अनुज्ञा के अधीन भारत लौट आया है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति अनुच्छेद 9 के खण्ड (ख) के प्रयोजनों के लिए 19 जुलाई, 1948 के पश्चात् भारत क्षेत्र में प्रव्रजन करने वाला समझा जाएगा और यदि वह अनुच्छेद 6 के अन्तर्गत की गई उन सभी शर्तों की पूरा करता है, जो 1948 के पश्चात् पाकिस्तान से भारत आने वाले व्यक्तियों के लिए आवश्यक है तो वह भारत का नागरिक बनने का हकदार है।

(iv) **भारत के बाहर भारतीय उत्पत्ति वाले व्यक्तियों की नागरिकता (अनुच्छेद-8)**: अनुच्छेद-8 भारत में जन्में किन्तु विदेशों में रहने वाले व्यक्तियों को कुछ शर्तों को पूरा करने पर नागरिकता का अधिकार प्रदान करता है-

1. यदि वह भारत का नागरिक पंजीकृत कर लिया गया है।
2. वह पंजीकरण भारत के राजनयिक, जहाँ वह उस समय निवास कर रहा है, द्वारा किया गया हो,
3. ऐसा आवेदन पत्र संविधान के लागू होने से पहले या बाद में दिया गया हो-

अनुच्छेद-8 संविधान के लागू के होते के समय तथा उसके पश्चात् विदेशों में रहने वालों की नागरिकता के संबंध में उत्पन्न करता है।

(v) **नागरिकता की समाप्ति (अनुच्छेद-9):** अनुच्छेद-9 उपबंधित करता है कि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अन्य किसी विदेशी राज्य की नागरिकता अर्जित कर लेता है तो उसकी भारतीय नागरिकता स्वत: समाप्त हो जाएगी।

(vi) **संसद द्वारा नागरिकता के अधिकार का विनियमन (अनुच्छेद-10):** प्रत्येक व्यक्ति संसद द्वारा बनाई गई विधि के अधीन ही अनुच्छेद 5, 6 एवं 7 के उपबंधों के अनुसार भारत का नागरिक है या समझा जाएगा।

(vii) **अनुच्छेद-11:** द्वारा संसद को नागरिकता के अर्जन एवं समाप्ति से संबंधित विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है।

नागरिकता अधिनियम, 1955 (Citizenship Act 1955)

नागरिकता के विभिन्न आयामों से संबंधित इस महत्वपूर्ण अधिनियम

नागरिकता

- अनु. '9' उस व्यक्ति पर लागू होता है जिसका जन्म 26 जून, 1950 के पहले हुआ है।
- व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं- प्राकृतिक तथा विधिक। प्राकृतिक व्यक्ति के अंतर्गत प्राकृतिक रूप से जन्मे व्यक्ति आते हैं। जबकि विधिक के अंतर्गत पंजीकृत कम्पनियाँ एवं निगम आते हैं।
- **समुद्र पारीय नागरिकता**-यह संकल्पना भारत में लागू होती है। परंतु मीडिया ने इसे दूसरा नाम यानी- 'दोहरी नागरिकता दिया है। लेकिन वास्तविक यह है कि 'दोहरी नागरिकता' की संकल्पना 'यू.एस.ए.' में लागू होती है।
- **दोहरी नागरिकता**-एक देश में दो स्तरों पर (एक राज्य और एक देश) यदि नागरिकता दी जाए तो उसे 'दोहरी नागरिकता' कहते हैं। जैसे-U.S.A तकनीकी रूप से यह परिसंघ का रूप है। जिसमें राज्य (क्षेत्रीय स्तर) तथा देश से नागरिकता मिलती है।
- भारत में 'समुद्र पारीय नागरिक योजना'-2003 को नागरिकता से संबंधित कानून संशोधन के तहत अपनाया गया।
- सर्वप्रथम 'समुद्र पारीय नागरिकता' की संकल्पना को 'फिलीपींस' ने अपनाया। उसके बाद 'चीन' ने अपनाया।
- 'समुद्र पारीय नागरिकता' देने से भारत की अर्थव्यवस्था को F.D.I और F.I.I. के रूप में लगभग $40 बिलियन तक की राशि प्राप्त हो जाने की आशा है।

के प्रावधानों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है, यथा- नागरिकता की प्राप्ति, नागरिकता का निरसन तथा अनुपूरक उपबंध। अधिनियम के अनुसार, भारत की नागरिकता निम्नांकित माध्यम से अधिगृहीत की जा सकती है:

1. **जन्म से नागरिकता :-** प्रत्येक व्यक्ति जिसका 26 जनवरी, 1950 को या उसके पश्चात् भारत में हुआ है, जन्म से भारत का नागरिक है। अपवाद : (1) विदेश के राजनीतिक कर्मचारियों के भारत में जन्म लेने वाले बच्चे तथा (2) शत्रु के अधीन भारत के किसी भाग में जन्म लेने वाले उनके बच्चे।
2. **उद्भव द्वारा नागरिकता :-** कोई व्यक्ति जो भारत के बाहर 26 जनवरी 1950 को या उसके बाद जन्मा था उद्भव से भारत का नागरिक होगा यदि उसके माता-पिता में से कोई उसके जन्म के समय भारत का नागरिक था।
3. **पंजीकरण द्वारा नागरिकता :-** संविधान में उल्लिखित उपबंधों के आधार पर जो व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं है परन्तु इनमें से किसी शर्त के साथ उसका संबंध है तो वह भारत का नागरिक बन सकता है :
   A. भारतीय उदगम के व्यक्ति जो साधारणत: भारत में निवास करते हैं और विशेषत: पंजीकरण के लिए आवेदन प्रस्तुत करने के कम से कम छ: महीने पूर्व से भारत में रहते हैं।
   B. भारतीय मूल के वे व्यक्ति जो अविभाजित भारत से बाहर किसी देश अथवा स्थान में रहते हों
   C. वे स्त्रियां, जो भारतीय नागरिकों के साथ विवाह करें
   D. भारतीय नागरिक के अल्पवयस्क बच्चे
   E. राष्ट्रमंडल के राज्यों के तथा आयरलैंड गणराज्य के वयस्क और स्वस्थ बच्चे
4. **देशीयकरण द्वारा नागरिकता :-** कोई भी विदेशी नागरिक भारत सरकार को आवेदन कर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकता है। लेकिन इसके लिए कई शर्तों की योग्यता अनिवार्य है :
   A. उस देश की नागरिकता का त्याग जिसका वह नागरिक है,
   B. संबंधित देश में निश्चित अवधि तक निवास करना
   C. आवेदन प्रस्तुत करने के तत्काल पूर्व कम से कम एक वर्ष भारत में निवास किया हो
   D. संविधान में उल्लिखित भाषाओं में से किसी एक भाषा का पर्याप्त ज्ञान
   E. राष्ट्र के प्रति सकारात्मक आस्था भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 के तहत यह भी प्रावधान है कि यदि कोई व्यक्ति विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य, विश्व शांति अथवा मानव विकास के क्षेत्र में विशेष कार्य कर चुका है तो उसे इन सभी शर्तों को पूर्ण किये बिना भी देशीयकरण द्वारा नागरिकता प्रदान की जा सकती है।
5. **राज्यक्षेत्र को सम्मिलित किये जाने पर :-** यदि कोई नया राज्य क्षेत्र भारत का भाग बन जाता है तो सरकार उस राज्य क्षेत्र के निवासियों को नागरिकता प्रदान कर सकती है।

नागरिकता की समाप्ति

नागरिकता अधिनियम, 1955 के तहत नागरिकता की समाप्ति के निम्नांकित प्रावधान किये गये हैं :

1. **स्वैच्छिक त्याग :-** कोई भारत का नागरिक जो वयस्क होने के साथ-साथ विधिक क्षमता रखता है, स्वेच्छा से अपनी नागरिकता का त्याग कर सकता है। यह घोषणा वही व्यक्ति कर सकता है जो भारत से भिन्न किसी देश का नागरिक है।
2. **पर्यवसान :-** भारत का कोई नागरिक जिसने देशीयकरण अथवा पंजीकरण द्वारा भारत की नागरिकता अर्जित की थी, स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता अर्जित कर लेता है तो उसकी भारत की नागरिकता समाप्त हो जायेगी।
3. **वंचित विधि द्वारा :-** यदि किसी व्यक्ति ने भारत की नागरिकता कपटता से अर्जित की थी अथवा उसने भारत के संविधान के प्रति अभद्र व्यवहार किया है तो भारत सरकार उसे नागरिकता से वंचित कर सकती है। इस निर्णय के लेने का अधिकार मूलत: केन्द्र सरकार का है जो एक न्यायिक प्रक्रिया है।
4. **विवाह द्वारा :-** जब कोई स्त्री अथवा पुरुष किसी अन्य देश के पुरुष अथवा स्त्री से विवाह कर लेता है तो उसे उस देश की नागरिकता स्वत: प्राप्त हो जाती है तथा भारत की उसकी नागरिकता स्वत: समाप्त हो जाती है।
5. **विदेशों में नौकरी :-** किसी भारतीय नागरिक द्वारा विदेश में नौकरी कर लेने पर उसकी भारत की नागरिकता समाप्त हो जाती

है।

6. **राष्ट्र विरोधी कार्य :-** जब कोई व्यक्ति राष्ट्र विरोधी कार्य करता है तो उसकी नागरिकता समाप्त हो जाती है।

नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 (Citizenship Amendment Act 1986)

सरकार द्वारा नागरिकता संशोधन अधिनियम सन् 1986 में पारित किया गया था जिसके आधार पर मूल कानून में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इन परिवर्तनों में निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. भारत में जन्म लेने वाले किसी व्यक्ति द्वारा यदि भारत की नागरिकता अर्जित करने के लिए आवेदन प्रस्तुत किया जाता है तो भारत में पांच वर्षों तक रहने का प्रमाण पत्र प्रस्तुत करना अनिवार्य है।
2. केवल भारत में जन्म लेने से ही किसी व्यक्ति को भारत की नागरिकता प्रदान नहीं की जा सकती। जन्म के आधार पर केवल उन्हीं व्यक्तियों को भारत की नागरिकता प्रदान की जाती है जिनके माता-पिता में से कोई एक पहले भारत का नागरिक रहा हो।
3. प्रवासी के रूप में रहने वाले विदेशी व्यक्ति के लिए देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने के लिए भारत में निवास करने की जो शर्तें पूर्ववत पांच वर्ष की थी उसे अब दस वर्ष कर दिया गया है।
4. भारतीय पुरुष से विवाह करने वाली विदेशी महिला को भारत की नागरिकता प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

दोहरी नागरिकता (Dual Citizenship)

- भारतीय संविधान के एकात्मक स्वरूप के कारण एकल नागरिकता का प्रावधान किया गया है। वर्ष 2003 में भारत सरकार ने इस संदर्भ में एक नया प्रावधान करने का निर्णय किया 16 देशों में रहने वाले अनिवासी भारतीयों तथा भारतीय मूल के व्यक्तियों को दोहरी नागरिकता देने का प्रस्ताव प्रधानमंत्री द्वारा किया गया था।
- 9 जनवरी, 2003 को पहली बार प्रवासी भारतीय दिवस का आयोजन किया गया था। अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा कई अन्य देशों में रहने वाले ऐसे भारतीयों के लिए दोहरे पासपोर्ट की व्यवस्था की गई।
- प्रधानमंत्री ने फारस की खाड़ी क्षेत्र में देशांतरण करने वाले भारतीय श्रमिकों के लिए एक अनिवार्य बीमा योजना के प्रारंभ की भी घोषणा की है। विदेशों में कार्यरत भारतीयों के बच्चों के लिए भारतीय शिक्षण संस्थानों में सीट आरक्षित किये जायेंगे।
- वर्ष 2005 में दोहरी नागरिकता की सुविधा के विस्तार के लिए नागरिकता (संशोधन) अध्यादेश, 2005 निर्गत किया गया है जिसके तहत पाकिस्तान और बांग्लादेश को छोड़कर अन्य देशों में रहने वाले अनिवासी भारतीयों तथा भारतीय मूल के व्यक्तियों को दोहरी नागरिकता की सुविधा देने का प्रावधान किया गया है।

नये संशोधित अधिनियम में यह प्रावधान है उन भारतीय मूल के व्यक्तियों अथवा विदेशों में रहने वाले भारतीयों को दोहरी नागरिकता की सुविधा प्रदान की जायेगी जिनके माता-पिता अथवा पितामह/पितामही अथवा मातामह/मातामही में से कोई भी 26 जनवरी 1950 के बाद भारत से प्रव्रजन कर गया हो अथवा उस क्षेत्र का निवासी हो गया हो जो 15 अगस्त, 1947 के बाद भारत के राज्य क्षेत्र का भाग बन गया था।

- संशोधित अधिनियम में यह प्रावधान है कि विदेशों में रहने वाले भारतीयों के लिए भारत में रहने की अवधि दो वर्ष से घटाकर एक वर्ष कर दी जायेगी। इस संबंध में गृह मंत्रालय द्वारा निर्गत आदेश 15 अगस्त, 2005 से लागू हो गया है। इसके तहत भारतीय मूल के व्यक्तियों को जीवन काल का वीजा प्रदान करने का भी प्रावधान है।

7. मौलिक अधिकार

पृष्ठभूमि (Background)

''मूल अधिकार एक ही समय पर शासकीय शक्ति से व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हैं और शासकीय शक्ति द्वारा व्यक्ति स्वातन्त्र्य को सीमित करते हैं। इस प्रकार मूल अधिकार व्यक्ति और राज्य के बीच सामंजस्य स्थापित कर राष्ट्रीय एकता और शक्ति में वृद्धि करते हैं।'' एम.वी. पायली

भारतीय संविधान के भाग 3 में मौलिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मानव जीवन के लिए अपरिहार्य होने के कारण इन अधिकारों को मौलिक अधिकार कहते हैं। मौलिक अधिकारों का सर्वप्रथम प्रयोग 1789 में फ्रांसीसी क्रांति के समय किया गया था।

इस समय मानव अधिकारों की घोषणा के तहत नागरिकों के लिए कुछ मूल अधिकारों की परिगणना की गई। इसके अतिरिक्त, अमेरिका में बिल ऑफ राइट्स, जर्मनी, आयरलैंड, रूस, जापान तथा स्विट्जरलैंड के संविधानों में भी मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है।

मौलिक अधिकारों से तात्पर्य उन अधिकारों से है जिनके बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव नहीं है। वस्तुत: ये व्यक्ति के भौतिक, नैतिक तथा बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक हैं।

संविधान मूल अधिकारों को परिभाषित नहीं करता है। सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ वाद में मूल अधिकारों को परिभाषित करते हुए कहा है कि मूल अधिकार से तात्पर्य उन नैसर्गिक अधिकारों से है जो व्यक्ति के संपूर्ण बौद्धिक, नैतिक व आध्यात्मिक विकास हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 से 32 तक मौलिक अधिकारों की व्याख्या की गई है। कतिपय अधिकारों को मौलिक अथवा मूल अधिकारों की संज्ञा देने के निम्नांकित महत्वपूर्ण कारण हैं :

1. देश की सर्वोच्च विधि द्वारा अधिकारों का आश्वासन।
2. सरकारी तंत्र द्वारा उल्लंघन किये जाने पर दंड।
3. संविधान के प्रावधानों के अनुरुप इन पर अंकुश लगाने हेतु युक्तियुक्त निर्बंधन की व्यवस्था।
4. मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास हेतु अनिवार्य।
5. न्यायपालिका द्वारा संरक्षित।

मौलिक अधिकारों को परंपरागत रूप से प्राकृतिक अधिकार कहते हैं। वस्तुत: इन अधिकारों के सिद्धान्त में सीमित तथा स्वतंत्र सरकार की संकल्पना सन्निहित है। दूसरे शब्दों में, मौलिक अधिकारों द्वारा जहां एक ओर भारतीय संविधान में वैयक्तिक स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है वहीं दूसरी ओर, सरकारी तंत्र पर अंकुश लगाने का कार्य भी किया गया है ताकि सरकार के किसी भी अंग द्वारा देश के नागरिकों के हितों की अवहेलना करना संभव नहीं हो।

मौलिक अधिकारों के स्वरूप का निर्धारण करने के उद्देश्य से सन् 1946 में संविधान सभा की हुई बैठक के उपरांत सरदार पटेल की अध्यक्षता में पटेल समिति का

Hkkx & 3 ¼vuq- 12&35½

1-	vuq-12	%	jkT;dh ifjHkk"kk
2-	vuq-13	%	vfUrdj.kdh fof/k;ka
3-	vuq-14	%	fof/k ds le{k lerk
4-	vuq-15	%	/keZ] ewyoa'k] tkfr] fyax;k tUe LFkku ds vk/kkj ij foHksnd izfr"ks/k
5-	vuq-16	%	yksd fu;kstu esa leku volj
6-	vuq-17	%	vLi`';rk dk mUewyu
7-	vuq-18	%	mikf/k;ksa dk vUr
8-	vuq-19	%	okd~ Lokra=; fo"k;d vf/kdkj
9-	vuq-20	%	vijk/ksa ds fy, nks"kfl) ds laca/ esa laj{k.k
10-	vuq-21	%	izk.k ,oa nSfgd Lora=rk dk vf/kdkj
11-	vuq-22	%	fxjfIrkjh ,oa fujks/k ls laj{k.k
12-	vuq-23	%	mRihM+ ,oa cykr Je dk izfr"ks/k
13-	vuq-24	%	dkj[kkuksa vkfn esa cky Je ij jksd
14-	vuq-25	%	/keZ laca/h vUr%dj.k dh Lora=rk
15-	vuq-26	%	/kkfeZd ;ksZ ds iza/k dh Lora=rk
16-	vuq-27	%	/keZ dh vfHko`f) gsrq dj ;ksa ds lank; ls laca/ f/kr Lora=rk
17-	vuq-28	%	dqN f"k{kk laLFkkuksa esa /kkfeZd f"k{kk ;k /kkfeZd mik;ksa ij fu"ksk gsrq dh Lora=rk
18-	vuq-29	%	vYila[;dksa ds fgrksa dh j{kk
19-	vuq-30	%	f"k{kk laLFkkvksa dh LFkkiuk ,oa iz'kklu ij vYila[;dksa dk vf/kdkj
20-	vuq-31	%	*laifÙk dk vf/kdkj ¼Hkkx 3 ls dkgj½*
21-	vuq-32	%	vf/kdkjksa dks izorZu gsrq mik;kj
22-	vuq-33	%	vf/kdkjksa ds mik;kj.k dh lalrh; 'kfDr
23-	vuq-34	%	lS uk fof/k ;k izo`Ùk gksus ij vf/kdkjksa ij fu"ksZ/k
24-	vuq-35	%	Hkkx 3 ds mica/ksa ds iz'kklu dks gsrq fo/kku

गठन किया गया था जिसने अधिकारों को दो भागों में विभक्त किया, यथा – मौलिक अधिकार एवं राज्य के नीति निर्देशक तत्व। इसके अतिरिक्त, समिति ने मौलिक अधिकारों को संघीय सूची में सम्मिलित करने तथा उन्हें लागू करने हेतु उच्चतम न्यायालय को प्रारंभिक अधिकार प्रदान करने की भी अनुशंसा की थी।

मूल अधिकारों की सांविधानिक स्थिति (Constitutional Status of Fundamental Rights)

शंकरी प्रसाद (1952) एवं सज्जन सिंह (1965) के मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि मूल अधिकारों में संशोधन किया जा सकता है। लेकिन, उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ (1967) के वाद में अपने उपर्युक्त निर्णयों को उलटते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि भाग-3 में समाविष्ट मूल अधिकारों को एक सर्वोपरि स्थिति प्रदान की गई है। संसद द्वारा संशोधन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यहाँ मूल अधिकारों को अनुलंघनीय/असंशोधनीय माना गया। 24वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा अनुच्छेद 13 और 368 का संशोधन कर यह स्पष्ट किया गया कि अनुच्छेद 368 में अधिकारित प्रक्रिया द्वारा मूल अधिकारों में संशोधन किया जा सकता है।

केशवानंद भारती (1973) के मामले में बहुमत ने इन संशोधनों की विधिमान्यता को बनाए रखते हुए गोलकनाथ के मामले को उलट दिया। न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद अनुच्छेद 368 के तहत मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। लेकिन इस शक्ति के प्रयोग में संविधान के मूल ढाँचें में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके पश्चात् न्यायालय द्वारा मिनर्वा मिल्स (1980) के मामले में अनुच्छेद 368 के खंड (4) एवं (5) को अविधिमान्य घोषित कर केशवानंद भारती मामले की विधिमान्यता बनाए रखी। उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 368 में खंड (4) एवं (5) को 42 वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा सम्मिलित किया गया था।

- 44 वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की श्रेणी से बाहर निकाल दिया गया। वर्तमान में संपत्ति का अधिकार एक विधिक अधिकार है। संविधान के 44वें संशोधन के उपरांत भारत के नागरिकों को 6 मौलिक अधिकार प्राप्त हैं।

संविधान के अन्य उपबंधों से प्राप्त अधिकार

(Rights Derived from Other Constitutional Provisions)

अनुच्छेद 265 उपबंध करता है कि ''कोई कर विधि के प्राधिकार से ही आरोपित या संगृहित किया जाएगा, अन्यथा नहीं।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति कार्यपालिका द्वारा मनमाने तरीके से कराधान के अधीन नहीं होगा। यदि कार्यपालिका विधि के प्राधिकार के बिना कर उदग्रहण करने का प्रयत्न करती है तो व्यक्ति न्यायलय की शरण में जा सकता है।

अनुच्छेद 300'क' में उपबंधित है कि किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि के प्राधिकार (विधिक अधिकार) से ही वंचित किया जाएगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकार अनुच्छेद 301 स्पष्ट करता है कि इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा।

संविधान के भाग-3 में प्राप्त मूल अधिकारों एवं अन्य अधिकारों में यह अन्तर है कि अनुच्छेद 265, 300क एवं 301 में प्रत्याभूत अधिकारों हेतु व्यक्ति सामान्य वाद लाकर या अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय (H.C) से अनुतोष प्राप्त कर सकता है। लेकिन मूल अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में केवल अनुच्छेद 32 के तहत उच्चतम न्यायालय (S.C) से अनुतोष प्राप्त किया जा सकता है।

मूल अधिकार व सामान्य विधिक अधिकारों में अंतर

(Difference between Fundamental Rights & General Legal Rights)

मूल अधिकार

1. शक्ति का स्त्रोत संविधान।
2. ये अहरणीय(Inviolables)हैं इनका न तो न्यूनीकरण किया जा सकता है और न ही इन्हें पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है।
3. ये वे आधारभूत अधिकार हैं जिनके बिना व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है।
4. ये सामान्यत: राज्य के विरूद्ध अधिकार हैं।
5. ये अनु.32 के तहत सर्वोच्च न्यायालय तथा अनु.226 के तहत उच्च न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय है।

सामान्य विधिक अधिकार

1. शक्ति का स्रोत विभिन्न अधिनियमों के माध्यम से प्राप्त होता है।
2. इनको अल्पीकरण या पूर्णतया समाप्त किया जा सकता हैं।
3. ये सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।
4. ये सामान्यत: व्यक्तियों के विरूद्ध अधिकार हैं।
5. इनके संबंध में संविधान द्वारा कोई प्रत्यक्ष संरक्षण प्राप्त नहीं है।

मूल अधिकारों की विशेषताएं (Features of FRs)

1. **नागरिकों का सर्वांगीण विकास :** विभिन्न प्रकार के मूल अधिकारों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य देश के नागरिकों का सर्वांगीण विकास करना है।
2. **प्रवर्तन हेतु सांविधानिक व्यवस्था :** मौलिक अधिकार न्यायाविष्ट अधिकारों की श्रेणी में समावेशित किये गये हैं जिसके फलस्वरूप इनके उल्लंघन की स्थिति में न्यायालय द्वारा प्रवर्तित करने का प्रावधान है।
3. **संशोधन :** मौलिक अधिकारों के प्रवर्तनीय नहीं होने के फलस्वरूप इनमें संशोधन करने का प्रावधान किया गया है। यद्यपि संशोधनों के द्वारा संविधान के मूलभूत ढांचे को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।
4. **सकारात्मक एवं निषेधात्मक :** नागरिकों को विशिष्ट अधिकार के रूप में कई सकारात्मक मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसके विपरीत कतिपय अधिकार निषेधाज्ञाओं के समरूप होते हैं जिन्हें निषेधात्मक मौलिक अधिकार कहा जाता है।
5. **नागरिकों एवं विदेशियों में विभेद :** कुछ मौलिक अधिकारों से विदेशियों को वंचित रखा गया है, यथा- वाक् स्वतंत्रता। इसके विपरीत, कुछ अधिकार नागरिकों एवं विदेशियों पर समान रूप से लागू होते हैं, यथा - विधि के समक्ष समानता एवं विधि का समान संरक्षण।
6. **मौलिक अधिकारों की प्रकृति:** मौलिक अधिकार राज्य के नकारात्मक दायित्व हैं इनके द्वारा राज्य को कुछ न करने का निर्देश दिया गया है। यह इस दार्शनिक तथ्य पर आधारित है कि अधिकारों का उद्देश्य राजनीतिक शक्ति से व्यक्ति की रक्षा करना है।

मौलिक अधिकारों का उद्देश्य (Objectives of FRs)

1. नागरिकों में आत्मसम्मान पैदा करना और उन्हें भावनात्मक रूप से राष्ट्र के साथ जोड़ना।
2. राज्य पर नियंत्रण लगाना अर्थात राज्य की निरंकुशता से रक्षा करना।
3. कमजोर वर्गो की सुरक्षा करना विशेषकर सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना।

मूल अधिकार की प्रकृति (Nature of FRs)

संविधान निर्माताओं ने अनुभव किया कि अनियंत्रित स्वतंत्रताएं स्वछंन्द बनकर सभी के मूल अधिकार प्राप्ति में संघर्ष उत्पन्न करेंगी। इसलिए संविधान द्वारा संसद को मूल अधिकारों पर निर्बंधन की शक्ति दी गई है लेकिन ये निर्बंधन उचित व युक्तियुक्त होंने चाहिए। युक्तियुक्त निर्बंधन का उदाहरण ले सकते हैं जैसे यदि व्यक्तिगत स्वतंत्रता सामूहिक हित के विरूद्ध है तो प्रतिबंध लगना चाहिए। इस प्रकार मूल अधिकार अत्यान्तिक नहीं बल्कि नियंत्रित अधिकार हैं। हमारे संविधान निर्माता यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि जहां सामूहिक हितों का प्रश्न हो वहां व्यक्ति की स्वतंत्रता को सामान्य हित के सामने झुकना होगा।

मूल अधिकार और न्यायिक पुनर्विलोकन (FRs & Judicial Review)

अनु.13-भारत में मूल अधिकारों के न्यायिक पुर्नर्विलोकन को सुनिश्चित करता है।

अनु.13(1)-इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले भारत के राज्य क्षेत्र में प्रदत्त सभी विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जहां तक वे भाग-3 के उपबंधों से असंगत हैं।

अनु.13 (2)- राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनायेगा जो भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को छीनती या न्यून करती है। मूल अधिकारों के उल्लंघन में बनायी गई प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगी। न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालय को प्रदान की गई है। ये संविधान के भाग 3 से असंगत किसी विधि को असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं।

नोट :-

विधि शब्द अनुच्छेद 12 में प्रयुक्त हुआ है। जब की विधि परिभाषा की जानकारी अनुच्छेद 13 से होती है।

मूल अधिकारों की आलोचना (Criticism of Fundamental Rights)

1. भारत में मौलिक अधिकारों को संविधान में लिपिबद्ध करने का सिद्धान्त अपनाया गया है। लेकिन डायसी के अनुसार अधिकारों को लिपिबद्ध करने का अर्थ है उनको सीमित कर देना।
2. भारत में मौलिक अधिकारों पर अनेक प्रकार की मर्यादाएं लगा दी गई हैं। कुछ सीमाएं संविधान स्वयं लगाता है और कुछ संसद लगाती है। आलोचक यहां तक कहते हैं कि संविधान एक तरफ से अधिकार देता है तथा दूसरी तरफ ले लेता है।
3. अनेक मौलिक अधिकार केवल कागजी अधिकार बन कर रह गये हैं जैसे- अस्पृश्यता का अंत, शोषण के विरूद्ध अधिकार। अत: औपचारिक तथा पारस्परिक अधिकार के बीच गहरी खाई देखी जा सकती है।
4. अनेक महत्वपूर्ण अधिकारों को जगह नहीं दी गई है जैसे रोजगार का अधिकार आदि।

आलोचक का यह कहना कि ''संविधान में अनेक महत्वपूर्ण अधिकारों को जगह नहीं मिली है। यह संविधान की दुर्बलता है'', पूर्णत: सत्य नहीं है। वस्तुत: संसाधनों की कमी के कारण यह संभव नहीं था।

अत: उन्हें राज्य के निदेशक तत्वों में रखा गया है। शिक्षा के अधिकार की भांति भविष्य में इन्हें मूल अधिकारों में जगह मिल सकती है। व्यवहारिक क्रियान्वयन के स्तर पर भी आलोचना करना सही नहीं है क्योंकि अनेक अधिकार क्रियान्वित हो चुके हैं और अगर कुछ अधिकार क्रियान्वित नहीं हुए हैं तो यह क्रियान्वित करने वाले तंत्र की असफलता है न कि मौलिक अधिकारों की।

मूल अधिकारों का महत्व (Significance of Fundamental Rights)

1. भारत में जिस लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया गया है उसके सफल संचालन के लिए मौलिक अधिकार आवश्यक हैं।
2. ये नागरिकों के भौतिक, नैतिक तथा बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने मेनका गांधी वाद में यह निध ारित किया कि जीवन का अर्थ केवल जीवित रहना ही नही है बल्कि मानवीय गरिमा के साथ जीना है। मौलिक अधिकार के बिना यह संभव नहीं है।
3. भारत के बहुलवादी समाज में ये अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।
4. मौलिक अधिकार, जैसा कि न्यायमूर्ति पी.एन.भगवती मानते हैं, प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल्यों के परिचायक हैं।
5. मौलिक अधिकारों में भारतीय संविधानों का दर्शन भी निहित है। संविधान किस प्रकार के भारत का निर्माण करना चाहता है यह प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, निर्देशक तत्वों में इसकी झलक मिलती है।
6. मौलिक अधिकारों की अनुपस्थिति में व्यक्ति की गरिमा का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता है जो संविधान की प्रस्तावना में वर्णित है तथा जो संविधान का एक प्रमुख लक्ष्य है।
7. भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार में स्वतंत्रता आंदोलन के आदर्शों, मूल्यों और विचारों की झलक भी मिलती है। अत: वे भारत के राष्ट्रीय संघर्ष की विरासत भी हैं।

कतिपय अवसरों पर न्यायापालिका ने भी मौलिक अधिकारों के महत्व की व्याख्या की है जैसे मेनका गांधी बनाम भारत संघ AIR 1978, SC 597 में न्यायालय ने मौलिक अधिकारों को स्वतंत्रता संघर्ष के प्रतिफल की संज्ञा प्रदान की है। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि मौलिक अधिकार व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में व्यापक सहायता प्रदान करते हैं।

मूल अधिकारों की सीमाएं (Limitations to Fundamental Rights)

1. मूल अधिकार आत्यन्तिक नहीं हैं इन पर युक्तियुक्त निर्बंधन लगाये जा सकते हैं।
2. राष्ट्रीय आपात की स्थिति में अनु. 19(1) का स्वत: ही निलंबन हो सकता है जबकि अन्य मूल अधिकार राष्ट्रपति द्वारा निलंबन किये जा सकते हैं।
3. संसद मात्र आधारभूत लक्षणों को छोड़कर मूल अधिकार में परिवर्तन करने हेतु सक्षम है।

4. अनु.33 के अन्तर्गत सशस्त्र बलों, लोक व्यवस्था के लिए उत्तरदायी शक्तियों पर प्रतिबंध लगा सकती है।
5. अनु.34 सैन्य विधि के संबंध में संसद मूल अधिकार पर प्रतिबंध लगा सकती है।
6. अनु. 31(क) के तहत राज्य द्वारा लोकहित में संपत्ति के अर्जन आदि के संबंध में बनायी गयी विधि अनु. 14, अनु.19 के विरूद्ध रहते हुए भी असंवैधानिक नहीं मानी जायेगी।
7. नवीं अनुसूची के अन्तर्गत आने वाले विषय मूल अधिकार में असंगत होते हुए भी प्रभावी माने जायेंगे।
8. नीति निदेशक तत्वों 39(b) (c) को लागू करने के निमित्त बनाई गई विधि 14 एवं 19 से असंगत होने पर भी शून्य नहीं होगी।

मूल अधिकारों का निलम्बन (Suspension of FRs)

मूल अधिकार आत्यन्तिक अधिकार नहीं हैं। इन अधिकारों के प्रयोग पर युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाये जा सकते हैं। संविधान में उन परिस्थितियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है जब कि राज्य को यह अधिकार होगा कि वह सार्वजनिक हित में नागरिकों के मूल अधिकारों को निलम्बित कर सके या उनके प्रयोग पर निर्बन्धन लगा सके।

निम्नलिखित दशाओं में नागरिकों के मूल अधिकारों को निर्बन्धित अथवा निलम्बित किया जा सकता है-

(1) प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के सम्बन्ध में (अनु. 33)

(2) जब सेना-विधि लागू हो (अनु. 34)

(3) संविधान में संशोधन द्वारा (अनु. 368)

(4) आपात्-उद्घोषणा के अधीन (अनु. 352)

1. **प्रतिरक्षा सेना से सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्बन्ध में**- अनुच्छेद 13 के अनुसार राज्य द्वारा पारित ऐसी सभी विधियाँ अवैध एवं असंवैधानिक होंगी जो संविधान के भाग 3 में प्रदत्त मूल अधिकारों को किसी भी भाँति कम करती हैं या छीनती हैं, लेकिन अनुच्छेद में इसका एक अपवाद भी है जिसके अनुसार संसद् को यह शक्ति प्राप्त है कि वह उक्त व्यक्तियों के मूल अधिकारों को निर्बन्धित या कम कर सकती है।

   अनुच्छेद 33 संसद् को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह प्रतिरक्षा सेना के सदस्यों के सम्बन्ध में मूल अधिकारों को किस मात्रा तक निर्बन्धित या समाप्त कर सकती है ताकि वे अपने कर्तव्यों का उचित पालन कर सकें और उनमें अनुशासन बना रहे। संसद ऐसा केवल विधि बनाकर ही कर सकती है।

   अनुच्छेद 33 के अन्तर्गत प्राप्त शक्ति का प्रयोग करके संसद ने निम्नलिखित अधिनियमों को पारित किया है; जैसा-सेना अधिनियम, 1950; वायुसेना अधिनियम, 1050 नौ सेना अधिनिम, 1950।

2. **जब सेना विधि (Martial Law) लागू हो**- अनुच्देद 34 संसद को नागरिकों के मूल अधिकारों पर, जब किसी क्षेत्र में सेना-विधि लागू है, निर्बन्धन लगाने की शक्ति प्रदान करता है। ऐसे समय में संसद् विधि द्वारा मूल अधिकारों के प्रयोग पर पूर्णत: या अंशत: निर्बन्धन लगा सकती है।

   वस्तुत: जहाँ सेना विधि लागू होती है वहाँ नागरिकों के मूल अधिकार स्वत: निलम्बित हो जाते हैं या उनकी निलम्बित घोषित कर दिया जाता है। सेना विधि के प्रवर्तन के समय नागरिक न्यायालयों का निलम्बन हो जाता है और उनके स्थान पर सैनिक न्यायालय कार्य करने लगते हैं।

   संसद क्षतिपूर्ति अधिनियम पारित करके ऐसी अवधि में सेना प्राधिकारियों द्वारा सेना विधि के अधीन दिये गये दण्ड या किये गये कार्यों के दायित्व से उन्हें विमुक्ति प्रदान कर सकती है।

3. **संविधान संशोधन द्वारा**- संसद अनुच्छेद 368 के उपबन्धों के अनुसार संविधान में समुचित संशोधन करके नागरिकों के मूल अधिकारों को न्यून कर सकती है या उन्हें छीन सकती है।

   शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ तथा सजजन सिंह बनाम राजस्थान राज्य के मामलों में यह निर्णय दिया गया था कि अनुच्छेद 368 के अधीन पारित संविधानिक संशोधनों द्वारा भाग 3 में संशोधन करके मूल अधिकारो को लिया जा सकता है तथा ऐसी विधि अनु. 13 मे प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अन्तर्गत नहीं आती है। किन्तु गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ 1957 और सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य, 1967 के मामलों में दिये अपने निर्णय को उलट दिया गया और यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 368 के अधीन संसद संविधान संशोधन की शक्ति का प्रयोग करके मूल

अधिकारों को नहीं छीन सकती है। अनुच्छेद 368 के अधीन केवल संविधान संशाधेन करने की प्रक्रिया निहित है। वह संसद को भाग 3 में दिये गये मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति नहीं प्रदान करता है। संक्षेप में न्यायालय ने यह अभिनिधारित किया कि अनुच्छेद 368 के अधीन पारित विधि अनु॰ 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अर्थान्तर्गत आती है और यदि वह भाग 3 में दिये गये उपबन्धों से असंगत है तो उन्हें अवैध एवं असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है।

24 वें संविधान संशोधन द्वारा गोलकनाथ के मामले में दिये गये निर्णय के प्रभाव को समाप्त कर दिया गया। इस संशोधन अधिनियम द्वारा अनु. 13 में एक नया उपखण्ड 4 जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अनु. 368 के अधीन पारित 'सांविधानिक संशोधन' अनु. 13 में प्रयुक्त 'विधि' शब्द के अर्थान्तर्गत 'विधि' नहीं है। केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य 1973 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 24वें संशोधन को विधिमान्य घोषित कर दिया है।

यद्यपि न्यायालय ने उक्त संशोधन को विधिमान्य घोषित कर दिया है कि यद्यपि अनु. 368 के अधीन संसद की संशोधन-शक्ति विस्तृत है किन्तु असीमित नहीं और संसद इस शक्ति का प्रयोग करके संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट करते हैं।

4. **आपात्-उद्घोषणा और मूल अधिकार**- हमारे संविधान-निर्माताओं ने यह तथ्य स्वीकार किया है कि राष्ट्रीय संकट के समय वैयक्तिक स्वतंत्रता की अपेक्षा राष्ट्र की सुरक्षा अधिक महत्वूपर्ण है और इसी उद्देश्य से संविधान में आपात् उपबन्धों को समाविष्ट किया गया है।

अनुच्छेद 352 यह उपबन्धित करता है कि यदि राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाता है कि गम्भीर आपात् विद्यमान हैं जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या 'सशस्त्र विद्रोह' के कारण भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट मे है तो वह आपात् की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा संकट सन्निकट होने पर भी की जा सकती है, अर्थात् युद्ध या किसी आक्रमण या विद्रोह के वास्तव मे होने के पहले भी की जा सकती है। राष्ट्रपति द्वारा देश में अपात् के विद्यमान होने की घोषणा का नागरिकों के मूल अधिकारों पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।

अनुच्छेद 358 यह उपबन्धित करता है कि जब आपात् की घोषणा प्रवर्तन में है तो अनुच्छेद 19 द्वारा प्रदत्त अधिकार निलंबित हो जाते हैं और सरकार की विधायी और कार्यपालिका-शक्ति पर अनु. 19 द्वारा प्रदत्त अधिकार निलम्बित हो जाते हैं। आपात्काल में सरकार द्वारा पारित किसी भी विधि या उसकी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में किये गये किसी कृत्य को इस आधार पर न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकती है कि वे अनु. 19 द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं। आपात्काल के दौरान किये गये कृत्यों के विरूद्ध आपात् समाप्ति के पश्चात् भी काई कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

इतना ही नहीं, अनुच्छेद 359 द्वारा राष्ट्रपति को यह भी शक्ति प्रदान की गई है कि वह भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों के न्यायालय द्वारा प्रवर्तन के अधिकार का भी निलम्बन कर सकता है। ऐसा करने के लिए राष्ट्रपति को इस आशय का आदेश जारी करना होगा जिसमें वह उन अधिकारों का उल्लेख करेगा जिन्हें वह आपात्काल में निलम्बित करना चाहता है।

44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा अब यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अनु. 19(क) में प्रदत्त अधिकारों को अब केवल देश पर युद्ध या बाह्य आक्रमण के कारण देश की सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न होने की दशा में ही निलम्बित किया जा सकता है। सशस्त्र विद्रोह के आधार पर मूल अधिकारों को निलम्बित नहीं किया जा सकता है।

दूसरे, अनु. 358 केवल उन कानूनों को संरक्षण प्रदान करेगा जो आपात् से सम्बन्धित हैं। अन्य कानूनों को आपत्काल में भी न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है। इस संशोधन द्वारा अनु. 359 में संशोधन करके यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति को अब अनु. 20 और 21 को निलम्बित करने की शक्ति नहीं होगी। भविष्य में अब अनु. 21 द्वारा प्रदत्त अधिकार को निलम्बित नहीं किया जा सकेगा।

संविधान में राज्य (State in the Constitution)

संविधान के **अनुच्छेद 12** के तहत **राज्य** को विस्तृत रूप में परिभाषित किया गया है जिसके अनुसार, राज्य शब्द के अर्थ में भारत सरकार, संसद, राज्य सरकारों तथा राज्य के विधानमंडलों के अतिरिक्त भारत के राज्य क्षेत्र के अधीन अथवा भारत सरकार के नियंत्रणाधीन सभी स्थानीय एवं अन्य प्राधिकारियों को समावेशित किया गया है। दूसरे शब्दों में, राज्य के अधीन प्रशासनिक एवं गैर-प्रशासनिक गतिविधियों को भी समावेशित किया गया है।

ऐसी किसी भी गतिविधि द्वारा मौलिक अधिकारों के उल्लंघन होने की स्थिति में न्यायालय की शरण ली जा सकती है। इस संबंध में निम्नांकित मामलों का अध्ययन न्यायोचित होगा:

1. गुलाम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य
2. सोम प्रकाश बनाम भारत संघ
3. उमेश चन्द्र बनाम बी. एन. सिंह

कतिपय अन्य मामलों में भी न्यायपालिका ने राज्य शब्द का निर्वचन किया है तथा राज्य विद्युत बोर्डों, तथा राज्य की एजेंसी के रूप में कार्यरत निजी इकाई को भी राज्य की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। अनुच्छेद 13 के तहत भारत के राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले सभी विधान, आदेश, नियम, अधिसूचना तथा रूढ़ि या प्रथा अवैध करार दिये गये हैं। अनुच्छेद 13 के निर्वचन के अनुसार, न्यायालय को किसी ऐसे विधान को अवैध करार देने का अधिकार प्राप्त है। सहकारी समितियों को न्यायालय ने राज्य की परिभाषा से बाहर रखा है जिसका मुख्य कारण ऐसी समितियों का सहकारी समिति अधिनियम 1912 के तहत कार्य नहीं करना है।

अनु. 12 में यह कहा गया है कि मूल अधिकार केवल ''राज्य'' के विरूद्ध उपलब्ध हैं। अपने हाल के निर्णयों में उच्चतम न्यायलय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि जहाँ किसी नागरिक के मूल अधिकारों का उल्लंघन कोई प्राइवेट व्यक्ति करता है तो न्यायलय उसके विरूद्ध भी मूल अधिकार को लागू करेंगे और पीड़ित व्यक्ति को प्रतिकार दिलाएगा।

उल्लेखनीय है कि जब अनु. 352 के अन्तर्गत आपात् की उद्घोषणा कर दी गई हो तो अनु. 359 के अन्तर्गत राष्ट्रपति भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए किसी न्यायालय के प्रचालन के अधिकार को उक्त कालावधि के लिए, जिसमें कि उद्घोषणा लागू रहती है, निलंबित करने की घोषणा कर सकता है।

अनुच्छेद 13 (1) के प्रावधानों से निम्नांकित सिद्धांतों की व्याख्या की गई है:-

A. **भूतलक्षी प्रभाव के अभाव का सिद्धांत (Doctrine of No-Retrospection) :-** उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई व्याख्या के अनुसार संविधान के लागू होने की तिथि के पूर्व की विधियों के संबंध में यह कहा गया है कि इस तिथि के पूर्व ऐसी किसी विधि द्वारा अधिकारों का हनन होने से उसे शून्य घोषित नहीं किया जा सकता। (लक्ष्मण दास बनाम मद्रास राज्य)

B. **पृथकता का नियम** (Rule of Severability):- इस सिद्धांत के अनुसार मूल अधिकारों से असंगत होने पर विधि के केवल उस भाग को ही शून्य घोषित किया जाएगा जो अधिकारों से असंगत है।

C. **ग्रहण का सिद्धांत** (Doctrine of Eclipse):- इस सिद्धांत के अनुसार मूल अधिकारों से असंगत विधि के किसी भाग को शून्य घोषित कर उसके शेष भागों को प्रभावी बनाया रखा जाता है। (भिकाजी बनाम मध्य प्रदेश राज्य 1958)

D. **परित्याग का सिद्धांत** (Doctrine of Waiver) :- न्यायालय के अनुसार भारत में किसी नागरिक को मूल अधिकारों के परित्याग का अधिकार नहीं दिया गया है। (नर सिंह पाल बनाम भारत संघ ए.आइ.आर. 2000 एस.सी. 1401)

मूल अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of FRs)

(A) केवल नागरिकों को प्राप्त मूल अधिकार-

i. धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद पर रोक (अनुच्छेद 15),
ii. लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता (अनुच्छेद 16)
iii. वाक् एवं अभिव्यक्ति, समवेत होने, संगम बनाने, संचरण, निवास एवं वृत्ति की स्वतन्त्रताएँ (अनुच्छेद 19)
iv. अल्पसंख्यकों को संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 30)।

(B) सभी व्यक्तियों को प्राप्त मूल अधिकार-

i. विधि के समक्ष समता एवं विधियों का समान संरक्षण (अनुच्छेद 14),
ii. अपराधों के लिए दोषसिद्ध के संबंध में संरक्षण (अनुच्छेद 20)
iii. प्राण और दैहिक स्वतन्त्रता का संरक्षण (अनुच्छेद 21)
iv. शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23),
v. धर्म की स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 25),
vi. किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि हेतु करों के संदाय से स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 27),
vii. राज्य की शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या धार्मिक उपासना में उपस्थिति के बारे में स्वतन्त्रता।

viii. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनु.32)

1. समता का अधिकार (अनु॰ 14 से 18) (Right to Equality)

अनुच्छेद 14 की प्रेरणा अमेरिका एवं आयरलैंड के संविधान से प्राप्त की गई है। समता का उल्लेख भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी किया गया है। वस्तुत: सन् 1928 में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में गठित समिति ने समता के अधिकार की सर्वप्रथम व्याख्या की थी।

इसके उपरांत मौलिक अधिकारों एवं आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों से संबंधित विषयों की चर्चा करते हुए सन् 1931 में करांची प्रस्ताव में भी समता के अधिकार का उल्लेख किया गया था। तदुपरांत, सन् 1945 में सप्रू समिति ने प्रस्तावित संविधान में समता के अधिकार की व्याख्या करते हुए मौलिक अधिकारों को समावेशित करने का सुझाव दिया था।

इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ मामले में न्यायालय ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि अनुच्छेद का निर्वचन राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के साथ किया जाना चाहिए। वर्तमान में कई अवसरों पर यह व्याख्या की गई है कि अनुच्छेद 14 का प्रथम भाग नकारात्मक तथा द्वितीय भाग सकारात्मक है।

इस संबंध में न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि विधि के समक्ष समानता के संदर्भ में यदि विभेद किया गया है तो उसे युक्तियुक्त होना अनिवार्य है। विभेद के युक्तियुक्त होने की पहचान का अधिकार न्यायालय का है।

विधि के समक्ष समता (Equality before Law)

इसका अर्थ है कि कोई भी व्यक्ति देश की विधि से ऊपर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे उसका पद या प्रतिष्ठा कुछ भी हो सामान्य विधि के अधीन है और सामान्य न्यायालयों की प्रतिष्ठा के अधीन है। लेकिन इस सन्दर्भ में भारत के संविधान में कुछ अपवाद निम्न प्रकार हैं-

(i) अनुच्छेद 361 यह उपबंध करता है कि राष्ट्रपति या राज्य के राज्यपाल अपने पद की शक्तियों के प्रयोग एवं कर्तव्यपालन के लिए, किसी न्यायालय में उत्तरदायी नहीं होगा,

(ii) राष्ट्रपति या राज्य के राज्यपाल के विरूद्ध उसकी पदावधि के दौरान किसी न्यायालय में किसी प्रकार की दांडिक कार्यवाही संस्थित नहीं की जाएगी।

(iii) राष्ट्रपति या राज्य के राज्यपाल की पदावधि के दौरान उसकी गिरफ्तारी या कारावास के लिए किसी न्यायालय से कोई आदेशिका निकाली नहीं जाएगी।

विधि के समान संरक्षण (Equal Protection of Laws)

इसका तात्पर्य समान लोगों में विधि समान होगी एवं समान रूप से प्रशासित की जाएगी अर्थात् समान लोगों के साथ समान व्यवहार होगा। समान संरक्षण असमान व्यक्तियों को सुविधाएँ और अवसर प्रदान करने के राज्य द्वारा सकारात्मक कार्य किए जाने की अपेक्षा करता है। अनुच्छेद 14 वर्गीकरण की अनुमति देता है।

यदि वर्गीकरण का युक्तियुक्त आधार है तो विधायिका को अधिकार प्राप्त है कि वह विभेदकारी व्यवहार करे। विधायिका वर्गीकरण करने में सक्षम है। यह कार्य विधायिका का होता है कि वह लोगों के उस वर्ग की पहचान करे जिसे संरक्षण दिया जाना है और उस आधार का भी जिसके आधार पर संरक्षण दिया जाना है। न्यायालय इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

वर्गीकरण की युक्तियुक्तता के आधार

1. वर्गीकरण बोधगम्य विभेद पर आधारित होना चाहिए जो एक समूह में लाए गए लोगों का अन्य लोगों से भेद करे,
2. इस विभेद का अधिनियम के उद्देश्य से तर्कसंगत संबंध होना चाहिए।

अनुच्छेद 15(2) में उपबंध है कि कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग जन्मस्थान या इनमें से किसी आधार पर-

क. दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या

ख. पूर्णत: या अंशत: राज्य वित्त पोषित या साधारण जनतंत्र के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता दायित्व, निर्बन्धन या शर्त के अधीन नहीं होगा।

अनुच्छेद 14 एवं 15 का अध्ययन किये जाने पर यह स्पष्ट होता है कि अनुच्छेद 14 सभी व्यक्तियों पर लागू होता है जबकि अनुच्छेद 15 केवल नागरिकों तक ही सीमित है। अनुच्छेद 15 के तहत राज्य को महिलाओं एवं बच्चों के लिए विशेष उपबंध करने

का अधिकार प्राप्त है अत: ऐसे उपबंधों को विभेदीकरण की संकल्पना से बाहर रखने की व्यवस्था की गई है। साथ ही, ऐसे कोई भी उपबंध मौलिक अधिकारों के उल्लंघन नहीं समझे जायेंगे। महिलाओं एवं बच्चों के अतिरिक्त राज्य को सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से पिछड़े नागरिकों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए भी विशेष उपबंध करने का अधिकार अनुच्छेद 15 द्वारा प्रदान किया गया है। वी.पी. प्रभाकरण बनाम भारत संघ मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि कतिपय स्थानों पर महिलाओं के लिए किया जाने वाला आरक्षण अनुच्छेद 15 (3) के तहत वैध है। इसी प्रकार चिकित्सा महाविद्यालयों में भी किया जाने वाला आरक्षण वैध है (अजय कुमार बनाम बिहार राज्य)। न्यायालय के निर्वचन में स्पष्ट कहा गया है कि चिकित्सा के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में रिक्तियों का आवंटन आरक्षण नहीं है तथा इसकी अनुमति प्रदान की जा सकती है।

विधि का शासन (Rule of Law)

A.V. Dicey के अनुसार विधि के शासन के अर्थ में विधि की सर्वोच्चता सबसे महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर इसका अर्थ विधि के समक्ष समता भी है। विधि के शासन के सिद्धांत से यह भी स्पष्ट है कि कार्यपालिका द्वारा सदैव विधि के अनुरूप ही कार्य किया जाना चाहिए। लेकिन यह भी महत्वपूर्ण है कि कार्यपालिका के सभी शक्तियों का स्रोत विधि होनी चाहिए और विधि के शासन को ही न्यायिक पुनर्विलोकन का आधार बनाया जाना चाहिए। भारतीय संविधान में विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण की संकल्पनाएं प्रचलित हैं। जिनका अर्थ क्रमश: विधि की सर्वोच्चता है और समान परिस्थितियों में समान व्यवहार से है।

विधि के शासन का सामाजिक अर्थ (Social Meaning of Rule of Law)

इसका तात्पर्य शक्तियों का ऐसा प्रयोग है जिसके आधार पर शासन जनता के प्रति जवाबदेह होता है और समाज के प्रति नैतिक मानदंडो का पालन करता है। भारतीय राजव्यवस्था में विधि के शासन को कार्यान्वित करने के लिए विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया अपनाई गई है। जिसका अर्थ यह है कि सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था को विधि के अनुरूप दिशा दी जाएगी। भारत में यह संकल्पना, जापान के संविधान से प्रेरित है। कई राष्ट्र जैसे-संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन में विधि की सम्यक (यथोचित विधि प्रक्रिया, Due Process of Law) प्रचलित है जिसका अर्थ समाज में प्रचलित अधिकारों से संगत प्रथाओं को विधिक आधार देना है।

नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत (Doctrine of Natural Justice)

नैसर्गिक न्याय का अर्थ प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा है। जिसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सबसे महत्वपूर्ण है। मेनका गाँधी बनाम भारत संघ 1978 मामले में अनु. 21 की व्याख्या के दौरान न्यायालय ने यह स्पष्ट किया की नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत की उत्पत्ति अनु. 14 से होती है जबकि इसका व्यावहारिक पक्ष अनु. 19 और 21 में शामिल है।

वर्ग एवं वर्गीकरण का सिद्धांत (Doctrine of Class & Classification Legislation)

वर्ग का तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जिनके विचार और उद्देश्य एक समान हैं। इस रूप में भारत में ऐसे वर्गों का निर्माण करने वाले विधानों पर रोक लगाई गई है जिसका मुख्य कारण भारत की समाजवादी प्रकृति है।

इस आधार पर भारतीय राजव्यवस्था में वर्ग-विहीन समाज स्थापित किया जाना संकल्पित है। इसके विपरीत आय तथा अन्य आधारों पर विभेद के कारण विषमताएँ विद्यमान हैं। अत: विषमता से प्रभावित वर्गों की पहचान के लिए वर्गीकरण विधानों को स्वीकार किया गया है ताकि समान समूहों में समानता लाई जा सके।

संरक्षणात्मक विभेदीकरण (Protective Discrimination)

अनु. 15(4) में वर्ग परिभाषित है वहीं दूसरी और 15(3) में वर्ग की जगह Biological Difference अर्थात महिला, पुरूष के अधिकारों को परिभाषित किया गया है। 15(3) में महिला, पुरूष के बीच विभेद करने वाला कोई कानून नहीं है। अनु. 15(4) समतामूलक है अर्थात इसका उद्देश्य वर्ग-विहीन समाज बनाना है। अनु. 16(4) आरक्षण को परिभाषित करता है।

संविधान के पहले संशोधन 1951 की धारा (2) से शामिल अनु. 15(4) से संरचनात्मक विभेदीकरण के सिद्धांत की व्याख्या की गई है। जिसमें सामाजिक एवं शैक्षणिक वर्गो को विशेष संरक्षण देने का प्रावधान है। इस कारण अनु. 15(4) को अनु. 15(1) पर युक्तियुक्त (तर्क संगत) निर्बंधन कहा गया है। इस सिद्धांत को अनु. 16(4), अनु. 29, अनु '46' और अनु. '340' से प्रत्यक्ष समर्थन से मिलता है। इस संबंध में न्यायालय ने यह कहा है कि राज्य को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था बनाने का प्रयास करना चाहिए जिसमें जाति अथवा वर्ग के आधार पर विभेद न हो और ऐसे सभी पिछड़े वर्गों का सामाजिक समायोजन (Adjustment) भी किया जा सकता है।

भारत में पिछड़ापन और आरक्षण का विषय (Backwardness in India & the Issue of Reservation)

भारत में पिछड़ेपन को संवैधानिक प्रावधानों में परिभाषित नहीं किया गया है। अत: पिछड़ा वर्ग आयोग तथा समय-समय पर उच्चतम न्यायालय द्वारा की गई व्याख्या इस सन्दर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। पिछड़ेपन को परिभाषित करने के लिए सर्वप्रथम सन् 1953 में अनु. '340' के तहत भारत के पहले पिछड़ा वर्ग आयोग (कालेलकर आयोग) बनाया गया था। आयोग ने यह स्पष्ट किया की भारत में जाति से अलग हटकर पिछड़ेपन को परिभाषित नहीं किया जा सकता। क्योंकि भारत में आर्थिक पिछड़ापन, सामाजिक पिछड़ेपन का कारण नही होकर उसका परिणाम है।

उच्चतम न्यायालय ने P. Rajendran vs State of Madras 1968 मामले में यह कहा की पिछड़ापन सामाजिक और शैक्षणिक दोनों होना चाहिए, न कि केवल कोई एक। साथ ही यह भी कहा गया कि चूंकि अनु. 15(4) में जाति के स्थान पर वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: पिछड़ेपन को परिभाषित करने के लिए केवल जाति को आधार नहीं बनाया जाना चाहिए। न्यायालय ने यह भी कहा है कि पिछड़े वर्ग में भी पिछड़ा और अत्यधिक पिछड़ा जैसा वर्गीकरण किया जा सकता है।

- सन् 1989 में दूसरा पिछड़ा आयोग (मंडल आयोग) ने भी पिछड़ेपन को परिभाषित करने कें क्रम में जाति को सबसे महत्वपूर्ण आधार कहा था। उल्लेखनीय है कि मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद हुए विवादों के कारण ''राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम 1992'' के तहत ऐसा एक 'राष्ट्रीय आयोग 1993' से कार्यरत् है।
- आरक्षण सामाजिक और शैक्षणिक रूप से दी जाने वाले ऐसी एक सुविधा है जिसका उद्देश्य कमजोर वर्गों को सामाजिक-आर्थिक मुख्य धारा में शामिल करना है।

उच्चतम न्यायालय के अनुसार आरक्षण के दो स्वरूप होते हैं:-

(1) लंबवत् (Vertical) आरक्षण: पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों आदि वर्गों को दिया जाने वाला आरक्षण है।

(2) क्षैतिज (Horizontal) आरक्षण: महिलाओं तथा अन्य वर्ग, जैसे-विकलांगों को दिया जाने वाला आरक्षण है (महेश गुप्ता बनाम यशवंत शिखर 2007)

आरक्षण का विषय आरंभ से ही विवादास्पद रहा है। इसके समर्थकों का यह मानना है कि यह विभेदीकरण दूर करने वाली अवधारणा है जो संसाधन विहीन वर्गों को विकास की मुख्य धारा से जोड़ती है। इसके विपरीत आलोचकों के अनुसार आरक्षण समता के सिद्धांत का विरोधी है तथा यह योग्यता को भी प्रभावित करता है।

इन विवादों के संदर्भ में आरक्षण की तार्किकता स्पष्ट करने के लिए समतावादी और मानववादी सिद्धांतों का उल्लेख तर्कसंगत होगा। भारत के संविधान में समतावाद का सिद्धांत शामिल है जिसका अर्थ संसाधनों का समतामूलक वितरण है। यही सिद्धांत भारत में आरक्षण को संवैधानिक आधार देता है। दूसरी ओर, मानववादी सिद्धांत संसाधनों की समान साझेदारी पर आधारित है जो राजनीतिक विचारों से प्रेरित होती है।

स्पष्टत: संसाधनों की समान साझेदारी यद्यपि निरपेक्ष गरीबी दूर कर सकती है। लेकिन समतामूलक समाज की स्थापना नहीं कर सकती है। इस आधार पर आरक्षण संरचनात्मक विभेदीकरण के सिद्धांत को समर्थन देता है तथा अर्थपूर्ण समता के लिए उत्तरदायी है। उच्चतम न्यायालय ने 'इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ 1992'- मंडल आयोगवाद मामले में यह कहा है कि सामाजिक पिछड़ेपन की पहचान के लिए मूल रूप से जाति तथा इसके अतिरिक्त वित्तीय स्थिति और व्यवसाय को आधार बनाया जा सकता है।

न्यायालय के अनुसार आरक्षण योग्यता को प्रभावित नहीं करता क्योंकि योग्यता और कार्यकुशलता दो भिन्न संकल्पनाएँ हैं। इसके बावजूद यदी योग्यता आरंभिक चरणों में प्रभावित होती है तो भी कालांतर में वह प्रभाव समाप्त हो जाता है। इस कारण राज्य को कार्यकुशलता के न्यूनतम मानकों का निर्धारण करना चाहिए।

अनुच्छेद-16 लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता सुनिश्चित करता है। अनुच्छेद 16(1) उपबंधित करता है कि राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी। वहीं, **अनुच्छेद** 16(2) स्पष्ट करता है कि कोई नागरिक केवल, धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान, या इनमें से किसी के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के सबंध में विभेद नहीं किया जाएगा। लेकिन, अनुच्छेद 16(3) संसद को शक्ति प्रदान करता है कि वह राज्य या स्थानीय प्राधिकारी के अधीन नियोजन या नियुक्ति के किसी वर्ग के लिए शर्त के रूप में निवास का उपबंध कर सकती है।

अनुच्छेद 16 (4) के तहत राज्य को पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण की सुविधा प्रदान करने का अधिकार है यदि उनका प्रतिनिधित्व राज्य सेवाओं में पर्याप्त नहीं है। सुरक्षा के दृष्टिकोण से अनुच्छेद 16(4) का निर्वचन अनुच्छेद 335 के साथ किया जाना चाहिए ताकि सरकारी सेवाओं में कार्यकुशलता पर कुप्रभाव नहीं दृष्टिगोचर हों। वास्तविकता में न्यायालयों द्वारा अनुच्छेद 16, 46 एवं 335 का निर्वचन एक साथ किया जाता है। दूसरी ओर, यद्यपि चिकित्सा महाविद्यालयों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सीटों के आरक्षण का अधिकार राज्य को प्राप्त है तथापि इस प्रकार का आरक्षण प्रत्येक शैक्षणिक संस्थान अथवा सरकारी सेवाओं में दिया जाना अनिवार्य नहीं है। 16 नवंबर, 1992 को इंदिरा साहणी बनाम भारत संघ 1993 मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट निर्देश दिया था कि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण आरंभिक चरणों में दिया जायेगा, न कि प्रोन्नति में। इस स्थिति में इन जातियों तथा जनजातियों के हितों की रक्षा के संदर्भ में सन् 1995 में संविधान के 77 वें संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 16 में परन्तुक 4 समावेशित कर प्रोन्नति में भी आरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। इसी मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि भारत में पिछड़ापन राज्य, क्षेत्र, नगरीय तथा ग्रामीण क्षेत्रों की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसके बावजूद पिछड़े वर्ग की पहचान के लिए संकुचित दृष्ट्रिकोण नहीं अपनाया जा सकता अतः इसकी पहचान राष्ट्र के स्तर पर होंनी चाहिए। उच्चतम न्यायालय के अनुसार राज्य को सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने के क्रम में सभी समुदायों के हितों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

अनुच्छेद 16(4) में ही प्रावधान है कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के कार्य से संबंधित कोई पद उस विशिष्ट धर्म या विशिष्ट सम्प्रदाय के व्यक्ति के लिए आरक्षित किया जा सकता है जिससे वह संबंद्ध है।

अनुच्छेद 17 के निर्वचन हेतु नागरिक अधिकार सुरक्षा कानून, 1955 का निर्वचन भी किया जाना अनिवार्य है। अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए अनुच्छेद 17 में प्रावधान किये गये हैं। न्यायपालिका द्वारा ऐसे व्यक्तियों को, जिन्हें समाज में अस्पृश्य की संज्ञा दी गई है, के कल्याण तथा उत्थान हेतु राज्य को विशेष उपबंध करने का अधिकार प्रदान किया है। इन उपबंधों के माध्यम से उन्हें भू-खंड उपलब्ध कराने के साथ-साथ उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के प्रयास किये जाते हैं।

अनुच्छेद 18 में उपाधियों की समाप्ति का प्रावधान किया गया है। इस संदर्भ में यह उल्लेख आवश्यक है कि राष्ट्रीय पुरस्कारों को उपाधियों की श्रेणी में समावेशित नहीं किया जाता है। ऐसी स्थिति में इन पुरस्कारों का उपयोग उपसर्ग अथवा प्रत्यय के रूप में नहीं किया जा सकता। इसकी अवहेलना किये जाने पर राष्ट्रीय पुरस्कार निरस्त किया जा सकता है जिसका उल्लेख राष्ट्रीय पुरस्कारों से संबंधित चार अधिसूचनाओं के विनियमन 10 में किया गया है।

अनु. 18 निम्नलिखित का प्रतिषेध करता है:

1. राज्य सेना या विधान संबंधी सम्मान के अलावा और कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा।
2. भारत का कोई नागरिक विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा।
3. कोई व्यक्ति, जो भारत का नागरिक नहीं है, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।
4. राज्य के अधीन लाभ या विश्वास का पद धारण करने वाला कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या उसके अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।

2. स्वतंत्रता का अधिकार (अनु॰ 19 से 22) (Right to Freedom)

1. संविधान के अनुच्छेद 19 से 22 तक विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रताओं की व्याख्या की गई है।
2. इस अनुच्छेद में चर्चित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के प्रावधान भी किये गये हैं। लेकिन ये प्रतिबंध युक्तियुक्त होने चाहिए। इस संबंध में न्यायालय का निर्णय अंतिम माना जाता है।
3. अनु. 20 के अनुसार, अपराध के लिए दंडित होने से सुरक्षा का अधिकार नागरिकों को प्रदान किया गया है।
4. जीवन तथा दैहिक स्वतंत्रता की रक्षा का अधिकार अनु. 21 में वर्णित है।
5. अनु. 22 में बंदीकरण तथा नजरबंदी से संरक्षण प्रदान किया गया है। इसके अनुसार,
   i. बंदी व्यक्ति को बंदीकरण के कारणों से अवगत कराने के प्रावधान किये गये हैं।
   ii. बंदी को इच्छानुसार वैधानिक परामर्श प्राप्त करने तथा स्वयं के बचाव का अधिकार प्राप्त है।
   iii. 24 घंटे के भीतर बंदी व्यक्ति को निकटतम न्यायालय में उपस्थित किया जाना अनिवार्य है।

iv. दण्डाधीश की अनुमति के बिना संबद्ध बंदी को 24 घंटे से अधिक की अवधि तक बंदी नहीं रखा जा सकता।

अनुच्छेद 19 नागरिकों को छह स्वतंत्रताएँ प्राप्त हैं–

क. वाक्–स्वातन्त्रय और अभिव्यक्ति स्वतंत्रता

ख. शांतिपूर्वक एवं निरायुद्ध सम्मेलन का,

ग. संगम या संघ बनाने का,

घ. भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का

ड. भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, और

छ. कोई वृत्ति, आजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार होगा।

हमारे संविधान ने ही उपर्युक्त अधिकारों पर कुछ परिसीमाएँ अधिरोपित की हैं। संविधान राज्य को शक्ति प्रदान करता है कि वह समुदाय के व्यापक हितों की दृष्टि से आवश्यक युक्तियुक्त निर्बन्धन लगा सकता है जिसका उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सामाजिक नियन्त्रण के बीच संतुलन स्थापित करना है जिसका आधार कल्याणकारी राज्य की स्थापना में दृष्टिगोचर में होता है।

स्वतंत्रता पर निर्बंधन (Restrictions on Freedom)

संविधान द्वारा व्यक्तियों को स्वतन्त्रता का अधिकार निरपेक्ष रूप में ही प्राप्त नहीं हैं। अपितु सामान्य हित की दृष्टि से उसे नियंत्रित किया जा सकता है। संविधान द्वारा निम्नलिखित आधारों पर उपर्युक्त स्वतन्त्रताओं पर निर्बन्धन आरोपित किए जा सकते हैं। अनुच्छेद 19 के खंड (2) के द्वारा वाक् व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भारत की प्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हितों में अथवा न्यायालय–अवमान, मानहानि या अपराध–उद्दीपन के संबंध में निर्वंधन लगा सकता है।

खंड (3) के द्वारा शांतिपूर्ण और निरायुद्ध सम्मेलन की स्वतंत्रता पर भारत की प्रभुता और अखंडता या लोक व्यवस्था के हितों में,

खंड (4) के द्वारा संगम बनाने की स्वतन्त्रता पर भारत की प्रभुता और अखंडता या लोक–व्यवस्था या सदाचार के हितों में,

खंड (5) द्वारा अबाध संचरण एवं निवास की स्वतन्त्रता पर साधारण जनता के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के संरक्षण के लिए,

खंड (6) द्वारा वृत्ति की स्वतन्त्रता पर साधारण जनता के हितों में युक्तियुक्त निर्बन्ध, आरोपित किए जा सकते हैं।

निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता का निर्धारण करना न्यायालयों का कार्य है। इस आधार पर स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर विधानमंडलों का निर्णय न्यायिक पुनरीक्षण के अधीन है। उच्चतम न्यायलय ने निर्बन्धनों की युक्तियुक्तता हेतु कुछ सामान्य नियम स्थापित किए हैं जो निम्नांकित हैं–

i. व्यक्तिगत हित एवं सामाजिक हित में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए, लगाए गए निर्बन्धनों एवं उस उद्देश्य में तर्कसंगत संबंध हो जिसे विधि बनाकर विधानमंडल प्राप्त करना चाहता है,

ii. निर्बन्धनों को मौलिक विधि एवं प्रक्रियात्मक विधि दोनों दृष्टिकोणों से युक्तिसंगत होना चाहिए।

iii. राज्य के नीति निदेशक तत्वों में निहित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लगाए गए निर्बन्धन युक्तियुक्त माने जा सकते हैं।

iv. युक्तियुक्त निर्बन्धन निषेधात्मक भी हो सकते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में नागरिकों के अधिकार पर पूर्ण रोक लगाना युक्तियुक्त निर्बन्धन माना जाता है।

v. विद्यमान सामाजिक मूल्यों और आवश्यकताओं का निर्बन्धनों द्वारा समाधान होना चाहिए।

बंद तथा हड़ताल

केरल उच्च न्यायालय ने बंद एवं हडताल में भेद नागरिकों के मूल अधिकारों पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर किया है। उच्च न्यायालय के अनुसार बंद से नागरिकों के मूल अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और नागरिक अपने मूल अधिकारों को प्रयोग करने से वंचित हो जाते हैं जबकि हडताल का ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता। उच्च न्यायालय ने आगे यह अभिनिर्धारित किया कि बंद में नागरिकों को अभिव्यक्ति अथवा विवक्षित रूप से यह धमकी दी जाती है कि वे अपने सभी क्रियाकलापों और पेशों को रोक दें और घर से बाहर न निकले। यदि इस दौरान शारीरिक हिंसा न भी दी गई हो तब भी नागरिकों में इस संदर्भ में मनोवैज्ञानिक भय व्याप्त हो जाता है जिस कारण वे अपने मूल अधिकारों के प्रयोग से वंचित हो जाते हैं।

उच्चतम न्यायालय ने भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनाम भरत कुमार AIR 1998 SC 184 मामले में यह निर्णय दिया कि राजनीतिक दलों द्वारा बंद का आयोजन असंवैधानिक एवं अवैध है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि इस सन्दर्भ में अनु० 226 के अधीन उपचारों के लिए उच्च न्यायालय में अपील दायर की जा सकती है।

युक्तियुक्त होने हेतु आवश्यक है कि निर्बंधन का विधान के सामूहिक उद्देश्य से युक्तियुक्त संबंध हो। निर्बन्धन अधिरोपित करने की प्रक्रिया भी न्यायोचित होनी चाहिए। यदि कोई निर्बन्धन इस प्रकार अधिरोपित किया जाता है जिससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन होता है तो वह अयुक्तियुक्त होगा।

अनुच्छेद 19 का निर्वचन किये जाने पर स्पष्ट होता है कि जिन स्थितियों में अनुच्छेद 21 तथा 22 लागू होते हैं वहां अनुच्छेद 19 लागू नहीं किया जाता। इस अनुच्छेद में उल्लिखित तथ्य केवल नागरिकों तक ही सीमित हैं। प्रतिष्ठानों को अनुच्छेद 19 के तहत स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है क्योंकि प्रतिष्ठानों को नागरिकता प्राप्त नहीं होती है।

उपरोक्त आधारों पर उच्चतम न्यायालय ने कई मामलों में स्पष्ट निर्देश दिये हैं। दूसरी ओर, समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं द्वारा किसी समाचार विशेष के संबंध में प्रकाशित होने वाली सामग्री के संदर्भ में न्यायालय ने निम्नांकित तीन तथ्यों पर विशेष बल देने की व्यवस्था की है ताकि किसी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा की जा सके :

1. सम्मान का अधिकार।
2. गोपनीयता का अधिकार।
3. न्यायालय की अवमानना से संबंधित विधि।

न्यायालय की अवमानना के संदर्भ में स्पष्ट होता है कि किसी मामले के न्यायालय में दाखिल किये जाने के उपरांत मामले से संबंधित तथ्यों का प्रकाशन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, बलात्कार की पीड़िता का नाम न्यायालय की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता है।

वाक् स्वतंत्रता के संदर्भ में गुवाहाटी उच्च न्यायालय द्वारा सुशील चौधरी बनाम त्रिपुरा राज्य मामले में स्पष्ट किया गया है कि प्रेस की स्वतंत्रता प्रेस से अधिक आम नागरिकों एवं समुदाय के लिए लाभकारी है क्योंकि नागरिकों को सूचना प्राप्त करने का अधिकार है तथा उन्हें शिक्षित करने का दायित्व राज्य सरकार का है।

इसके अतिरिक्त, न्यायालय ने जीवन बीमा निगम बनाम मनुभाई शाह मामले में यह भी निर्देश दिये हैं कि सरकार द्वारा निश्चित मानदंडों के आधार पर ही समाचारपत्रों को विज्ञापन निर्गत किये जाने चाहिए। इन मानदंडों का निर्धारण न्यायालय द्वारा उक्त मामले में ही किया गया है।

प्रेस की स्वतन्त्रता (Freedom of Press)

प्रेस की स्वतन्त्रता अनुच्छेद 19 (1)(क) में प्रत्याभूत अभिव्यक्ति की व्यापक स्वतन्त्रता में सम्मिलित है। राज्य प्रेस की स्वतन्त्रता पर राज्य की सुरक्षा, भारत की प्रभुता और अखंडता, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक-व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार अथवा न्यायालय अवमान, मानहानि या अपराध-उद्दीपन के संबंध में विधियाँ बना सकता है। भारत में प्रेस को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है।

प्रेस को सामान्य कराधान से, औद्योगिक संबंधों से संबंधित साधारण विधि के लागू होने से, कर्मचारियों की सेवाओं की शर्तों के विनियमन से, उन्मुक्ति नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि समाचार पत्र विचारों को अभिव्यक्ति करने का महत्वपूर्ण साधन है। राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र की सफलता के लिए प्रेस की स्वतन्त्रता अपरिहार्य है।

अनुच्छेद 19 का विस्तार

न्यायालय के निर्णयों द्वारा अनुच्छेद 19 के अर्थ का व्यापक विस्तार किया गया है। जिसमें निम्नांकित अधिकार सम्मिलित हैं,

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005

इस अधिनियम का उद्देश्य प्रशासन में खुलापन, पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व को बढ़ाना है। धारा 5 के अनुसार प्रत्येक लोक प्राधिकारी इस अधिनियम के लागू होने के 100 दिन के भीतर रहने इतने केन्द्रीय और राज्य सूचना अधिकारियों की नियुक्ति करेगा जितने आवश्यक हों। ये सूचना अधिकारी किसी भी व्यक्तियों को सूचना प्रदान करेंगे जो इसके लिए आवेदन दे। कोई भी व्यक्ति जो सूचना प्राप्त करने के इच्छुक हैं वह इसके लिए लिखित या इलेक्ट्रनिक मीडिया द्वारा हिन्दी या अंग्रेजी में लोकसूचना अधिकारी को आवेदन देगा (धारा 6)। लोक सूचना अधिकारी आवेदन पाने के पश्चात् यथाशीघ्र किन्तु 30 दिन के भीतर विहित शुल्क के भुगतान पर या तो सूचना देगा अथवा धारा 8 और 9 के अन्तर्गत विहित कारणों के आधार पर इन्कार कर देगा। किन्तु जहाँ सूचना किसी व्यक्ति के प्राण एवं स्वतंत्रता से सम्बन्धित है उसे आवेदन के पश्चात् 48 घण्टे के भीतर प्रदान कर दिया जाना चाहिए। धारा 8 और 9 में उन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनके आधार पर सूचना देने से इन्कार किया जा सकता है। लोक सूचना अधिकारी के निर्णय से पीड़ित व्यक्ति 30 दिनों के भीतर ऐसे अधिकारी के पास अपील कर सकेगा जिसको विहित किया जाए (धारा 12)। धारा 23 के अन्तर्गत यह उपबन्ध है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत किसी भी आदेश के विरूद्ध किसी न्यायालय में कोई भी मामला नहीं लाया जा सकता है। धारा 24 में उन संगठनों का उल्लेख है जिनके विरूद्ध यह अधिनियम लागू नहीं किया जाएगा अर्थात् केन्द्रीय सकरार द्वारा दूसरी अनुसूची में विनिर्दिष्ट गुप्तचर या सुरक्षा सम्बन्धी संगठन। धारा 20 के अधीन यह उपबन्ध है कि सूचना अधिकारियों द्वारा बिना उचित कारण के आवेदन लेने या सूचना न देने पर केन्द्रीय सूचना आयोग सम्बन्धित अधिकारी पर 250 रूपये प्रतिदिन की दर से का जुर्माना लगा सकता है जब तक सूचना नहीं प्रदान की जाती है।

1. जानने का अधिकार (रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य)
2. सूचना का अधिकार (सूचना के अधिकार का अधिनियम, 2005),
3. राष्ट्रीय ध्वज फहराना (भारत संघ बनाम नवीन जिदंल)

सूचना का अधिकार (Right to Information)

12 अक्टूबर 2005 से देश में सूचना पाने का अधिकार स्थापित हो गया। विश्व में भारत 55 वां ऐसा देश है जहाँ जनता को सरकार से सूचना पाने का अधिकार दिया गया है। कानून के अन्तर्गत केन्द्र और राज्यों के प्रशासनों के अलावा पंचायतें, स्थानीय निकाय और सरकार से धन पाने वाले गैर सरकारी संगठन भी आयेंगे। इसके अलावा इस कानून के तहत जीवन और स्वतंत्रता से जुड़े विषयों की सूचना पाने के आवेदनों पर 48 घण्टे के भीतर जवाब देना होगा। यह कानून जम्मू कश्मीर को छोड़कर सारे देश में 12 अक्टूबर 2005 में लागू हो गया। इसके तहत केन्द्र द्वारा केन्द्रीय सूचना आयोग का 26 अक्टूबर 2005 को गठन कर दिया गया था।

अनुच्छेद 20 : अपराध के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण

यह भारत में विधान मंडलों की विधि निर्माण की शक्ति पर लगाई गई मर्यादा है। सामान्यत: विधानमंडल भूतलक्षीय एवं भविष्यलक्षी दोनों प्रकार की विधियाँ बना सकता है किंतु इस खंड के अनुसार विधानमंडल कोई दांडिक विधि को भूतलक्षी बनाकर यह उपबंध नहीं कर सकेगा कि कोई व्यक्ति ऐसे कार्य के लिए दोषसिद्ध हो जाए जो कार्य के किए जाने के समय तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन अपराध नहीं था।

''दोहरा दंड अमेरिकी विधि में प्रभुत्व अभिव्यक्ति है, हमारे संविधान में इसका प्रयोग नहीं हुआ है। उच्चतम न्यायलय ने वेंकटरामन बनाम भारत संघ में यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 20(2) का निर्देश न्यायिक दंड के प्रति है यदि कोई व्यक्ति अपराध के लिए पूर्ववर्ती कार्यवाही में अभियोजित और दंडित किया जा चुका है तो उसे उसी अपराध के लिए पश्चातवर्ती कार्यवाही में अभियोजित और दंडित नहीं किया जा सकता। यदि कोई विधि ऐसे दोहरे दंड की व्यवस्था करती है तो विधि शून्य है।

लेकिन यदि किसी सरकारी सेवक को न्यायालय द्वारा किसी अपराध के लिए दंडित किया गया है तो उसके विरूद्ध उसी अपराध के लिए विभागीय कार्यवाहियाँ की जा सकती हैं या विभागीय कार्यवाही के पश्चात् न्यायिक कार्यवाहियां की जा सकती है। नार्को टेस्ट के संदर्भ में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि अभियुक्त की सहमति के बिना किया गया परीक्षण निजता के अधिकार (दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार) का उल्लंघन होगा जो असंवैधानिक है। अर्थात इससे अनु॰ 20(3) में शामिल प्रावधानों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। साथ ही यदि ऐसे परीक्षण अभियुक्त की सहमति से किए भी जाएं तो भी उसके निष्कर्षों को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 20 के तहत नागरिकों को बंदीकरण से संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार, किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए दो बार बंदी नहीं बनाया जा सकता है। इस संकल्पना को दोहरे दंड की संकल्पना (Concept of double Jeopardy) कहते हैं। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 20 (3) के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि किसी अपराध के लिए किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरूद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा। कई मामलों में न्यायपालिका ने अनुच्छेद 20(3) के निर्वचन के आधार पर स्पष्ट किया है कि किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरूद्ध विश्लेषण के लिए अपने रक्त का प्रतिदर्श देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता तथा प्रतिदर्श देने से इनकार करने की स्थिति में उस व्यक्ति के विरूद्ध कोई प्रतिकूल निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है।

अनुच्छेद-21 : प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Life & Personal Liberty)

यह उपबंधित करता है कि ''किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार वंचित नहीं किया जाएगा। संविधान के 86 वें संशोधन अधिनियम, 2002 द्वारा संविधान में अनु. 21 के पश्चात् एक नया अनु. 21 (क) जोड़ कर शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार बना दिया है। अनु. 21 (क) यह उपबंधित करता है कि ''राज्य ऐसी नीति से विधि बनाकर निर्धारित करे कि छ: वर्ष की आयु से चौदह वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध होगी।

गोपालन बनाम मद्रास राज्य के मामले में उच्चतम न्यायलय ने निर्णय दिया कि अनु. 21 केवल कार्यपालिका के कृत्यों के विरूद्ध संरक्षण प्रदान करता है, विधानमंडल के विरूद्ध नहीं। लेकिन, मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने गोपालन के मामले में दिए गए निर्णय को उलट दिया तथा निर्णय दिया कि अनु. 21 कार्यपालिका एवं विधायिका दोनों के कृत्यों के विरूद्ध प्राप्त है। विधान मंडल द्वारा पारित किसी विधि के अधीन विहित प्रक्रिया, जो किसी व्यक्ति को उसके प्राण एवं दैहिक स्वाधीनता

से वंचित करती है, उचित, ऋजु तथा युक्तियुक्त अर्थात् नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुरूप होनी चाहिए।

अनुच्छेद-21 का विस्तार

न्यायिक सक्रियता में ए.के. गोपालन बनाम भारत संघ 1950 वाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा अनु. 21 के अर्थ को अत्यन्त संकुचित कर दिया। जिसमें न्यायलय ने कहा कि अनु.21 में दैहिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत केवल भौतिक स्वतन्त्रता ही शामिल है। किन्तु, मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायलय ने अनु.21 को एक नया आयाम दिया है और इसके क्षेत्र को अत्यन्त विशद् बना दिया है। इसमें न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि ''प्राण का अधिकार केवल भौतिक अस्तित्व तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसमें मानव गरिमा को बनाए रखते हुए जीने का अधिकार है।''

उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनु. 21 में प्रयुक्त 'प्रक्रिया' का अर्थ कोई प्रक्रिया नहीं है, बल्कि ऐसी प्रक्रिया है जो ऋजु, न्यायपूर्ण एवं युक्तियुक्त है। युक्तियुक्त से तात्पर्य विधि का नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के साथ तालमेल होना है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के स्थान पर विधि की उचित प्रक्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। इसलिए गोपालन से मेनका वाद को ''उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुंव तक की यात्रा कहते हैं।''

उल्लेखनीय है कि न्यायालय ने मेनका गाँधी वाद में स्पष्ट किया कि अनु. 19 एवं 21 परस्पर पूरक हैं।

मेनका गाँधी वाद के पश्चात् उच्चतम न्यायलय द्वारा अपने अनेक निर्णयों द्वारा अनु. 21 का और भी विस्तार किया गया जो निम्न प्रकार हैं-

1. एकान्तता का अधिकार (गोविन्द बनाम मध्य प्रदेश),
2. वयस्क बालक एवं बालिका को स्वेच्छा से अन्तर्जातीय विवाह का अधिकार (लता सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य),
3. फोन टेप करना एकान्तता के अधिकार पर हस्तक्षेप है (पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज बनाम यूनियन ऑफ इन्डिया),
4. विदेश भ्रमण का अधिकार (सतवन्त सिंह बनाम असिस्टेन्ट आफिसर नई दिल्ली),
5. जीविकोपार्जन का अधिकार (ओलेगा तेलीस बनाम बाम्बे म्युनिसिपल कारपोरेशन),
6. शिक्षा पाने का मूल अधिकार (मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य 1914),
7. आहार पाने का अधिकार (पी.यू.सी.एल क रिट याचिका 2001,)
8. अनु. 21 में मरने का अधिकार सम्मिलित नहीं है (महाराष्ट्र राज्य बनाम श्रीपति इबल),

इसके अतिरिक्त अनेक मामलों में उच्चतम न्यायलय ने, प्रदूषण मुक्त जल एवं वायु के उपयोग का अधिकार, पर्यावरण प्रदूषण के विरूद्ध संरक्षण, नि:शुल्क विधिक सहायता, शीघ्र परीक्षण का अधिकार, चिकित्सा सहायता पाने का अधिकार, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सुविधा पाने का कर्मकारों का अधिकार, आश्रय का अधिकार, बलात्कार से पीड़ित महिला को अन्तरिम प्रतिकार पाने का अधिकार इत्यादि को शामिल कर अनु. 21 का विस्तार किया है।

अनुच्छेद 21 के तहत व्याख्यायित प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार के संदर्भ में बंदी बनाये जाने वाले व्यक्ति को वैधानिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 21 तथा अनुच्छेद 39 (A) के एक साथ निर्वचन से यह स्पष्ट होता है कि बंदियों को वैधानिक सहायता प्रदान की जानी चाहिए। अनुच्छेद 21 का विस्तार न्यायपालिका द्वारा किये गये निर्वचनों के आधार पर निम्नांकित क्षेत्रों तक किया जा सकता है:

1. जीवन रक्षा
2. एड्स तथा रोजगार
3. सौन्दर्य प्रतियोगिता
4. बंदीगृहों में मृत्यु
5. स्वास्थ्य
6. आवासीय सुविधा
7. गोपनीयता
8. यौन उत्पीड़न
9. अमानवीय व्यवहार

10. बालकों पर प्रहार
11. पुलिस अत्याचार
12. अवैधानिक बंदीकरण
13. यातायात नियंत्रण
14. विकिरण

अनुच्छेद 21 एवं पर्यावरण (Article 21 & Environment)

अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत पर्यावरण से संबंधित विषयों का भी निर्वचन किया जाता है। इस संदर्भ में न्यायालय ने एम.सी. मेहता बनाम कमल नाथ मामले में पारिस्थितिकी एवं जन न्यास (Doctrine of Public Trust and Ecology) की संकल्पना का स्पष्टीकरण दिया है।

इसके अनुसार, सार्वजनिक उपयोग में आने वाले संसाधनों को निजी संपत्ति नहीं बनाया जा सकता है। साथ ही, ऐसे संसाधनों के व्यावसायिक उपयोग पर भी प्रतिबंध लगाया गया है। राज्य द्वारा संसाधनों के दुरुपयोग को न्यायालय ने जन विश्वास पर आघात कहा है। आर्थिक विकास हेतु आवश्यक उद्योगों की स्थापना के साथ-साथ पर्यावरण एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य के संदर्भ में प्रयास करना अनिवार्य है। वेल्लोर नागरिक कल्याण फोरम बनाम भारत संघ मामले में उच्चतम न्यायालय ने सभी उच्च न्यायालयों को हरित खंडपीठ स्थापित करने का निर्देश दिया है। इस खंडपीठ की सहायता से उद्योगों द्वारा पर्यावरण रक्षा के क्षेत्र में प्रयास करने में व्यापक सहायता प्राप्त होगी। कतिपय अवसरों पर न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया है कि बेरोजगारी तथा राजस्व ह्रास की तुलना में जीवन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा पारिस्थितिकी तंत्र अधिक महत्वपूर्ण हैं। अनुच्छेद 21 के निर्वचन के क्रम में न्यायालय ने कहा है कि प्रदूषण मुक्त वायु का अधिकार अनुच्छेद 21 में सन्निहित है।

इसके अतिरिक्त, प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता की संकल्पना के तहत प्रदूषण-रहित जल की उपलब्धता को भी समावेशित किया गया है। साथ ही, न्यायालय ने वन संरक्षण के संबंध में भी विचार अभिव्यक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि वनों के निर्बल पारिस्थितिकी तंत्र तथा बाघ सुरक्षित क्षेत्रों की रक्षा करने के उद्देश्य से हर संभव प्रयास किये जाने चाहिए।

शिक्षा का मूल अधिकारः (अनु. 21क) (Fundamental Right to Education)

जिसे संविधान 86 वां संशोधन अधिनियम, 2002 द्वारा सम्मिलित किया गया। शिक्षा का अधिकार एक मूलभूत मानव अधिकार है। किसी भी लोकतांत्रिक प्रणाली की सरकार की सफलता वहां के सभी नागरिकों के शिक्षित होने पर निर्भर करती है।

एक शिक्षित नागरिक स्वयं को विकसित करने के साथ-साथ अपने देश को भी विकास के पथ पर अग्रसर करने में उल्लेखनीय योगदान देता है। शिक्षा ही एक व्यक्ति को मानव गरिमा प्रदान करती है।

उच्चतम न्यायालय में 'केपिटेशन फीस केस' (मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य 1992 SCC 666) में कहा है कि शिक्षा का अधिकार का सीधा संबंध प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार से संबंध रखता है। अनुच्छेद 21 में दिया गया प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार बिना शिक्षा के अधिकार के अधूरा है। 86वें संशोधन, 2002 के द्वारा ही अनु. 45 को संशोधित कर 0-6 वर्ष के आयु के बालकों के कल्याण के लिए राज्य को तथा अनु. 51 A(K) जोड़कर 6-14 वर्ष की आयु के बालकों की शिक्षा के लिए अभिभावकों को उत्तरदायी बनाया गया है।

शिक्षा का अधिकार (Right to Education)

1 अप्रैल 2010 से 6-14 साल के बच्चों को मुफ्त व अनिवार्य शिक्षा का अधिकार लागू हो गया। हालांकि इस वर्ष दाखिले की प्रक्रिया अधिकांश स्कूलों में पूरी हो जानें से निजी स्कूलों में गरीब व वंचित तबके को मिलने वाला 25 प्रतिशत आरक्षण वर्ष 2011 से पहली कक्षा में लागू होगा।

शिक्षा के अधिकार की प्रमुख विशेषताएँ-

(i) आर्थिक रूप से पिछड़े बालकों में 25% आरक्षण जो निजी विद्यालयों में भी प्रभावी होगा। यह राशि सार्वजनिक-निजी भागीदारी की संकल्पना पर प्रदान की जाएगी।

(ii) अनुदान के रूप में विद्यालयों द्वारा दी जाने वाली राशि पर प्रतिबंध।

(iii) अभिभावकों के साक्षात्कार पर प्रतिबंध।

(iv) आगामी 3 वर्षों में सभी राज्यों द्वारा शिक्षा संबंधी अवसंरचनाओं का निर्माण

(v) शिक्षकों की नियुक्ति एक समिति द्वारा करने का प्रावधान।

उल्लेखनीय है कि इस अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने के लिए आगामी तीन वर्षों में 1 लाख 71 हजार करोड़ रूपए की आवश्यकता है। केन्द्र और राज्यों की इसमें 65:35 की सहभागिता होगी। जबकि पूर्वोत्तर राज्यों के लिए यह सहभागिता 90:10 होगी।

इच्छा मृत्यु (Euthanasia)

इच्छा मृत्यु पर उच्चतम न्यायालय के विचार

इच्छा मृत्यु की संकल्पना, भारत में प्रचलित नहीं है क्योंकि भारत में परित्याग का सिद्धांत प्रचलन में नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि भारत में नागरिकों को अपने अधिकारों का परित्याग करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। अत: स्पष्ट है कि भारत में ''जीने के अधिकार'' में ''मरने का अधिकार'' शामिल नहीं है। हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने ''अरूणा शानबाग'' की याचिका पर निर्देश दिया है कि अपवाद स्वरूप किसी मामले में चिकित्सकों के निर्देशों के अनुसार जीवन समर्थक प्रणालियाँ हटाई जा सकती हैं लेकिन इसके लिए यह अनिवार्य होगा कि यह सुनिश्चित कर लिया जाए कि उपलब्ध किसी भी तकनीक द्वारा उपचार संभव नहीं होगा।

इस आधार पर यह माना जा सकता है कि भारत में निष्क्रिय इच्छा मृत्यु की संकल्पना को इस मामले के बाद न्यायिक समर्थन दे दिया गया है। न्यायालय के अनुसार भारत में सक्रिय इच्छा मृत्यु अवैध होगी। न्यायालय ने यह भी कहा है कि ऐसे विषय पर संसद विधि निर्माण कर सकती है।

(नोट: इच्छामृत्यु विषय को सामाजिक महत्व के विषय में विस्तार से दिया जाएगा।)

खाप-पंचायतों पर उच्चतम न्यायालय के विचार (SC's views on Khap Panchaats)

अप्रैल 2011 में उच्चतम न्यायालय ने 'खाप पंचायतों' को हिंसक और अवैध घोषित किया है। न्यायालय के अनुसार तथा कथित प्रतिष्ठा के लिए की गई हत्याओं में प्रतिष्ठा का कोई भी पक्ष शामिल नहीं है। बल्कि यह अत्याचार का एक ज्वलंत उदाहरण है। यह सामंतवादी प्रवृत्तियों का भी प्रमाण है।

अत: ऐसे व्यक्तियों को सख्त सजा दी जानी चाहिए। न्यायालय ने यह कहा है कि प्रशासनिक प्राधिकारियों को तत्काल गंभीर प्रयास करने चाहिए तथा ऐसी घटनाओं को नहीं रोक पाने की स्थिति में संबद्ध जिले के जिलाधिकारी, पुलिस अधीक्षक अथवा अन्य अधिकारियों को निलंबित कर उनके विरूद्ध 'प्रशासनिक' और 'दांडिक कार्यवाही' आरंभ की जानी चाहिए।

(नोट: खाप-पंचायत विषय को सामाजिक महत्व के विषय में विस्तार से दिया जाएगा।)

सलवा जुडुम पर उच्चतम न्यायालय के विचार (SC's Views on Salwa Judum)

(i) यह आंदोलन नक्सल विरोधी आंदोलन है जो वस्तुत: सन् 1991 में तत्कालीन कांग्रेस सांसद 'महेन्द्र कर्मा' द्वारा आरंभ एक आंदोलन का ही विस्तृत रूप है।

(ii) हाल के वर्षों में छत्तीसगढ़ सरकार ने इस आंदोलन का नक्सलियों का विरोध करने के लिए अधिकारिक रूप से प्रयोग किया है। इसके तहत 'छत्तीसगढ़ पुलिस अधिनियम 2007' के अंतर्गत पूर्व नक्सलियों तथा सामान्य जनता में से युवकों को विशेष पुलिस अधिकारी (SPO) के रूप में नियुक्त किया जाता है।

उच्चतम न्यायालय ने 'नंदिनी सुंदर बनाम छत्तीसगढ़ राज्य 2011' मामले में यह स्पष्ट किया कि विशेष पुलिस अधिकारियों की नियुक्ति असंवैधानिक है। न्यायालय के अनुसार युवकों को अपर्याप्त प्रशिक्षण के आधार पर नक्सल विरोधी खतरनाक अभियानों में शामिल करना अनु. 14 और अनु. 21 का उल्लंघन होगा। न्यायालय ने यह भी कहा है कि ऐसे मामलों में केन्द्र का प्रतयक्ष हस्तक्षेप होना चाहिए।

(नोट: सलवा जुडुम विषय को सामाजिक महत्व के विषय में विस्तार से दिया जाएगा।)

भोजन का अधिकार (Right to Food)

(1) संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार संबंधी सार्वभौमिक घोषणा पत्र UDHR, 1948, अनु. 25- इसके तहत भोजन, स्वास्थ्य, वस्त्र और आवास का अधिकार शामिल है।

(2) अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार प्रतिज्ञा पत्र ICESCR, 1966 अनु. 11(1), 11(2) अनु. 11 में भोजन

के अधिकार की व्याख्या और अनु. 12 में राज्यों को दिशानिर्देश दिए गए हैं।

(3) संयुक्त राष्ट्र चार्टर अनु. 55- उच्च गुणवत्ता वाले जीवन, पूर्ण रोजगार, स्वास्थ्य तथा आर्थिक-सामाजिक विकास से समर्थन मिलता है।

मार्गदर्शक सिद्धांत (Guiding Principles): ICESCR, 1966 में पर्याप्त भोजन का अधिकार (Right to Adequate Food) शब्दावली शामिल है। वर्ष 2002 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा इसकी परिभाषा दी गयी है, कि यह एक मौलिक मानवाधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति का आनुवांशिक रूप से प्राप्त है ताकि उसकी संस्कृति के अनुरूप मात्रात्मक और गुणात्मक प्रर्याप्तता वाले भोजन तक उसकी पहुँच सुनिश्चित हो। स्पष्टत: भोजन के अधिकार के इस अधिकार आधारित दृष्टिकोण के आधार पर इसके निम्नांकित अनिवार्य तत्वों की पहचान की गई है-

(i) पर्याप्तता

(ii) स्थायित्व अथवा सतत् उपलबधता

(iii) मात्रा

(iv) गुणवत्ता

(v) सांस्कृतिक

भारत में भोजन का अधिकार (Right to Food in India)

भारतीय संविधान में भोजन के अधिकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। लेकिन राज्य के नीति निदेशक तत्वो के अनु. 47 में राज्यों को पोषाहार स्तर को ऊँचा करने के लिए उत्तरदायी बनाया गया है। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय ने सन् 1978 में 'मेनिका गाँधी बनाम भारत संघ मामले में प्राण शब्द के अर्थ में भोजन के अधिकार को स्वास्थ्य और पोषण की संकल्पना में शामिल किया है। दूसरी ओर वर्ष 2001 में Peoples Union for Civil Liberty (PUCL) की एक याचिका पर निर्देश देते हुए भोजन के अधिकार को मूल अधिकार के रूप में मान्यता दी है। इसी आधार पर प्रस्तावित 'खाद्य सुरक्षा विधेयक 2010'' में भोजन के अधि कार को एक मूल अधिकार कहा गया है।

स्वास्थ्य का अधिकार (Right to Health)

स्वास्थ्य के अधिकार की व्याख्या UDHR 1948 तथा ICESCR 1966 के अंतर्गत की गई है। इस प्रतिज्ञा-पत्र में अनु. 12(2) में राष्ट्रों को इसके संरक्षण के लिए निर्देश दिया गया है। इसमें यह उल्लेख है कि प्रत्येक सदस्य राष्ट्र द्वारा इस अधिकार को सम्मान देने, उसके संरक्षण और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करेगा।

अधिकार को सम्मान देने का अर्थ यह है कि राज्य द्वारा ऐसा कोई कार्य नहीं किया जाएगा जो अधिकारों के प्रयोग में व्यवधान उत्पन्न करता है।

दूसरी ओर संरक्षण का अर्थ किसी भी बाह्य आक्रमण से अधिकार की रक्षा करना है। इसी प्रकार अधिकार की प्राप्ति का अर्थ उसके प्रयोग के लिए एक उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना है।

उच्चतम न्यायालय के विचार

(i) मेनिका गाँधी मामले में प्राण शब्द के अर्थ में स्वास्थ्य के अधिकार को शामिल किया गया है।

(ii) परमानंद कटारा बनाम भारत संघ, 1989 मामले में यह कहा गया है कि किसी व्यक्ति को तत्काल चिकित्सा सुविधाओं से वंचित नहीं किया जाएगा।

(iii) Indian Medical Association Vs. V.P. Shantha 1966 मामले में यह उल्लेख है कि चिकित्सा सेवाएँ, उपभोक्ता संरक्षण कानून 1986 के तहत सेवा शब्द के अर्थ में शामिल हैं क्योंकि ये मौद्रिक आधारों पर प्रदान की जाती हैं।

काम का अधिकार (Right to Work)

संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार संबंधी घोषणा-पत्र के 'अनु. 23' में काम के अधिकार का उल्लेख है। इसी प्रकार ICESCR 1966 में बेरोजगारी से सुरक्षा प्रदान करने का उल्लेख है। भारत में संविधान में मूल अधिकार में काम के अधिकार का उल्लेख नहीं किया गया है जिसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय संविधान में उदारवादी अभिलक्षण विद्यमान है।

अत: इसमें स्वतंत्रत के अधिकारों पर अधिक बल दिया गया है। दूसरी ओर उदारवादी संविधानों में 'काम के अधिकार' के लिए संवैधानिक उपचार उपलब्ध नहीं होता। अत: मूल अधिकारों में इस अधिकार को शामिल नहीं किया जाना पूर्णत: तर्कसंगत है। इसके विपरीत काम का अधिकार समाजवादी संविधानों का अनिवार्य तत्व होता है।

उल्लेखनीय है कि संविधान संविधान के भाग-4 में शामिल 'निदेशक तत्वों' में 'अनु-41' में इसे शामिल किय गया है जो समाजवादी परंपराओं का प्रमाण है। उच्चतम न्यायालय ने 'अनु-21' में आजीविका के अधिकार को शामिल कर काम के अधिकार को न्यायिक समर्थन दिया है।

अनुच्छेद 22: मनमानी गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण

अनु 22(1) के अनुसार किसी व्यक्ति को जो गिरफ्तार किया गया है, ऐसी गिरफ्तारी के कारणों से यथाशीघ्र अवगत कराए बिना अभिरक्षा में निरूद्ध नहीं किया जाएगा, या अपनी रूचि के विधि व्यवसायी से परामर्श करने और प्रतिरक्षा करने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा, वहीं, अनु. 22(2) उपबंधित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति जो गिरफ्तार किया गया है और अभिरक्षा में निरूद्ध रखा गया है, गिरफ्तारी के स्थान से मजिस्ट्रेट के न्यायालय तक यात्रा के लिए आवश्यक समय को छोड़कर, ऐसी गिरफ्तारी से चौबीस घण्टे की अवधि में निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जाएगा और किसी व्यक्ति को मजिस्ट्रेट के प्राधिकार के बिना उक्त अवधि से अधिक अवधि के लिए अभिरक्षा में नहीं रखा जाएगा।

अनुच्छेद 22 के अनुसार गिरफ्तारियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं-

1. सामान्य-दण्ड-विधि के अधीन (Punitive)।
2. निवारक-निरोध-विधि के अधीन (Preventive)।

अनु. 22 के खाण्ड (1) और (2) सामान्य-दण्ड-विधि के अधीन गिरफ्तारियों से संबंधित है और खंड (3), (4), (5), (6) (7) निवारक-निरोध-निधि से संबंधित हैं।

सामान्य विधि के अधीन गिरफ्तारी से संरक्षण

अनु. 22(1) और (2) के अन्तर्गत किसी अपराध के संबंध में गिरफ्तार व्यक्तियों को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं-

1. गिरफ्तारी के कारणों को यथाशीघ्र बताए जाने का अधिकार,
2. अपनी रूचि के वकील से परामर्श करने एवं बचाव करने का अधिकार।
3. गिरफ्तारी के बाद 24 घंटे के अन्दर किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किए जाने का अधिकार,
4. 24 घण्टे से अधिक मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना निरोध से स्वतन्त्रता,

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त अधिकार (1) अन्यदेशीय शत्रु, और (2) निवारक-निरोध-विधि के अधीन गिरफ्तार व्यक्ति को प्राप्त नहीं होंगे। अनु. 22(3) में ही विधानमण्डल को निवारक-निरोध-विधि बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। यह निवारक निरोध राज्य की सुरक्षा, लोक-व्यवस्था बनाए रखने, समुदाय के लिए आवश्यक प्रदायों और

निवारक निरूद्धता (Preventive Detention)

निवारक निरूद्धता शब्द की परिभाषा अनु० 22 में उल्लिखित नहीं है, जिस कारण इसे एक ब्रिटिश अधिनियम के तहत् दी गई परिभाषा के अनुसार, (Regulation–14B of Defence of Realm Act] 1914) स्वीकार की जाती है। निवारक निरूद्धता का उल्लेख 7वीं अनुसूची की संघ सूची प्रवृत्ति (entry number) [9] तथा समवर्ती सूची की प्रवृद्धि [3] मे किया गया है। अत: इस विषय पर संघ तथा राज्य दोनों के विधि निर्माण की शक्ति है।

ऐ.के. गोपाल बनाम स्टेट ऑफ मद्रास 1950 मामले में सर्वप्रथम यह कहा गया कि निवारक निरूद्धता एक विशेधात्मक कार्यवाही है ना कि दण्डामक। उल्लेख्नीय है कि यह ब्रिटिश अधिनियम में उल्लिखित थी इसे इसी रूप से परिभाषित किया है, कि ऐसी सभी निरूद्धदताएँ जो दण्डात्मक नहीं है, निवारक निरूद्धता की श्रेणी में रखी जा सकती है। अनु० 22(1) और 22(2) में इस संबंध में प्रक्रिया का उल्लेख है। किसी व्यक्ति को निवारक निरूद्धता से संरक्षण देने का प्रावधान अनु० 22(4) से 22(7) के बीच उल्लिखित है। इसमें यह भी शामिल है कि निरूद्धता व्यक्ति को प्रतिवेदन देने का अधिकार अतिशीघ्र दिया जाना चाहिए।

पूर्व में निवारक निरोध के तहत् बंदी बनाए गए व्यक्ति को एक सलाहकार बोर्ड (वर्तमान या भूतपूर्व अथवा न्यायधीश बनने की योग्यता रखने वाले लोगों से निर्मित) ने यदि तीन मास पूर्व अपना प्रतिवेदन न दिया हो। परन्तु 44 वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 से जहाँ एक ओर सलाहकार बोर्ड का पुनर्गठन किया गया वहीं दूसरी ओर निवारक निरूद्ध व्यक्ति को निरूद्ध करने की समय सीमा में परिवर्तन किया गया है। सलाहकार बोर्ड के गठन की सिफारिश उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश करेगा। इस सलाहकार बोर्ड में एक अध्यक्ष एवं कम से कम दो अन्य सदस्य होंगे। अध्यक्ष उच्च न्यायालय का सेवारत न्यायधीश होगा एवं अन्य सदस्य सेवारत या सेवानिवृत्त न्यायधीश होंगे। निवारक निरूद्ध व्यक्ति को 2 मास तक निरूद्ध किया जा सकता है। दो मास से अधिक समय के लिए निरूद्ध हेतु इस सलाहकार बोर्ड का प्रतिवेदन अनिवार्य होगा। उल्लेखनीय है कि यह प्रावधान अभी लागू नहीं है।

सेवाओं को बनाए रखने या रक्षा या विदेश कार्य या भारत की सुरक्षा संबंधी कारणों से हो सकता है। उल्लेखनीय है कि ऐसी विधियों के विरूद्ध व्यक्ति को दैहिक स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं होगा।

अनुच्छेद 22(4) से (7) में यही अधिकार मनमाने निरोध के विरूद्ध मूल अधिकार के रूप में हैं- जब किसी व्यक्ति को निवारक-निरोध-विधि के अधीन गिरफ्तार किया जाता है तो-

1. **सलाहकार बोर्ड द्वारा पुनर्विलोकन-अनुच्छेद 22(4):** सरकार ऐसे व्यक्ति को केवल दो मास तक अभिरक्षा में निरूद्ध कर सकती है। यदि वह गिरफ्तार व्यक्ति को दो मास से अधिक के लिए निरूद्ध करना चाहती है तो उसे सलाहकार बोर्ड का प्रतिवेदन प्राप्त करना होगा। उल्लेखनीय है कि 44वें संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा यह अवधि तीन मास से घटाकर दो मास कर दी गई थी।
2. **गिरफ्तारी के कारण जानने का अधिकार:** अनु. 22(5)-निरोध-आदेश जारी करने वाले प्राधिकारी को यह निर्देश देता है कि वह गिरफ्तार व्यक्ति को यथाशीघ्र उसको निरोध के आधारों से अवगत कराए। साथ ही, निरूद्ध व्यक्ति को निरोध-आदेश के विरूद्ध अभ्यावेदन प्रस्तुत करने के लिए शीघ्रताशीघ्र अवसर दिया जाना चाहिए। अनु. 22(6) उपबंधित करता है कि अनु. (5) में किसी बात के होते हुए भी निरोध-आदेश जारी करने वाले प्राधिकारी के लिए ऐसे तथ्यों को प्रकट करना आवश्यक नहीं होगा जिन्हें प्रकट करना ऐसा प्राधिकारी लोकहित के विरूद्ध समझता है।

निवारक निरोध विधि एवं उसका औचित्य (Preventive Detention Laws & their Significance)

निवारक निरोध की संकल्पना अनुच्छेद 22 पर आधारित है। प्राधिकारियों द्वारा किसी व्यक्ति को उन परिस्थितियों में गिरफ्तार करने की प्रक्रिया जहां उसके विरूद्ध दंडात्मक कार्रवाई करने हेतु पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं परन्तु संभावित अपराध के संदर्भ में साक्ष्यों की पर्याप्तता है, को निवारक निरोध कहते हैं। संविधान के अनुच्छेद 22 (4) से (7) तक निवारक निरोध की विस्तृत व्याख्या की गई है। सामान्यतया निवारक निरोध को लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के प्रतिकूल माना गया है लेकिन भारत के संदर्भ में इस संकल्पना का उद्देश्य असामाजिक गतिविधियों पर अंकुश लगाना है जो युद्ध अथवा शांति, दोनों ही समय में प्रयोग में लाया जा सकता है।

न्यायालयों ने भी कई अवसरों पर इस संकल्पना की व्यावहारिकता पर टिप्पणी की है तथा यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि निवारक निरोध की संकल्पना व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उल्लंघन करता है तथापि गणतंत्र की रक्षा एवं अलगाववादी शक्तियों के विरूद्ध कार्य करने का यह एक अप्रतिम एवं कार्यकुशल साधन है। इन्हीं कारणों से न्यायपालिका ने निवारक निरोध की संकल्पना को सांविधानिक स्तर प्रदान करने को न्यायोचित कहा है। भारत के संदर्भ में सर्वप्रथम सन् 1950 में प्रथम निवारक निरोध कानून बनाया गया था जिसे 1 अप्रैल, 1951 तक प्रभावी होना था। इसके विपरीत इसकी अवधि बढ़ाकर अन्ततः 1969 तक प्रभावी बनाये रखा गया। इसके उपरांत सन् 1971 में बहुचर्चित आंतरिक सुरक्षा कानून (Maintenance of Internal Security Act, MISA) पारित किया गया।

सन् 1977 तक प्रभावी इस कानून में की जाने वाली निरोधात्मक कार्रवाइयों के कारण कानून अत्यन्त विवादास्पद था जिसे अन्ततः निरस्त कर दिया गया। सन् 1980 में **चोरबाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम के पारित होने** के साथ ही निवारक निरोध की संकल्पना को पुनर्जीवित किया गया।

इसके अतिरिक्त 24 दिसम्बर, 1983 को एक अध्यादेश के रूप में राष्ट्रीय सुरक्षा के संदर्भ में निवारक निरोध के तहत कार्य प्रारंभ किये गये जिसके माध्यम से अलगाववादी शक्तियों पर अंकुश लगाने का अधिकार सरकार को प्रदान किया गया।

सन् 1987 में आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधि अधिनियम (Terrorist and Disruptive Activities Act, TADA) पारित किया।

टाडा आतंकवादी संगठनों पर अंकुश लगाने तथा अधिनियम को और प्रभावी बनाने के लिए आतंकवाद निरोधक अध्यादेश, 2001 निर्गत किया गया था। इस अध्यादेश में आतंकवाद की परिभाषा दी गई तथा आतंकवादियों से संबंधित सूचनाओं को छुपाने वाले व्यक्तियों को भी दंडित करने का प्रावधान किया गया। इसके प्रावधानों पर उभरे विवाद के कारण संसद की संयुक्त बैठक में 26 मार्च, 2002 को इस अध्यादेश को आतंकवाद निरोध अधिनियम (Prevention of Terrorism Act, POTA) पारित किया गया। लेकिन पोटा के प्रावधानों के दुरूपयोग के कारण इस अधिनियम के पुनरीक्षण के लिए न्यायमूर्ति अरूण सहरिया की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई जिसने अधिनियम को निरस्त करने की अनुशंसा की। इस आधार पर 21 सितम्बर, 2004 को राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद इसे निरस्त कर दिया गया।

निवारक निरोध तथा न्यायिक पुनर्विलोकन (Preventive Detention and Judicial Review)

निवारक निरोध से संबंधित विधियों का निर्वचन न्यायालयों द्वारा कई अवसरों पर किया गया है। इन निर्वचनों के आधार पर कई विशिष्ट तथ्यों का उल्लेख न्यायपालिका द्वारा किया गया है। निवारक निरोध संबंधी विधि को युक्तियुक्त संदेह से परे होने की स्थिति में ही प्रभावी बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कई मामलों में भी न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि दण्ड-विधि के अधीन किये गये अपराध को प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला नहीं माना जा सकता है।

अपने पूर्व के निर्णयों में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया था कि निवारक निरोध अधिनियम के तहत आदेश की वैधता को निरस्त करने का अधिकार है यदि उसके कृत्य गौण प्रयोजन के लिए हैं। लेकिन ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य मामले में न्यायालय ने कार्यपालिका को निवारक निरोध के संदर्भ में असीम शक्ति प्रदान कर दी है। इस निर्णय के उपरांत अधिनियम में विशेष रूप से धारा 14 का समावेश किया गया है। संविधान के 44वें संशोधन के अन्तर्गत अनुच्छेद 22 (4) एवं अनुच्छेद 22 (7) में संशोधन कर निवारक निरोध अधिनियम के प्रभावों को सीमित किया गया है। इन संशोधनों के उपरांत निरोध की अधिकतम अवधि को 3 माह से कम कर 2 माह कर दिया गया है।

साथ ही, इस संदर्भ में सलाहकार बोर्ड के गठन हेतु उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को अनिवार्य बना दिया गया है। संशोधन अधिनियम में यह व्याख्यायित है कि ऐसे सलाहकार बोर्ड का अध्यक्ष उच्चतम न्यायालय में कार्यरत न्यायाधीश ही हो सकता है तथा इसके सदस्यों के रूप में उच्च न्यायालय के कार्यरत अथवा निर्वतमान न्यायाधीशों की नियुक्ति की जा सकती है। संशोधन अधिनियम के अनुसार, निम्नांकित दो प्रकार के निरोध की व्यवस्था की गई है :

1. विधान मंडल द्वारा बनाये गये किसी कानून के तहत निरोध जिसकी अधिकतम अवधि 2 माह होगी।
2. निरोध की अवधि को 2 माह से बढ़ाने के लिए सलाहकार बोर्ड की रिपोर्ट की अनिवार्यता।

आतंकवादी तथा विध्वंसक अवरोध अधिनियम, 1987 के तहत गिरफ्तार व्यक्ति के संबंध में पुलिस द्वारा जांच का कार्य 6 माह से 1 वर्ष की अवधि में पूरा किया जाना अनिवार्य है अन्यथा अभियुक्त को जमानत पर रिहा किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 22 (5) के तहत अभियुक्त को गिरफ्तारी के कारणों की सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। साथ ही, उसे गिरफ्तारी के आदेश के विरूद्ध अभ्यावेदन करने का अधिकार भी प्राप्त होगा। कई अन्य मामलों में न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि गिरफ्तारी के आदेश स्पष्ट होने चाहिए जो अभियुक्त के लिए सुग्राह्य हों। यदि निरोध के आदेश का आधार भिन्न है तथा उनमें स्पष्टता का अभाव है तो ऐसी स्थिति में निरोध के आदेश को पूर्णत: अवैध घोषित किया जा सकता है।

निरोध के आदेश के विरूद्ध अभ्यावेदन करने के अधिकार के संदर्भ में यह आवश्यक है कि प्राधिकारी द्वारा निरोध के आधार के अतिरिक्त अन्य संबंधित दस्तावेजों को भी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे जिनके आलोक में अभियुक्त द्वारा प्रभावी अभ्यावेदन किया जा सके। न्यायालय ने कई अवसरों पर यह भी स्पष्ट किया है कि गिरफ्तारी के समय निरोध के जिन आधारों का उल्लेख प्रत्यावेदन में किया गया है उनपर अंत तक कायम रहना अनिवार्य है अन्यथा निरोध के आदेश को निरस्त किया जा सकता है।

अनुच्छेद 352 के तहत आपात स्थिति की घोषणा के उपरांत राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 359 (1) का प्रयोग कर नागरिकों द्वारा मूल अधिकारों के प्रवर्तन के संदर्भ में न्यायालय जाने के अधिकार का निलंबन कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में निरोध के आदेश को चुनौती देने का अधिकार स्वत: समाप्त समझा जायेगा।

निवारक निरोध विधि की आवश्यकता

निवारक निरोध कानून प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के प्रतिकूल माना जाता है। विश्व के किसी भी जनतांत्रिक देश में ऐसे कानून संविधान के आवश्यक अंग के रूप में स्वीकृत नहीं किए गए हैं। इग्लैण्ड और अमेरिका में कोई ऐसा कानून नहीं है, जो शांतिकाल में निवारक निरोध का उपबंध करता हो। भारत में निवारक-निरोध विधि संविधान का अंग है।

अमेरिका में यह संविधान का अंग नहीं है। एक पृथक् अधिनियम द्वारा केवल आपातकाल के लिए ऐसी विधियों की व्यवस्था की गई है। किन्तु भारत के संविधान में ऐसी विधियों को युद्ध एवं शांति दोनों समय में उपयोग करने का उपबंध किया गया है।

निवारक निरोध विधियों को इस तरह संवैधानिक स्तर प्रदान करने का उद्देश्य समाज विरोधी और देश को खतरा पहुँचाने वाली प्रवृत्तियों को दबाना है।

3. शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनु. 23 से 24) (Right Against Exploitation)

A. संविधान के अनुच्छेद 23 एवं 24 में शोषण के विरूद्ध प्रदत्त अधिकारों की विवेचना की गई है।

B. संविधान के इन अनुच्छेदों के तहत यह सुनिश्चित किया गया है कि भारत का कोई भी नागरिक किसी अन्य नागरिक का शोषण नहीं कर सके।

C. अनुच्छेद 23(1) के तहत मानव के क्रय-विक्रय तथा बलात श्रम को प्रतिबंधित करने का प्रावधान किया है।

D. अनुच्छेद 23(2) के तहत यह सुनिश्चित किया गया है कि राज्य द्वारा किसी विशेष परिस्थिति में अनिवार्य सेवाओं का प्रयोग किया जा सकता है लेकिन इसके लिए राज्य धर्म, प्रजाति, जाति तथा वर्ग के आधार पर विभेद नहीं करेगा।

E. अनुच्छेद 24 के अनुसार, 14 वर्ष से कम आयु वाले बालकों एवं बालिकाओं को किसी कारखाने, खान अथवा किसी खतरनाक कार्य हेतु नियोजित नहीं किया जा सकता है।

विश्लेषण

उपरोक्त दोनों ही अनुच्छेदों के माध्यम से लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद 23 में वर्णित तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि निम्नांकित तीन कृत्यों पर सांविधानिक प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं :

1. मानव का वस्तुओं की भाँति क्रय-विक्रय
2. बेगार
3. बलात् श्रम के अन्य कृत्य

संविधान के अनुच्छेदों 23 तथा 24 के निर्वचन से स्पष्ट होता है कि शोषण का अर्थ बलपूर्वक अन्य लोगों की सेवाओं का दुरुपयोग करने से है। अनुच्छेद 23 का विस्तार न्यायालय द्वारा पीपुल्स यूनियन बनाम भारत संघ मामले में किया गया है। न्यायालय के स्पष्टीकरण के अनुसार, प्रत्येक प्रकार का बलात् श्रम वर्जित है। बलात् श्रम की परिभाषा को विस्तृत बनाते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी व्यक्ति पर दबाव देकर कार्य कराना बलात् श्रम की श्रेणी में सम्मिलित किया जायेगा, भले ही उसे उसके कार्य हेतु पारिश्रमिक प्रदान किया जाता हो।

राज्य के सांविधानिक कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय ने बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ मामले में स्पष्ट किया है कि किसी स्थान पर बंधुआ मजदूरों के रूप में कार्यरत श्रमिकों से बलात् श्रम कराये जाने की जांच का दायित्व राज्य का है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि बंधुआ मजदूरी संविधान के अनुच्छेद 23 का उल्लंघन करती है। संविधान के इस प्रावधान के सुदृढ़ीकरण हेतु सरकार द्वारा सन् 1976 में बंधुआ मजदूर प्रणाली उन्मूलन अधिनियम पारित किया गया है। दूसरी ओर, मानव के दुर्व्यवहार से संबंधित मामलों की चर्चा भी न्यायालयों द्वारा कई मामलों में की गई है। अनुच्छेद 23 के तहत वर्णित मानव दुर्व्यवहार की संकल्पना के तहत महिलाओं तथा बच्चों के अनैतिक व्यापार को प्रतिबंधित किया गया है। इस प्रावधान के सुदृढ़ीकरण हेतु सरकार द्वारा स्त्री तथा बालिका अनैतिक व्यापार दमन (संशोधन) कानून, 1986 पारित किया गया है। इस कानून की अवहेलना की स्थिति में भारतीय दंड संहिता की धारा 374 के तहत दंडित किये जाने का प्रावधान है।

अनुच्छेद 24 के संदर्भ में न्यायालय द्वारा किये गये निर्वचनों से स्पष्ट होता है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले बालकों एवं बालिकाओं को किसी खतरनाक नियोजन में संलिप्त करना अपराध है जिसके लिए दंडित करने की व्यवस्था की गई है। बाल श्रम के संदर्भ में उच्चतम न्यायालय ने वृहत मार्गदर्शन प्रस्तुत किया है। न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है कि बीस हजार रुपये की राशि से नियोजक द्वारा बाल श्रम पुनर्वास कल्याण कोष की स्थापना की जानी चाहिए तथा उस परिवार के किसी वयस्क सदस्य को बालक के स्थान पर नियोजन का अवसर दिया जाना चाहिए। इसी मामले में न्यायालय ने बालकों के स्वास्थ्य, पोषण तथा शिक्षा से संबंधित विषयों पर भी विस्तृत दिशा निर्देश प्रदान किये हैं।

न्यायालय ने अपने स्पष्टीकरण में यह उद्धृत किया कि जो कारखाने खतरनाक नहीं हैं वहां कार्यरत बालकों की कार्य अवधि 4 से 6 घंटे से अधिक नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में जांच का दायित्व सरकार का है।

4. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (अनु. 25 से 28)(Right to Freedom of Religion)

यद्यपि संविधान में पंथ-निरपेक्ष राज्य शब्दों को अभिव्यक्त रूप में उल्लिखित नहीं किया गया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि संविधान निर्माता ऐसा राज्य स्थापित करना चाहते थे तदनुसार ही संविधान के ये उपबन्ध बनाए गए थे। अनुच्छेद 25 से 28

इसी आशय से संविधान में समाविष्ट किए गए। इस आशयक को स्पष्टता प्रदान करने हेतु संविधान के 42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा प्रस्तावना में 'पंथ-निरपेक्ष'' शब्द को समाविष्ट किया गया है।

पंथ निरपेक्षता का तात्पर्य यह है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। राज्य धर्म के मामले में पूर्णत: तटस्थ है। राज्य प्रत्येक धर्म को समान रूप से संरक्षण प्रदान करता है, किन्तु किसी धर्म विशेष में हस्तक्षेप नहीं करता है। पंथ-निरपेक्ष राज्य में राज्य का संबंध मानव के आपसी संबंधों से रहता है। यह मनुष्य के अन्त: करण से संबंधित मामला है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को मानने तथा किसी भी ढंग से ईश्वर की पूजा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एस.आर.बोम्बई बनाम भारत संघ के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि ''पंथ-निरपेक्षता'' संविधान का आधारभूत ढ़ाँचा है।

अनुच्छेद 25- अंत:करण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतन्त्रता।

किन्तु यह एक आत्मनिर्भर अधिकार नहीं है अपितु राज्य इस स्वतन्त्रता पर सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के आधार पर निर्बन्धन लगा सकता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति की धर्म स्वतंत्रता पर विधि बनाकर निम्नलिखित आधारों पर निर्बन्धन लगा सकता है-

1. सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार को बनाए रखने के लिए।
2. धार्मिक आचरण से संबंधित किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक या अन्य लौकिक क्रियाओं को विनियमित या निर्बंधित करने के लिए।
3. सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक कार्य-संस्थाओं के सभी वर्गों और विभागों के लिए।

अनुच्छेद 26-धार्मिक कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता

सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी वर्ग को अनु. 26 के अधीन निम्नलिखित अधिकार होंगे-

क. धार्मिक और पूर्व प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का,

ख. अपने धार्मिक कार्यों संबंधी विषयों को प्रबंध करने का

ग. स्थावर संपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का

घ. ऐसी सम्पत्ति के विधि अनुसार प्रशासन करने का।

यहाँ स्पष्ट है कि अनु. 25 में ये अधिकार व्यक्ति को दिए गए हैं। जबकि अनु. 26 में प्रदत्त अधिकार का प्रयोग संगठित संस्था जैसे-धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी वर्ग को प्रदान किए गए हैं। धार्मिक सम्प्रदाय से तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो एक विशिष्ट नाम से संगठित होते हैं और जो सामान्यतया एक धार्मिक सम्प्रदाय या संस्था होती है, जिसका किसी विशेष धर्म में विश्वास होता है। कोई विशेष धार्मिक संस्था अनु. 26 के अन्तर्गत धार्मिक समुदाय है या नहीं, इसका निर्धारण न्यायालय द्वारा किया जाता है।

विश्लेषण

अनुच्छेद 25-26 द्वारा प्रत्याभूत धार्मिक स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति को न्यायिक निर्वचन द्वारा और विस्तृत कर दिया गया है। न्यायालय ने कहा है कि अनु. 25-26 में व्यक्ति को श्रद्धा और विश्वास को मानने और प्रचार करने का अधिकार तो है ही साथ ही वह सब कर्मकांड या प्रथाएँ मानने का अधिकार भी है जो उस सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा धर्म का अंग समझी जाती है।

राज्य के विनियम उन विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते जो सारवान रूप से धार्मिक हैं। न्यायालय को यह निर्णय करने का अधिकार है कि कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड या पूजा पद्धति उस धर्म की मान्यताओं के अनुसार आवश्यक है या नहीं। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि यदि धर्म का उपयोग राजनैतिक प्रयोजनों के लिए किया जाता है और राजनैतिक दल अपने राजनैतिक प्रयोजनों हेतु उसका आश्रन लेते हैं तो इससे राज्य की तटस्थता का उल्लंघन होगा। धर्म के आधार पर निर्वाचकों से अपील करना पंथनिरपेक्ष लोकतन्त्र के विरूद्ध है। राजनीति और धर्म को मिलाना नहीं चाहिए।

यदि कोई राज्य सरकार ऐसा करती है तो उसके विरूद्ध संविधान के अनु. 356 के अधीन कार्यवाही उचित होगी।

1977 में स्टेनिसलास मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि अनु 25(1) में 'प्रचार' के अन्तर्गत इसमें दूसरों को संपिरिवर्तित करने का अधिकार नहीं है। वह स्वेच्छा से कोई अन्य धर्म स्वीकार कर सकता है लेकिन बल, कपट, लोभ या फुसलाने से स्वेच्छा समाप्त हो जाती है।

अनुच्छेद 27- यह अनुच्छेद उपबंधित करता है कि किसी व्यक्ति, किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय की उन्नति के लिए कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। यह अनुच्छेद राज्य की धर्म निरपेक्षता को और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। राज्य कर के रूप में एकत्रित किए गए जनता के धन को किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए खर्च नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 28- यह अनुच्छेद उपबंधित करता है कि राज्य विधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। यह खण्ड उन शिक्षा संस्थानों पर लागू नहीं होता जिनका प्रशासन राज्य करता हो, किन्तु जो ऐसे धर्म या न्यास के अधीन स्थापित हुई हैं, जिनके अनुसार उस संस्था में धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक हैं वहीं, खण्ड (3) के अनुसार राज्य से मान्यताप्राप्त या राज्यनिधि से पोषित होने वाली शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को धार्मिक शिक्षा या उपासना में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि यह आवश्यक है तो उसके संरक्षक ने इसके लिए अपनी सम्पत्ति न दे दी हो।

5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनु. 29-30) (Cultural & Educational Rights)

अनु. 29(1) भारत क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों के किसी भी वर्ग को, जिनकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार प्रदान करता है। इस अनु. का उद्देश्य अल्पसंख्यकों के हितों को सुरक्षित करना है। ऐसा वे अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति को अपनी रूचि की संस्थाओं को स्थापित करके सुरक्षित रख सकते हैं। यह अधिकार उन्हें अनु. 30(1) द्वारा प्रदान किया गया है। इस अनु. का खंड (2) इस अधिकार को और भी सुदृढ़ बना देता है जिसके अनुसार राज्य शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म एवं भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक के प्रबंध में हैं। किन्तु अनु. 29(2) यह उपबंध करता है कि राज्यनिधि से पोषित या सहायता प्राप्त किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश पाने से किसी नागरिक को केवल ध र्म, मूलवंश जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी भी आधार पर वंचित नहीं किया जाएगा।

यद्यपि **अनुच्छेद 29** में अल्पसंख्यकों के विषय में विस्तृत उल्लेख किया गया है तथापि यह सभी नागरिकों के लिए लागू होता है । पिछड़े वर्गों के संदर्भ में अनुच्छेद **29** (2) का निर्वचन अनुच्छेद 15 (4) के साथ किया जाना आवश्यक है। इस निर्वचन के आधार पर पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रावधान किये जा सकते हैं।

दूसरी ओर, अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यकों तक सीमित है। इसका लाभ भारत के सभी नागरिकों के लिए उपलब्ध नहीं है। वस्तुतः अनुच्छेद 30 न केवल शिक्षण संस्थानों की स्थापना का अपितु उनके प्रशासन का भी अधिकार प्रदान करता है।

अनुच्छेद 30 के संबंध में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्य के विधानों द्वारा इसे नियमित किया जा सकता है। औद्योगिक संबंधों तथा शिक्षा के विभिन्न विषयों से संबंधी विधानों के निर्धारण से अनुच्देद 30 का उल्लंघन नहीं होता है। संविधान के इन अनुच्छेदों के निर्वचन से यह भी स्पष्ट होता है कि सरकार विधानों के माध्यम से नियमन करने के क्रम में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का हनन नहीं कर सकती है।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अपने ऐतिहासिक महत्व के फैसले में टी.एम.ए फाउन्डेशन बनाम स्टेट ऑफ कर्नाटक 2005 में अभिनिर्धारित किया कि राज्य और विश्वविद्यालय को धार्मिक और शैक्षिक अल्पसंख्यक द्वारा चलाई जा रही गैर सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश नीति के मामले में विनियमन का अधिकार नहीं है।

अल्पसंख्यक वर्ग (Minorities)

न्यायालय ने निर्णय दिया कि पंथ और भाषा के आधार पर कौन अल्पसंख्यक है इसका निर्धारण अलग-अलग राज्य में उनकी जनसंख्या में विभिन्न समुदाय के अनुपात के आधार पर किया जाएगा क्योंकि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया गया था। पंथनिरपेक्षता या अल्पसंख्यकों के अधिकार के नाम पर अल्पसंख्यकों को अधिमान नहीं दिया जाएगा या राष्ट्र की एकता और बल को कम नहीं किया जा सकता।

राष्ट्र के लिए बहुसंख्यकों का विश्वास भी उतना ही आवश्यक है। किंतु अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था को अपने समुदाय के विद्यार्थियों के लिए 50% तक स्थान आरक्षित करने की शक्ति है।

संविधान में अल्पसंख्यकों को धार्मिक और सांस्कृतिक रक्षोपाय प्रदान किए हैं। जिसमें उन्हें ''न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता'' सुनिश्चित हो।

अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए प्रधानमंत्री का 15 सूत्री कार्यक्रम (PM's 15-Point Programme for the welfare of Minorities)

उद्देश्य

i. शिक्षा के अवसरों में वृद्धि
ii. आर्थिक गतिविधियों एवं रोजगार में समतामूलक साझेदारी
iii. अल्पसंख्यकों के जीवन स्तर में सुधार।
iv. सांप्रदायिक दंगों पर नियंत्रण

15 सूत्री कार्यक्रम

i. समन्वित बाल विकास की सेवाओं की समतामूलक उपलब्धता से अल्पसंख्यकों के बच्चों का विकास जिसमें स्वास्थ्य एवं टीकाकरण जैसी सुविधाएं शामिल हैं। अल्पसंख्यकों के अपेक्षाकृत अधिक जनसंख्या वाले प्रखंडों अथवा गाँव में विशेष परियोजना अथवा आँगनवाड़ी केन्द्रों का आरंभ।
ii. स्कूली शिक्षा तक पहुँच का विस्तार। विशेषकर सर्व-शिक्षा अभियान और कस्तूरबा गाँधी विद्यालय योजना के तहत यह कार्य किया जाएगा।
iii. उर्दू भाषा शिक्षण के लिए संसाधनों का विस्तार।
iv. मदरसा शिक्षा का आधुनिकीकरण
v. पूर्व मौद्रिक तथा उत्तर मैट्रिक छात्रवृत्ति की उपलब्धता।
vi. मौलाना आजाद एजुकेशन फांउडेशन की सहायता से शिक्षा संबंधी अवसंरचनाओं में सुधार।
vii. स्वरोजगार के अवसरों की पर्याप्त उपल्ब्धता
viii. तकनीकी प्रशिक्षण से कौशल विकास करना।
ix. ऋण की सुविधाओं की उपलब्धता से आर्थिक गतिविधियों को समर्थन
x. केन्द्र तथा राज्य की सेवाओं में नियुक्ति को प्रोत्साहन।
xi. ग्रामीण आवासीय योजनाओं में समतामूलक साझेदारी
xii. उन मलिन बस्तियों में सुविधाओं की उपलब्धता जहाँ अल्पसंख्यक जनसंख्या अपेक्षाकृत अधिक है।
xiii. सांप्रदायिक घटनाओं की रोकथाम।
xiv. सांप्रदायिक घटनाओं की बढ़ावा देने वाले व्यक्तियों के विरूद्ध अभियोजन
xv. सांप्रदायिक दंगों से पीड़ित परिवारों का पुनर्विकास।

लाभ- अल्पसंख्यकों में सुरक्षा की भावना का विकास होना तथा सामाजिक समायोजन में योगदान देना।

सांविधानिक उपचारों का अधिकार (अनु॰ 32) (Right to Constitutional Remedies)

अधिकारों का अस्तित्व ही उपचारों पर आधारित है। उपचारों के अभाव में अधिकारों का अस्तित्व ही संभव नहीं है। भारतीय संविधान में जहाँ अधिकारों का विशद् उल्लेख किया गयाहै वहीं इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उपचारों का भी समावेश किया गया हैं। अनुच्छेद 32 संविधान के भाग 3 में होने के कारण स्वंय में मूल अधिकार है। जिसे डॉ. अंबेडकर ने ''संविधान की 'आत्मा' कहा है।

अनु. 32(1) नागरिकों को संविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायलय को समुचित कार्यवाहियों द्वारा प्रचालित करने के अधिकार की गारंटी देता है।

अनु. 32(2) उच्चतम न्यायलय को इन अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित निर्देश या रिट जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण तथा अधिकार-पृच्छा के प्रकार के रिट, भी सम्मिलित हैं, जारी करने की शक्ति प्रदान करता है।

अनु. 32(3) के अधीन संसद विधि द्वारा किसी न्यायालय को उसकी स्थानीय सीमाओं के भीतर उच्चतम न्यायालय द्वारा खण्ड (2) के अधीन प्रयोग की जाने वाली किसी भी सभी शक्तियों का प्रयोग करने के लिए सशक्त कर सकती है। खंड (4) यह उपबंधित करता है कि संविधान द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय इस अनु. द्वारा गारंटी किए गए अधिकारों को निलंबित नहीं किया जा सकेगा।

अनु. 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान का ''आधारभूत ढाँचा'' (Basic Structure) है, अत: इसे अनु. 368 के अधीन संशोधन द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है। एल. चन्द्रकुमार बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि अनु. 32 के अधीन विधायी कार्यों पर उच्चतम न्यायालय में निहित न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढाँचा है। अत: इसे सांविधानिक संशोधन द्वारा भी समाप्त नहीं किया जा सकता।

विभिन्न प्रकार के अभिलेख (Different types of Writ)

क. बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus): 'हेबियस कार्पस' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई है। इस अभिलेख को बंदी व्यक्तियों को छुटकारा दिलाने के उद्देश्य से जारी किया जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ व्यक्ति को सशरीर उपस्थित करना है।

बंदी प्रत्यक्षीकरण अभिलेख सरकारी अधिकारियों के अलावा निजी व्यक्तियों तथा संगठनों के विरूद्ध भी जारी किया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा यह अभिलेख अनुच्छेद 32 तथा उच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 226 के तहत जारी किया जाता है।

ख. परमादेश (Mandamus): 'मैन्डमस' शब्द की उत्पत्ति भी लैटिन भाषा से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'हम आज्ञा देते हैं'। यह अभिलेख वस्तुत: एक आज्ञा है जो न्यायालय किसी व्यक्ति, संस्था या अधीनस्थ न्यायालयों को कर्तव्यपालन के लिए जारी करता है। सामान्यत: यह अभिलेख सार्वजनिक कार्यों के समुचित निष्पादन के लिए जारी किया जाता है।

ग. प्रतिषेध (Prohibition): प्रतिषेध नामक अभिलेख उच्चतर न्यायालयों द्वारा अधीनस्थ न्यायालयों पर जारी किया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य न्यायालय को अधिकार क्षेत्र में ही कार्य करने हेतु बाध्य करना है।

घ. अधिकार पृच्छा (Quo-Warranto): यह एक ऐसा अभिलेख है जिसके द्वारा कोई न्यायालय किसी व्यक्ति को जो गैर कानूनी तरीके से पद या अधिकार प्राप्त करता है उस पद अथवा अधिकार के दुरुपयोग पर अंकुश लगाता है।

ड. उत्प्रेषण (Certiorari): इस अभिलेख द्वारा उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय को द्वारा अधिनस्थ न्यायालयों पर जारी किया जाता है। इस अभिलेख द्वारा निम्न न्यायालयों से किसी मामले को उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित भी किया जा सकता है।

लोकहित-वाद (Public Interest Litigation)

उल्लेखनीय है कि अनु. 32 के अधीन अनुतोष पाने का अधिकार उसी व्यक्ति को है जिसके मूल अधिकारों का उल्लंघन होता है, किन्तु न्यायलय ने अब इसके क्षेत्र को और विस्तृत कर दिया है। उसके अनुसार अनु. 32 के अधीन कोई संस्था या लोक हित से प्रेरित कोई नागरिक किसी व्यक्ति के संविधानिक या विधिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए रिट फाइल कर सकता है जो निधनता अथवा किसी अन्य कारण से न्यायालय में रिट फाइल करने में सक्षम नहीं है। न्यायालय ने निर्णय दिया कि अनु. 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की शक्ति में मूल अधिकारों के उल्लंघन की जाँच करने के लिए आयोग नियुक्त करने की शक्ति भी शामिल है।

लोकहित वाद का उद्देश्य एवं उसका क्षेत्राधिकार

लोकहित वाद का उद्देश्य लोकहित का संरक्षण अर्थात् समाज के किसी वर्ग के मूल अधिकारों या अन्य अधिकारों का संरक्षण करना है जो अपनी निर्धनता या अन्य सामाजिक या आर्थिक कठिनाइयों के कारण अपने अधिकारों के संरक्षण के लिए न्यायलय में जाने में असमर्थ है।

इस प्रकार लोकहित वाद का प्रयोग प्रमुख रूप से निर्बल एवं निर्धन वर्ग के व्यक्तियों के उन मूल अधिकारों को जो अनु. 21 के अधीन प्रदत्त है, संरक्षण किया जाता है।

अनु. 22 के अधीन अधिकारिता के विभिन्न आयाम हैं। इस अधिकारिता के अन्तर्गत न्यायालय ने विभिन्न परिस्थितियों में हस्तक्षेप किया है। जैसे बिहार के जेलों में बंद कैदियों को अंधा करने का मामला, नारी निकेतन में महिलाओं का शोषण, जेलों में बन्द बच्चों के साथ अमानवीय व्यवहार, मुम्बई की झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले की रक्षा के लिए, पर्यावरण संरक्षण, बंधुओ मजदूरों की विमुक्ति, बलात्कार से पीड़ित महिला को प्रतिकार एवं पुनर्वास प्रदान करना आदि अनेक मामलों में इस अधिकारिता का प्रयोग किया है।

सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार तथा लोकहितवाद

लोकहितवाद हमारे देश के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का भण्डाफोड करने और इसके लिए दोषी व्यक्तियों को दण्डित करने में सबसे सशक्त साबित हुआ है। इसी के कारण हवाला काण्ड, बिहार का चारा काण्ड, यूरिया काण्ड, सेन्ट किट्स कांड, झारखंड मुक्ति, मोर्चा के सांसदों द्वारा पूर्व प्रधानमंत्री श्री नरसिम्हा राव से धन प्राप्त कर संसद में उनके बहुमत को सिद्ध करने का कांण्ड, उत्तर प्रदेश में आयुर्वेदिक घोटाला, दिल्ली में सरकारी भवनों के आवंटन का घोटाला, पेट्रोल पंपों के आवंटन का घोटाला आदि मामलों को न्यायालय के समक्ष उठाया और उनकी जाँच हो रही है।

उल्लेखनीय है कि अनु. 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय को ''लोकहितवाद'' के माध्यम से सार्वजनिक महत्व के मामलों को विचारार्थ प्रस्तुत करने में हुए व्यय को दिलाने की शक्ति भी है।

न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism)

अनु. 32 के खंड (2) की भाषा अत्यन्त व्यापक है और उच्चतम न्यायालय को नागरिकों को न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से कोई भी रिट, आदेश, निर्देश या अन्य समुचित आदेश या रिट, जिसके अन्तर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार पृच्छा आदि रिट आते हैं, जारी करने की शक्ति प्रदान करता है। अनु. 32(2) न्यायालय को मूल अधिकारों का सजग प्रहरी बना देता है। इसके अन्तर्गत अब न्यायालय ने ''लोकहितवाद'' की अवधारणा की स्थापना की है जिसके माध्यम से कोई भी व्यक्ति या संस्था किसी ऐसे व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए जो निर्धनता या अन्य किसी कारणवश न्यायलय जाने में असमर्थ है, न्यायालय में याचिका फाइल कर सकता है।

यही नहीं अब न्यायालय जनहित के अनेक मामलों में, जो कार्यपालिका और विधानमण्डल के कार्यक्षेत्र में है, हस्तक्षेप कर रहा है और सरकार और प्राधिकारियों को संविधान और अन्य कानूनों के तहत उनके कर्तव्यों का पालन करने के लिए विवश कर रहा है। यह इसलिए संभव हुआ है क्योंकि लोकहितवाद के माध्यम से अधिक से अधिक नागरिक मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरूद्ध तथा कानून द्वारा अधिरोपित कर्तव्यों को पालन कराने के लिए न्यायालय में याचिका दायर कर रहे हैं।

विश्लेषण

एक लोककल्याणकारी राज्य में उच्चतम न्यायलय इस अस्त्र का प्रयोग केवल निर्धन एवं असहय नागरिकों के मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए ही नहीं करेंगे वरन् पूरे समाज को अपराधविहीन और अनुशासित समाज में परिवर्तित करने में करेगा। कुछ लोग न्यायिक सक्रियता की आलोचना करते हैं जो उचित नहीं है।

संविधान में न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त आज विधायिका एवं कार्यपालिका समय की कमी एवं अन्य राजनीतिक कारणों से नागरिक समस्याओं का निपटारा करने में अत्यन्त असमर्थ सिद्ध हो गए हैं। देश के बड़े पदों पर आसीन लोगों के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश उच्चतम न्यायलय ने किया है। न्यायपालिका को स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष बनाए रखने का हम सभी का उत्तरदायित्व है। इसी में लोकतन्त्र की सफलता निहित है। अपने ऐतिहासिक एवं दूरगामी निर्णय **रूपा अशोक हुरा बनाम अशोक हुरा** के मामले में उच्चतम न्यायलय ने अभिनिर्धारित किया कि उच्चतम न्यायलय के अंतिम निर्णय को भी उपचारात्मक याचिका (Curative Petition) के माध्यम से चुनौती दी जा सकती है।

अनु. 32 के अपवाद

1. **अनु.** 33 संविधान के भाग 3 में एक अपवाद है। अनु. 33 संसद को विधि द्वारा यह शक्ति प्रदान करता है कि इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को सशस्त्र बलों अथवा सार्वजनिक व्यवस्था भार वाले बलों के सदस्यों के प्रयोग के संबंध में किस

सम्पत्ति का अधिकार

44वें संविधान संशोधन से पूर्व सम्पत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार था जिसका उल्लेख अनु० 31 एवं अनु० 19(1)(f) में था। 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 की धारा 6 से अनु० 31 में शामिल सम्पत्ति के अधिकार के प्रावधान को समाप्त कर दिया गया। इसी संविधान संशोधन अधिनियम की धारा 2 से अनु० 19(1)(f) में प्रदत्त सम्पति के अधिकार की स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया। इसे अनु० 300A में शामिल कर एक विधिक अधिकार की स्थिति प्रदान की गई है।

संविधान की प्रस्तावना में 42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 2 से 'समाजवादी' शब्दावली को शामिल किया गया। समाजवादी शब्द की व्याख्या अनु० 39(b) से स्पष्ट होती है। जिसमें स्पष्ट किया गया है कि राज्य निजी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करने वाली विधियों को संवैधानिकता प्रदान करता है।

प्रस्तावना में उल्लिखित 'आर्थिक न्याय' पदावली के अंतर्गत समाजवाद की अवधारणा निहित है परन्तु 42वें संविधान अधिनियम 1976 से शामिल 'समाजवादी' शब्दावली से इसे स्पष्टता प्रदान की गई। प्रस्तावना में शामिल समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के सन्दर्भ में ही 44वें संविधान संशोधन से मूल अधिकारों से सम्पत्ति के अधिकार को निरसित किया गया है।

मात्रा तक निर्बन्धन किया जाए, ताकि वे अपने कर्तव्यों का उचित पालन कर सकें और उनमें अनुशासन बना रह सके।

2. **अनु.** 34 संसद को विधि द्वारा सेना विधि के अधीन किए गए कार्यों को विधिमान्य बनाने की शक्ति प्रदान करता है।

संसद विधि द्वारा संघ या किसी राज्य की सेवा में किसी व्यक्ति या किसी अन्य व्यक्ति की किसी ऐसे कार्य के संबंध में क्षतिपूर्ति का सकेगी जो उसने भारत के राज्यक्षेत्र को भीतर किसी क्षेत्र में, जहाँ सेना विधि प्रवृत्त थी, व्यवस्था बनाए रखने या पुनः स्थापन के संबंध में किया है या ऐसे क्षेत्र में सेना विधि के अधीन पारित दंडादेश, दिए गए दण्ड, या किए गए अन्य कार्य को विधि मान्य कर सकेगी।

नैसर्गिक न्याय का सिद्धांतः (Doctrine of Natural Justice)

नैसर्गिक न्याय वस्तुतः न्याय के सुनिश्चितीकरण की संकल्पना है। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय द्वारा भी विस्तृत व्याख्या की गई है। दूसरे शब्दों में नैसर्गिक न्याय न्यायसंगत विनिश्चय की संकल्पना है। मेनका गांधी बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1978 एस. सी. 597 मामले के उपरांत इस सिद्धांत का प्रभाव क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि नैसर्गिक न्याय का सार तत्व कार्यरूप में न्यायशीलता लाना है। यह न्यायिक तथा प्रशासनिक, दोनों ही प्रकार की कार्यवाहियों के लिए समान महत्व रखता है।

यद्यपि नैसर्गिक न्याय का अनुपालन अत्यन्त आवश्यक है लेकिन कई अवसरों पर प्राधिकारियों को यह छूट प्रदान की गई है कि वे ऐसे सिद्धांत का अनुपालन किये बिना कोई निर्णय ले सकते हैं। जिन परिस्थितियों में नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत का पालन अनिवार्य है उनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. कुलपति को पद से हटाना
2. चयन समिति द्वारा किसी अधिकारी का चयन
3. लोक सेवा आयोग द्वारा किसी अभ्यर्थी का चयन
4. किसी विद्यार्थी या कर्मचारी के विरूद्ध अनुशासनिक कार्रवाई
5. पासपोर्ट परिबद्ध करना

इनके विपरीत जिन परिस्थितियों में प्राधिकारी द्वारा इस सिद्धांत का अनुपालन आवश्यक नहीं है, उनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी विषय
2. तत्काल कार्रवाई की अनिवार्यता
3. प्रत्यायोजित विधान

संपत्ति के अधिकार की संवैधानिक स्थिति (Constitutional Position of Right to Property)

मूल संविधान में अनु. 31 में संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकार बनाया गया था। इसका महत्व इस रूप में था कि इससे भारतीय लोकतंत्र की उदारवादी प्रकृति स्पष्ट होती थी। उल्लेखनीय है कि भारत का संविधान उदारवादी और समाजवादी दोनों ही परंपराओं पर आधारित है। अतः 'अनु॰ 31' में उदारवादी के साथ-साथ अनु. 39 (b) और 39 (c) से समाजवादी भावनाएँ निहित थीं। 42वें संशोधन की धारा (2) से उद्देशिका में समाजवादी शब्द को शामिल करने के बाद भारतीय संविधान को प्रत्यक्षतः समाजवादी बना दिया गया है।

उल्लेखनीय है कि समाजवादी संविधानों में व्यक्तिगत स्तर पर संपत्ति का अधिकार नहीं दिया जा सकता है। इस कारण 42वें संशोध न और अनु. 31 के बीच एक विरोधाभास उत्पन्न हो गया था।

इस पृष्ठभूमि में 44 वें संशोधन '1978' की धारा-6 से 'अनु. 31 को निरस्त कर दिया गया है तथा इसी संशोधन की 'धारा 34' से 'भाग-12' में अनु. 300 (A) के तहत संपत्ति के अधिकार को विधिक अधिकार के रूप में शामिल किया गया है। इस अनु. में यह उल्लेख है कि किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि के प्राधिकार के तहत ही वंचित किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में विधायिका द्वारा बनायी गई विधियों के तहत ही संपत्ति का अधिग्रहण किया जाएगा।

न्यायालय के अनुसार 'अनु. 300 (A) के तहत बनाई गई किसी विधि द्वारा किसी मूल अधिकार का विशेषकर 'अनु. 14' का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यह भी कहा गया है कि अधिग्रहण का आधार केवल सार्वजनिक उद्देश्य होना चाहिए। स्पष्टतः संपत्ति के अधि कार को विधिक अधिकार बनाए जाने से भारत में समाजवादी परंपराओं का संरक्षण किया गया है।

भाग-3 में शामिल भूमि सुधार संबंधी प्रावधान

संविधान के 'पहले संशोधन 1951' की 'धारा 4' और '5' से क्रमशः अनु. 31(A) और 31(B) शामिल किया गया था। इस संशोधन से संविधान में 9वीं अनुसूची भी शामिल की गई है, जिसमें भूमि सुधर संबंधी कानून को संरक्षण देने का प्रावधान था।

अनु. 31 (A) में किए गए संपत्ति अधिग्रहण से 'अनु. 14 और 19' का उल्लंघन नहीं होता। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने ऐसे अधिग्रहण के लिए निम्नांकित सिद्धांतों का उल्लेख किया है। (Godavari Sugar Mills Ltd. Vs S.B. Kamble, 1975):

i. भूमि अधिग्रहण कृषि सुधारों के उद्देश्य से किया जना चाहिए।
ii. नगरीय क्षेत्रों में मलिन बस्तियों की सफाई या आवासीय योजनाओं को कृषि सुधारों के अर्थ में शामिल नहीं किया जा सकता।
iii. किसी स्पष्ट उद्देश्य की व्याख्या के बिना किया गया भूमि अधिग्रहण कृषि सुधारों के लिए अधिग्रहण नहीं माना जाएगा।
iv. कृषि सुधार का अर्थ भूमि सुधार से अधिक विस्तृत है।

अनु. 31 (A) के प्रावधानों को न्यायपालिका में चुनौती दी जा सकती है। इसक महत्व इस रूप में भी है कि यह व्यक्तियों की मानव अधिकारों की रक्षा में शामिल है। उल्लेखनीय है कि 'अनु. 31 (A) का संबंध 'UDHR 1948' के 'अनु. 17' से है।

अनु. 31(b) में भूमि सुधार संबंधी कानूनों को संरक्षण दिया गया है, जिसके लिए '9वीं अनुसूची' बनाई गई है। हालांकि '13' ऐसे कानूनों के साथ इस अनुसूची को शामिल किया गया था। लेकिन वर्तमान में इनकी 'संख्या 284' है। उच्चतम न्यायालय ने I.R. Coelho Vs State of Tamil Nadu 2007 मामले में यह कहा है कि 24 अप्रैल, 1973 के बाद इस अनुसूची में शामिल कानूनों का संविधान के मूल ढाँचे से असंगत होने के आधार पर न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

'अनु. 31 C में भूमि सुधार संबंधी निदेशक तत्वों को संरक्षण प्राप्त है। इसे '25वें संशोधन 1971' की धारा 30 से शामिल किया गया है। मूल रूप से इसमें 'अनु॰ 14 और 19 पर निदेशक तत्वों को वरीयता दी थी। लेकिन Minerva Mills Vs Union of India, 1980 मामले में यह कहा गया की केवल '39 (b)' और 39(c) को ही ऐसी वरीयता दी जा सकती है क्योंकि निदेशक तत्वों और अधिकारों के बीच एक संतुलन स्थापित है जो संविधान के मूल ढाँचे का भाग होगा।

भारत में भूमि अधिग्रहण (Land Acquisition in India)

i. भूमि अधिग्रहण का विधिक आधार Hugo Grotius द्वारा 1625 में दिए गए सिद्धांत Power of Eminent Domain के मूल दर्शन से प्रेरित है। इस सिद्धांत के तीन अनिवार्य तत्व हैं-
   (a) निजी भूमि का राज्य द्वारा अधिग्रहण करने की शक्ति।
   (b) ऐसी शक्ति का सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयोग।
   (c) अधिग्रहण के बाद राज्य को मुआवजा देने की अनिवार्यता।

भारत में ''भूमि अधिग्रहण कानून 1894'' के तहत भूमि का अधिग्रहण किया जाता है। हाल के वर्षों में भूमि अधिग्रहण के विषय पर गंभीर विवाद उत्पन्न हुए हैं। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि इस कानून के तहत सार्वजनिक उद्देश्य शब्दावली को परिभाषित नहीं किया गया है। अतः यह स्पष्ट नहीं होता कि राज्य किस प्रकार की भूमि का अधिग्रहण करेगा तथा उसके लिए मुआवजे का प्रावधान क्या होगा

भूमि अधिग्रहण की संकल्पना में दो गंभीर मुद्दे शामिल हैं-

क. भूमि अधिग्रहण से केवल किसी एक व्यक्ति पर ही प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि उसके संपूर्ण परिवार का सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश से अलगाव हो जाता है।
ख. मुआवजे का भुगतान केवल भू-स्वामी अथवा विधि के तहत मान्य काश्तकारों को ही दिया जाता है। अतः भूमिहीन श्रमिकों अथवा अन्य श्रमिकों के हितों की अनदेखी होती है।

इस पृष्ठभूमि में हाल ही में भूमि अधिग्रहण के लिए एक नया विधेयक प्रस्तावित हैं '1894' के कानून को प्रतिस्थापित करने के कारणों में निम्नांकित महत्वपूर्ण हैं-

(i) कानून की औपनिवेशिक प्रकृति।
(ii) पुनर्वास तथा पुनर्स्थापनों के लिए एक राष्ट्रीय विधि का अभाव।
(iii) सार्वजनिक उद्देश्य की स्पष्ट परिभाषा का अभाव।

(iv) किसानों तथा अन्य व्यक्तियों की अनदेखी।

भूमि अधिग्रहण एवं पुनर्वास तथा पुनर्स्थापना विधेयक 2011 (Land Acquisition & Rehabilitation & Resettlement Bill, 2011)

1. सार्वजनिक उद्देश्य की परिभाषा मे निम्नांकित शामिल हैं-
   (i) रणनीतिक उद्देश्य-जैसे-सशस्त्र बलों और राष्ट्र से संबंधित।
   (ii) अवसंरचनाओं एवं उद्योगों का विकास।
   (iii) पुनर्वास एवं पुनर्स्थापना के लिए भूमि की आवश्यकता।
   (iv) निर्धन जनसंख्या के आवासन तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य की योजनाओं के लिए भूमि की आवश्यकता।
   (v) सार्वजनिक उद्देश्य के लिए निजी क्षेत्र को भूमि का आवंटन।
2. प्राकृतिक अधिग्रहण के दौरान मुआवजे की राशि तय करने के लिए उस भू-खंड की निकटवर्ती क्षेत्रों में भूमि का औसत विक्रय मूल्य जिसे 3 गुना दिया जाएगा।
3. उस भू-खंड पर अवस्थित परिसंपत्तियों का मूल्य
4. मूल्य निर्धारण के बाद मुआवजे की राशि को शत-प्रतिशत राहत राशि के रूप में भुगतान।
5. 12 महीनों तक प्रतिमाह प्रति परिवार 3 हजार रूपए का निर्वाह भत्ता।
6. उस भू-खंड पर अवस्थित मकान के नष्ट हो जाने पर ग्रामीण क्षेत्रों में 150 m^2 और शहरी क्षेत्रों में 50m^2 क्षेत्रफल वाले निर्मित आवास का प्रावधान।
7. यदि अधिग्रहण नगरीकरण के उद्देश्य से किया गया है तो उस भू-खंड का 20% भू-स्वामी के लिए आरक्षित होगा।
8. पीड़ित परिवार के किसी एक सदस्य को अनिवार्य रूप से रोजगार अथवा 2 लाख रूपए की सहायता।
9. अधिग्रहित होने वाली भूमि से प्रभावित परिवारों के न्यूनतम 80% की सहमति।
10. किसी बाह्य संस्था द्वारा भूमि-अधिग्रहण के सामाजिक प्रभावों का मूल्यांकन।

उच्चतम न्यायालय ने Devsharan Vs State of U.P. 2011 के मामले में सार्वजनिक उद्देश्य की व्याख्या के लिए निर्धन जनसंख्या के हितों को ध्यान में रखने का निर्देश दिया है। इसी प्रकार Nand Kishore Gupta Vs State of Uttar Pradesh, 2010 मामले में न्यायालय ने सार्वजनिक उद्देश्य और सार्वजनिक आवश्यकता में विभेद किया है, तथा यह कहा है कि समाज के किसी एक वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे सार्वजनिक उद्देश्य के लिए किया गया अधिग्रहण वैध नहीं माना जाएगा।

स्थायी संसदीय समिति का अधिग्रहण के संबंध में सुझाव

सुमित्रा महाजन की अध्यक्षता वाली शहरी विकास मामलों की स्थायी संसदीय समिति का अधिग्रहण के संबंध में सुझाव है कि सरकार को निजी उद्यम के लिए जमीन का अधिग्रहण नहीं करना चाहिए।

समिति की रिपोर्ट 17 मई, 2012 को संसद में पेश की गई थी। समिति ने जमीन अधिग्रहण के लिए 'सार्वजनिक उद्देश्य' की परिभाषा को भी स्पष्ट किया है। इसके अनुसार भूमि अधिग्रहण संबंधी प्रस्तावित कानून में सार्वजनिक उद्देश्य सीमित रखे जाने चाहिए। अर्थात् सरकारी खर्च पर आधारभूत ढांचा निर्माण, सिंचाई के लिए बहुउद्देश्यीय बांध, स्कूल, अस्पताल, पीने के पानी और सफाई व्यवस्था की परियोजनाओं के लिए ही जमीन का अधिग्रहण किया जाना चाहिए। समिति के अनुसार अधिग्रहण के सभी मामलों में जमीन खोने वालों और अन्य प्रभावितों के लिए उचित मुआवजा व पुनर्वास की अनिवार्य रूप से बाध्यता होनी चाहिए। साथ ही सभी तरह के अधिग्रहण इस एक (प्रस्तावित नए) कानून के तहत ही किए जाने चाहिए। समिति ने इस संबंध में अमेरिका, जापान, कनाडा का उदाहरण दिया। इन देशों में निजी कंपनी अपने उत्पाद के लिए जमीनें खरीदती हैं। सरकार उनका अधिग्रहण नहीं करती।

प्रमुख सिफारिशें

(1) जमीन का मूल्य और मुआवजा तय करने के लिए बहु सदस्यीय आयोग बनाया जाना चाहिए। यह इन अधिग्रहण संबंधी मामलों पर अंतिम फैसला करेगा।

(2) जिस काम के लिए जमीन ली गई है अगर उसमें वह पांच साल तक इस्तेमाल नहीं होती तो उसे उसके मूल मालिकों को लौटा देना चाहिए।

(3) अधिसूचना जारी कर अधिग्रहण कानून में संशोधन की अनुमति देने वाला प्रावधान पूरी तरह खत्म कर दिया जाना चाहिए।

8. राज्य के नीति निदेशक तत्व

नीति निदेशक तत्व हमारे राज्य के सम्मुख कुछ सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, जिनके पालन द्वारा देश के नागरिकों का सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक उत्थान हो सकता हैं। इस प्रकार संविधान की प्रस्तावना द्वारा भारत के नागरिकों को समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय सुलभ करानें का जो संकल्प व्यक्त किया गया है वह इन आदर्शों को क्रियान्वित किये जाने पर ही पूर्ण हो सकता हैं।

अंत: ये निदेशक तत्व एक प्रकार से राज्य के लिए नैतिकता के सूत्र हैं तथा देश में वास्तविक रूप में सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र को स्थापित करते हैं।

विधि निर्माण में इस तत्वों को प्रयोग करना राज्य का पर कर्त्तव्य हैं। जैसा कि अनुच्छेद 37 में कहा गया है, कि –

इस भाग में दिये गये उपबन्धों को किसी भी न्यायालय द्वारा लागू (Enforced) नहीं कराया जा सकता हैं: फिर भी इसमें दिये हुए तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि निर्माण में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।

''राज्य की नीति के निदेशक तत्व शब्दावली'' निम्नांकित 2 तथ्यों को उजागर करते हैं–

(i) इनमें राज्य को दिशा–निर्देश देने के लिए कई मौलिक सिद्धांतों का उल्लेख है। इस कारण यह न्यायालय में विचार के अयोग्य है।

(ii) इन सिद्धांतों के आधार पर राज्य नीति–निर्माण का कार्य करेगा जिनका उद्देश्य अधिकारों की रक्षा करना है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि ये तत्व राज्य के उत्तरदायित्व हैं, जिन्हें कर्त्तव्यों के रूप में शामिल किया गया हैं उत्तरदायित्व होने के कारण ये राज्य पर स्वत: बाध्यकारी हैं।

विधि के अनुसार संविधानों में अधिकारों और कर्त्तव्यों की एक एकीकृत प्रणाली शामिल की जाती है। अत: नागरिकों के अधि कारों (नागरिक एवं राजनीतिक) के सापेक्ष निदेशक तत्वों को कर्त्तव्यों के रूप में देखा जाता है।

दूसरी ओर व्यावहारिक रूप से निदेशक तत्व राज्य के सामाजिक–आर्थिक अधिकार हैं तथा इनके सापेक्ष अधिकारों पर युक्ति–युक्त निर्बंधनों को नागरिकों के कर्त्तव्यों के रूप में देखा जा सकता है। निदेशक तत्वों को न्यायालय में विचार के अयोग्य कहा गया है। लेकिन अनु. 37 में यह भी उल्लेख है कि ये शासन के मूलभूत सिद्धांत होंगे। भाग–3 और भाग–4 की प्रकृति मानवाधिकारों की है।

अवधारणा एवं महत्व (Concept & Significance)

भारतीय संविधान के भाग 4 में अनुच्छेद 36 से 51 तक राज्य के नीति निदेशक तत्वों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इनके अन्तर्गत उन सिद्धान्तों का पालन किया गया है, जिन्हें केन्द्र सरकार तथा विभिन्न राज्य सरकारें शासन संबंधी नीतियों के निर्धारण हेतु प्रयोग में लाती हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य के नीति निदेशक तत्व संविधान के आदर्शों की व्याख्या करते हैं। इन नीति निदेशक तत्वों के स्वरूप के संबंध में निम्नांकित तीन तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है :

1. इन तत्वों को न्यायालय द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है।
2. नीति निदेशक तत्वों का देश की शासन व्यवस्था में मौलिक स्थान है।
3. कानून के निर्माण में नीति निदेशक तत्वों का संदर्भ अनिवार्य है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि राज्य के नीति निदेशक तत्वों को कार्यपालिका एवं विधायिका के दिशासूचक स्तम्भ की संज्ञा दी गई है। नीति निदेशक तत्वों की एक प्रमुख विशेषता उनका लचीलापन है। शासन के आधारभूत सिद्धान्त के रूप में नीति निदेशक तत्वों की पहचान की गई है।

संविधान के 42 वें संशोधन अधिनियम के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि न्यायालयों द्वारा न्याय प्रक्रिया में मौलिक अधिकारों की तुलना में नीति निदेशक तत्वों को प्राथमिकता प्रदान की जायेगी। इसके अतिरिक्त, नीति निदेशक तत्वों की पहचान एक अनुदेश पत्र के रूप में भी की गई है।

इस संबंध में संविधान के 25वें संशोधन अधिनियम में विस्तृत व्याख्या की गई है, जिसके आधार पर न्यायपालिका द्वारा भी इन सिद्धान्तों के पालन करने का प्रावधान किया गया है। नीति निदेशक तत्वों के महत्व के संदर्भ में निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख समीचीन होगा :

1. **प्रगति के मापदंड के रूप में :-** कार्यपालिका एवं विधायिका के लिए राज्य के नीति निदेशक तत्व आदर्श के समान हैं। इन सिद्धान्तों के आधार पर ही सरकार द्वारा कार्यक्रमों का समुचित क्रियान्वयन किया जाना अनिवार्य है।
2. **नैतिक आदर्श :-** नैतिकता के दृष्टिकोण से भी नीति निदेशक तत्वों का विशेष महत्व है। वस्तुतः सरकार द्वारा नैतिकता के पालन में इन सिद्धान्तों की विशेष भूमिका है।
3. **मौलिक अधिकारों के पूरक के रूप में :-** राज्य के नीति निदेशक तत्व मौलिक अधिकारों के पूरक हैं। एक ओर जहां मौलिक अधिकारों के माध्यम से नागरिकों को वैयक्तिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान की जाती है, वहीं दूसरी ओर नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से आर्थिक एवं सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के प्रयास किये जाते हैं।
4. **न्यायपालिका के मार्गदर्शक के रूप में :-** न्याय की प्रक्रिया में नीति निदेशक तत्व न्यायपालिका के मार्गदर्शक के रूप में कार्य करते हैं। कई अवसरों पर न्यायपालिका ने नीति निदेशक तत्वों की सहायता से संविधान के निर्वचन का कार्य किया है।
5. **लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायक :-** संविधान के दर्शन के अनुरूप नीति निदेशक तत्वों से लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायता प्राप्त होती है।

आयरलैंड के संविधान से भारतीय संविधान में नीति निदेशक तत्वों का समावेश किया गया है। वस्तुतः राज्य के नीति निदेशक तत्वों के निर्धारण पर कई स्रोतों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव है। फ्रांस के मानव अधिकार घोषणा पत्र तथा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का प्रत्यक्ष प्रभाव नीति निदेशक तत्वों पर परिलक्षित होता है। इनके अतिरिक्त, कई विचारधाराओं विशेषकर, समाजवाद, फैबियन समाजवाद, उदारवाद तथा गांधीवाद का प्रभाव भी नीति निदेशक तत्वों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

नीति-निदेशक तत्वों का वर्गीकरण (Classification of Directive Principles)

(क) सामाजिक और आर्थिक न्याय (Social & Economic Justice)

सामाजिक और आर्थिक न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था हेतु अनु. 38(1) राज्य को यह निर्देश देता है कि वह लोक-कल्याण की अभिवृद्धि कर ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय प्रत्येक व्यक्ति को सुनिश्चित हो।

44 वें संशोधन अधिनियम् द्वारा अनु. 38 में खण्ड (2) शामिल किया गया। जो उपबंधित करता है कि राज्य विशेष रूप से आय की असमानता को कम करने का प्रयास करेगा और न केवल व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा।

आर्थिक न्याय प्राप्त करने के सिद्धान्त- अनु. 39 राज्य को इस प्रकार अपनी नीति का संचालन करने का निर्देश देता है ताकि-

i. पुरूष और स्त्री सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।
ii. समुदाय की भौतिक सम्पदा का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हितों का सर्वोत्तम साधन बन सके।

    इस खण्ड के अधीन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए राज्य उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है।
iii. आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन के साधन का सर्वसाधारण के अहित के लिए केन्द्रण न हो।
iv. पुरूषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन प्राप्त हो।
v. कर्मकारों के स्वास्थ्य तथा शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगार में न जाना पड़े जो उनकी आयु एवं शक्ति के अनुकूल न हो।
vi. बालकों को स्वतंत्र और गरियामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर एवं सुविधाएं दी जाएं तथा बालकों एवं अल्पवय व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक व आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए। (42 वें संशोधन अधिनियम् द्वारा शमिल)

एम.सी. मेहता बनाम तमिलनाडु राज्य के मामले में उच्चतम न्यायलय ने अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का हवाला देते हुए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को स्पष्ट निर्देश दिया है कि बाल श्रम को तत्काल समाप्त करके उनके पुनर्वास एवं कल्याण की व्यवस्था करें।

(ख) सामाजिक सुरक्षा संबंधी तत्व (Principles relating to Social Security)

1. **अनु.** 43 राज्य से अपेक्षा करता है कि वह कर्मकारों को जीवन निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर और उसका सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।

अनु. 43(क) राज्य से यह अपेक्षा करता है कि राज्य उपर्युक्त विधान द्वारा या किसी अन्य प्रकार से किसी उद्योग में लगे हुए उपक्रमों व स्थापनों अथवा अन्य संगठनों के प्रबंन्ध में कर्मगारों का भाग लेना सुनिश्चित करने हेतु कदम उठाएगा। उल्लेखनीय है कि अनु. 43 में खंड 'क' 42 वें संशोधन अधिनियम् द्वारा सम्मिलित किया गया था।

2. **अनु.** 41 राज्य को यह निर्देश देता है कि वह अपनी सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम पाने, शिक्षा पाने तथा बेकारी, बीमारी, बुढ़ापा और अंगहानि तथा अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त करने का उपबंध करेगा।

3. **अनु.** 42 राज्य को काम की न्यासंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्तित करने के लिए और प्रसूति सहायता का उपबंध करने का निर्देश देता है।

4. **86 वाँ संशोधन अधिनियत, 2002 :** इस संशोधन द्वारा अनु. 45 के स्थान पर एक नया अनु. रखा गया है। यह अनु. उपबंधित करता है कि ''राज्य छः वर्ष की आयु के सभी बालकों के पूर्व बाल्यकाल की देखरेख और शिक्षा के लिए अवसर प्रदान करने का उपबंध करेगा।

   अनु. 45 में उपर्युक्त संशोधन की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि नए अनु. 21 द्वारा 6 वर्ष की आयु से 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा को एक मूल अधिकार बना दिया गया है।

5. 42वें संशोधन अधिनियम्, 1976 द्वारा अनु. 39(क) शामिल कर राज्य को निदेश दिया गया कि वह यह सुनिश्चित करे कि विधिक व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि सभी को अवसर के आधार सुलभ हों और वह विशिष्टतया आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई अन्य नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए तथा उपयुक्त विधान द्वारा या किसी अन्य रीति से निःशुल्क सहायता की व्यवस्था करे।

   ''विधिक सहायता'' और ''शीघ्रतर परीक्षण'' अनु. 21 के अधीन बन्दियों के मूल अधिकार माने जाते हैं और इन्हें प्रवर्तित करना न्यायालय का परम कर्तव्य है।

6. **अनु.** 47 के अधीन राज्य का यह प्राथमिक कर्तव्य होगा कि वह लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने और लोक स्वास्थ्य में सुधार करने का प्रयास करे तथा स्वास्थ्य के लिए हानिकर औषधियों के औषधीय प्रयोजनों को छोड़कर, उपयोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करे।

(ग) समाज कल्याण संबंधी निदेशक तत्व (Principles relating to Social Welfare)

1. **अनु.** 40 राज्य को निर्देश देता है कि वह ग्राम पंचायतों का संगठन के लिए कदम उठाएगा और ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने को आवश्यक हों।

2. **अनु.** 44 यह अपेक्षा करता है कि राज्य भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त करने का प्रयास करेगा।

   सरला मुद्दगल के मामले में न्यायलय ने राज्य को एक समान सिविल संहिता लागू करने का निर्देश दिया। उसके अनुसार एक समान सिविल संहिता विचारों के आधार पर मतभिन्नता को समाप्त कर राष्ट्रीय एकता को सशक्त करने में सहायता करेगी।

3. **अनु.** 48 राज्य को निर्देश देता है कि वह कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों पर संगठित करने का प्रयास करेगा और विशेषतया गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू नस्लों के परिक्षपण और सुधारने के लिए और उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए कदम उठाएगा।

   42 वां संशोधन अधिनियम् द्वारा अनु. 48क सम्मिलित किया गया। जो यह अपेक्षा करता है कि राज्य देश के पर्यावरण की सुरक्षा तथा उसमें सुधार करने का और वन तथा वन्यजीवों की रक्षा की प्रयास करेगा।

4. **अनु.** 49 यह उपबंधित करता है कि राज्य कलात्मक या ऐतिहासिक रूचि वाले प्रत्येक स्मारक या स्थान या वस्तु की यथास्थिति विनाश (Spoilalion), विरूपण (disfigurement) विनाश, अपसारण (removal), व्ययन (Disposal) अथवा निर्यात से रक्षा करना राज्य का अधिकार होगा।

5. **अनु.** 50 यह अपेक्षा करता है कि राज्य लोक-सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने के लिए कदम उठाएगा।

6. अनु. 51 यह उपबंधित करता है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में,

i. अनतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की अभिवृद्धि का,

ii. राज्यों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण संबंधो को बनाए रखने का,

iii. एक-दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संधि बाध्यताओं के प्रति आदर बढ़ाने का,

iv. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता द्वारा निपटाने के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।

अन्य दृष्टि से वर्गीकरण (Other Bases of Classification)

1. **समाजवादी दृष्टिकोण:**- इन निर्देशक सिद्धान्तों के तहत सामाजिक व आर्थिक न्याय से परिपूर्ण व्यवस्था (अनु.38), उत्पादन के साधनों के केन्द्रीकरण को रोकना (अनु.39) समान कार्य हेतु समान मजदूरी (अनु. 39d) कार्य की उचित व मानवीय दशाएं (अनु.42) बेरोजगारी, विकलांगता,वृद्धावस्था आदि की स्थिति में राजकीय सहायता प्रदान करना (अनु.41)।

2. **गांधीवादी दृष्टिकोण :**-इसमें निम्नांकित शामिल हैं-
   - ग्राम पंचायतों का संगठन (अनु. 40)मद्य निषेध (अनु. 47)
   - कुटीर उद्योगों की स्थापना (अनु.43)
   - अनुसूचित जाति, जनजाति व अन्य पिछड़े वर्गो का कल्याण (अनु.46)।

3. **उदारवादी दृष्टिकोण:**- इसमें निम्न शामिल हैं-
   - समान नागरिक संहिता लागू करना (अनुच्छेद, 44)
   - पर्यावरण की रक्षा करना (अनुच्छेद, 44A)
   - अतंर्राष्ट्रीय शांति बनाये रखना (अनुच्छेद, 51)
   - ऐतिहासिक इमारतों का संरक्षण (अनुच्छेद, 49)
   - कार्यपालिका और नगरपालिका के मध्य विभाजन (**अनुच्छेद, 50**)

निदेशक तत्वों का महत्व (Significance of Directive Principles)

I. **अनु.** 37 में स्पष्टत: उल्लिखित है कि नीति-निदेशक सिद्धांत न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं। अनु. 37 'ग' खंड (2) स्पष्ट करता है कि इनमें निहित तत्व देश का प्रशासन चलाने में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। यह सच है कि इनके पीछे कोई विधिक शाक्ति नहीं है परन्तु जनमत की अपेक्षाओं को पूर्ण करने हेतु सभी सरकारें सदैव प्रयत्नशील रहती हैं।

II. यह एक न्यायपूर्ण समाज और लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना चाहते है। इनका उद्देश्य आर्थिक शोषण को समाप्त करना है। ये प्रस्तावना में वर्णित व्यक्ति की गरिमा के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु आवश्यक हैं।

इन्हीं आधारों पर अम्बेडकर ने इन्हें आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना हेतु आवश्यक बनाया है। ग्रेनविल ऑस्टिन के अनुसार 'भारतीय संविधान सामाजिक क्रांति का दस्तावेज है इस सामाजिक क्रांति हेतु निर्देशक तत्वों को लागू किया जाना अनिवार्य है।'

III. शासक वर्गो हेतु दिशा निर्देशों की भांति हैं जो यह बताते है कि भारत का शासन किस प्रकार चलाया जाना है और इनके क्या ध्येय होने चाहिए।

IV. निर्देशक सिद्धान्त सभी प्रकार के अतिवादों से सुरक्षा प्रदान करते है वे एक ओर जहां दक्षिण पंथ के विरोधी है वहीं दूसरी ओर घोर वामपंथ के भी विरोधी है।

(v) निर्देशक सिद्धान्त प्रस्तावना और मौलिक अधिकार के साथ मिलकर संविधान का दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

vi. निर्देशक सिद्धान्त किसी भी सरकार के जनता द्वारा मूल्यांकन का आधार तैयार करते हैं।

vii. यह संविधान की व्याख्या में भी सहायक हो सकते हैं।

viii. ये समूह के अधिकार हैं।

ix. ये व्यक्ति को शोषण, अभाव से मुक्ति दिलाने की नीतियों के निर्माण से संबंधित है

नीति निदेशक तत्वों की आलोचना (Criticism of Directive Principles)

1. वैधानिक शक्ति का अभाव।
2. अस्पष्टता एवं महत्वहीनता।
3. भविष्य को नियंत्रित करने का प्रयास।
4. अस्वाभाविकता।
5. राजनीतिक स्वार्थ।
6. संवैधानिक विवादों को प्रश्रय।
7. संविधान की जटिलता में वृद्धि।
8. लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु साधनों की उपेक्षा।

विश्लेषण

एक ओर जहां संविधान में नीति निदेशक तत्वों को शासन के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में मान्यता प्रदान की गई है, वहीं दूसरी ओर, न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान नहीं किया गया है कि वे इन तत्वों के क्रियान्वयन में विशेष प्रयास कर सकें। इस कारण नीति निदेशक तत्व केवल नैतिक आधार पर ही प्रतिष्ठित होते हैं तथा इनकी व्यावहारिकता में न्यूनता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। कई आलोचकों के अनुसार, नीति निदेशक तत्वों में केवल आदर्शवादिता को ही परिलक्षित किया जा सका है।

जिसके फलस्वरूप इनका क्रियान्वयन व्यावहारिक रूप से संभव नहीं हो सकता है। दूसरी ओर, एक प्रभुतासम्पन्न राज्य में ऐसे आदर्शों को प्रभावी बनाना अप्राकृतिक प्रतीत होता है। विधिवेत्ताओं के अनुसार, संप्रभुतासम्पन्न राज्य में इस प्रकार के आदर्शों का औचित्य नहीं होता है। सर आइवर जेनिंग्स के अनुसार, नीति निदेशक तत्वों में अव्यावहारिक रूप से भविष्य को जीवन दर्शन की परिधि में सीमित कर दिया गया है।

जेनिंग्स के अनुसार, देश के भविष्य के लिए कोई निश्चित विचारधारा संविधान का भाग नहीं बनाई जानी चाहिए। कई अवसरों पर विधायिका एवं कार्यपालिका के मध्य गतिरोध उत्पन्न होने की आशंका होती है जिसका कारण नीति निदेशक तत्व भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में देश में संवैधानिक संकट उत्पन्न होने की भी आशंका हो जाती है।

अन्त में, राज्य के नीति निदेशक तत्व किसी निश्चित अथवा संगतिपूर्ण दर्शन पर आधारित नहीं हैं। उपरोक्त विचारधारा के विपरीत हाल के वर्षों में न्यायपालिका द्वारा किये गये अर्थ निर्णय के आधार पर नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन को अपेक्षाकृत अधिक यर्थाथवादी बनाया जा सका है। न्यायपालिका ने कई अवसरों पर इन तत्वों को मूल अधिकारों के संदर्भ में निर्वचित करने पर बल दिया है।

इस संदर्भ में गृह कल्याण केन्द्र बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 1991 एस.सी. 61 का उल्लेख वांछनीय है। इसी मामले में न्यायपालिका ने नीति निदेशक तत्वों एवं मूल अधिकारों के मध्य सामंजस्य की स्थापना किये जाने पर भी बल दिया है।

संविधान के अन्य भागों में विद्यमान निदेशक तत्व (Directives in other parts of Constitution)

1. **अनुच्छेद** 350 के तहत राज्य को भाषाई दृष्टि से अल्पसंख्यक वर्गों के बच्चों को शिक्षा के प्राथमिक चरणों में उनकी मातृभाषा में शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया है।
2. **अनुच्छेद 351** के तहत हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार पर विशेष बल देने का प्रावधान किया गया है जिसका दायित्व राज्य का है।
3. **अनुच्छेद 335** के तहत अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के दावों पर विशेष बल।

मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों में अन्तर

(Difference between FRs & Directive Principles)

मूल अधिकार और निदेशक तत्व दोनों ही भारत के संविधान की अन्तरात्मा हैं। इनका लक्ष्य देश में सही अर्थों में लोकतांत्रिक

मूल-अधिकारों और निदेशक तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन

भिन्नता

समानता
दोनों की प्रकृति मानवाधिकारों की है।

(i) **संरचनात्मक**

मूल अधिकार	निदेशक तत्व
(a) अनु. 32 के तहत न्यायालय में प्रवर्तनीय	(a) अनु. 37 के तहत अपरिवर्तनीय
(b) नागरिकों तथा व्यक्तियों को प्राप्त अधिकार	(b) राज्य के उत्तरदायित्व
(c) नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार	(c) राज्य के सामाजिक-आर्थिक अधिकार

(ii) **कार्यात्मक**

मूल अधिकार	निदेशक तत्व
(a) राजनीतिक लोकतंत्र स्थापना के लिए उत्तरदायी।	(a) समाजवाद की स्थापना के लिए उत्तरदायी
(b) विधि के शासन की स्थापना को सर्वोच्च प्राथमिकता	

गणराज्य की स्थापना है। दोनों ही भारतीय नागरिकों की स्वतंत्रता के प्रतीक हैं। इसके बावजूद दोनों के बीच निम्नांकित भिन्नतायें हैं:

1. मूल अधिकार राज्य की गतिविधियों पर अंकुश लगाते हैं जबकि नीति निदेशक तत्व राज्य का सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्रदान करते हैं।
2. मूल अधिकार प्रत्यक्ष रूप से वाद योग्य है जबकि नीति निदेशक तत्व न्यायालय में वाद योग्य नहीं हैं।
3. मूल अधिकारों का विषय व्यक्ति है जबकि निदेशक तत्व राज्य के लिए हैं। ये राज्य को नैतिक दृष्टि से इसके लिए निर्देश देते हैं कि वे सार्वजनिक हित के लिए इन्हें लागू करे।
4. मूल अधिकार संविधान द्वारा नागरिकों को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हैं जबकि नीति निदेशक तत्वों को विधियों के द्वारा ही क्रियान्वित किया जा सकता है।
5. मूल अधिकारों का कार्य क्षेत्र भारत के राज्य क्षेत्र में ही लागू होते हैं जबकि निदेशक तत्वों का प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय संबंध भी स्थापित किये जा सकते हैं।
6. मौलिक अधिकार मुख्यत: राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना पर बल देते है जबकि निदेशक सिद्धान्त आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना चाहते है।
7. मूल अधिकार निरपेक्ष नही है बल्कि उन पर कुछ प्रतिबंध लागू हैं जबकि निदेशक तत्वों पर कोई प्रतिबंध आरोपित नहीं हैं।
8. मौलिक अधिकारों का निलंबन संविधान में वर्णित तरीके से किया जा सकता है जिसके लिए अनु. 358 व 359 में प्रावधान हैं दूसरी ओर निदेशक सिद्धान्त स्थायी रूप से निलंबित हैं जब तक उन्हें निलंबित ही माना जायेगा।
9. मूल अधिकार राज्य के नकारात्मक दायित्व हैं जबकि निदेशक सिद्धान्त राज्य को दिये गये सकारात्मक निर्देश हैं।

मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्व में संबंध

(Relation between FRs & Directive Principles)

संविधान के भाग- III में दिए गए मौलिक अधिकार वाद योग्य हैं, लेकिन भाग IV के नीति निदेशक तत्व (DPSP) वाद योग्य नहीं है। परंतु अनुच्छेद 37 में राज्य को निर्देश दिया गया है कि वह अपनी नीतियों और कानूनों द्वारा इनका क्रियान्वयन करें। ये दो पहलू एक तरफ मौलिक अधिकारों का वाद योग्य होना व नीति निदेशक तत्वों का वाद योग्य न होना तथा दूसरी तरफ नीति निदेशक तत्वों का शासन की नीतियों का आधार होना, कई बार द्वंद की स्थिति पैदा कर देते हैं। कई बार नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन के लिए बनाए गए कानूनों में मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण हुआ है। ऐसी स्थिति में सर्वोच्च न्यायालय में अनेक वाद लाए गए

हैं। इस बारे में सर्वोच्च न्यायालय की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया यह थी कि राज्य के नीति निदेशक तत्वों को मौलिक अधिकार के सहायक के रूप में कार्य करना चाहिए।

चंपाकमदोराइ राजन बनाम मद्रास राज्य (1951) और केरला एजुकेशन बिल (1957) तथा सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य (1964) जैसे मामलों में सर्वोच्च न्यायालय ने कहा है कि ''नीति निदेशक तत्व मौलिक अधिकारों की उपेक्षा या अवहेलना नहीं कर सकती है। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया है कि निर्धारित प्रक्रिया के अंतर्गत मौलिक अधिकारों में संशोधन किया जा सकता है और तत्पश्चात् निदेशक तत्वों को लागू किया जा सकता है।

परिणामत: कुछ नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए विशेष रूप से संपत्ति के अधिकार को सीमित करने के लिए प्रथम संविधान संशोधन और चतुर्थ संविधान संशोधन पारित किए गए। सर्वोच्च न्यायालय ने इन संशोधनों को वैध माना और न्यायालय ने इसे सद्भावपूर्ण संरचना (Harmonious Construction) का नाम दिया। इसका तात्पर्य है कि सामान्यत: निदेशक तत्व मौलिक अधिकारों के अधीन हैं और नीति निदेशक को क्रियान्वित करने के लिए राज्य मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता है, लेकिन राज्य मौलिक अधिकारों में संशोधन कर मौलिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगा सकता है।

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) मामले में न्यायालय ने अपने पूर्व दृष्टिकोण में परिवर्तन करते हुए सद्भावपूर्ण संरचना सिद्धांत पर प्रहार किया। न्यायालय ने इस वाद के निर्णय में कहा कि संसद मौलिक अधिकारों को सीमित करने के लिए संविधान संशोधन नहीं कर सकती है।

बहुमत के निर्णय में मुख्य न्यायमूर्ति के. सुब्बाराव ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 368 में केवल संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख है यह अनुच्छेद संसद को संविधान में संशोधन करने की शक्ति प्रदान नहीं करता है।

इस प्रकार इस निर्णय द्वारा मौलिक अधिकारों की असंशोधनीय व अनुल्लंघनीय घोषित किया गया। बैंकों के राष्ट्रीयकरण मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय ने संपत्ति का अधिकार के संरक्षण के पक्ष में निर्णय दिया।

गोलकनाथ और बैंकों के राष्ट्रीयकरण के वादों में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय से उत्पन्न समस्याओं को दूर करने के लिए संसद द्वारा संविधान में 24वाँ व 25वाँ संशोधन किया गया। 24 वें संशोधन अधिनियम (1971) द्वारा अनुच्छेद 13 में खंड (4) और अनुच्छेद 368 में खंड (1) जोड़ा गया। इस संशोधन द्वारा यह घोषणा की गई कि अनुच्छेद 368 के अनुसार पारित संशोधन अनुच्छेद 13 के अंतर्गत विधि नहीं होगा। इस प्रकार अनुच्छेद 13 संविधान संशोधन वाले अधिनियमों पर लागू नहीं होगा। 25 वें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 31 में 'क्षतिपूर्ति' के स्थान पर 'रकम' (amount) शब्द स्थापित किया गया तथा एक नया अनुच्छेद 31 (ग) जोड़ा गया जिसमें प्रावधान किया गया कि अनुच्छेद 39 (ख) और (ग) में दिए गए निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करने वाले कानूनों को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि यह अनुच्छेद 14,19 और 31 का उल्लंघन करते हैं या उन्हें सीमित करते हैं। वस्तुत: इस संशोधन के जरिए न्यायालय की 'न्यायिक पुनरावलोकन' शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया गया है।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (1973) मामले में कहा या है कि संसद मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है परन्तु संविधान के आधारभूत ढांचे (Basic Structure) को न तो सीमित कर सकती है न ही नष्ट कर सकती है।

न्यायालय ने न्यायिक समीक्षा को संविधान के आधारभूत ढांचे का भाग मानते हुए कहा कि संसद न्यायालय की इस शक्ति को सीमित या नष्ट नहीं कर सकती है।

केशवानंद के पश्चात न्यायालय को यह विनिश्चय करना है कि कोई मौलिक अधिकार आधारभूत ढांचे का भाग है या नहीं है। यदि है तो इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। लेकिन न्यायालय ने अभी तक आधारभूत ढाँचे को स्पष्टतया परिभाषित नहीं किया है।

मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ (1980) वाद में न्यायालय ने उपरोक्त विषय में कहा कि संसद न्यायालय की न्यायिक पुनरीक्षा (Judicial Review) शक्ति को सीमित नहीं कर सकती है। अत: अनुच्छेद 369 में जोड़े गए खंड (4) व (5) असंवैधानिक हैं । इसके अलावा न्यायालय ने कहा कि ''मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्व के बीच संतुलन'' संविधान के आधारभूत ढाँचे का भाग है, संसद इस संतुलन को नष्ट नहीं कर सकती है।

1978 में 44 वें संशोधन द्वारा संपत्ति को मौलिक अधिकार को सूची से बाहर कर इसे कानूनी अधिकार बना दिया गया है, इसी अधिकार के चलते ही नीति निदेशक तत्व के क्रियान्वयन में बाधा पड़ रही थी।

समयांतराल न्यायालय ने मौलिक अधिकारों के साथ नीति-निदेशक तत्वों को महत्वपूर्ण मानते हुए इनके क्रियान्वयन पर बल दिया। वस्तुत: न्यायालय आरम्भ से नीति निदेशक तत्वों को महत्वपूर्ण मानता आया है।

सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य वाद में न्यायालय में निदेशक तत्वों को शासन के लिए आधारभूत माना और मौलिक अधिकारों के साथ इनके समन्वय पर बल दिया। सी.बी. बोर्डिंग मामले में भी न्यायमूर्ति हेगड़े ने व्यवस्था की थी कि भाग-III (मौलिक अधिकार) और भाग-IV (नीति निदेशक तत्व) में दिए गए उपबंध एक-दूसरे के संपूरक और अनुपूरक हैं। शाहबानों वाद (1986) में न्यायालय ने सरकार को 'समान सिविल संहिता' (अनुच्छेद 44) निदेशक तत्व के क्रियान्वयन का आदेश दिया। इसके अतिरिक्त 'सरला-मुद्गल बमान भारत संघ' (1995) तथा 2003 में एक जनहित याचिका की सुनवाई के दौरान भी न्यायालय ने सरकार को 'समान सिविल संहिता' लागू करने के लिए कहा।

रणधीर सिंह बनाम भारत संघ (1982) के मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि 'समान कार्य के लिए समान वेतन' संविधान के अधीन एक मौलिक अधिकार नहीं है, वरन नीति निदेशक तत्व है, किंतु निश्चित ही यह हमारा सांविधानिक लक्ष्य है और अनुच्छेद 32 के अधीन न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय है। रंजन द्विवेदी बनाम भारत संघ मामले में भी न्यायालय ने मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्वों के समन्वय पर बल दिया।

निष्कर्ष

संविधान के भाग-III में दिए गए मौलिक अधिकार वे अधिकार हैं जिन्हें जनता को प्रदान कर दिया गया है, परंतु भाग-IV में दिए गए निदेशक तत्व वे अधिकार हैं, जिन्हें अभी जनता को दिया जाना है। वस्तुतः भाग-III के मौलिक अधिकार वे साधन हैं, जिनके आधार पर नीति निदेशक तत्वों अर्थात साध्यों (सांविधानिक लक्ष्यों) को प्राप्त करना है। जब ये सांविधानिक लक्ष्य (नीति निदेशक तत्व) जनता को प्राप्त हो जाएँगे तो यह भी मूल अधिकार बन जाएँगे। उदाहरणार्थ '6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध कराना' पहले अनुच्छेद 45 के अंतर्गत एक सांविधानिक लक्ष्य था, परंतु 86 वें संशोधन अधिनियम के बाद अब यह अनुच्छेद 21-ए के अंतर्गत एक मौलिक अधिकार है। अंततः मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्व एक-दूसरे के अनुपूरक व संपूरक हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् निदेशक तत्वों का कार्यान्वयन (Implementation of Directive Principls after Independence)

केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन तत्वों को लागू करने के लिये यथासंभव प्रयास किये गये हैं।

1. अनुच्छेद 39 (ख) के अन्तर्गत सरकार ने जमींदारी प्रथा की समाप्ति की गई है। इस सुधार को देश के लगभग सभी क्षेत्रों में लागू किया गया है। साथ ही कई राज्यों में भूमि सुधार संबंधी कार्यक्रम भी लागू किये गये हैं।
2. **अनुच्छेद 40** के तहत पंचायतों के संगठन की संकल्पना के तहत देश भर में पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिकाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए 73वें और 74वें संशोधनों के माध्यम से संस्थागत ढांचा तैयार किया गया है।
3. गांवों में कुटीर उद्योगों की स्थापना तथा सुदृढ़ीकरण के लिए भी कई महत्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं। इनमें खादी ग्रामोद्योग संगठन की स्थापना का उल्लेख समीचीन है।
4. देश में पूंजी संकेन्द्रण समाप्त करने के उद्देश्य से 44वें संशोधन के माध्यम से अनुच्छेद 31 से संपत्ति के मूल अधिकार को भाग 3 से बाहर कर अनुच्छेद 300 क में विधिक अधिकार बना दिया गया है। साथ ही, बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है।
5. संविधान के 86वें संशोधन, 2002 द्वारा शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार बनाया गया है ताकि 6 से 14 वर्ष के वर्ग के बालकों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। साथ ही, भाग 4 क में अभिभावकों को इसके प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए मूल कर्त्तव्य के रूप में भी एक परन्तुक जोड़ा गया है।
6. अनु. 39(d)में वर्णित समान कार्य हेतु समान मजदूरी को कानून बनाकर लागू किया गया है।
7. अनु. 41 में वर्णित बेरोजगारी, वृद्धावस्था, विकलांगता की स्थिति में राजकीय समर्थन को कानून बनाकर लागू किया गया।
8. अनु. 42 में वर्णित कार्यो की मानवीय दशाओं को लागू करने हेतु कानून बनाये गये है।
9. अनु. 46 के अन्तर्गत सर्वशिक्षा अभियान, मिड-डे मील योजना,इंदिरा आवास योजना आदि कार्यक्रम लागू किये गये है।
10. लोगो के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने हेतु और रोजगार के अधिकार को गरीबों हेतु लागू करने के ध्येय से नरेगा आदि को लागू किया गया है

11. ऐतिहासिक महत्व की ईमारतों के संरक्षण हेतु संसद उससे संबंधित कानून पास किये है।
12. अनु. 51 में वर्णित अंतर्राष्ट्रीय शांन्ति के लक्ष्य को गुटनिरपेक्षता और पंचशील के माध्यम से पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है।
13. अनु. 50 में वर्णित कार्यपालिका व न्यायपालिका का पृथक्करण के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु न्यायिक कार्य के लिए न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति का प्रयास किया जा रहा है।
14. अनु.48 के तहत वन्य जीव संरक्षण के लिए कानूनों और नीतियों का निर्माण किया गया है।
15. अनु.1,14,17,25,42,44,73,74,86,93 ये सब संशोधन निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करने के लिए करने पड़े।

क्रियान्वयन में बाधा (Obstacles in Implementation)

लेकिन स्वाधीनता के 60वर्षो के पश्चात भी कुछ निदेशक सिद्धान्त क्रियान्वित नही हो पाये है जो हैं-

1. अनु. 44 के अर्न्तगत समान नागरिक संहिता।
2. सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय का लक्ष्य पूरी तरह प्राप्त नहीं हो पाया हैं
3. मद्य निषेध, गोवध निषेध आदि विचारों को भी क्रियान्वित नहीं किया गया है।

अधिकांश निदेशक सिद्धान्त क्रियान्वित किये जा चुके हैं। जिनका क्रियान्वयन नही हो पाया है उसके पीछे अनेक कारण विद्यमान हैं। भारत की विशिष्ट बहुलवादी संरचना इसका एक कारण है। कुछ निर्देशक सिद्धान्त संसाधनों की कमी के कारण अभी तक लागू नहीं हो पाये है। जैसे रोजगार का अधिकार। कुछ सिद्धान्तों को लागू करना व्यवहार में काफी कठिन है। कुछ मामलों में दृढ़ इच्छा शक्ति का अभाव इसका एक कारण रहा है।

9. मूल कर्त्तव्य

मूल कर्त्तव्य (Fundamental Duties)

विश्व के विभिन्न देशों जैसे इटली, जापान, नीदरलैंड्स आदि कई गैर-साम्यवादी देशों के संविधान में भी मूल कर्तव्यों का समावेश किया गया है। भारत के मूल संविधान में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख तो किया गया था लेकिन मूल कर्तव्यों का अलग से कोई उल्लेख नहीं किया गया था। कदाचित इसका मुख्य कारण यह था कि अधिकार तथा कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

संविधान के 42वें संशोधन, 1976 द्वारा संविधान में भाग 4 'क' में अनुच्छेद 51 'क' का समावेश कर इन कर्त्तव्यों को शामिल किया गया था। आरंभ में इनकी संख्या 10 थी लेकिन 86वें संशोधन, 2002 द्वारा 11वें कर्त्तव्य का समावेश किया गया। ये कर्तव्य हैं :

1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का सम्मान।
2. राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रेरक आदर्शों का पालन।
3. भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा।
4. देश की रक्षा और राष्ट्र सेवा।
5. भारत के लोगों में समरसता और भ्रातृत्व की भावना का विकास।
6. समन्वित संस्कृति की गौरवशाली परंपरा की रक्षा।
7. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और सभी प्राणियों के प्रति दया भाव।
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन का विकास।
9. सार्वजनिक संम्पत्ति की रक्षा और हिंसा से दूर रहना।
10. व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास।
11. 6-14 वर्ष की बालकों को अभिभावकों द्वारा शिक्षा का अवसर प्रदान करना।

मूल कर्तव्यों का औचित्य (Significance of Fundamental Duties)

मूल कर्त्तव्यों की प्रकृति के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इनका उद्देश्य नागरिकों को इस भावना के प्रति संवेदनशील बनाना है कि वे संवैधानिक प्रावधानों की मर्यादा की रक्षा करते हुए कार्य करें। इनके माध्यम से कई कृत्यों का प्रतिषेध भी किया गया है जैसे अनु॰ 17 के तहत अस्पृश्यता के प्रचार-प्रसार पर रोक, अनु॰ 23 में बलात् श्रम एवं बेगार पर रोक आदि। दूसरी ओर, संविधान की उद्देशिका में अन्तर्निहित भारतीय संविधान के दर्शन को सम्मान देना भी नागरिकों का कर्त्तव्य है। यह दर्शन समता, स्वतंत्रता, न्याय तथा बंधुत्व जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है।

जहां तक सम्मान की बात है, कर्त्तव्यों में इस तथ्य का समावेश है कि प्रत्येक नागरिक द्वारा महत्वपूर्ण संस्थाओं जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उच्चतम न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं है लेकिन कानून के जरिए इनका क्रियान्वयन किया जाता है। ऐसी स्थिति में कर्त्तव्यों का निर्वहन नहीं होने की स्थिति को गैर कानूनी कृत्य की संज्ञा दी जा सकती है। इसी आधार पर नागरिकों को कर्त्तव्यों के पालन के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सकता है।

पूर्व सोवियत संघ के संविधान से प्रेरित होकर भारतीय संविधान में 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा भाग 4क के अंतर्गत अनु॰ 51(क) को शामिल किया गया। इसके तहत नागरिकों के पालन हेतु कुल 11 कर्त्तव्यों को शामिल किया गया। भारत के संविधान में शामिल ये मूल कर्त्तव्य बंधुता की भावना पर आधारित हैं। इस प्रकार मूल कर्त्तव्य प्रस्तावना में उल्लिखित बंधुता को प्रत्यक्ष समर्थन देते हैं।

सरदार स्वर्ण सिंह समिति (Sardar Swaran Singh Committee)

29 मई 1976 को सरदार स्वर्ण सिंह की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया इस समिति ने संविधान में आठ मूल कर्त्तव्यों को शामिल करने की संस्तुति की समिति के सुझाव के आधार पर 42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा संविधान में भाग 4 का जोड़ा गया यह भाग मौलिक कर्त्तव्यों से संबंधित है।

10. विधायिका

संघ की विधायिका (Union Legislature)

भारतीय संसद के तीन अंग हैं - राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोकसभा। यद्यपि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं होता, किन्तु वह संसद का एक अभिन्न अंग है। वह संसद का सत्र आहूत करता है, उसका सत्रावसान कर सकता है और लोकसभा को विघटित कर सकता है। वह संसद द्वारा पारित सभी विधेयक पर अनुमति देता है।

भारतीय संविधान में अमेरिकी संविधान की भाँति ''शक्ति पृथक्करण" का सिद्धान्त अपनाया गया है। जिसका तात्पर्य सरकार की तीनों शक्तियाँ-कार्यपालिक, विधायिका और न्यायपालिका एक ही अंग में निहित नहीं होंनी चाहिए वरन् अलग-अलग होनी चाहिए। शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त 18वीं शताब्दी में एक फ्रांसीसी दार्शनिक मान्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित किया गया था जिसका उद्देश्य शक्तियों का सापेक्ष वितरण सुनिश्चित कर सरकार को निरंकुश होने से बचाना था।

शक्ति-पृथक्कीरण के सिद्धान्त को व्यवहार में लागू करने के साथ-साथ संविधान में नियन्त्रण एवं संतुलन (Check & Balance) का सिद्धान्त भी अपनाया है। इसी उद्देश्य से कार्यपालिका को विधायिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है तथा विधायिका एवं कार्यपालिका के मनमानीपूर्ण कृत्यों के विरूद्ध न्यायपालिका को यह शक्ति दी गई है कि उनके संविधान विरूद्ध कार्यों को अविधि मान्य घोषित करके उन्हें अपनी सीमा में कार्य करने का बाध्य करे।

भारत में संसदीय लोकतंत्र की स्थापना ब्रिटेन से प्रेरित है। संसदीय शासन को उत्तरदायी शासन अथवा कैबिनेट शासन भी कहा जाता है। इस प्रकार का शासन इंग्लैंड, फ्रांस, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान, जर्मनी, नार्वे, इटली, डेनमार्क आदि देशों में प्रचलित है। इस प्रणाली में वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद) विधानमंडल अथवा उसके लोकप्रिय सदन के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से और निर्वाचकों के प्रति अंतिम रूप से उत्तरदायी होती है। संवैधानिक दृष्टिकोण से ऐसी प्रणाली में राज्य के अध्यक्ष के पास कई प्रकार की शक्तियां होती हैं लेकिन व्यावहारिक रूप से वह इन शक्तियों का उपयोग नहीं करता है। शासन तंत्र के कमोबेश सभी कार्य मंत्रिपरिषद द्वारा ही किये जाते हैं।

भारत में कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिपरिषद के सदस्य विधानमण्डल के भी सदस्य होते हैं। मंत्रिमंडल का सदस्य होने के लिए विधानमंडल का सदस्य होना आवश्यक है। राष्ट्रपति को अनु. 72 के अधीन क्षमादान की शक्ति प्राप्त है, जो एक न्यायिक कृत्य है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अनु. 123 के अधीन अध्यादेश जारी करके विधान बना सकता है जो विधायी शक्ति है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका का अलग-अलग होना संभव नहीं है।

संसदीय प्रणाली में संसद अनेक प्रकार के कृत्य करती है। सर्वप्रथम संसद द्वारा ही मंत्रिपरिषद का निर्माण किया जाता है क्योंकि मंत्रिपरिषद संसद का ही भाग है। कोई भी व्यक्ति जो संसद का सदस्य नहीं है, वह छः माह से अधिक की अवधि तक मंत्री पद पर आसीन नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त, कार्यपालिका पर काम रोको प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि के माध्यम से संसद का नियंत्रण होता है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव केवल लोक सभा में ही लाया जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है।

भारतीय व्यवस्थापिका अथवा विधायिका के कार्य में निम्नांकित प्रमुख हैं:

1. **विधि निर्माण :-** विधायिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य विधियों का निर्माण करना है। विधि निर्माण में व्यवस्थापिका विधि का उद्देश्य, रूप-रेखा तैयार करती है। प्रायः सदन में प्रत्येक विधेयक पर तीन वाचन होते हैं जिसके उपरांत वह विधेयक पारित होता है।
2. **आर्थिक कार्य :-** लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में वित्त पर नियंत्रण भी संसद का होता है। बजट के रूप में संसद द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि कार्यपालिका के प्रभावकारी कार्यों के लिए कितने धन की आवश्यकता है। वस्तुतः वित्त पर नियंत्रण के माध्यम से ही संसद कार्यपालिका के समस्त कार्यों पर नियंत्रण रखती है।
3. **अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर नियंत्रण :-** व्यवस्थापिका द्वारा न केवल अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के संबंध में निर्णय लिया जाता है बल्कि युद्ध अथवा शांति की घोषणा भी संसद की अनुमति के बिना नहीं हो सकती।
4. **न्यायिक कार्य :-** व्यवस्थापिका के न्यायिक कर्तव्य निर्वाचन संबंधी विवादों के निर्णय करने, अपने सदस्यों के विरूद्ध कार्यवाही करने, राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग का प्रस्ताव लाने के रूप में व्याख्यायित हैं।
5. **निर्वाचन संबंधी कार्यः-** व्यवस्थापिकाएं निर्वाचन संबंधी कार्य भी करती हैं। उदाहरण के लिए, भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचक

मंडल में संसद तथा राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार भारत के उप राष्ट्रपति का निर्वाचन भी संसद सदस्यों द्वारा ही किया जाता है।

6. **संविधान संशोधन :-** संविधान के विभिन्न उपबंधों में आवश्यकतानुसार संशोधन करने का दायित्व भी व्यवस्थापिका का है।
7. **राज्यों से संबंधित शक्तियां:-** संविधान में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि राज्यों की इच्छा के बिना भी वह उसकी सीमाओं तथा नामों में परिवर्तन कर सकती है, नवीन राज्य का निर्माण कर सकती है तथा किसी राज्य का अस्तित्व समाप्त कर सकती है। संसद को भारतीय नागरिकता के निर्धारण का भी अधिकार है।
8. **कार्यपालिका शक्तियां:-**भारत में संघात्मक शासन प्रणाली अपनाई गई है। अत: मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। मंत्रिमंडल केवल उसी समय तक सत्तारूढ़ रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त हो। संसद अनेक तरीके से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। संसद के सदस्य अविश्वास प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव एवं स्थगन प्रस्ताव द्वारा सरकार पर नियंत्रण रखते हैं तथा उसे उत्तरदायी बनाये रखते हैं। संसद के सदस्य मंत्रियों से सरकारी नीतियों के संबंध में प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं तथा सरकार की आलोचना कर सकते हैं।
9. **सूचना का केन्द्र :-** संसद विश्वसनीय सूचना प्राप्त करने का प्रमाणिक केन्द्र है। भारत के बहुलवादी समाज में संसद एक ऐसे मंच के रूप में उभरी है जहाँ विविध हितों का एकीकरण होता है। अत: संसद राष्ट्रीय एकीकरण का कार्य भी करती है।
10. संसद जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने का माध्यम है। संसद देश के लिए भावी नेतृत्व तैयार करने का मंच है।

संसद की संप्रभुता/सर्वोच्चता (Sovereignty/Supremacy of Parliament)

संसद की संप्रभुता का सिद्धान्त ब्रिटेन में प्रचलित है। डायसी को इसका प्रतिपादक माना जाता है। डायसी ने संसद की संप्रभुता के तहत तीन बातों का उल्लेख किया है:

1. संसद किसी भी कानून का निर्माण, संशोधन या समाप्ति कर सकती है अर्थात संसद की कानून निर्माण की शक्ति असीमित है।
2. संसद द्वारा बनाये गये कानून सार्वभौमिक रूप से पूरे देश में लागू होते हैं।
3. संसद द्वारा निर्मित कानूनों का न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं हो सकता।

इसी आधार पर यू.के. के विधिवेत्ताओं जैसे डायसी, ब्लैकस्टोन, डी-लोमे आदि मानते हैं कि संसद वह सब कुछ कर सकती है जो प्राकृतिक रूप से असंभव नहीं है।

भारत में संसद की संप्रभुता और न्यायिक सक्रियता के बीच मध्य मार्ग ग्रहण किया गया है लेकिन निश्चित रूप से संसद की सर्वोच्चता स्थापित है। उपरोक्त तीनों शर्तों के आधार पर भारत की संसद सर्वोच्च है न कि संप्रभु। भारत की संप्रभुता उसमें निवास करने वाली जनता में निहित है अर्थात जनता संप्रभु है।

भारतीय संसद की सर्वोच्चता के तर्क

1. संसद जनता की प्रतिनिधि है। अत: यह सरकार के सभी अंगों में सबसे महत्वपूर्ण है।
2. संसद नागरिकों के मौलिक अधिकारों में संशोधन कर सकती है।
3. अनु. 75(3) के तहत मंत्रिपरिषद वयस्क मताधिकार के माध्यम से चुने जाते हैं।
4. संसद के सदस्य सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के माध्यम से चुने जाते हैं।
5. अनु. 32(3) के प्रावधान के अनुसार संसद अनु. 32(2) के अधीन प्रयोक्ता शक्तियों को किसी अन्य न्यायालय को अपनी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर प्रयोग करने के लिए विधि द्वारा सशक्त कर सकेगी

ए.के. गोपालन बनाम मद्रास, 1950 राज्य के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने भी यह माना कि भारतीय संसद की शक्ति ब्रिटेन की संसद के समान है। न्यायालय के अनुसार संविधान के दायरे में रहकर भारत की संसद सर्वोच्च है।

लेकिन भारत की संसद को ब्रिटेन की संसद की भांति सर्वोच्च नहीं माना जा सकता क्योंकि इस पर अनेक सीमाएं हैं-

संसद की सर्वोच्चता पर सीमाएं

1. **लिखित संविधान:-** भारत में संविधान को सर्वोच्च स्वीकार किया गया है और संसद सहित सभी संस्थाएं संविधान के अधीन हैं।
2. **संघवाद संबंधी प्रावधान:-** भारत का संघात्मक स्वरूप संसद की संप्रभुता के मार्ग में बाधक है। संसद राज्य सूची के विषयों

पर सामान्य परिस्थिति में कानून नहीं बना सकती।

3. **संशोधन की शक्ति :-** संसद की संविधान संशोधन की शक्ति भी सीमित है। संविधान के कतिपय अनुच्छेदों के संशोधनों हेतु संसद को राज्य विधान मण्डलों के पुष्टिकरण पर निर्भर रहना पड़ता है।
4. **न्यायिक पुनरावलोकन**- संसद द्वारा निर्मित कानूनों का न्यायिक पुनराविलोकन हो सकता है और न्यायालय इन्हें अवैध भी घोषित कर सकता है।
5. **राजनीतिक परिसीमाएं:**- राजनीतिक दृष्टि से भी संसद पर परिसीमाएं निहित है। संसद को अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का भी समुचित सम्मान करना होता है। संसद पर प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल का भी नियंत्रण रहता है। प्रधानमंत्री संसद के निम्न सदन का विघटन करवा सकता है।
6. **लोकमत:**- संसद लोकमत के विरूद्ध कानूनों का निर्माण नहीं कर सकती।

इस प्रकार यह सत्य है कि हमारी संसद पर अनेक परिसीमाएं है लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि संसद केवल अनुमोदन करने वाली एवं प्रचार करने वाली संस्था मात्र बन गई है।

वस्तुत: भारत में संसद वह नींव है जिस पर हमारे लोकतंत्र की भव्य इमारत खड़ी है। संसद हमारे देश का ऐसा केन्द्र बिन्दु है जहां जनता की आत्मा का वास है। साथ ही यह जनता की प्रतिनिधि होने के कारण यह सरकार के सभी अंगों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

प्रचलित संसदीय प्रणाली में विधायिका का महत्व (Significance of Legislature in the Prevalent Parliamentary System)

संसदीय प्रणाली में सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। यह उत्तरदायित्व विधायिका के प्रति सुनिश्चित होता है। इस तरह एक जन प्रतिनिधि संस्था के रूप में विधायिका अपने निम्नलिखित कार्यो से जनता एवं संसद के बीच संवेदनशीलता बनाये रखती है-

1. कार्यपालिका पर कानून बनाने के लिए दबाव डालकर।
2. कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित नियमों पर विचार विमर्श और वाद-विवाद करके या उनकों स्वीकार या अस्वीकार करके।
3. नियमों के क्रियान्वयन की जांच या छानबीन करके।
4. नियम निर्माण की जनसंस्था के माध्यम से जनता का अपने शासन के प्रति लगाव सुनिश्चित होता है।
5. इस संस्था के द्वारा जनता अपने शासकों पर नियंत्रण रखती है।
6. एक जनसंस्था के रूप में देश के सभी वर्गो, समुदायों, भू-भागों का शासन में प्रतिनिधित्व सुनिश्चित होने से राष्ट्र की एकता व अखण्डता सुदृढ़ होती है तथा देश में राजनीतिक संस्कृति विकसित होती है।
7. एक विशेषज्ञ संस्था के रूप में वर्तमान वैश्वीकरण के युग में विभिन्न आवश्यकताओं एवं वैश्विक दबावों के मध्य देश की जनता की आकांक्षाओं एवं लक्ष्यों को उचित स्थान मिलता है।

इस प्रकार हम देखते है कि विधायिका का संसदीय प्रणाली में एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह जनता एवं शासकों के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी है। यह जनता द्वारा नियंत्रक, नियामक एवं संचालक के रूप में स्थापित निकाय के रूप में दिखती है। अंतत: विधायिका लोकतंत्र की एक महत्वपूर्ण निकाय साबित होती है।

राज्य सभा : गठन एवं शक्तियां (Rajya Sabha: Composition and Powers)

राज्य सभा संसद का उच्च सदन है। यह संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है जो इसके परिसंघीय चरित्र को स्पष्ट करता है। उल्लेखनीय है कि जहाँ राज्य सभा क्षेत्रीयता को प्रदर्शित करती है वहीं लोक सभा राष्ट्रीयता को प्रदर्शित करती है।

संविधान के अनु. 80 में राज्य सभा की संरचना की व्याख्या की गई है। राज्य सभा वस्तुत: संसद का उच्च सदन है जिसका गठन कुल 250 सदस्यों द्वारा किया जाता है। इनमें से 12 साहित्य, कला, विज्ञान एवं समाज सेवा में विशिष्ट ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के मनोनयन तथा शेष 238 का अप्रत्यक्ष

राज्य सभा में मनोनीति सदस्यों का औचित्य
राज्य सभा में 12 सदस्यों के मनोनयन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण उनकी योग्यता का नीति निर्धारण प्रक्रिया में पूर्ण लाभ प्राप्त करना है। राज्यों एवं संघ शासित प्रदेशों के प्रतिनिधियों द्वारा संबंधित समस्याएं सदन में लाई जाती हैं जिनके समाधान हेतु विभिन्न प्रकार की नीतियों के निर्धारण में इन मनोनीत विशेषज्ञों का विशेष योगदान है।

निर्वाचन राज्यों एवं संघ शासित प्रदेशों से किया जाता है। निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय पद्धति द्वारा होता है।

अमेरिकी सीनेट की भांति भारत में राज्य सभा भी एक स्थाई सदन है, जिसकी प्रकृति परिसंघीय है। सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्षों का होता है तथा इसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक दो वर्ष बाद सेवा निवृत्त हो जाते हैं। संविधान के अनुच्छेद 102 के तहत अयोग्य हो जाने अथवा बिना सूचना के 60 दिनों तक अनुपस्थित होने पर सदस्यता समाप्त की जा सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 89 (1) के अनुसार, उप राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति (Ex–officio Chairman) होता है। चूंकि उप राष्ट्रपति राज्य सभा का निर्वाचित या मनोनीत सदस्य नहीं होता है। अत: वह साधारण स्थिति में मतदान नहीं कर सकता लेकिन मतों की समानता की स्थिति में उसे अपना निर्णयक मत देने का अधिकार प्राप्त है। राज्य सभा के उप सभापति का निर्वाचन सदन के सदस्यों द्वारा किया जाता है। राज्य सभा को निम्नांकित अधिकार एवं शक्तियां प्राप्त हैं:

1. **कार्यपालिका संबंधी अधिकार :-** प्रशासन के क्षेत्र में राज्य सभा के अधिकार सीमित हैं। मंत्रिमंडल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है, अत: लोक सभा ही मंत्रिपरिषद को अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से अपदस्थ कर सकती है। राज्य सभा के सदस्यों को सरकार से प्रश्न पूछने तथा विभिन्न विषयों से संबंधित सूचना प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है।
2. **विधायिका संबंधी अधिकार :-** संविधान के अनु. 111 में यह उपबंधित है कि कोई विधेयक तभी कानून बन सकता है जब उसे संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति प्राप्त हो। वित्त एवं धन विधेयक को छोड़कर राज्य सभा को अन्य सभी प्रकार के विधेयकों पर सामान्यत: लोक सभा के समान ही अधिकार प्राप्त है। किसी विधेयक के संबंध में मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में अनु. 108 के तहत राष्ट्रपति द्वारा संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक आहूत की जा सकती है।
3. **वित्तीय अधिकार :-** वित्तीय मामलों में राज्य सभा का अधिकार सीमित है। वित्त अथवा धन विधेयक राज्य सभा में पुर:स्थापित नहीं किया जा सकता। धन विधेयक तथा वित्त विधेयक को राज्य सभा 14 दिनों की अधिकतम अवधि तक लंबित कर सकती है। साथ ही, वह इन विधेयकों पर अपनी अनुशंसा भी कर सकती है लेकिन इन अनुशंसाओं को मानने की बाध्यता लोक सभा पर नहीं है।
4. **सांविधानिक संशोधन का अधिकार :-** संविधान संशोधन विधेयक राज्य सभा में भी पुर:स्थापित किया जा सकता है। वस्तुत: संशोधन विधेयक दोनों सदनों की स्वीकृति के उपरांत ही अधिनियम का स्वरूप ले सकता है।
5. **महाभियोग संबंधी अधिकार :-** राष्ट्रपति को अपदस्थ करने के संबंध में राज्य सभा को लोक सभा की भांति ही अधिकार प्राप्त है। महाभियोग के प्रस्ताव को राज्य सभा में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। राज्य सभा के दो तिहाई सदस्यों द्वारा पारित हो जाने के पश्चात प्रस्ताव को लोक सभा में प्रेषित किया जाता है।
6. **अन्य अधिकार :**
   i. **अनुच्छेद 249 के** अनुसार, राज्य सभा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से राज्यसूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। राज्य सभा द्वारा ऐसा प्रस्ताव पारित किये जाने के उपरांत संसद उस विषय पर विधि निर्माण कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव प्रारंभ में एक वर्ष की अवधि तक प्रभावी होता है लेकिन इसकी अवधि में विस्तार किया जा सकता है जिसके लिए पुन: एक ऐसे प्रस्ताव के पारित करने की आवश्यकता है।
   ii. **अनुच्छेद 312** के तहत राज्य सभा अपने दो तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित कर नई अखिल भारतीय सेवाओं

राज्यसभा का सभापति

भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। इस रूप में सदन के बैठकों की अध्यक्षता का दायित्व उसे सौंपा गया है। उसका कार्य संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप सदन की कार्यवाहियों का संचालन करना है तथा वह सदन का मुख्य प्रवक्ता भी है। सभापति का एक महत्वपूर्ण कार्य सांसदों तथा सदन के विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों की रक्षा करना भी है। लोक सभा अध्यक्ष की भांति उसे भी अनु॰ 100 के तहत मतों की समानता की स्थिति में निर्णायक मत देने का अधिकार है। सभापति को अपने निर्णयों के स्पष्टीकरण के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, उसके निर्णय तथा दिशा निर्देश बाध्यकारी होते हैं।

भारत में उपराष्ट्रपति का पद इस रूप में महत्वपूर्ण है कि वह दोहरी भूमिका का निर्वहन करता है। अमेरिकी संविधान को छोड़कर अन्य देशों के संविधानों में ऐसे पद का प्रावधान नहीं है। लेकिन अमेरिकी संविधान से भारतीय संविधान इस रूप में भिन्न है कि भारत में उपराष्ट्रपति न केवल कार्यपालिका का दूसरा प्रधान है बल्कि वह संसद के उच्च सदन का सभापति भी है।

के सृजन का अधिकार संसद को प्रदान कर सकती है।

iii. उपराष्ट्रपति को हटाने का प्रस्ताव केवल राज्य सभा में लाया जा सकता है।

राज्य सभा द्वितीय महत्व का सदन है। तथा वास्तविक रूप में यह शासन तंत्र पर नियंत्रण रखने का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करती है।

राज्य सभा की आलोचना (Criticism of Rajya Sabha)

1. राज्यसभा संविधान का केवल सजावटी अंग है। जिसे व्यवहार में कोई शक्ति प्राप्त नहीं है।
2. राज्यसभा को परिसंघीय व्यवस्था का प्रतिनिधि माना जाता है लेकिन इसमें अमेरिका की भांति राज्यों का समान प्रतिनिधित्व नहीं है।
3. राज्य सभा, जो कि राज्यों का सदन है, में राष्ट्रपति, 12 सदस्यों का मनोनयन करता है।
4. राज्य सभा को राज्यों का सदन होना चाहिए था लेकिन व्यवहारिक रूप में लोक सभा में पराजित नेताओं को संसद में जाने का मार्ग प्रदान करता है। (Backdoor Entry)
5. यह आम निर्वाचन में पराजित नेताओं की शरण स्थली बन गया है।
6. लोकसभा की तुलना में राज्यसभा एक शक्तिहीन सदन है।
7. यह कानून के निर्माण के कार्य में कभी-कभी अनावश्यक देरी करती है।

राज्य सभा का महत्व (Significance of Rajya Sabha)

1. राज्यसभा, लोकसभा की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाती है विशेषकर संविधान संशोधन की बात पर इसने कई बार ऐसा किया है।
2. यह हड़बड़ी या जल्दबाजी में पारित कानूनों पर रोक लगाती है।
3 राज्य सभा में सहित्य, कला, विज्ञान तथा समाज सेवा में विशेषज्ञता प्राप्त कुछ सदस्य भी होते हैं जिससे कानून निर्माण के कार्य में गुणवत्ता आती है।
4. जो व्यक्ति अत्यन्त योग्य होते हैं लेकिन चुनाव लड़ने से बचना चाहते हैं उनकी क्षमता का लाभ उठाने के लिए राज्य सभा एक मंच है।
5. अनु. 253 के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय करारों को लागू करने की शक्ति संसद को प्रदान की गई है तथा यहाँ राज्य सभा को लोक सभा के समान शक्ति प्राप्त है। उल्लेखनीय है कि भूमण्डलीकरण का सम्बंध अनु. 253 से संबंद्ध किया जाता है।
6. अनु. 1 के अनुसार भारत में राज्यों का एक संघ है साथ ही अनु. 79 के अनुसार संधा के लिए संसद होगी जो कि राष्ट्रपति, राज्य सभा एवं लोक सभा से मिलकर बनेगी। अर्थात संधा के लिए एक संसद का होना अनिवार्य है। राज्य सभा इस अनिवार्यता को पूर्णत प्रदान करती है क्योंकि यदि किसी कारणवश लोकसभा निर्धारित कार्यकाल से पूर्व भंग हो जाती है तो राज्य सभा संसद को निरंतरता प्रदान करती है।

उपर्युक्त कारकों के आधार पर 3 अगस्त 1952 को राज्य सभा का गठन किया गया जो कि एक स्थाई सदन है।

विश्लेषण :- राज्य सभा का स्थान भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण है यद्यपि कुछ व्यवहारिक कारणों से इसकी गरिमा कम होती जा रही है। राज्य सभा का महत्व तथा शक्तियां दल व्यवस्था के संचालन पर निर्भर करती हैं। यदि लोकसभा तथा राज्य सभा दोनों में एक ही दल का बहुमत हो तो सामान्यत: राज्यसभा निष्क्रिय होती है लेकिन अगर इनमें अलग अलग दलों का बहुमत है तो वह सक्रिय भूमिका निभाती है।

गठबंधन की राजनीति के दौर में अब इस बात की संभावना बढ़ती जा रही है कि दोनों सदनों में अलग अलग दलों का बहुमत हो। ऐसी स्थिति में राज्य सभा और अधिक शक्तिशाली होकर उभर सकती है। ऐसा उदारीकरण के पश्चात् दिखाई भी पड़ रहा है।

गठबंधन के दौर में राज्य सभा की भूमिका (Role of Rajya Sabha in Coalition era)

1. गठबंधन सरकारों के दौर में लोकसभा निर्धारित कार्यकाल से पूर्व भंग की गई ऐसी स्थिति में संसद को निरंतरता प्रदान करने के सन्दर्भ में राज्य सभा की महत्ता स्पष्ट होती है।
2. अनुच्छेद 356 का केन्द्र सरकार द्वारा दुरूपयोग को रोकने में राज्य सभा की भूमिका दिखाई देती है क्योंकि आज संसद एवं सरकार

के मध्य राजनीतिक समीकरण संतुलित नहीं है। अर्थात अनु. 356 के संबंध में राज्य सभा एवं लोकसभा को समान शक्ति प्राप्त है यदि सरकार को लोकसभा में बहुमत प्राप्त हो तो भी वह विना राज्य सभा की सहमति के राष्ट्रपत शासन नहीं लगाया जा सकता।

राज्यसभा के परिसंघीय एवं गैर परिसंघीय पक्ष (Federal and Non-Federal Aspects of Rajya Sabha)

परिसंघीय पक्ष (Federal Aspects)

1. राज्यसभा को राज्यों का सदन (Council of States) कहते हैं।
2. राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधानसभाओं द्वारा आनुपातिक, प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा होता है।
3. छोटे राज्यों को भी राज्यसभा में समुचित प्रतिनिधित्व देकर परिसंघ की भावना को ठोस स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया है।
4. राज्यों के हितों के संदर्भ में राज्यसभा को कुछ विशेष शक्तियां प्राप्त हैं।
5. संविधान संशोधन विधेयक को राज्यसभा द्वारा अलग से पारित किया जाना अनिवार्य है क्योंकि इस संदर्भ में संयुक्त सत्र का कोई प्रावधान नहीं है।
6. मंत्रिपरिषद के सदस्य राज्यसभा से भी चुने जा सकते हैं। अत: नीति निर्माण में राज्य अप्रत्यक्ष रूप से अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते हैं।
7. अनु. 352, अनु. 356 के अर्न्तगत राष्ट्रपति द्वारा यदि आपातकाल की घोषणा की जाती है तो इस संदर्भ में राज्यसभा की अनुमति लेना अनिवार्य होगा।

गैर परिसंघीय पक्ष (Non–Federal Aspects)

अनु. 249 – राज्यसूची के विषय पर संसदीय विधि निर्माण हेतु कोई पहल राज्यसभा ही कर सकती है।

अनु. 312 – किसी नई अखिल भारतीय सेवा, जिसमें अखिल भारतीय न्यायिक सेवा भी शामिल है, उसके गठन के लिए पहल राज्यसभा ही कर सकती है।

राज्य सभा की प्रासंगिकता (Relevance of Rajya Sabha)

राज्य सभा एक स्थाई सदन है तथा यद्यपि उसे लोक सभा की अपेक्षा सीमित शक्तियां प्रदान की गई हैं लेकिन व्यावहारिक रूप से यह सदन पूर्णत: प्रासंगिक है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में द्विसदनात्मक विधानमंडल (Bicameral legislature) का विशेष महत्व है जिसके आधार पर सम्पूर्ण शासन पद्धति पर नियंत्रण रखा जा सकता है। स्पष्टत: अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन, स्विटजरलैंड आदि देशों की भांति भारतीय राजव्यवस्था में भी द्विसदनात्मक लोकतांत्रिक परंपरा का स्वरूप स्थापित किया गया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में अधिकांशत: लोक सभा के समक्ष विभिन्न विधेयकों तथा प्रस्तावों पर विचार करने के कम अवसर होते हैं। इस दृष्टिकोण से राज्य सभा जो न केवल राज्यों के प्रतिनिधियों बल्कि विशेषज्ञों का भी समूह है, इस कार्य में अपना विशिष्ट योगदान देती है। आलोचकों का मानना है कि राज्य सभा राष्ट्रीय कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने में अक्षम है क्योंकि कार्यपालिका लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। लेकिन निश्चित रूप से कार्यपालिका द्वारा किये जाने वाले कार्यों पर चर्चा कर राज्य सभा संसद के समक्ष विभिन्न मुद्दों को उजागर करती है। साथ

राज्य सभा की प्रासंगिकता
i. संरचनात्मक रूप से भारतीय परिसंघ का प्रतिनिधित्व करती है।
ii. अनु. 83(1) में स्थायी सदन होने के कारण यह भारतीय परिसंघ की सुदृढ़ता का प्रमाण है। चूँकि भारत का परिसंघीय चरित्र संविधान के मूल ढाँचे का भाग है। अत: यह राज्यसभा की प्रासंगिकता स्वत: सिद्ध करता है।
iii. कार्यात्मक दृष्टि से भारत एक कार्यात्मक परिसंघ है। अत: 'वित्त' और 'अवशिष्ट' शक्तियाँ संघ में निहित हैं। इस कारण अनु. 109(1) में यह उल्लेख है कि 'धन विधेयक' राज्य सभा में नहीं लाए जा सकते। इसके बावजूद राजव्यवस्था में राज्यों को दी गई स्वायत्ता के कारण राज्य सभा को ऐसे विधेयक पर 14 दिनों की अधिकतम अवधि में अनुशंसा करने की शक्ति प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अनु. 249 और अनु. 312 में राज्य सूची के किसी विषय पर संघ द्वारा 'विधि-निर्माण' और 'अखिल भारतीय सेवाओं' के सृजन में राज्यसभा की विशिष्ट भूमिका है। स्पष्टत: दोनों सदनों में शक्तियों के समतामूलक वितरण के आधार पर राज्यसभा की प्रासंगिकता सिद्ध होती है।

ही, राज्यों की समस्याओं से कार्यपालिका को अवगत करा कर भी राज्य सभा उसे उत्तरदायी बनाने का कार्य करती है। नियंत्रण के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है कि राज्य सभा को मंत्रियों से प्रश्न पूछने का अधिकार प्राप्त है। अत: वे सदन को अपने विभाग द्वारा किये जाने वाले कार्यों की सूचना प्रदान करते हैं। आलोचना के रूप में एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि राज्य सभा में 12 सदस्यों के मनोनयन का जो अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किया गया है वह उसका दुरूपयोग भी कर सकता है। लेकिन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि संविधान में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि मनोनीत होने वाले व्यक्ति साहित्य, कला, विज्ञान अथवा समाज सेवा के क्षेत्र में विशिष्ट ज्ञान रखने वाले ही होने चाहिए। व्यावहारिक रूप से यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि ऐसे विशेषज्ञों की उपस्थिति से संसद को विभिन्न विषयों पर कानून बनाने में व्यापक सहायता प्राप्त होती है।

भारतीय राजव्यवस्था के तहत परिसंघीय शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। इस संदर्भ में राज्य सभा का विशेष महत्व है। राज्य सभा में अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा राज्यों के प्रतिनिधियों को सदस्य के रूप में नियुक्त किया जाता है। इस आधार पर स्पष्ट है कि संघीय शासन प्रणाली में केन्द्र राज्य संबंधों की स्थापना में राज्य सभा विशेष भूमिका निभाती है। साथ ही, अल्पसंख्यकों तथा विभिन्न वर्गों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व राज्य सभा में प्राप्त होता है जो संघीय शासन व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण में सहायक है।

प्रशासनिक रूप से राज्य सभा की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अनुच्छेद 249 के तहत राज्य सभा राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है जिसके आधार पर संसद को उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 312 के तहत राज्य सभा नई अखिल भारतीय सेवाओं के सृजन का अधिकार भी संसद को प्रदान करती है।

स्पष्टत: यद्पि राज्य सभा विधायिका का द्वितीय सदन है लेकिन उसे कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जो लोक सभा को प्रदान नहीं किये गये हैं। लोक सभा के समान संविधान संशोधन का अधिकार प्रदान किये जाने के कारण राज्य सभा अत्यन्त शक्तिशाली है क्योंकि इस अधिकार का प्रयोग कर लोक सभा एवं सरकार, दोनों पर ही नियंत्रण स्थापित रखने में राज्य सभा की विशिष्ट भूमिका है। सारांशत: राज्य सभा प्रत्येक विधेयक पर स्थिरता तथा गंभीरता से विचार कर उसकी त्रुटियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित कर सकती है जो लोकतांत्रिक व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है।

राज्य सभा की स्थिति (Position of Rajya Sabha)

1. **लोकसभा की तुलना में सीमित शक्तियां**
   a. वित्तीय मामलों में राज्यसभा को केवल अनुशंसा की शक्ति है।
   b. साधारण विधेयकों के मामलों में गतिरोध होने पर होने वाली संयुक्त बैठक में लोकसभा को वरीयता प्राप्त है।
   c. राज्य सभा अविश्वास प्रस्ताव पारित नहीं कर सकती।
2. **लोकसभा के समान शक्तियां**
   a. संविधान संशोधन विधेयक के मामले में राज्य सभा की शक्तियां लोस सभा के समान है।
   b. राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति का निर्वाचन में दोनों सदनों की शक्तियां एक-समान है।
   c. राष्ट्रपति पर महाभियोग प्रक्रिया में दोनों सदनों की शक्तियां एक समान है।
   d. न्यायाधीशों, सी.ए.जी., मुख्य निर्वाचन आयुक्त आदि को हटाने के मामले में यह लोकसभा के समान है।
3. **विशिष्ट शक्तियां**

   अनु. 249 तथा 312 के रूप में राज्यसभा को विशिष्ट शक्तियां प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं हैं।

अन्य देशों के उच्च सदनों की तुलना में स्थिति (Comparison with upper Houses of other countries)

1. ब्रिटेन की लार्ड सभा की तुलना में बेहद शक्तिशाली है क्योंकि इसकी संशोधनकारी शक्ति, निर्वाचन संबंधी शक्ति और न्यायिक शक्ति लोकसभा के समकक्ष है तथा इसे कुछ विशिष्ट शक्तियां भी प्राप्त हैं।
2. अमेरिका की सीनेट दुनिया की सबसे शक्तिशाली ऊपरी सदन है। साधारण विधेयक, धन विधेयक और संविधान संशोधन के मामलों में इसे प्रतिनिधि सभा के समकक्ष शक्तियां प्राप्त है लेकिन सीनेट को दो ऐसी शक्तियां प्राप्त है जो प्रतिनिधि सभा को नहीं है।
   a. अंतर्राष्ट्रीय संधियों के अनुमोदन की शक्ति
   b. उच्च पदों पर की गई नियुक्तियों के अनुमोदन की शक्ति। भारत की राज्यसभा सीनेट की तुलना में सीमित शक्तियों वाला सदन है।
   3. कनाडा की सीनेट से भारत की राज्यसभा अपेक्षाकृत सीमित है।

लोक सभा : गठन, अवधि एवं योग्यताएं

(Lok Sabha: Composition, Term & Qualifications)

लोक सभा संसद का निम्न सदन है। यह संसद का लोकप्रिय सदन है जोकि जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व प्रदान करने वाली संस्था हे। लोकसभा राष्ट्रीयता को प्रदर्शित करने वाली संस्था है। उल्लेखनीय है कि विशेष आरक्षित सीटों को छोड़कर भारत का कोई भी नागरिक जिसका नाम मतदाता सूची में हो वह भारत के किसी भी क्षेत्र से लोकसभा का चुनाव लड़ सकता है।

लोक सभा के गठन के संबंध में विस्तृत प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 81 में किये गये हैं। गोवा, दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम, 1987 की धारा 63 द्वारा लोक सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 552 निर्धारित की गई है जिसमें 530 राज्यों से तथा 20 संघशासित प्रदेशों से निर्वाचित होते हैं। संविधान के 84वें संशोधन अधिनियम, 2001 द्वारा यह सुनिश्चित किया गया है कि लोक सभा के सदस्यों की संख्या में सन् 2026 तक कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा। अनुच्छेद 331 के तहत यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति आंग्ल-भारतीय समुदाय के दो सदस्यों का मनोनयन लोक सभा में कर सकता है यदि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है।

लोक सभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा होता है। संविधान के 61वें संशोधन अधिनियम, 1989 द्वारा मतदान की न्यूनतम आयु 18 वर्ष निर्धारित की गई है। वर्तमान में लोक सभा के सभी निर्वाचन क्षेत्र *एकल-सदस्यीय* हैं। मूल संविधान में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए 10 वर्ष की अवधि के लिए सीटें आरक्षित की गई थीं लेकिन संविधान के 79वें संशोधन अधिनियम, 1999 द्वारा यह आरक्षण सन् 2010 तक प्रभावी बनाया गया है।

लोक सभा का कार्यकाल 5 वर्षों का होता है। संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा इसे 6 वर्षों का कर दिया गया था लेकिन सन् 1978 में संविधान के 44 वें संशोधन द्वारा इसे पुनः पांच वर्ष कर दिया गया है। राष्ट्रपति द्वारा लोक सभा को उसकी पांच वर्ष की अवधि के पूरा होने के पूर्व भी विघटित किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि जब अनुच्छेद 352 के तहत राष्ट्रीय आपात लागू किया जाता है तो पांच वर्ष की सामान्य अवधि को विस्तारित किया जा सकता है लेकिन यह विस्तार एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। अवधि का विस्तार संसद द्वारा अधिनियमित विधि द्वारा ही किया जा सकता है। लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए किसी व्यक्ति की न्यूनतम आयु 25 वर्ष होना अनिवार्य है। साथ ही, उसे भारत का नागरिक होना तथा ऐसी योग्यताएं रखने वाला होना चाहिए जिन्हें संसदीय विधि द्वारा निर्धारित किया गया हो। सदस्यों की अयोग्यताओं का विस्तृत उल्लेख संविधान की दसवीं अनुसूची में किया गया है। दसवीं अनुसूची के पैरा 7 के संबंध में **किहोता होलोहान बनाम जा चिल्हू**, 1992 1 एस.सी.सी. 309 मामले में अभिनिर्धारित किया है कि यह पैरा अविधिमान्य है। उल्लेखनीय है कि पूर्व में यह प्रावधान था कि सदस्यों की अयोग्यता के संबंध में पीठासीन अधिकारी द्वारा लिया निर्णय अंतिम था परन्तु उपरोक्त वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि पीठासीन अधिकारी द्वारा दिए गए निर्णय का न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

लोक सभा एवं विधान सभाओं में अनुसूचित जाति, जनजाति व आंग्ल भारतीयों के लिए आरक्षण- लोक सभा एवं राज्य विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों, जनजातियों व आंग्ल भारतीय (Anglo Indian) प्रतिनिधियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था को 10 वर्ष के लिए और आगे बढ़ा दिया गया है। इस आरक्षण हेतु संविधान के अनुच्छेद 334 में किए गए प्रावधान की अवधि को 10 वर्ष और बढ़ाने के लिए 109वाँ संविधान संशोधन विधेयक सरकार द्वारा संसद में अगस्त 2009 में पारित किया गया था, अनुसूचित जातियों, जनजातियों के लिए चुनावी सीटों के आरक्षण व आंग्ल-भारतीय सदस्यों के मनोनयन का यह प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 334 में मूलतः 10 वर्षों के लिए किया गया था जिसे सन् 1960 के 8वें संविधान संशोधन, सन् 1969 के 23वें संविधान संशोधन 1980 के 45वें संविधान संशोधन, 1989 के 62वें संशोधन तथा सन् 1999 के 79वें संविधान संशोधन द्वारा क्रमशः 10-10 वर्ष के लिए बढ़ाया जाता रहा है। 1999 के 79वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा बढ़ाई गई 10 वर्ष की अवधि 25 जनवरी, 2010 को समाप्त होने को थी। सरकार का मानना है कि विगत 60 वर्षों में अनुसूचित जातियों व जनजातियों का काफी विकास यद्यपि हुआ है, तथापि संविधान सभा ने जिस उद्देश्य से इन्हे यह आरक्षण उपलब्ध कराया था, वह अपने उद्देश्य तक नहीं पहुँचा है। इसी परिप्रेक्ष्य में इस आरक्षण की अवधि को 10 वर्ष और बढ़ाने के लिए 109वाँ संविधान संशोधन विधेयक राज्य सभा ने 3 अगस्त, 2009 को तथा लोक सभा ने 4 अगस्त को पारित किया है। विधेयक के अधिनियम होने पर संविधान के अनुच्छेद 334 में 60 वर्षों के स्थान पर 70 वर्ष दर्ज किया गया है।

लोक सभा : अधिकार और कार्य (Lok Sabha: Powers & Functions)

जनसंख्या के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति द्वारा गठित लोक सभा भारतीय संसद का लोकप्रिय सदन है। संसदीय शासन प्रणाली की विशेषता है कि विधि निर्माण की अधिकाधिक शक्तियां संसद के लोकप्रिय सदन को ही प्रदान की जाती हैं। इस आधार पर लोक सभा को राज्य सभा की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

1. **विधायी अधिकार :-** लोक सभा को उन सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है जिनकी परिगणना संघ तथा समवर्ती सूची में की गई है। राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर कानून बनाने के लिए लोक सभा को दो या अधिक राज्यों के विधानमंडल द्वारा पारित प्रस्ताव की अनिवार्यता है।

   आपातकालीन उद्घोषणा के दौरान लोक सभा राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर भी कानून बना सकती है। विधेयकों के संबंध में उल्लेखनीय है कि साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में पुर:स्थापित किया जा सकता है लेकिन वित्त तथा धन विधेयकों को राज्य सभा में पुर:स्थापित नहीं किया जा सकता।

   इसके अतिरिक्त, लोक सभा की सदस्य संख्या राज्य सभा की अपेक्षा अधिक होने के कारण कानून निर्माण के संबंध में अंतिम शक्ति लोक सभा के पास ही होती है।

2. **वित्तीय अधिकार :-** अनुच्छेद 109 के अनुसार, धन विधेयक राज्य सभा में पुर:स्थापित नहीं किये जा सकते। लोक सभा में पारित होने के उपरांत उसे राज्य सभा में प्रेषित किया जाता है। राज्य सभा चौदह दिनों की अधिकतम अवधि तक उसे रोक सकती है लेकिन उसके उपरांत विधेयक पारित समझा जाता है। इस दृष्टिकोण से लोक सभा को अपेक्षाकृत अधिक वित्तीय अधिकार प्राप्त हैं।

3. **कार्यपालिका संबंधी अधिकार :-** कार्यपालिका लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। इस कारण लोक सभा का उस पर नियंत्रण स्थापित रहता है। मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण रखने के लिए लोक सभा को प्रश्न, पूरक प्रश्न, सरकारी विधेयक के प्रस्ताव की अस्वीकृति, अनुदान की मांग की अस्वीकृति, आलोचना तथा निंदा प्रस्ताव जैसे उपकरणों के प्रयोग का अधिकार प्राप्त है।

4. **निर्वाचन संबंधी अधिकार :-** अनुच्छेद 54 के तहत राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित होने वाले निर्वाचक मंडल में लोक सभा के निर्वाचित सदस्य भी सम्मिलित होते हैं। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 66 के प्रावधानों के अनुसार, लोक सभा के सदस्य उप राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए गठित निर्वाचक मंडल में भी रहते हैं।

5. **संवैधानिक संशोधन का अधिकार:-** अनुच्छेद 368 के तहत संविधान में संशोधन का अधिकार संसद को ही प्राप्त है। इस संबंध में प्रावधान है कि ऐसे विधेयक को संसद के दोनों सदनों में अलग-अलग दो तिहाई बहुमत से पारित किया जाना चाहिए।

6. राष्ट्रपति पर महाभियोग का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। संसद को उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को पद से हटाने संबंधी प्रस्ताव पारित करने का भी अधिकार प्राप्त है।

7. लोकसभा, राज्यसभा के साथ मिलकर राष्ट्रीय आपात राष्ट्रपति शासन, वित्तीय आपात का अनुमोदन करती है।

8. यह संघ लोक सेवा आयोग, अल्पसंख्यक आयोग आदि के प्रतिवेदन पर विचार करती है।

9. लोकसभा में होने वाले वाद-विवाद तथा पूछे जाने वाले प्रश्न सूचना के प्रामाणिक स्त्रोत का कार्य करते हैं जिससे जनता का राजनीतिक शिक्षण होता है।

10. लोकसभा भारतीय राजनीति की ऐसी संस्था है जिसमें देश के लिए भावी राजनेता तैयार होते हैं। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल अपने को लोकसदन का शिशु कहते थे।

लोकसभा व राज्यसभा की तुलना (Comparison of Lok Sabha and Rajya Sabha)

1. शक्ति की दृष्टि से लोकसभा प्रथम सदन है तथा राज्यसभा द्वितीय सदन है लेकिन संरचना की दृष्टि से राज्य सभा को उच्च सदन तथा लोकसभा को निम्न सदन माना जाता है।

2. लोकसभा एक लोकप्रिय सदन है जिसके सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होता है इसमें क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को अपनाया जाता है।

3. राज्यसभा राज्यों का सदन माना जाता है जो भारत में संघात्मक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है राज्यसभा के प्रतिनिधि का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है और इसमें आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था अपनाई जाती है।

4. लोकसभा का निर्वाचन First Past the Post (FPTP) से होता है जबकि राज्यसभा का निर्वाचन एकल हस्तान्तरण पद्धति से।

लोकसभा व राज्यसभा में समानताएं (Similarities between Lok Sabha & Rajya Sabha)

1. दोनों राष्ट्रपति के साथ मिलकर संसद बनाती हैं।
2. संविधान संशोधन विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे दोनों द्वारा अलग अलग विशेष बहुमत से पारित किया जाता है तथा इसमें संयुक्त बैठक का भी कोई प्रावधान नहीं है।
3. दोनों राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन तथा महाभियोग में भाग लेते हैं।
4. मंत्री दोनों ही सदनों से चुने जा सकते हैं।

लोकसभा व राज्यसभा में असमानताएं (Differences between Lok Sabha & Rajya Sabha)

1. साधारण विधेयक पर दोनों सदनों में मतभेद होने वाली संयुक्त बैठक में लोकसभा, राज्यसभा पर प्रभावी हो जाती है।
2. संयुक्त बैठक की अध्यक्षता लोकसभा अध्यक्ष करता है।
3. वित्तीय मामलों में राज्यसभा शक्तिहीन है। धन विधेयक केवल लोकसभा में लाया जा सकता है।
4. कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं इसका निर्णय लोकसभा का अध्यक्ष करता है।
5. विभिन्न प्रकार के कटौती प्रस्ताव केवल लोकसभा में लाये जा सकते हैं।
6. मंत्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति साधारणतः लोकसभा से होती है।
7. मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव केवल लोकसभा में लाया जा सकता है।

संसद का अवमानना (Contempt of Parliament)

किसी भी रूप में संसद के विशेषाधिकारों का हनन, उसके आदेशों की अवहेलना, उसकी सत्ता व गरिमा पर चोट, उसकी निन्दा जैसे कार्य संसद की अवमानना कहे जाते हैं। जैसे संसद सदस्य के चरित्र के प्रति लांछन या अशिष्टता, संसद सदस्य के कार्य में रूकावट डालना आदि भी संसद की अवमानना के विभिन्न प्रकार हैं। संसद को अवमानना करने वाले व्यक्ति को दण्डित करने का अधिकार दिया गया है। यह दण्ड भर्त्सना, आर्थिक दण्ड या कारावास हो सकता है।

विधायिका की सकारात्मक प्रवृत्ति (Positive Nature of Legislature)

1. लोगों को सूचना का अधिकार मिलना।
2. शिक्षा के अधिकार का लागू होना।
3. महिला आरक्षण विधेयक का राज्यसभा में पारित होना।
4. पंचायती राज का आना तथा इसमें महिलाओं को आरक्षण मिलना।
5. मंत्रिमण्डल के आकार को निर्धारित कर देना।
6. दल-बदल से संबंधित कानून का पुनर्संशोधन करना।
7. चुनाव आयोग की बढ़ती निष्पक्ष तथा तटस्थ भूमिका।
8. चुनाव में आचार संहिता को सख्ती से लागू करना।
9. अब चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को अपनी आपराधिक, वित्तीय तथा शैक्षणिक पृष्ठभूमि बतानी होगी।
10. संसदीय समितियों का निर्माण।
11. संसद में युवाओं तथा महिलाओं की उपस्थिति बढ़ रही है।

संसद के विशेषाधिकार (Privileges of Parliament)

संविधान के अनुच्छेद 105 के तहत संसद तथा संसद सदस्यों के विशेषाधिकारों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इसी प्रकार अनुच्छेद 194 राज्य विधानमंडलों और उनके सदस्यों की शक्तियों, विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों की विस्तृत व्याख्या करता है। इन विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : व्यक्तिगत एवं सामूहिक। ?

व्यक्तिगत विशेषाधिकार (Individual Privileges)

1. **गिरफ्तारी से उन्मुक्ति :-** सिविल मामलों में संसद के सत्र प्रारंभ होने अथवा बैठक समाप्त होने के पश्चात 40 दिनों की अवधि के दौरान गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 135 क के अनुसार यह प्रावधान किया गया है। लेकिन

आपराधिक मामलों तथा निवारक निरोध के मामले में ऐसे विशेषाधिकार का प्रावधान नहीं है।

2. **साक्षी के रूप में उपस्थिति से उन्मुक्तिः**- संसद के सत्र के दौरान किसी सदस्य को किसी मामले में एक साक्षी के रूप में उपस्थित होने के लिए दबाव नहीं डाला जा सकता है।

3. **वाक्-स्वतंत्रता :**- सांसदों को संसद में वक्तव्य देने की स्वतंत्रता प्रदान की गई है। सदन में जो भी प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते हैं उन्हें न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 121 के अन्तर्गत इस स्वतंत्रता को निर्बंधित किया गया है जिसके अनुसार, उच्चतम अथवा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के आचरण पर सदन में चर्चा नहीं की जा सकती है।

सामूहिक विशेषाधिकार

1. **बहस और कार्यवाहियों के प्रकाशन संबंधी अधिकारः**- संविधान के अनुच्छेद 361 क के प्रावधानों के अनुसार, संसद को अपनी कार्यवाहियों के प्रकाशन की अनुमति देने अथवा प्रकाशन को रोकने का अधिकार प्राप्त है।

2. **बाहरी व्यक्तियों के प्रवेश को रोकने का अधिकारः**- संसद की कार्यवाहियों अथवा बैठकों में किसी बाहरी व्यक्ति के प्रवेश को प्रतिबंधित करने का अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार लोक सभा के नियम 248 तथा राज्य सभा के नियम 265 के तहत प्रदान किया गया है।

संसदीय विशेषाधिकार

संसद के विशेषाधिकारों के संबंध में न्यायपालिका ने यह अभिनिर्धारित किया है कि विशेषाधिकारों की तुलना में विधानमंडल के अधिकार अधिक श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार के प्रावधान राष्ट्रपति के निर्देश, 1964, सं 1, ए.आई.आर. 1965, एस.सी. 745 के तहत भी किये गये हैं। इसके अनुसार, मूल अधिकार तथा विधानमंडल के विशेषाधिकार में संघर्ष होने पर समन्वित रूप से निर्णय किया जाना चाहिए।

संसदीय विशेषाधिकार यह संकल्पना ब्रिटिश राज्यव्यवस्था से प्रेरित है, साथ ही ऐसे प्रावधान 'भारत शासन अधिनियम' में भी किए गए हैं। इन्हीं आधारों पर संविधान में 'अनु. 105' और '194' में क्रमशः संसदीय और राज्य विधायिका के विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों का उल्लेख है।

विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों का उद्देश्य सांसदों और संसद को उसके कार्यसंचालन में संचालन प्रदान करना है। हालांकि विशेषाधिकारों की संकल्पना भारत में प्रचलित है। लेकिन ऐसे विशेषाधिकारों को अधिकांशतः उन्मुक्तियों के रूप में प्रदान किए गए हैं। इन विशेषाधिकारों में निम्नांकित प्रमुख हैं:-

1. सांसदों को सदन में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, जिसमें मतदान की स्वतंत्रता भी शामिल है। यह स्वतंत्रता अनु. 19(1)(a) में दी गई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से इस रूप में भिन्न है कि यह ''समूहवादी दृष्टिकोण'' पर आधारित है जबकि 19(1)(a) की स्वतंत्रता व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।
2. संसदीय कार्यवाहियाँ (प्रकाशन से संरक्षण) अधिनियम 1956 के तहत यह प्रावधान है कि किसी व्यक्ति को संसद की किसी कार्यवाही के प्रकाशन के लिए तब तक दोष सिद्ध नहीं ठहराया जाएगा जब तक की यह सिद्ध नहीं कर दिया जाए कि प्रकाशन की मंशा पक्षपातपूर्ण थी। इस प्रावधान को '44वें संशोधन' 1978 की धारा 42 से शामिल अनु. 361-A से समर्थन प्राप्त है।
3. दीवानी मामले में सत्र के दौरान तथा उसके 40 दिन पूर्व और 40 दिन उपरांत तक किसी सांसद को गिरफ्तार नहीं किया जाएगा।
4. सदन की कार्यवाहियों को नियंत्रित करने की शक्तियाँ। उल्लेखनीय है कि अनु. 118 में प्रत्येक सदन के लिए एक प्रक्रिया नियमावली का प्रावधान है।
5. सदन में किसी व्यक्ति के प्रवेश को रोकने का अधिकार।
6. सदन के अवमान पर दंड देने का अधिकार।

3. **आंतरिक विषयों का विनियमन :**- संसद के दोनों सदनों को अपने आंतरिक विषयों को विनियमित करने तथा सदन के अन्दर उत्पन्न विषयों के विनिश्चय का अधिकार प्राप्त है।

4. **विशेषाधिकार हनन के लिए दंडः**- संसद के विशेषाधिकारों के हनन संबंधी मामलों में संसद द्वारा दंड दिये जाने का प्रावधान किया गया है।

संसद के अधिकारी (Officers of Parliament)

भारत का उप-राष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होगा। राज्य सभा अपने किसी सदस्य को उप-सभापति चुनेगी।

राज्य सभा का उप-सभापति निम्न स्थितियों में अपने पद से हट जाता है :-

क. यदि वह राज्यसभा का सदस्य नहीं रहता है।

ख. पद त्याग देता है।

ग. राज्य सभा के तत्कालीन संपूर्ण सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जाएगा।

उसको पद से हटाने के लिए 14 दिन का नोटिस देना आवश्यक है।

सभापति के पद के कर्तव्यों का पालन करने या सभापति के रूप में कार्य करने की उप-सभापति या अन्य किसी व्यक्ति की शक्ति:-

1. सभापति का पद रिक्त होने पर उसका कार्य करना।
2. सभापति के राष्ट्रपति बनने पर उसकी शक्ति का निर्वाहन करना।
3. सभापति की अनुपस्थिति में उसकी शक्ति का उपयोग करना।

लोक सभा अध्यक्ष : कार्य एवं अधिकार (Lok Sabha Speaker: Powers & Functions)

संविधान के अनुच्छेद 93 के अनुसार लोक सभा के सदस्यों द्वारा एक अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का चुनाव किया जाता है। वस्तुत: संविधान में लोक सभा अध्यक्ष के पद का विस्तृत प्रावधान किया गया है। अध्यक्ष तभी तक अपने पद पर बना रह सकता है जब तक वह लोक सभा का सदस्य होता है। लोक सभा अपने संपूर्ण सदस्यों के बहुमत से स्वीकृत प्रस्ताव द्वारा अध्यक्ष को उसके पद से हटा सकती है। लोक सभा के विघटन की स्थिति में नये सदन की प्रथम बैठक के पहले दिन तक वह अपने पद पर आसीन रहता है।

अध्यक्ष का चुनाव: भारतीय संसद के निम्न सदन, लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव सदन के सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत की आवश्यकता है। अध्यक्ष पद पर निर्वाचित होने के लिए किसी विशिष्ट अर्हता का उल्लेख नहीं है लेकिन उसका सदन का सदस्य होना अनिवार्य है।

सामान्यत: सत्तारूढ़ दल द्वारा किसी सदस्य के नाम का प्रस्ताव किया जाता है। हांलाकि कई अवसरों पर विपक्ष के किसी सदस्य को भी अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया है। नई लोक सभा का एक महत्वपूर्ण कार्य अध्यक्ष का निर्वाचन है। इस बैठक की अध्यक्षता अस्थायी अध्यक्ष (प्रोटेम स्पीकर) द्वारा की जाती है।

अध्यक्षता का कार्य सन् 1950 की संसदीय प्रक्रिया एवं कार्यसंचालन नियम संहिता के छठे नियम के अनुसार किया जाता है। अनुच्छेद 95 (1) के अनुसार, जब अध्यक्ष का पद रिक्त है तब उपाध्यक्ष, या यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त है तो लोक सभा का ऐसा सदस्य जिसको राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए नियुक्त करे उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। अनुच्छेद 95 (2) के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि लोक सभा की किसी बैठक से अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष, या यदि वह भी अनुपस्थित है तो ऐसा व्यक्ति जो लोक सभा की प्रक्रिया के नियमों द्वारा अवधारित किया जाये, या यदि ऐसा कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं है तो ऐसा अन्य व्यक्ति जो लोक सभा द्वारा अवधारित किया जाये, अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा। इसी प्रकार अनुच्छेद 96 के तहत यह उपबंध है कि जब अध्यक्ष को पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन है तो वह पीठासीन अधिकारी के रूप में कार्य नहीं कर सकता है।

लोक सभा अध्यक्ष का स्थान प्रशासन के अन्तर्गत वरीयता क्रम में सातवां है। संसदीय प्रक्रिया और कार्यसंचालन नियम संहिता, 1950 के अनुसार, अध्यक्ष के कार्य और अधिकार निम्नांकित हैं:

1. **बैठक का सभापतित्व :-** लोक सभा अध्यक्ष सदन की बैठक की अध्यक्षता करता है। साथ ही, सदन में शांति व्यवस्था कायम करना भी लोक सभा अध्यक्ष का ही कार्य है। सदन में गणपूर्ति के अभाव में उसे बैठक को स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है।
2. **चर्चा के समय का निर्धारण :-** लोक सभा अध्यक्ष द्वारा सदन के नेता की स्वीकृति से किसी प्रस्ताव पर चर्चा करने के लिए समय का निर्धारण किया जाता है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति के उदघाटन भाषण के उत्तर में दिये जाने वाले सभी भाषणों के समय का निर्धारण भी लोक सभा अध्यक्ष का ही कार्य है।
3. **प्रश्नों की स्वीकृति :-** प्रश्नों की स्वीकृति का कार्य भी लोक सभा अध्यक्ष का है। किसी प्रश्न के नियम विरूद्ध होने की स्थिति में वह उस पर रोक लगा सकता है।
4. **काम रोको प्रस्ताव प्रस्तुत करने की आज्ञा :-** अध्यक्ष को यह अधिकार प्राप्त है कि वह काम रोको प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान कर सकता है।

प्रोटम स्पीकर

जब नई लोकसभा का गठन होता है तो राष्ट्रपति सदन के वरिष्ठतम सदस्य को अल्पकालिक कार्यवाहक अध्यक्ष के रूप में नियुक्त करता है। इसका कार्य नई लोकसभा के सदस्यों को शपथ दिलवाना और नए लोकसभा अध्यक्ष के निर्वाचन का संचालन करना है। नए लोक सभा अध्यक्ष के निर्वाचित होने के साथ ही प्रोटम स्पीकर का पद स्वत: समाप्त हो जाता है।

5. **अन्य अधिकार**
   - प्रवर समिति के अध्यक्षों की नियुक्ति
   - सभा की कार्यवाही संबंधी आपत्तियों पर अंतिम निर्णय
   - वाद-विवाद के प्रस्तावों पर अनुमति
   - बजट संबंधी भाषणों की काल सीमा का निर्धारण
   - सामान्यत: लोक सभा अध्यक्ष अपने मतदान का प्रयोग नहीं करता है लेकिन पक्ष तथा विपक्ष में समान मत होने की स्थिति में उसे निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त है।
   - सदन के सदस्यों को निष्कासित करने का अधिकार
   - दर्शकों के प्रवेश पर नियंत्रण
   - संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता
   - सभी विधेयकों का संचालन
   - लोक सभा द्वारा पारित विधेयक पर हस्ताक्षर
   - धन विधेयक पर अंतिम निर्णय देने का अधिकार

लोकसभा अध्यक्ष तथा अंतर-संसदीय संबंध (Speaker of Lok Sabha and Inter-Parliamentary Relations)

लोक सभा के प्रमुख के रूप में अध्यक्ष द्वारा कई विशिष्ट कार्य भी किए जाते हैं। सन् 1949 में गठित भारतीय संसदीय समूह (Indian Parliamentary Group, IPG) के पदेन अध्यक्ष के रूप में कार्य करने का अधिकार लोक सभा अध्यक्ष का है। यह समूह वस्तुत: अन्तर संसदीय संघ के राष्ट्रीय समूह तथा राष्ट्रमंडल संसदीय संघ की मुख्य शाखा के रूप में कार्य करता है। इस रूप में अध्यक्ष विदेश जाने वाले प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों के मनोयन के लिए उत्तरदायी है।

राजव्यवस्था में लोकसभा अध्यक्ष का महत्व (Significance of Speaker of Lok Sabha in Polity)

लोक सभा अध्यक्ष एक गत्यात्मक संस्था के रूप में भारत की राज्यव्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण है वह न केवल सदन का संवैधानिक प्रमुख है बल्कि सदन का मुख्य प्रवक्ता भी है। भारत के प्रतिनिधि लोकतंत्र की मर्यादा के संरक्षक के रूप में सदन की कार्यवाहियों के संचालन के लिए उसे उत्तरदायी बनाया गया है।

संसद में विधायी प्रक्रिया (Legislative Procedure in Parliament)

भारतीय संसद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य विधि निर्माण है। विधेयकों की प्रकृति के आधार पर विधायी प्रक्रिया को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

1. **साधारण विधेयक :-** अनुच्छेद 107 के अन्तर्गत यह उपबंधित है कि कोई सामान्य विधेयक संसद के किसी भी सदन में पुर:स्थापित किया जा सकता है। जब कोई ऐसा विधेयक किसी मंत्री से भिन्न किसी सदस्य द्वारा पुर:स्थापित किया जाता है तो उसे गैर सरकारी विधेयक की संज्ञा दी जाती है।

   सरकारी तथा गैर सरकारी विधेयकों में एक और स्पष्ट अंतर यह है कि सरकारी विधेयक को पुर:स्थापित करने के लिए पूर्व सूचना आवश्यक नहीं है लेकिन गैर सरकारी विधेयकों के लिए सदस्य द्वारा विधेयक को पुर:स्थापित करने के पूर्व सदन से अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है। यह अनुमति एक माह पूर्व प्राप्त की जानी चाहिए।

   पुन:स्थापना के पश्चात प्रभारी सदस्य विधेयक के संबंध में निम्न में से कोई प्रस्ताव कर सकता है :
   - विधेयक पर विचार किया जाय
   - विधेयक को प्रवर समिति को निर्दिष्ट किया जाय
   - विधेयक को दोनों सदनों की संयुक्त समिति को निर्दिष्ट किया जाय
   - उसे राय जानने के लिए परिचालित किया जाय

उपरोक्त प्रावधान लोक सभा के नियम 74 तथा राज्य सभा के नियम 69 के अधीन किये गये हैं। उपरोक्त प्रस्तावों में से किसी एक की स्वीकृति के उपरांत विधेयक में उल्लिखित सिद्धांतों पर विचार-विमर्श किया जाता है जिसे प्रथम वाचन कहते हैं। इसके विपरीत यदि सदन विधेयक को समिति को निर्दिष्ट करने वाले प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान करता है तो इसके लिए एक प्रवर समिति गठित की जाती है। समिति का कार्य विधेयक के प्रत्येक खंड पर गहन विचार कर उसमें आवश्यक संशोधन करना है।

समिति द्वारा विधेयक पर विचार करने की अनुमति प्रदान करने के उपरांत सदस्यों द्वारा उस पर गहन विचार-विमर्श किया जाता है जिसे द्वितीय वाचन कहते हैं। अंतिम चरण में तृतीय वाचन के क्रम में विधेयक की भाषागत अशुद्धियों को दूर करने के लिए कतिपय संशोधन किये जा सकते हैं। इन प्रक्रियाओं के पूरा हो जाने के बाद ही विधेयक दूसरे सदन में प्रेषित किया जाता है जहां इसी प्रक्रिया द्वारा उसे पारित किया जाता है।

लोकसभा अध्यक्ष के कार्य एवं अधिकार

- बैठक का सभापतित्व।
- काम रोको प्रस्ताव प्रस्तुत करने की आज्ञा प्रदान करना।
- सभा की कार्यवाही नियम संबंधी आपत्तियों पर अंतिम निर्णय।
- वाद-विवाद के प्रस्ताव पर अनुमति।
- प्रवर समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति।
- बजट संबंधी भाषणों की काल सीमा का निर्धारण।
- धन विधेयक का प्रमाण।
- संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता।
- सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा।
- लोक सभा द्वारा पारित विधेयक पर हस्ताक्षर।

दोनों सदनों द्वारा मतदान के आधार पर पारित हो जाने के बाद अनुच्छेद 111 के तहत उसे राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाता है तथा राष्ट्रपति की स्वीकृति के उपरांत ही उसे अधिनियम का दर्जा प्राप्त होता है। विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के पूर्व उसे पीठासीन अधिकारी द्वारा प्रमाणित किया जाना अनिवार्य है।

2. **धन विधेयक :-** संविधान के अनुच्छेद 109 में धन विधेयकों से संबंधित प्रक्रिया तथा अनुच्छेद 110 में धन विधेयक की परिभाषा का प्रावधान किया गया है। विधेयक की प्रकृति के संबंध में उल्लेखनीय है कि यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोक सभा अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा।

   कोई विधेयक धन-विधेयक समझा जाएगा यदि उसमें केवल निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों से संबंधित उपबंध है-

   क. किसी कर का अधिरोपण, उत्सादन, परिहार, परिवर्तन या विनियमन।

   ख. भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का या कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन अथवा भारत सरकार द्वारा अपने ऊपर ली गई या ली जाने वाली किन्हीं वित्तीय बाधाओं से संबंधित विधि का संशोधन।

   ग. भारत की संचित या आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, धन जमा करना या धन निकालना।

   घ. भारत की संचित निधि में धन का विनियोग।

   ङ. किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के रकम की बढोत्तरी

   च. भारत की संचित निधि या भारत के लेखे में धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या उसका निर्गमन अथवा संघ या राज्य की लेखाओं की संपरीक्षा।

अनुच्छेद 109 के अनुसार, धन विधेयक राज्य सभा में पुर:स्थापित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, ऐसे विधेयकों को लोक सभा में ही पुर:स्थापित किया जा सकता है। इसके लिए राष्ट्रपति से पूर्व अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है। लोक सभा द्वारा पारित किये जाने के उपरांत धन विधेयकों अथवा वित्त विधेयकों को राज्य सभा में प्रेषित किया जाता है। धन विधेयक में संशोधन करने का अधिकार राज्य सभा को प्राप्त नहीं है। वह ऐसे संशोधन का प्रस्ताव कर सकती है जिसे मानना लोक सभा के लिए बाध्यकारी नहीं है। अनुच्छेद 119(2) के प्रावधानों के अनुरूप धन विधेयक को राज्य सभा में अनुशंसाओं के लिए प्रेषित किया जाता है। राज्य सभा के लिए यह बाध्यकारी है कि ऐसे विधेयक को वह प्राप्ति की तिथि से 14 दिनों की अवधि में लोक सभा को लौटा दे। ऐसा नहीं किये जाने पर विधेयक को पारित माना जाता है। दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाने के बाद उसे राष्ट्रपति के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। अनुच्छेद 111 के परन्तुक के उपबंध के अनुसार, राष्ट्रपति ऐसे विधेयक को पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकता।

3. **संविधान संशोधन विधेयक :-** राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना ही संविधान संशोधन विधेयकों को संसद के किसी भी सदन

में पुर:स्थापित किया जा सकता है। लेकिन ऐसे विधेयकों को दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग विशेष बहुमत से पारित किया जाना चाहिए। विशेष बहुमत का अभिप्राय यह है कि विधेयक को सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से अथवा उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों की दो तिहाई संख्या से पारित होना चाहिए। संविधान संशोधन विधेयकों पर स्वीकृति प्रदान करना राष्ट्रपति के लिए बाध्यकारी है। यह प्रावधान संविधान के 24वें संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा किया गया है। संशोधन विधेयकों पर मतभेद होने की स्थिति में धन विधेयकों की भांति संसद की संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं है।

संसद में वित्तीय प्रक्रिया (Procedure in Financial Matters in Parliament)

भारतीय संविधान में अनुच्छेद 112 के तहत बजट को वार्षिक वित्तीय विवरण की संज्ञा दी गई है। इस संबंध में राष्ट्रपति को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह प्रत्येक वर्ष संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय का विवरण रखवायेगा।

बजट अथवा वार्षिक वित्तीय विवरण के अंगों में राजस्व और पूंजी प्राप्तियों का प्राक्कलन, व्यय का प्राक्कलन, राजस्व वृद्धि के लिए किये जाने वाले उपायों का उल्लेख, कर संबंधी विस्तृत प्रावधान तथा समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष के लिए वास्तविक प्राप्ति और व्यय का विश्लेषण महत्वपूर्ण हैं।

बजट में किये गये प्राक्कलन के तहत भारत की संचित निधि पर भारित व्यय तथा निधि में से व्यय किये जाने के लिए अपेक्षित राशियों का उल्लेख होता है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि जो व्यय भारत की संचित निधि पर भारित होता है उस पर मतदान नहीं किया जाता। अनुच्छेद 113 के अन्तर्गत यह उल्लेख है कि ऐसा प्राक्कलन संसद में मतदान के लिए नहीं रखा जायेगा लेकिन अन्य सभी प्रकार के व्यय को लोक सभा में अनुदान की मांगों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अनुदान की मांगों के संबंध में उल्लेखनीय है कि लोक सभा को यह अधिकार प्राप्त है कि वह या तो उन मांगों को अस्वीकार कर दे अथवा उनमें कमी कर दे।

वित्तीय प्रक्रिया के द्वितीय चरण में अनुदान की मांगों को मतदान के उपरांत पारित किया जाता है तथा तृतीय चरण में विनियोग विधेयक पारित किया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 114 के तहत विनियोग विधेयक का प्रावधान किया गया है।

विनियोग विधेयक में उस रकम का उल्लेख किया जाता है जिसे भारत की संचित निधि से विनियोजित करना होता है। सामान्यत: विनियोग विधेयक धन विधेयक होता है लेकिन विनियोग पर कई निर्बंधन लगाये जाते हैं जिसके आधार पर यह सुनिश्चित किया जाता है कि विनियोग विधेयक में ऐसा कोई संशोधन प्रस्थापित नहीं किया जायेगा जिसका प्रभाव अनुदान की राशि में परिवर्तन, अनुदान के लक्ष्य में परिवर्तन तथा भारित व्यय में परिवर्तन से संबंधित हो।

वित्तीय वर्ष के प्रारंभ हो जाने तथा अनुदान की मांगों के अनुरूप सरकार द्वारा राशि प्राप्त कर लिये जाने के बाद यदि वह राशि अपर्याप्त समझी जाती है तो ऐसी दशा में सरकार लोक सभा के समक्ष अनुपूरक अथवा अतिरिक्त मांगें प्रस्तुत करती है।

कई अवसरों पर किसी विशिष्ट कार्य के लिए सरकार को उस राशि से अधिक व्यय करना होता है जो लोक सभा ने अनुदत्त की है। ऐसी दशा में सरकार लोक सभा से अधिक अनुदान की मांग करती है। यह सर्वविदित है कि सरकार विनियोग विधेयक के लोक सभा द्वारा पारित किये जाने के उपरांत ही भारत की संचित निधि से राशि की निकासी कर सकती है।

ऐसी स्थिति में वित्तीय वर्ष के प्रारंभ के पूर्व अग्रिम अनुदान के रूप में लेखानुदान का प्रस्ताव लोक सभा के समक्ष प्रस्तुत करती है।

विधेयक पर सहमति

विधेयकों पर सहमति का अर्थ है कि जब कोई विधेयक संसद के सदनों द्वारा पारित किया जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जो घोषित करता है कि वह विधेयक पर सहमति देगा या रोक लेगा।

संसद की महत्वपूर्ण वित्तीय शब्दावली (Important Financial Terms of Parliament)

विनियोग विधेयक-अनु. 114 के तहत विनियोग विधेयक पारित कर ही भारत की संचित निधि से कोई धनराशि निकाली जा सकती है। अतएव लोकसभा द्वारा अनुदान की माँग पारित कर देने के बाद एक विनियोग विधेयक पेश किया जाता है जिसमें लोकसभा द्वारा अनुमोदित सभी अनुदानों तथा भारत की संचित निधि या भारित व्यय की पूर्ति के लिए धन के विनियोग का उपबंध रहता है।

अनुपूरक/अतिरिक्त अनुदान- अनु. 115 उपबंधित करता है कि विनियोग विधेयक द्वारा किसी विशेष सेवा के लिए चालू वर्ष के लिए व्यय किए जाने के लिए प्राधिकृत कोई राशि अपर्याप्त पाई जाती है और वर्ष के बजट से उल्लिखित न की गई

किसी नई सेवा पर खर्च की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है तो राष्ट्रपति एक अनुपूरक अनुदान संसद के समक्ष पेश करवाएगा।

लेखानुदान-अनु.116 (1) (क) के अन्तर्गत लोकसभा लेखा अनुदान पारित कर सरकार के लिए एक अग्रिम राशि मंजूर कर सकती है। जिसके बारे में बजट में विवरण देना सरकार के लिए संभव नहीं है।

प्रत्यानुदान-अनु. 116(1) (ख) के तहत जब किसी सेवा की महत्ता के लिए अप्रत्याशित माँग की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है जिसका बजट में कोई प्रावधान नहीं किया गया है।

अपवादानुदानः अनु. 116(1) (ग) के अन्तर्गत लोकसभा को किसी विशेष प्रयोजन के लिए अपवादानुदान मंजूर करने की शक्ति प्राप्त है जो किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का भाग नहीं होता।

सांसदों की अयोग्यता (Disqualification of Members)

अनु. 102 इस संबंध में विस्तृत प्रावधान करता है। जिसमें स्पष्ट उल्लेख है। लाभ के पद पर आसीन होने की स्थिति में उसे अयोग्य घोषित किया जाएगा। सदस्यों की अयोग्यता संबंधी इस प्रावधान का औचित्य यह है कि संसद में सांसदों की स्वतंत्रता सुनिश्चित कर विधि निर्माण प्रक्रिया को व्यवधान रहित बनाया जाय। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका से किसी प्रकार के लाभ के अर्जन से इस प्रावधान की अवहेलना की आशंका है।

यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे प्रावधानों से सांसदों के व्यक्तिगत हितों एवं उनके उत्तरदायित्वों के बीच अन्तर स्पष्ट किया गया है।

'लाभ का पद' शब्दावली अनुच्छेद 102 में परिभाषित नहीं है। न ही जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 में दी गई है। अतः इस शब्दावली की व्याख्या उच्चतम न्यायालय द्वारा की गई व्याख्या पर आधारित है।

जिसमें किसी पद की कार्यविधि उसके उत्तरदायित्वों तथा उस पर कार्य करने वाले किसी व्यक्ति को किए जाने वाले भुगतान को शामिल किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा है कि दैनिक भत्तों को लाभ शब्द के अर्थ में शामिल नहीं किया जा सकता। लेकिन वेतन तथा परिश्रमिक पूर्णतः शामिल हैं।

न्यायालय ने इस मामले में अनुच्छेद 102 की पुष्टि करते हुए स्पष्ट किया कि ऐसे पद केवल भारत व राज्य सरकार के अधीन ही हो सकते हैं।

संविधान में यह भी उल्लेख है कि ऐसे पदों की व्याख्या के लिए संसद को शक्ति प्राप्त है। इसी आधार पर संसद अयोग्यता निरोधक अधिनियम 1959 पारित किया गया। जिसके तहत कई पदों को लाभ के पद के दायरे से बाहर रखा गया। विवादों का समाधान करने के उद्देश्य से संसद आयोग्यता निरोधक अधिनियम 1959 में संशोधन करने के लिए संसद अयोग्यता अधिनियम 2006 पारित किया गया था।

लेकिन राष्ट्रपति द्वारा मुख्य दो बिन्दुओं पर इसे निलंबन वीटो अधिकार के तहत भेजा गया-

1. विधेयक में राज्यों तथा संघ शासित प्रदेशों के स्तरों पर सृजित ऐसे पदों का तार्किक तथा निष्पक्ष एवं विस्तृत उल्लेख किया जाना चाहिए।
2. विधेयक में किए गए भूतलक्षी प्रभाव के प्रावधान को समाप्त किया जाना चाहिए।

अतः इन विवादों के समाधान के लिए अनिवार्य है कि अनु. 102 की पुनः विस्तृत एवं रचनात्मक व्याख्या उच्चतम न्यायालय द्वारा हो।

उल्लेखनीय है कि सदस्यों की अयोग्यता संबंधी प्रावधानों में दसवीं अनुसूची का विशेष महत्व है। अनुच्छेद 102(2) में इसका उल्लेख है। इस अनुच्छेद का समावेश 52वें संशोधन में 1985 की धारा 3 से लिया गया जिसमें दल बदल के मामलों का अन्तिम निर्णय का अधिकार लोकसभा अध्यक्ष को दिया गया।

परंतु उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि लोकसभा अध्यक्ष कार्यपालिका के एक अधिकारी के रूप में निर्णय लेता है। अतः इसका न्यायिक पुर्नविलोकन वैध होगा।

सदस्यों की अयोग्यता संबंधी प्रावधान जनप्रतिनिधि अधिनियम 1951 में है जिसके तहत निम्नांकित आधारों का उल्लेख किया गया है :-

1. निर्वाचन के दौरान किसी आपराधिक कृत्य, भ्रष्टाचार अथवा अवैध कार्यों के लिए दोषी ठहराए जाने अथवा दंडित किए जाने पर।

2. किसी न्यायालय द्वारा दो वर्षों का दंड दिए जाने पर।
3. निर्धारित अवधि में निर्वाचन के दौरान व्यय अंकक्षित रिपोर्ट नहीं सौंपने पर।
4. लाभ के किसी पद पर कार्य करने पर।

अनु. 103 में सदस्यों की अयोग्यता संबंधी विषय पर राष्ट्रपति को निर्णय का अधिकार है, लेकिन इसके लिए निर्वाचक आयोग से परामर्श लेना होता है। उल्लेखनीय है राज्य स्तर पर सदस्यों की अयोग्यता संबंधी प्रावधान अनुच्छेद 102 की भाँति अनुच्छेद 191 में की गई।

सदस्यों की निरर्हताओं के आधार (Grounds for Disqualification of Members)

अनु. 102 के अनुसार कोई व्यक्ति संसद का सदस्य चुने जाने या बने रहने के योग्य न होगा, यदि वह निम्नलिखित निरर्हताएँ रखता है-

क. यदि वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है,

ख. यदि वह विकृत चित्त है,

ग. यदि वह अनुन्योचित दिवालिया है,

घ. यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है या किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुशक्ति को स्वीकार कर लेता है,

ड़. यदि वह संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि द्वारा अवैधघोषित कर दिया जाता है। संसद ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 पारित करके संसद की अर्हता एवं निरर्हता को विहिता किया है।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, यह उपबंधित करता है कि यदि कोई व्यक्ति संसद के दोनों सदनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे चुनाव घोषणा के दिन से 10 दिन के अन्दर यह सूचित करना पड़ता है कि वह किस सदन की सदस्यता चाहता है ऐसी सूचना के न देने पर 10 दिन के बाद राज्य सभा में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा।

इसी प्रकार यदि कोई राज्य सभा का सदस्य लोकसभा के लिए चुन लिया जाता है तो राज्यसभा में उसका स्थान रिक्त हो जाएगा।

सदस्यता की समाप्ति (Relinquishment of Membership)

1. यदि संसद के किसी सदन का सदस्य त्यागपत्र दे देता है अथवा अनु. 102 खण्ड (1) के अन्तर्गत निरर्हताओं में से किसी से ग्रसित हो जाता है तो वह संसद का सदस्य नहीं रहेगा और उसका स्थान स्वत: रिक्त हो जाएगा।
2. राज्यसभा का सदस्य सभापति एवं लोकसभा का सदस्य अध्यक्ष को संबोधित कर अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है।
3. यदि संसद के किसी सदन का सदस्य 60 दिन तक सदन की अनुज्ञा बिना उसके सब अधिवेशनों में अनुपस्थित रहता है तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है। [(अनु. 104 (1)]

दसवीं अनुसूची: अनु. 102 (2) तथा अनु. 191(2) [(10th Schedule: Art 102(2) and Art 191(2)]

दल परिवर्तन की निरर्हता के संबंध में उपबंध

1. **निर्वाचन** - इस अनुसूची में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो -

   क. सदन से, संसद का कोई सदन या किसी राज्य की, यथासिथति, विधान सभा या, विधानमंडल का काई सदन अभिप्रेत है,

   ख. सदन के किसी ऐसे सदस्य के संबंध में जो, यथास्थिति पैरा 2 या पैरा 3 या पैरा 4 के उपबंधों के अनुसार, किसी राजनीतिक दल का सदस्य है, 'विधान-दल' से, उस सदन के ऐसे सभी सदस्यों का समूह अभिप्रेत है जो उक्त उपबंधों के अनुसार तत्समय उस राजनीतिक दल के सदस्य हैं,

   ग. सदन के किसी सदस्य के संबंध में 'मूल राजनीतिक दल' से ऐसा राजनीतिक दल अभिप्रेत है जिसका वह पैरा 2 के उपपैरा (1) के प्रयोजनों के लिए सदस्य है,

   घ. 'पैरा' से इस अनुसूची का पैरा अभिप्रेत है।

2. **दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हता**- (1) पैरा 3, पैरा 4 और पैरा 5 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सदन का कोई सदस्य, जो किसी राजनीतिक दल का सदस्य है, सदन का सदस्य होने के लिए उस दशा में निरर्हित होगा जिसमें -

क. उसने ऐसे राजनीतिक दल की अपनी सदस्यता स्वेच्छा से छोड़ दी है, या

ख. वह ऐसे राजनीतिक दल द्वारा जिसका वह सदस्य है अथवा उसके द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति या प्राधिकारी द्वारा दिये गये किसी निदेश के विरूद्ध, ऐसे राजनीतिक दल, व्यक्ति या प्राधिकारी की पूर्व अनुज्ञा के बिना, ऐसे सदन में मतदान करता है या मतदान करने से विरत रहता है और ऐसे मतदान या मतदान करने से विरत रहने को ऐसे राजनीतिक दल, व्यक्ति या प्राधिकारी ने ऐसे मतदान या मतदान करने से विरत रहने की तारीख से पन्द्रह दिन के भीतर मफ नहीं किया है।

3. **दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हता का दल विभाजन की दशा में लागू नहीं होना** – जहां सदन का कोई सदस्य यह दावा करता है कि वह और उसके विधान दल के कोई अन्य सदस्य ऐसे गुट का प्रतिनिधित्व करने वाला समूह गठित करते हैं जो उसके मूल राजनीतिक दल के विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पक हुआ है और ऐसे समूह में ऐसे विधान दल के कम से कम एक तिहाई सदस्य हैं वहीं –

क. वह पैरा 2 के उपपैरा 1 के अधीन इस आधार पर निरर्हित नहीं होगा कि –

उसने अपने मूल राजनीतिक दल की अपनी सदस्यता स्वेच्छा से छोड़ दी है, या उसने ऐसे दल द्वारा अथवा उसके द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी व्यक्ति या प्राधिकारी द्वारा दिये गये किसी निदेश के विरूद्ध, ऐसे दल, व्यक्ति या प्राधिकारी की पूर्व अनुज्ञा कि बिना, ऐसे सदन में मतदान किया हो या मतदान करने से विरत रहा है।

ख. ऐसे दल विभाजन के समय से, ऐसे गुट के बारे में यह समझा जायेगा कि वह पैरा 2 के उपपैरा 1 के प्रयोजनों के लिए, ऐसा राजनीतिक दल है जिसका वह सदस्य है और वह इस पैरा के प्रयोजनों के लिए उसका मूल राजनीतिक दल है।

4. **दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हता का विलय की दशा में लागू नहीं होना** – (1) सदन का कोई सदस्य पैरा 2 के उपपैरा 1 के अधीन निरर्हित नहीं होगा यदि उसके मूल राजनीकि दल का किसी अन्य राजनीतिक दल में विलय हो जाता है और वह यह दावा करता है कि वह और उसके मूल राजनीतिक दल के अन्य सदस्य –

क. यथास्थिति, ऐसे अन्य राजनीतिक दल के या ऐसे विलय से बने नये राजनीतिक दल के सदस्य बन गये हैं, या

ख. उन्होंने विलय स्वीकार नहीं किया है और एक पृथक समूह के रूप में

ny&ifjorZu ds vk/kj ij fujgZrk

52 वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1985 द्वारा अनु० 122 में एक नया खण्ड 2 जोड़ा गया है जो यह उपबन्धित करता है कि किसी संसद् सदस्य या विधान सभा सदस्य की सदन की सदस्यता दसवीं अनुसूची में उल्लिखित आधारों पर समाप्त हो जायेगी। दसवीं अनुसूची के अनुसार संसद् और विधान सभाओं के सदस्य, जो किसी राजनीतिक दल का सदस्य है, की सदस्यता निम्न परिस्थितियों में समाप्त हो जायेगी:-

1. यदि वह राजनीतिक दल की सदस्यता स्वेच्छा से छोड़ देता है; या
2. यदि वह अपने दल या उसके द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति की पूर्व अनुमति के बिना सदन में मतदान करता है या नहीं करता है जिसे 15 दिन के भीतर माफ नहीं कर दिया गया है, या
3. यदि कोई निर्दलीय सदस्य निर्वाचन के पश्चात् किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाता है, या
4. यदि कोई नामजद (nominated) सदस्य शपथ लेने की तारीख से 6 माह के पश्चात् किसी राजनीतिक दल में सम्मिलित हो जाता है।

अपवाद– निम्नलिखित परिस्थितियों में दल–परिवर्तन निरर्हता नहीं होगा और सदन की की सदस्यता समाप्त नहीं होगी–

1. यदि मूल राजनीतिक दल का अन्य दल में विलय हो जाए और उसे विधान दल के 2/3 सदस्य स्वीकृति दे दें।
2. यदि लोक सभा अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अपने दल की सदस्यता छोड़ देते हैं।

सम्बन्धित सदन के पीठासीन अधिकारी इस अनुसूची के उपबन्धों को कार्यन्वित करने के लिए नियम बनायेंगे और प्रक्रिया विहित करेंगे। इन नियमों को सदन द्वारा अनुमोदित कराया जायेगा।

संविधान के 91वें संशोधन अधिनियम, 2004 द्वारा दसवीं अनुसूची में संशोधन करके पैरा 3 को निरस्त कर दिया गया है। इसके अनुसार यदि दल विभाजन के आधार पर 1/3 सदस्य दल को विभाजित करके दूसरा दल बना लें या दूसरे दल में चले जायें तो उनकी सदस्यता स्वत: समाप्त हो जायेगी। उन्हें पुन: निर्वाचित होने के लिए जनता के समक्ष जाना होगा।

कार्य करने का विनिश्चय किया है, और ऐसे विलय के समय से यथास्थिति, ऐसे राजनीतिक दल या नये राजनीतिक दल या समूह के बारे में यह समझा जायेगा कि वह पैरा 2 के उपपैरा 1 के प्रयोजनों के लिए, ऐसा राजनीतिक दल है जिसका वह सदस्य है और वह इस उपपैरा के प्रयोजनों के लिए उसका मूल राजनीतिक दल है।

इस पैरा के उपपैरा 1 के प्रयोजनों के लिए सदन के किसी भी सदस्य के मूल राजनीतिक दल का विलय हुआ तभी समझा जायेगा जब संबंधित विधान दल के कम से कम दो तिहाई सदस्य ऐसे विलय के लिए सहमत हो गये हों।

5. **छूट :** इस अनुसूची में किसी बात के होते हुए भी कोई व्यक्ति, जो लोक सभा के अध्यक्ष या उपध्यक्ष अथवा राज्य सभा के उप सभापति अथवा किसी राज्य की विधान परिषद के सभापति या उप सभापति अथवा किसी राज्य के विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के पद पर निर्वाचित हुआ है, इस अनुसूची के अधीन निरर्हित नहीं होगा –

   क. यदि वह, ऐसे पद पर अपने निर्वचन के कारण ऐसे राजनीतिक दल की जिसका वह ऐसे निर्वाचन के ठीक पहले सदस्य था, अपनी सदस्यता स्वेच्छा से छोड़ देता है और उसके पश्चात वह जब तक पद धारण किये रहता है तब तक उस राजनीतिक दल में पुनः सम्मिलित नहीं होता है या किसी दूसरे राजनीतिक दल का सदस्य नहीं बनता है, या,

   ख. यदि वह, ऐसे पद पर अपने निर्वाचन के कारण, ऐसे राजनीतिक दल की जिसका वह ऐसे निर्वाचन के ठीक पहले सदस्य था, अपनी सदस्यता छोड़ देता है और ऐसे पद पर न रह जाने के पश्चात ऐसे राजनीतिक दल में पुनः सम्मिलित हो जाता है।

6. **दल परिवर्तन के आधार पर निरर्हता के बारे में प्रश्नों का विनिश्चय**

   1. यदि यह प्रश्न उठता है कि सदन का कोई सदस्य इस अनुसूची के अधीन निरर्हता से ग्रस्त हो गया है या नहीं तो वह प्रश्न, ऐसे सदन के, यथास्थिति सभापति या अध्यक्ष के विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जायेगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा। परन्तु जहां यह प्रश्न उठता है कि सदन का सभापति या अध्यक्ष निरर्हता से ग्रस्त हो गया है या नहीं वहां यह प्रश्न सदन के ऐसे सदस्य के विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जायेगा जिसे वह सदन इस निमित्त निर्वाचित करे और उसका विनिश्चय अंतिम होगा।

   2. इस अनुसूची के अधीन सदन के किसी भी सदस्य की निरर्हता के बारे में किसी प्रश्न के संबंध में इस पैरा के उपपैरा 1 के अधीन सभी कार्यवाहियों के बारे में यह समझा जायेगा कि वे, यथास्थिति अनुच्छेद 122 के अर्थ में संसद की कार्यवाहियां हैं या अनुच्छेद 212 के अर्थ में राज्य विधान मंडल की कार्यवाहियां हैं।

7. **न्यायालयों की अधिकारिता का वर्जन** – इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, न्यायालय को इस अनुसूची के अधीन सदन के किसी सदस्य की निरर्हता से संबंधित किसी विषय के बारे में कोई अधिकारिता नहीं होगी।

lalnh; lfefr;ka (Parliamentary Committees)

अन्य देशों की भांति भारतीय संसद के कार्यभार को कम करने तथा समुचित कार्य विभाजन के मूल उद्देश्य से संसदीय समितियों की व्यवस्था की गई है। सामान्यतया संसदीय समितियां दो प्रकार की होती हैं – **स्थायी समिति** तथा **तदर्थ समिति**। स्थायी समितियों का गठन प्रतिवर्ष या निश्चित समय के लिए होता है तथा इनका कार्य अनवरत रूप से चलता रहता है जबकि तदर्थ समितियां आवश्यकतानुसार गठित की जाती हैं तथा अपने कार्य के निष्पादन के उपरांत विघटित कर दी जाती हैं।

1. **याचिका समिति (Committee on Petitions) :-** इस समिति में सदस्यों की संख्या 15 होती है जिनके नाम-निर्देशन का दायित्व लोक सभा अध्यक्ष का होता है। एक वर्ष की अवधि के लिए गठित इस समिति का मुख्य कार्य जन साधारण के हितों से संबंधित प्रस्तुत याचिकाओं पर विचार कर सदन को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है।

2. **लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee):-** सरकार के वार्षिक लेखाओं तथा लोक सभा द्वारा अनुदत्त विभिन्न राशियों का विनियोग दर्शाने वाले लेखाओं की जांच के मूल उद्देश्य से 22 सदस्यीय इस समिति का गठन किया जाता है। इनमें से 15 सदस्य लोक सभा तथा शेष 7 राज्य सभा के होते हैं। कोई भी मंत्री समिति का सदस्य निर्वाचित नहीं हो सकता है। सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा किया जाता है।

   हाल के वर्षों में एक नई परंपरा के प्रारंभ के साथ विपक्ष के किसी सदस्य को समिति का अध्यक्ष निर्वाचित किया जाने लगा है। समिति द्वारा विभिन्न परियोजनाओं और संस्थाओं के लेखाओं से संबंधित नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदन पर विचार करने का कार्य भी किया जाता है। समिति स्वायत्तशासी तथा अर्द्ध स्वायत्तशासी निकायों के लेखाओं का भी परीक्षण

करती है।

3. **प्राक्कलन समिति (Estimates Committee) :-** शासन व्यवस्था पर वित्तीय नियंत्रण का महत्वपूर्ण कार्य करने में प्राक्कलन समिति का विशेष योगदान है। दूसरे शब्दों में, सरकार द्वारा प्रस्तावित व्यय की समीक्षा करना समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है। इसमें सदस्यों की अधिकतम संख्या 30 होती है। ये सभी सदस्य लोक सभा से संबंधित होते हैं। इन सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा होता है। इस समिति के सदस्य के रूप में भी किसी मंत्री को निर्वाचित नहीं किया जा सकता। समिति का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य वित्तीय व्यवस्था के अनुरूप प्रशासनिक सुधार संबंधी सुझाव देना भी है।
4. **कार्य मंत्रणा समिति (Business Advisory Committee) :-** 15-सदस्यीय इस समिति का सभापति सदन का अध्यक्ष होता है। आम चुनाव के उपरांत लोक सभा के गठन के बाद इस समिति का गठन किया जाता है। सदन की समस्त कार्यवाहियों को सुनिश्चित करना समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है।
5. **अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के कल्याण संबधी समिति (Committee on the Welfare of Scheduled Castes and Scheduled Tribes) :-** अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के आयुक्त द्वारा दिये गये प्रतिवेदन पर विचार करने के मूल उद्देश्य से इस समिति का गठन किया जाता है। 30-सदस्यीय इस समिति में 20 लोक सभा तथा 10 राज्य सभा के सदस्य होते हैं। अन्य समितियों की भांति इस समिति में भी किसी मंत्री को सदस्य निर्वाचित नहीं किया जा सकता।
6. **सरकारी आश्वासन समिति (Committee on Govt. Assurances) :-** शासन और मंत्रिमंडल के सदस्यों द्वारा समय-समय पर जो आश्वासन दिये जाते हैं उन आश्वासनों को किस सीमा तक पूरा किया जाता है, इस तथ्य की जांच का कार्य इस समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है। इस समिति का कार्य सदन की प्रक्रिया तथा उसके कार्य संचालन के नियमों पर विचार करना तथा आवश्यकतानुसार उनमें संशोधन की सिफारिश करना है। इस समिति में 15 सदस्य होते हैं जिनको लोक सभा अध्यक्ष 1 वर्ष के लिए नियुक्त करता है।
7. **विशेषाधिकार समिति (Committee on Privileges) :-** इस समिति का कार्य सदन और उसके सदस्यों के विशेषाधिकारों के उल्लंघन के मामले की जांच करना है। समिति के सदस्यों की संख्या 15 होती है जिनका मनोनयन सदन के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है।
8. **सदन में अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों संबंधी समिति (Committee on Absence of Members from Sittings of the House) :-** यदि कोई सदस्य सदन की बैठक से 60 या उससे अधिक दिनों तक सदन की अनुमति के बिना अनुपस्थित रहता है तो उसका मामला समिति के समक्ष विचार हेतु प्रस्तुत किया जाता है। समिति को मामले पर विचार कर सदस्य की सदस्यता समाप्त करने का अधिकार प्राप्त है। सदन के अध्यक्ष द्वारा मनोनीत कुल 15 सदस्य समिति में सम्मिलित होते हैं।
9. **नियम समिति (Rules Committee):-** सदन के अध्यक्ष के सभापतित्व में 15-सदस्यीय इस समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य सदन की कार्यवाहियों के संचालन के संबंध में विचार करना है।
10. **अधीनस्थ विधान समिति (Committee on Subordinate Legislation) :-** यह समिति संविधान या संसद द्वारा किसी अधीनस्थ प्राधिकारी को प्रत्यायोजित विधायी कार्यों के अनुसरण में बनाए गए प्रत्येक नियम, विनियम, उपविधि आदि को जिसको संसद के समक्ष रखे जाने की अपेक्षा है, समीक्षा करती है। समिति को अपनी प्रक्रिया अवधारित करने का अधिकार प्राप्त है।
11. **सरकारी उपक्रम समिति (Committee on Public Undertakings) :-** यह एक वित्तीय समिति है जिसमें 15 सदस्य होते हैं। इनमें से 10 लोक सभा तथा 5 राज्य सभा के सदस्य होते हैं। समिति के अध्यक्ष का चुनाव लोक सभा के सदस्यों में से किया जाता है। समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य सरकारी उपक्रमों के कार्य संचालन की कार्यकुशलता के संबंध में जांच करना है।

संसदीय समितियों के लाभ (Benefits of Parliamentary Committees)

1. संसदीय विधायनों का आकार बहुत बड़ा होने के कारण कुछ जिम्मेदारी छोटे समूहों को बांटना बहुत महत्वपूर्ण होता है। विशेषकर ऐसे मामले जिनमें विस्तृत विषयों पर लोगों के विचार जानने की आवश्यकता हो। इस संदर्भ में संसदीय समितियां महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।
2. ये सभी विधेयकों की विस्तृत छानबीन करके कार्यपालिका पर संसदीय नियंत्रण को स्थापित करती है क्योंकि इसमें कार्यपालिका का कोई मंत्री सामान्यत: सदस्य नहीं होता है।
3. सदन के नेता विधेयकों की जटिलताओं से पूर्णत: परिचित नहीं होते। ऐसे में विषय संबंधित विशेषज्ञ समूह संबंधित विधेयक

के बारे में रचनात्मक भूमिका निभाती हैं।

4. ये संसद की दलगत राजनीति से दूर रहकर विपक्ष की एकता व उसकी रचनात्मक भूमिका को बढ़ावा देती हैं। इनके माध्यम से सांसदों में सार्वजनिक नीति के विशिष्ट पहलुओं के बारे में विशेषज्ञता का विकास होता है।
5. आम जनता के विभिन्न संगठन इन समितियों के पास अपने विचार रख सकते हैं जिससे संसद एवं जनता के बीच पारस्परिक अत:क्रिया को बढ़ावा तथा विभिन्न मुद्दों पर गैर सरकारी विचार जानने का अवसर मिलता है।
6. ये राज्य सभा की प्रासंगिकता को बढ़ाती हैं। बजटीय मसलों पर राज्यसभा की भूमिका संसदीय समितियों के माध्यम से बढ़ जाती है।
7. संसदीय समितियां सहकारी संघवाद की भावना को बढ़ावा देती है।

संसदीय प्रस्ताव एवं शब्दावली (Motions & Terms in Parliament)

संसदीय कार्यवाहियों से संबंधित कतिपय शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। ये शब्द निम्नांकित हैं:

1. **प्रश्न काल (Question Hour) :-** सामान्यत: संसद की कार्यवाही प्रश्नकाल से आरंभ होती है। इसकी अवधि एक घंटे की होती है जिसमें सदस्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर मंत्रियों द्वारा दिये जाते हैं। प्रश्नों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:
   - क. **तारांकित प्रश्न (Starred Question) :-** ऐसे प्रश्नों का उत्तर मौखिक होता है। सदन के अध्यक्ष द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि किस प्रश्न का उत्तर मौखिक दिया जाना है। सामान्यत: एक सदस्य द्वारा एक दिन में एक ही तारांकित प्रश्न पूछा जाता है लेकिन मंत्रियों द्वारा दिये गए उत्तर के आधार पर पूरक प्रश्न पूछे जा सकते हैं।
   - ख. **अतारांकित प्रश्न (Unstarred Question) :-** ऐसे प्रश्नों का उत्तर मौखिक नहीं दिया जाता। दूसरे शब्दों में, ये उत्तर लिखित अथवा मुद्रित हो सकते हैं। अतारांकित प्रश्न पूछे जाने के लिए 10 दिनों की पूर्व सूचना अनिवार्य है। इस संबंध में पूरक प्रश्न पूछने की अनुमति नहीं है।
   - ग. **अल्पावधिक प्रश्न (Shortnotice Question) :-** सार्वजनिक हित से संबंधित विषयों पर किसी सदस्य द्वारा ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं। लेकिन सदन के अध्यक्ष द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि वह विषय सार्वजनिक हित का तथा तत्काल पूछे जाने के लिए आवश्यक है।
2. **शून्य काल (Zero Hour) :-** शून्य काल वस्तुत: प्रश्न काल के बाद की अवधि है जिसके लिए सामान्यत: एक घंटे का समय निर्धारित है। इस दौरान सदस्यों द्वारा विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिए प्रश्न पूछे जाते हैं। विशेष रूप से शून्य काल में उन विषयों पर चर्चा की जाती है जिन पर प्रश्न काल के दौरान प्रश्न नहीं पूछे गये हों।
3. **कटौती प्रस्ताव (Cut Motion) :-** अनुदान की मांगों में कटौती संबंधी प्रस्ताव को कटौती प्रस्ताव कहा जाता है।सामान्यत: यह प्रस्ताव विपक्ष के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह कटौती कई प्रकार की होती है :
   - क. **नीति संबंधी कटौती (Policy Cut):-** अनुदान की मांगों का विरोध करने के लिए किसी सदस्य द्वारा मांगों को घटाकर 1 रुपया करने का प्रस्ताव किया जाता है। इस प्रक्रिया को नीति संबंधी कटौती कहते हैं। इसका उद्देश्य सरकारी मांगों के प्रति सदस्यों द्वारा विरोध प्रकट करना है।
   - ख. **मितव्ययिता कटौती (Economy Cut) :-** इस प्रस्ताव में मांग की राशि में अपेक्षाकृत कटौती अधिक होती है जिसका मूल उद्देश्य सरकारी व्यय में कमी लाना है।
   - ग. **सांकेतिक कटौती (Token Cut):-** इस प्रस्ताव में मांग की राशि में से 100 रुपये की कटौती की जाती है जिसका उद्देश्य ऐसी विशिष्ट शिकायत को प्रकट करना है जो सरकार के उत्तरदायित्व के क्षेत्र में हो।
4. **स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion) :-** सार्वजनिक हित के किसी अत्यावश्यक विषय पर चर्चा करने के उद्देश्य से स्थगन प्रस्ताव लाया जाता है जिसके आधार पर सदन की कार्यवाहियां स्थगित कर दी जाती हैं। यह प्रस्ताव किसी भी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है लेकिन उपस्थित सदस्यों में से 50 प्रतिशत द्वारा इसका समर्थन अनिवार्य है। साथ ही, अध्यक्ष द्वारा इस संबंध में अनुमति प्राप्त करना भी अनिवार्य है।
5. **ध्यानाकर्षण प्रस्ताव (Calling Attention Motion) :-** सदन के अध्यक्ष की पूर्व अनूमति के आधार पर किसी सदस्य द्वारा सार्वजनिक महत्व के किसी अत्यावश्यक मुद्दे पर मंत्री का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है। इसके

उत्तर में मंत्री द्वारा कतिपय सूचना देकर विस्तृत उत्तर के लिए समय की मांग की जा सकती है।

6. **विशेषाधिकार प्रस्ताव (Privilege Moti-on):-** किसी सदस्य द्वारा यह समझे जाने पर कि किसी मंत्री ने सदन के विशेषाधिकारों का हनन किया है अथवा किसी विषय पर सही सूचनाओं से सदन को अवगत नहीं कराया है, यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया जा सकता है।
7. **निन्दा प्रस्ताव (Censure Motion):-** शासन या किसी विशेष मंत्री द्वारा अपनाई गई नीति या उसके कार्यो की आलोचना करने के लिए निन्दा प्रस्ताव लाया जाता है।
8. **अविश्वास प्रस्ताव (No-confidence Motion):-** अविश्वास प्रस्ताव लोक सभा नियमावली के नियम 198 के तहत लाया जाता है। चूंकि मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है, अत: यह प्रस्ताव केवल लोक सभा में ही पुर:स्थापित किया जा सकता है। प्रस्ताव की प्रस्तुति विपक्ष के किसी सदस्य द्वारा की जाती है। सदन की सहमति के आधार पर इस प्रस्ताव के लिए समय का निर्धारण होता है।
9. **विश्वास प्रस्ताव (Confidence Motion):-** यद्यपि लोक सभा की नियमावली में ऐसे किसी प्रस्ताव का स्पष्ट उल्लेख नहीं है लेकिन व्यावहारिकता में ऐसे प्रस्ताव की पुर:स्थापना सत्तारूढ़ दल द्वारा की जाती है। भारतीय राजव्यवस्था में सन् 1979 में सर्वप्रथम विश्वास प्रस्ताव लाया गया था जब तत्कालीन प्रधानमंत्री चरण सिंह को सदन में विश्वास सिद्ध करने के निर्देश दिये गये थे।
10. **गुलोटीन (Guillotine):-** अनुदान की मांगों से संबंधित सभी प्रकार के विचाराधीन प्रश्नों पर चर्चा की समाप्ति के लिए अध्यक्ष द्वारा यह प्रक्रिया अपनाई जाती है। दूसरे शब्दों में, गुलोटीन वस्तुत: अनुदान की मांगों पर चर्चा की समाप्ति की प्रक्रिया है।

संसद के सत्र (Sessions of Parliament)

राष्ट्रपति समय-समय पर संसद के प्रत्येक सदन को ऐसे समय और स्थान पर, जैसा कि वह उचित समझता है, अधिवेशन के लिए आहूत करेगा। किन्तु शर्त यह है कि उसके एक सत्र की अंतिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियत तिथि के बीच छ: मास का अन्तर नहीं होना चाहिए। इस प्रकार एक वर्ष में दो बार संसद का अधिवेशन बुलाया जाना आवश्यक है। राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर संसद का अधिवेशन बुलाता है।

लोकसभा के प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र के आरंभ पर तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के आरंभ में एक साथ आहूत दोनों सदनों को राष्ट्रपति संबोधित करता है। संसद को उसके बुलाए जाने के कारण बताता है।

संसद का सत्रावसान (Prorogation of Parliament)

राष्ट्रपति समय-समय पर सदन का सत्रावसान करता है। सत्रावसान का अर्थ है संसद के किसी विशेष सत्र को समाप्त करना। स्थगन (adjournment) सदन की बैठक को समाप्त करना है। एक सत्र में कई बैठकें होती हैं। स्थगन स्वयं सदन का कार्य होता है जिसका प्रयोग स्पीकर या सभापति करता है। सत्रों के स्थगन का सदन में विचाराधीन अपूर्ण मामलों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। सदन ऐसे मामलों में इसकी बैइक पर विचार कर सकता है।

लोक सभा का विघटन (Dissolution of Lok Sabha)

विघटन सदन की कालावधि को ही समाप्त कर देता है; जिसके बाद नई लोकसभा के निर्माण के लिए निर्वाचन होना आवश्यक हो जाता है। राज्यसभा का विघटन नहीं होता है। सत्रावसान और विघटन में अन्तर यह है कि सत्रावसान सदन के किसी विशेष सत्र को समाप्त करता है जबकि विघटन उस सदन के जीवनकाल को ही समाप्त कर देता है। विघटन का सदन की कार्यवाहियों पर प्रभाव- जब लोकसभा का विघटन हो जाता है तो-

1. राज्यसभा में लम्बित विधेयक, जिसको लोकसभा ने पारित नही किया है, लोकसभा के विघटन पर समाप्त नहीं होता है,
2. लोकसभा में लंबित विधेयक समाप्त हो जाता है,
3. लोकसभा से पारित विधेयक किन्तु राज्यसभा में लंबित विधेयक समाप्त हो जाता है, जब तक कि इसे सदनों की संयुक्त बैठक करने की राष्ट्रपति की घोषणा द्वारा बचा नहीं लिया जाता।

वार्षिक वित्तीय विवरण (Annual Financial Statement)

राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों

(Estimated receipts) और व्यय (Expenditure) का विवरण रखता है जिसे वार्षिक वित्तीय विवरण कहते हैं।

प्रत्यायोजित / अधीनस्थ विधायन (Delegated/Subordinate Legislation)

आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं और तेजी से होने वाले औद्योगीकरण के कारण राज्य के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का त्याग करके समाज कल्याण के विचार पर ध्यान दे जो कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की मूल भावना के अनुरूप हो। इसके परिणामस्वरूप राज्य सामाजिक, आर्थिक परिर्वतनों का अधिकाधिक माध्यम बन गया है। अब विधानमण्डलों को जो विधान बनाना पड़ता है उसका दायरा इतना व्यापक और स्वरूप इतना विविध होता है कि उससे मानव जीवन का कोई पक्ष अछूता नही रहता।

विधि निर्माण की प्रक्रिया आधुनिक समय में अत्यधिक जटिल एवं तकनीकी स्वरूप की होती जा रही है। ऐसी परिस्थितियों में विधानमण्डल के पास न तो इतना समय है कि वह सभी आवश्यक विधियों पर विचार कर सके और न ही अपेक्षित विशेषज्ञता होती है कि वह उनके प्रक्रियागत एवं तकनीकी ब्यौरो में जा सके। इसीलिए यह उपबंध किया गया है कि विधानमण्डल विधान निर्माण की अपनी शक्तियां किसी अधीनस्थ एजेंसी को प्रत्यायोजित कर सके। विधानमंडल द्वारा प्रत्यायोजित अधिकार के अन्तर्गत रहकर किसी अधीनस्थ एजेंसी द्वारा बनाये जाने वाले ऐसे विधानों को प्रत्यायोजित अधीनस्थ विधान कहा जाता है।

विशेषताएं

1. सदन बाह्य संरचना का निर्माण करती है और कार्यपालिका को नियम बनाने की शक्ति प्रदान कर दी जाती है।
2. सदन इसके साथ कार्यपालिका को कुछ शर्ते भी स्पष्ट रूप से बता सकती है।
3. सदन की अधीनस्थ विधायन समिति इसकी समीक्षा एवं इसमें संशोधन कर सकती है।
4. सदन को इसे निरसित एवं समाप्त करने का अधिकार होना है।
5. इसका न्यायिक पुनरावलोकन संभव हैं।

महत्व

1. इससे सदन का कार्यभार हल्का होता है और वो सदन के अन्य महत्वपूर्ण और नीतिगत विषयों पर कानून बना सकती है।
2. इससे कार्यपालिका को बदलती परिस्थितियों में नीतियों के क्रियान्वयन में सुविधा रहती है।
3. ऐसा विधायन ज्यादा यथार्थकारी रहता है। क्योंकि कार्यपालिका वास्तविक स्थिति कि अनुरूप कानून बना सकती है।

सीमाएं

1. कार्यपालिका और विधायिका के पृथक्करण का पालन नहीं होना जो नैसर्गिक न्याय (Nature Justice) के सिद्धान्त के विरूद्ध है जिसमें कानून बनाने व लागू करने वाली संस्था एक ही होती है।

वित्तीय नियंत्रण

प्रस्ताव का चरण

- संचित निधि से धन निकासी के लिए संसद द्वारा सरकार को अधिकृति करने वाली प्रक्रियाएँ
- अनु. 112-116
- वार्षिक वित्तीय विवरण
- अनु. 112

प्रतिफल का चरण

- सरकार द्वारा किए गए व्यय कि गुणवत्ता कि जाँच करने वाली प्रक्रिया

अवयव

- व्यय भाग (विनियोग विधेयक) (इसका संविधान में प्रावधान है।)
- राजस्व भाग (वार्षिक वित्त विधेयक) इसका उल्लेख संविधान में नहीं है।

अनु. 112 इस विवरण में उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्यय का विवरण होता है।

2. यह लोकतंत्र की मूल भावनाओं के विरूद्ध है।
3. इसके द्वारा कार्यपालिका के अधिकारियों में नई सामन्तशाही विकसित हो सकती है क्योंकि न तो वे संसद के प्रति उत्तरदायी है और न प्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति।
4. इसके द्वारा विपक्ष की रचनात्मक भूमिका में गिरावट उत्पन्न होती है।

संसद का कार्यपालिका पर नियंत्रण (Parliamentary Control over Executive)

भारत की संसदीय प्रणाली में राजनीतिक कार्यपालिका पर संसद का प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित होता है। वस्तुतः संसद विधि-निर्माण की सर्वोच्च संस्था है, जो भारत में द्विसदनीय विधानमण्डल में लोकसभा और राज्यसभा के रूप में अभिव्यक्त होती है। अतः इन सदनों को एक ऐसा वैचारिक मंच कहा जाता है जहाँ जन प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता और कार्यपालिका के सदस्यों के बीच अंतःक्रियाएँ होती हैं। इन्हीं अंतः क्रियाओं के दौरान प्रशासकीय और वित्तीय नियंत्रण स्थापित किए जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि संसद का कार्यपालिका पर नियंत्रण वास्तविक अर्थ में जनता का नियंत्रण है, जो भारत की संप्रभुता का जनता में निहित होने का प्रमाण है।

1. **प्रशासकीय नियंत्रण**-

सरकार (राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा किए गए कार्यों की समीक्षा अथवा परीक्षण के आधार पर नियंत्रण)पर

नियंत्रण के उपकरण-

क. प्रस्ताव (उदाहरण-कटौती प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव आदि द्वारा

ख. तारांकित/आंतारिक/अल्पावधिक प्रश्नों के द्वारा

ग. लोक लेखा समिति/प्राक्कलन समिति के द्वारा

भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुरूप मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। इस कारण संसद का कार्यपालिका पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित है। वस्तुतः कार्यपालिका द्वारा वही कृत्य किये जाते हैं जो संसद द्वारा उसे सौंपे जाते हैं। **दूसरी ओर,** यद्यपि राष्ट्रपति संसद का ही अंग है लेकिन कार्यपालिका के प्रधान के रूप में भी राष्ट्रपति पद को संविधान में प्रतिष्ठित किया गया है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि संसद महाभियोग के प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रपति को उसके पद से हटा सकती है। साथ ही, अविश्वास प्रस्ताव पारित कर सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद को पदच्युत करने का अधिकार भी संसद को प्राप्त है।

सत्तारूढ़ दल द्वारा लाये गये किसी प्रस्ताव के पारित नहीं होने अथवा कटौती प्रस्ताव के पारित हो जाने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ने संसद में अपना विश्वास खो दिया है तथा सरकार के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के लिए लोक सभा नियमावली में मंत्रियों से कई प्रकार के प्रश्न पूछे जाने के अधिकार भी संसद सदस्यों को प्राप्त हैं। इन प्रश्नों के माध्यम से संसद कार्यपालिका पर न केवल नियंत्रण रखती है बल्कि उसे अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी बनाये रखने में भी सहायक है।

कार्यपालिका पर वित्तीय नियंत्रण के लिए भी संसद को संविधान में कई महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये हैं। उल्लेखनीय है कि विनियोग विधेयक के पारित हुए बिना सरकार द्वारा भारत की संचित निधि से राशि की निकासी नहीं की जा सकती है। इस संबंध में विस्तृत उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 266 (3) में किया गया है। साथ ही, संसद द्वारा विधि निर्माण किये जाने के आधार पर ही सरकार द्वारा बजट में कर संबंधी प्रावधान किये जा सकते हैं।

संसद को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह भारत के नियंत्रक एवं महालेखापरीक्ष की रिपोर्ट पर विचार कर सरकारी व्यय पर नियंत्रण रखती है। इस संबंध में लोक लेखा समिति के कृत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

संसद एवं न्यायपालिका (Parliament and Judiciary)

भारतीय संविधान ने संसद एवं न्यायपालिका के मध्य समन्वय की स्थापना का प्रयास किया है जिसके लिए विशिष्ट प्रावधान भी किये गये हैं। इस दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि संविधान में संसद को विधि निर्माण तथा न्यायपालिका को इन विधियों के समुचित क्रियान्वयन के सुनिश्चितीकरण एवं संविधान के निर्वचन का अधिकार प्रदान किया है।

कई अवसरों पर यह प्रतीत होता है कि संविधान के प्रावधानों में एक विरोधाभास है लेकिन वास्तविकता में ऐसे सभी उपबंध समन्वय की स्थापना के लिए हैं। उदाहरण के लिए, एक ओर जहां संसद विधि द्वारा न्यायालयों की अधिकारिता को सीमित कर सकती है वहीं दूसरी ओर, न्यायपालिका संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि को अविधिमान्य घोषित कर सकता है। ये दोनों का प्रावधान

एक दूसरे को अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी बनाने के उद्देश्य से किये गये हैं न कि एक की सर्वोच्चता अन्य पर स्थापित करने के लिए।

राज्य की विधायिका (State Legislature)

भारत में शासन की संघीय व्यवस्था होने के कारण राज्य में एक राज्यपाल तथा एक विधानमंडल का अस्तित्व है। अनुच्छेद 168 के तहत कई राज्यों में द्विसदनी विधानमंडल का प्रावधान भी किया गया है। वर्तमान में कुल पांच राज्यों में द्विसदनी विधानमंडल का अस्तित्व है। ये राज्य हैं : **बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक उत्तर प्रदेश तथा जम्मू एवं कश्मीर।**

अनुच्छेद 169 (1) के अनुसार, अनुच्छेद 168 में किसी बात के होते हुए भी संसद विधि द्वारा किसी विधान परिषद वाले राज्य में विधान परिषद के उत्सादन के लिए या ऐसे राज्य में, जिसमें विधान परिषद नहीं है, विधान परिषद के सृजन के लिए उपबंध कर सकेगी, यदि उस राज्य की विधान सभा ने इस आशय का संकल्प विधान सभा की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया है।

विधान सभा (Legislative Assembly)

संविधान के अनुच्छेद 170 में राज्य विधान सभा के गठन संबंधी प्रावधान किये गये हैं। विधान सभा राज्य विधानमंडल का लोकप्रिय सदन है अतः राज्य कार्यपालिका सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। अनुच्छेद 170 (1) के तहत यह प्रावधान है कि किसी राज्य की विधान सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 500 तथा न्यूनतम संख्या 60 निश्चित की गई है। लेकिन सिक्किम, गोवा, मिजोरम तथा अरूणाचल प्रदेश में सदस्यों की संख्या 60 से कम है। विधान सभा में आंग्ल भारतीय समुदाय के एक सदस्य का मनोनयन राज्यपाल द्वारा अनुच्छेद 333 के तहत किया जा सकता है।

विधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर राज्य की जनता द्वारा प्रत्यक्ष ढंग से होता है। 18 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले व्यक्ति को धर्म, जाति, भाषा तथा लिंग के भेद के बिना मतदान का अधिकार प्रदान किया गया है। निर्वाचन क्षेत्र का विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि प्रत्येक सदस्य कम से कम 75 हजार की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व कर सके। लेकिन असम के कुछ जिलों, शिलांग की छावनी तथा मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय में विधान सभा के निर्वाचन क्षेत्र के लिए 75 हजार की जनसंख्या की बाध्यता नहीं है।

विधान सभा की अवधि पांच वर्ष की है लेकिन आपातकाल के दौरान इसकी अवधि एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ाई जा सकती है। विधान सभा की बैठक में गणपूर्ति के लिए 1/10 या दस सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक है। विधान सभा के दो अधिवेशनों के मध्य अधिकतम 6 माह की अवधि निर्धारित है। बैठकों को राज्यपाल द्वारा आहूत किया जाता है।

विधान सभा की कार्यवाहियों के संचालन के लिए लोक सभा की भांति एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष के निर्वाचन किये जाने का प्रावधान है। विधान सभा अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के कार्य वही होते हैं जो लोक सभा अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के होते हैं। विधान सभा के अधिकारों एवं कार्यों में निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. **विधायी शक्तियां (Legislative Powers):-** विधि निर्माण के क्षेत्र में विधान सभा को व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं। राज्य सूची में उल्लिखित सभी विषयों पर कानून बनाने का अधिकार विधान सभा को प्राप्त है। लेकिन इस संबंध में उल्लेखनीय है कि विधान सभा द्वारा बनाई गई विधि संसदीय विधि का विरोध करने वाली नहीं होनी चाहिए। यदि समवर्ती सूची में वर्णित विषयों के संबंध में विधान सभा द्वारा निर्मित कानून पर भारत के राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हो जाये तो ऐसी स्थिति में संसदीय कानून का विरोधी होने के बावजूद राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित कानून ही मान्य होता है।
2. **वित्तीय शक्तियां (Financial Powers):-** विधान सभा को राज्य के वित्त पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त है क्योंकि वित्त तथा धन विधेयक विधान सभा में ही पुरःस्थापित किये जा सकते हैं। विधान परिषद को राज्य सभा की भांति ही इस संबंध में सीमित शक्तियां प्राप्त हैं।
3. **कार्यकारिणी शक्तियां (Executive Powers) :-** संविधानतः राज्य कार्यपालिका अर्थत मंत्रिपरिषद अपने कार्यों के लिए विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। विधान सभा सदस्यों को मंत्रियों विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछने का अधिकार भी प्राप्त है।
4. **विविध शक्तियां (Miscellaneous Powers)**

   क. विभिन्न राज्यों के विधान सभा सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल के सदस्य होते हैं।

   ख. विधान सभा को संवैधानिक संशोधनों में भी भाग लेने का अधिकार प्राप्त है क्योंकि सांविधानिक उपबंधों के अनुसार, संशोधन

की एक प्रक्रिया में कम से कम आधे राज्यों की विधानसभाओं की स्वीकृति अनिवार्य है।

विधान सभा की अवधि

विधान सभा की अवधि पाँच वर्ष है किन्तु-

1. राज्यपाल उसे पाँच वर्ष से पूर्व विघटित कर सकता है।
2. राज्यपाल द्वारा आपात की उदघोषणा की दशा में पाँच वर्ष की अवधि का उत्सादन किया जा सकता है ऐसी दशा में संघ की संसद को यह शक्ति होगी की कि वह उद्घोषणा के प्रभावी न रहने के पश्चात् छह मास से अनधिक की अवधि के लिए विधानसभा के जीवन का विस्तार कर सकेगी। यह इस शर्त के अधीन रहते हुए है कि ऐसा विस्तार एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगा।

विधान परिषद (Legislative Council)

अनुच्छेद 171 में विधान परिषद की न्यूनतम संख्या 40 निर्धारित है। अधिकतम संख्या विधान सभा के बल के प्रति निर्देश से तय की जाती है। यह उपबंध किया गया है कि विधान परिषद की अधिकतम संख्या विधान सभा की कुल सदस्य संख्या का एक तिहाई होगी। इन सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय मत पद्धति द्वारा किया जाता है। विधान परिषद का गठन निम्नांकित रूप में किया जाता है :

1. विधान परिषद की कुल सदस्य संख्या का 1/3 भाग संबंधित राज्य की स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित किया जाता है।
2. कुल सदस्य संख्या का 1/12 भाग ऐसे-ऐसे अध्यापकों द्वारा निर्वाचित किया जाता है जो माध्यमिक या उच्चतर शिक्षण संस्थाओं में तीन वर्ष से अधिक अवधि से कार्यरत हैं।
3. कुल सदस्य संख्या का 1/12 भाग संबंधित राज्य में निवास करने वाले तथा तीन वर्ष पूर्व स्नातक की उपाधि प्राप्त करने वाले स्नातकों द्वारा निर्वाचित किया जाता है।
4. कुल सदस्य संख्या का 1/3 भाग का निर्वाचन विधानसभा सदस्यों द्वारा किया जाता है।
5. कुल सदस्य संख्या का 1/6 भाग का मनोनयन राज्य के राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

विधान परिषद् की शक्तियाँ एवं कार्य (Powers & Functions of Legislative Council)

राज्य सभा के विपरीत विधान परिषद् को कोई विशेष शक्तियाँ प्राप्त नहीं है। कुछ मामलों में विधान परिषद को शक्ति विधान सभा के समान है तथा कुछ मामलों में विधान से निम्न शक्ति प्राप्त हैं। साधारण विधेयक को पुर:स्थापित करने एवं पारित करने के सन्दर्भ में विधान परिषद को विधान सभा के समान शक्ति प्राप्त है यद्यपि दोनों सदनों के बीच असहमति होने की स्थिति में विधान सभा अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी सिद्ध होती है।

राज्य विधानमंडल के सदस्यता के लिए अर्हता (अनु. 173)

क. वह भारत का नागरिक हो,

ख. वह विधानसभा के स्थान के लिए कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु का और विधान परिषद् के स्थान के लिए कम से कम तीस वर्ष की आयु का हो, और

ग. उसके पास ऐसी अन्य अर्हताएं हों, जो इस निमित्त संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के अधीन हों।

लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में यह उपबंध किया गया है कि कोई व्यक्ति किसी विधानसभा या परिषद् के लिए निर्वाचित नहीं होगा जब तक कि वह उस राज्य की किसी विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता न हो।

सदस्यता के लिए निरर्हताएं (अनु. 191)

1. यदि वह भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है।
2. यदि वह विकृत चित्त है,
3. यदि वह अनुन्मोचित दिवालिया है,
4. यदि वह भारत का नागरिक नहीं है या स्वेच्छा से किसी अन्य राज्य की नागरिकता ग्रहण कर ली है।

अनु. 192 के अनुसार यदि यह प्रश्न उपस्थित होता कि राज्य विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य उसमें वर्णित किसी निरर्हता

से ग्रस्त हो गया है तो यह प्रश्न राज्यपाल के विनिश्चय के लिए निर्देशित किया जाएगा। राज्यपाल निर्वाचन आयोग की राय के अनुसार कार्य करेगा। उसका विनिश्चय अंतिम होगा और किसी न्यायलय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकेगा।

राज्य विधानमण्डल में विधायी प्रक्रिया (Legislative Procedure in State Legislature)

धन विधेयक और वित्त-विधेयक के अतिरिक्त कोई भी साधारण विधेयक दोनों में से किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है, विधेयकों को दोनों सदनों द्वारा पारित किया जाना आवश्यक है।

यदि कोई विधेयक विधान सभा द्वारा पारित करके विधानपरिषद् को भेज दिये जाने के बाद उसके द्वारा-

अ अस्वीकृत कर दिया जाता है या

ब विधानपरिषद् विचारार्थ भेजे गये विधेयक पर बिना विचार किये 3 महीने से अधिक समय तक अपने पास रखे रहती है या

स विधेयक ऐसे संसाधनों सहित पास करके भेजा जाता है जिस पर विधान सभा सहमत नहीं होती और विधान सभा यदि उसी विधेयक को दुबारा बिना संसोधनों के पूर्व रूप में ही पारित कर देती है या संशोधन सहित उसी सत्र में पारित कर देती है, तब इस प्रकार पारित विधेयक विधानपरिषद् को भेजा जायगा। यदि विधान सभा द्वारा इस प्रकार दुबारा पारित विधेयक विधान परिषद् को भेजे जाने के बाद- (क) विधानपरिषद् द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है या (ख) विधानपरिषद् एक माह से अधिक समय तक उसे बिना पारित किये रखे रहती है या वह विधानपरिषद् द्वारा ऐसे संशोधन सहित पारित होता है जिन्हें विधान सभा स्वीकार नहीं करती तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित समझा जायेगा जिसमें वह विधान सभा द्वारा दूसरी बार पारित किया गया था।

इससे यह स्पष्ट है कि विधान सभा द्वारा लिया गया निर्णय ही सर्वोपरि होता है, केवल कुछ समय तक उच्च सदन (विधानपरिषद्) विधेयक को निलम्बित रख सकता है। राज्य के विधानमण्डल में विचारार्थ प्रस्तुत हुआ विधेयक दोनों सदनों के अथवा किसी एक सदन के सत्रावसान से व्यपगत (Lapse) नहीं हो जाता है। एक विधेयक, जो विधान सभा में विचाराधीन है तथा उसे पारित नहीं किया गया है, वह विधानसभा के भंग हो जाने से व्यपगत नहीं हो जाएगा। यदि कोई विधेयक विधान सभा में विचारार्थ पेश है या उसके द्वारा पारित कोई विधेयक विधानपरिषद् में ही विधाराधीन है, विधानसभा भंग हो जाने से व्यापगत (Lapse) नहीं होगा।

धन विधेयक (Money Bill)

केन्द्रीय विधानमण्डल की तरह ही धन-विधेयक राज्य की विधान सभा में पेश किये जा सकते हैं। धन-विधेयक विधानपरिषद् में पेश नहीं किये जा सकते हैं। विधान सभा द्वारा पारित किये जाने के पश्चात् धन-विधेयक को विधानपरिषद् की सिफारिश के लिए भेज दिया जाता है। विधेयक प्राप्त करने की तिथि से 14 दिनों के भीतर ही विधानपरिषद् को अपनी सिफारिश के सहित विधेयक को अवश्य लौटा देना चाहिए। यह विधान सभा पर निर्भर करता है कि वह विधानपरिषद् द्वारा की गई सिफारिश को अंशतया या पूर्णतया स्वीकार कर ले अथवा उसे अस्वीकार कर दे। यदि विधान सभा विधानपरिषद् द्वारा की गई किसी भी सिफारिश को स्वीकार कर लेती है तो यह मान लिया जायगा कि विधान सभा ने संशोधनों सहित विधेयक पास कर दिया है।

यदि विधान सभा सभी संशोधन को अस्वीकार कर देती है तो भी यह समझा जाएगा कि धन-विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया जा चुका है।

यदि धन-विधेयक को विधान परिषद् 14 दिनों की अवधि के अन्तर्गत संशोधनों सहित या बिना संशोधन के वापस नहीं भेजती तो यह मान लिया जायेगा कि विधानपरिषद् ने उसे बिना किसी संशोधन के पास कर दिया है और वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा मूल रूप से पास समझा जायेगा।

यदि यह प्रश्न उपस्थित हो जाय कि क्या अमुक विधेयक धन-विधेयक है या नहीं, तो उस पर राज्य की विधान सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होगा।

अनु २००: विधेयकों पर राज्यपाल की अनुमति (Art 200: Assent of Governor Bills)

जब एक विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया जा चुका है तो वह राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। वह निम्न घोषणाएँ कर सकता है-

अ. वह विधेयक को स्वीकृति दे दे,

ब. अपनी स्वीकृति रोक ले,

स. विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित कर ले। एक परिस्थिति में अवश्य ही जब वह विधेयक राज्य के उच्च न्यायालय के

अधिकारों एवं शक्तियों को प्रभावित करता है तो उसे उस विधेयक को तो आरक्षित करना ही है,

द. पुनर्विचार के लिए विधेयक को वापस दे।

अन्तिम परिस्थिति में जब राज्यपाल पुनर्विचारार्थ किसी विधेयक को सदन को वापस करता है तो सदन उस पर विचार करेगा ही; किन्तु यह सदन पर निर्भर करता है कि राज्यपाल द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को वह माने या न माने। किन्तु दुबारा यदि वही विधेयक अपने पूर्व रूप या संशोधित रूप में सदनों द्वारा पारित हो जाता है और राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए भेजा जाता है तो वह उसे वापस नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि राज्यपाल को कोई भी विधेयक रद्द करने का अधिकार नहीं है या तो वह उस विध ेयक पर अपनी स्वीकृति दे या फिर उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर ले। तृतीय व्यवस्था (स) में, जहाँ पर विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित कर लिया गया है, वहाँ पर राष्ट्रपति के पास उसके सम्बन्ध में तीन मार्ग हैं-

1. वह विधेयक पर स्वीकृति दे दे; या
2. अपनी स्वीकृति रोक ले;
3. यदि उक्त विधेयक धन विधेयक नहीं है तो वह उसे पुनर्विचार हेतु राज्य के विधानमण्डल के सदन या सदनों को भेज सकता है तथा कतिपय संशोधन समझा सकता है। राज्य के विधानमण्डल को उस विधेयक पर प्राप्त हो जाने के पश्चात् 6 महीने की अवधि के अन्दर अवश्य विचार कर लेना चाहिए। यदि उसे सदन ने पुनः उसी रूप में अथवा संशोधन सहित पास कर दिया तो यह राष्ट्रपति पर निर्भर है कि वह चाहे तो उस पर अपनी अनुमति दे दे अथवा अस्वीकार कर दे।

द्विसदनीय विधानमंडल वाले राज्यों की विधायी प्रक्रिया की तुलना

(Comparison of States with procedures in bicameral)

1. धन-विधेयक के संबंध में विधान परिषद् को केवल इतनी शक्ति प्राप्त है कि वह उसे 14 दिन की अवधि तक रोके रखे। यदि वह उस पर कोई सिफारिश करती है, तो विधानसभा उनसे आबद्ध नहीं है। हर दशा में विधानसभा की इच्छा अभिभावी होगी।
2. धन-विधेयकों से भिन्न विधेयकों के बारे में परिषद् को एकमात्र शक्ति यह है कि वह कुछ अवधि तक विधेयक के पारित होने को निलंवित कर सके। प्रारंभ में यह अवधि तीन मास है किन्तु, विधानसभा द्वारा पुनः पारित कर देने के पश्चात् विधान परिषद् उसे एक मास के लिए और रोक सकती है। कुल मिलाकर विधान परिषद् साधारण विधेयक को चार मास (3+1) के लिए विलंबित कर सकती है।

11. कार्यपालिका

संघ की कार्यपालिका (Union Executive)

सामान्यत: सरकार के तीन अंग होते हैं, यथा, कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका। विधायिका द्वारा कानूनों का निर्माण होता है, कार्यपालिका उन कानूनों का क्रियान्वयन करती है तथा न्यायपालिका इन कानूनों के आधार पर न्याय की व्यवस्था करती है। भारत में संघ की कार्यपालिका के स्वरूप के निर्धारण के संदर्भ में संविधान सभा के समक्ष निम्नांकित तीन विकल्प थे :

1. ब्रिटेन जैसी संसदीय प्रणाली जिसमें राज्य का प्रधान केवल औपचारिक प्रधान होता है तथा वास्तविक शक्ति प्रधानमंत्री एवं मंत्रिमंडल के पास होती है।
2. अमेरिका जैसी अध्यक्षात्मक प्रणाली जिसमें राज्य का प्रधान प्रशासन का भी प्रधान होता है तथा उसे ही वास्तविक अधिकार प्राप्त होते हैं।
3. स्विट्जरलैंड जैसी बहुल कार्यपालिका जिसमें संसदीय तथा अध्यक्षात्मक, दोनों ही शासन प्रणालियों के गुण समावेशित हों।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेन जैसी संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। भारतीय संविधान के भाग 5 में **अनुच्छेद 52 से 78** संघीय कार्यपालिका की व्याख्या है। राष्ट्रपति की सर्वोच्चता पर आधारित सिद्धान्त वर्तमान लोकतंत्रात्मक गणतंत्र की विशेषता है। भारत के संदर्भ में संघीय कार्यपालिका के अभिन्न अंग के रूप में राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद तथा महान्यायवादी को स्थापित किया गया है।

संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System)

ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा भारत जैसे देशों ने संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया है। यद्यपि इन सभी देशों की शासन व्यवस्थाओं में पर्याप्त भिन्नता विद्यमान है लेकिन इसके बावजूद संसदीय शासन प्रणाली के आधारभूत लक्षण यहां उपलब्ध हैं। परंपरागत रूप से इस प्रकार की शासन व्यवस्था का उद्गम स्थल ब्रिटेन होने के कारण यह अपने विशिष्ट स्वरूप में यहां विद्यमान है।

ब्रिटेन में संवैधानिक राजतंत्र तथा प्रधानमंत्रित्व वाली सरकार के गठन की व्यवस्था कायम की गई है। इसी प्रकार भारत में भी राष्ट्राध्यक्ष के रूप में एक संवैधानिक प्रधान नियुक्त किया गया है जो राष्ट्रपति होता है। साथ ही, एक संसद का गठन कर लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना भी भारत में की गई है। भारत के संदर्भ में निर्वाचित राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान होता है लेकिन राजनीतिक कार्यपालिका अथवा मंत्रिमंडल को संसद के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है ताकि लोकतांत्रिक ढांचा सुदृढ़ बना रह सके।

संसदीय शासन प्रणाली के गुण एवं दोष

(Merits and Demerits of Parliamentary System)

गुण (Merits)

i. यह स्पष्ट है कि कैबिनेट-आधारित शासन व्यवस्था में कार्यपालिका तथा विधायिका के मध्य सकारात्मक समन्वय होता है। कैबिनेट के सभी सदस्यों को संसद का विश्वास प्राप्त होता है जिससे शासन व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे। इससे विधि निर्माण की प्रक्रिया में भी अवरोध उत्पन्न होने की न्यूनतम आशंका होती है।

ii. एक अत्यन्त विशिष्ट पक्ष यह है कि सरकार पर संसदीय नियंत्रण होने के कारण उसके निरंकुश होने की आशंका अत्यन्त कम होती है। संसद में विपक्ष अपने विचारों से उसे विनियमित करने का प्रयास करता है। साथ ही, विपक्ष सामान्य जनता के विचारों को सरकार के समक्ष रखने में भी विशिष्ट भूमिका निभाता है। सरकार द्वारा की जाने वाली गलतियों को जनता के समक्ष उजागर करना भी विपक्ष का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके अतिरिक्त, विशेष परिस्थितियों में सरकार द्वारा संसद में विश्वास खो देने के पश्चात विपक्ष एक वैकल्पिक सरकार का गठन भी कर सकता है।

iii. संसदीय शासन व्यवस्था वस्तुत: लोकतांत्रिक व्यवस्था का एक प्रमुख प्रमाण है। सरकार के संसद के प्रति उत्तरदायी होने के कारण वह अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्र की संप्रभुता जनता में निहित होती है जो सरकार के रूप में प्रकट होती है।

iv. संसदीय शासन व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें सरकार अथवा कैबिनेट के नम्य एवं लचीले होने के कारण संकटकालीन परिस्थितियों से निपटने में सरलता होती है। किसी भी प्रकार के राजनीतिक संकट की स्थिति में सरकार के नेतृत्व में

परिवर्तन करना सरल है।

v. संसदीय शासन प्रणाली में कई राजनीतिक दलों का अस्तित्व होने से जनता की भावनाओं तथा आवश्यकताओं को समझना एवं परखना आसान है। साथ ही, राजनीतिक दलों के माध्यम से जनता सदैव राजनीतिक रूप से सक्रिय रहती है।

दोष (Demerits)

उपरोक्त गुणों के समावेश के बावजूद आलोचकों का मानना है कि-

i. संसदीय शासन प्रणाली में शक्ति पृथक्कीकरण पर्याप्त नहीं होने के कारण शक्ति का संकेन्द्रण हो जाता है जो सरकार को कई अवसरों पर निरंकुश बनाता है।

ii. कार्यपालिका एवं विधायिका के पारस्परिक संबंधों के कारण दोनों, ही इकाइयां एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करती हैं जिससे सरकारी तंत्र को सकारात्मक रूप से कार्य करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त नहीं हो पाता।

iii. इसके अतिरिक्त, हांलाकि, सरकार का गठन एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है लेकिन संसद का विश्वास प्राप्त नहीं होने की स्थिति में उसे पदच्युत किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप देश में राजनीतिक संकट की स्थिति उत्पन्न होने की आशंका होती है।

iv. कई देशों में द्विदलीय राजनीतिक व्यवस्था होने से वहां निरंकुशता होने की आशंका होती है जबकि कई अन्य देशों में जहां बहुदलीय प्रणाली विद्यमान है, वहां विचारों के मतभेदों से जनता को सही प्रतिनिधि के चुनाव में कठिनाइयों का सामना करना होता है। साथ ही, बहुदलीय व्यवस्था साझा राजनीति की स्थिति भी उत्पन्न कर सकती है। इस कारण कई अवसरों पर सरकार में शामिल करने के क्रम में कई ऐसे व्यक्तियों को शामिल कर लिया जाता है जिन्हें तकनीकी ज्ञान नहीं होता। ऐसी स्थिति में उन्हें सरकारी कार्यों के निष्पादन में कठिनाइयां होती हैं जो अन्ततः जनता के लिए हानिकारक सिद्ध हो जाती हैं।

iv. राजनीतिक अस्थिरता के अन्य परिणामों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थायी कार्यपालिका अथवा प्रशासन का निरंकुश होना है।

v. मंत्रियों को तकनीकी ज्ञान प्राप्त नहीं होने से उनके अधीन कार्यरत प्रशासक अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं।

संसदीय शासन व्यवस्था को सफल बनाने के सुझाव (Suggestions to make Parliamentary System Successful)

संसदीय शासन प्रणाली के गुण एवं दोषों की उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि इसे सफल बनाने के लिए कई विशिष्ट प्रयास तथा प्रावधान किये जाने चाहिए। ऐसे कई प्रयास हैं :

1. यथासंभव सभी राजनीतिक दलों को देश की विभिन्न समस्याओं की पर्याप्त जानकारी होनी चाहिए।
2. संवैधानिक प्रक्रियाओं में सामान्य नागरिकों का पूर्ण विश्वास वनाने का प्रयास किया जाना चाहिए।
3. प्रशासकों को राजनीतिक तथा अन्य प्रकार के हस्तक्षेपों से मुक्त रखने का यथासंभव प्रयास करना चाहिए।
4. स्वस्थ राजनीतिक दल व्यवस्था का विकास करना चाहिए।
5. विपक्ष द्वारा सकारात्मक भूमिका निभाये जाने की अनिवार्यता होनी चाहिए।
6. देश के संवैधानिक प्रमुख द्वारा दैनिक सरकारी कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करने की स्थिति वनाए रखना चाहिए।
7. कैबिनेट के सदस्यों में दलगत भावना से ऊपर उठकर कार्य करने की मानसिकता का विकास करना चाहिए।

राष्ट्रपति मूलक शासन प्रणाली (Presidential System of Governance)

हांलाकि संसदीय तथा राष्ट्रपतिमूलक शासन प्रणालियां लोकतंत्र की संकल्पना का ही भाग हैं लेकिन राष्ट्रपतिमूलक व्यवस्था संसदीय व्यवस्था से निश्चित रूप से भिन्न है। राष्ट्रपतिमूलक शासन प्रणाली की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके तहत कार्यपालिका, विधायिका से पूर्णतः स्वतंत्र होती है। इस प्रकार की शासन प्रणाली का सर्वोत्तम उदाहरण अमेरिका है। अमेरिकी राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है तथा उसे संसद द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पारित कर पद से नहीं हटाया जा सकता।

वस्तुतः उसे कांग्रेस को विघटित करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है क्योंकि उसके निर्वाचन में कांग्रेस की कोई भूमिका नहीं होती। राष्ट्रपति कांग्रेस को नये विधानों के निर्माण के लिए सुझाव देता है तथा कांग्रेस उसे केवल महाभियोग का प्रस्ताव पारित कर ही पदच्युत कर सकती है। इसी प्रकार, ऐसी शासन व्यवस्था में न्यायपालिका भी पूर्णतः स्वतंत्र होती है। स्पष्टतः राष्ट्रपतिमूलक शासन प्रणाली में शक्ति पृथक्कीकरण के सिद्धांत का अनुसरण किया जाता है। संसदीय तथा राष्ट्रपतिमूलक शासन व्यवस्थाओं की पारस्परिक भिन्नताओं में

निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. संसदीय शासन प्रणाली में राष्ट्राध्यक्ष एक संवैधानिक प्रमुख होता है जबकि राष्ट्रपतिमूलक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति देश का संवैधानिक तथा वास्तविक, दोनों ही प्रकार का प्रमुख होता है।
2. संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका तथा विधायिका में गहरे संबंध स्थापित किये जाते हैं लेकिन राष्ट्रपतिमूलक व्यवस्था में शक्ति का पूर्ण पृथक्कीकरण होता है।
3. संसदीय व्यवस्था में जहां कैबिनेट के सदस्य विधि निर्माण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हैं, वहीं राष्ट्रपतिमूलक व्यवस्था में राष्ट्रपति के सचिवों अथवा मंत्रियों का विधि निर्माण में कांग्रेस को सहयोग करने का अधिकार नहीं होता।
4. संसदीय शासन व्यवस्था में सामान्यत: राजनीतिक समरूपता के सिद्धांत का पालन किया जाता है जबकि राष्ट्रपतिमूलक व्यवस्था में यह अनिवार्य नहीं है।
5. संसदीय शासन व्यवस्था में कैबिनेट के सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं तथा प्रधानमंत्री उनके मध्य समन्वय स्थापित करता है लेकिन राष्ट्रपतिमूलक व्यवस्था में राष्ट्रपति सर्वोच्च होता है।

राष्ट्रपति (President)

भारतीय संविधान के अनुसार, भारत की संघीय कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रपति भारत का प्रथम नागरिक है तथा संघ की कार्यपालिका की समस्त शक्तियां उसमें निहित हैं। संविधान के अनुच्देद 52 में राष्ट्रपति का प्रावधान है। अनुच्छेद 53 के अनुसार, राष्ट्रपति भारत की संघीय कार्यपालिका का अध्यक्ष होने के नाते स्वयं अथवा अपने अधिकारियों की सहायता से कार्यपालिका संबंधी कार्यों के निष्पादन के लिए उत्तरदायी है। साथ ही, भारतीय सेना की सर्वोच्च शक्तियाँ भी राष्ट्रपति में ही निहित हैं जिसके फलस्वरूप उसे भारतीय सेना को सर्वोच्च कमांडर की संज्ञा दी गई है। राव बनाम भारत संघ AIR 1971 SC 1002 मामले में न्यायालय ने स्पष्टीकरण दिया है कि राष्ट्रपति द्वारा कार्यपालिका की शक्ति का निष्पादन संविधान के प्रावधानों, विशेषकर अनुच्छेद 14 के अनुरूप ही किया जाना चाहिए।

राष्ट्रपति का निर्वाचन (Election of President)

राष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 54 में किये गये हैं। इसके अनुसार, राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल द्वारा किया जाता है जिसमें निम्नांकित सदस्य होते हैं :

1. संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य
2. राज्य विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य

सविधान के अनुसार, राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल के सदस्यों के रूप में लोक सभा तथा राज्य सभा के अतिरिक्त राज्य विधान सभाओं के मनोनीत सदस्यों और राज्य विधान परिषदों के सदस्यों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। अनुच्छेद 55 के अनुसार, विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व में समानता का होना अनिवार्य है। वस्तुत: अनुच्छेद 55 के निर्वाचन से राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में *समरूपता के सिद्धान्त* की व्याख्या की जाती है। इस सिद्धान्त से संबंधित तथ्यों का विवरण नीचे दिया गया है :

1. सभी राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा दिये गये मतों का मान ज्ञात करने हेतु एक ही प्रक्रिया अपनाई जाती है।
2. सभी राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा दिये गये मतों का मूल्य तथा संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा दिये गये मतों का मूल्य वस्तुत: एक समान होता है।

अनुच्छेद 55 (3) के अनुसार, राष्ट्रपति का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तहत एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है। साथ ही, मतदान में गोपनीय मतपत्र का उपयोग किया जाना अनिवार्य है।

एकल संक्रमणीय पद्धति (Single Transferable Vote System)

एकल संक्रमणीय पद्धति का तात्पर्य यह है कि मतदाता द्वारा मतपत्र में उम्मीदवारों के नाम अथवा चुनाव चिन्ह के समक्ष अपने वरीयता क्रम का उल्लेख किया जायेगा। **एकल संक्रमणीय** मत पद्धति के तहत प्रत्येक मतदाता मतपत्र पर 1, 2, 3, 4.... लिखकर अपनी पसन्द वरीयता के क्रम में अभिव्यक्त करता है। यदि उम्मीदवारों की संख्या दो है तो निर्वाचन में सरलता होती है लेकिन दो से अधिक संख्या वाली स्थिति में स्पष्ट बहुमत नहीं मिलने पर कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

ऐसी परिस्थिति में निर्वाचनफल प्राप्त करने के लिए केवल वैध मतों के मूल्य में दो का भाग देकर तथा भागफल में एक जोड़कर

निर्वाचन कोटा प्राप्त किया जाता है। यदि प्रथम वरीयता के मतों की गणना में किसी भी उम्मीदवार को निधारित कोटे के बराबर मत प्राप्त होते हैं तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि प्रथम मतगणना में किसी भी उम्मीदवार को निर्धारित कोटे के बराबर मत प्राप्त नहीं होते तो न्यूनतम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को हटा दिया जाता है। हटाये गये प्रत्याशी की द्वितीय वरीयता के मतों को अन्य प्रत्याशियों में बांट दिया जाता है। यह क्रम तब तक जारी रहता है जब तक कि किसी प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित नहीं कर दिया हो।

राष्ट्रपति के पद हेतु अर्हताएं (Qualifications for President)

राष्ट्रपति के पद पर आसीन होने के लिए निम्नांकित अर्हताओं का विवरण अनुच्छेद 58 में वर्णित है:

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
3. लोक सभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो,

कोई व्यक्ति यदि केन्द्र अथवा राज्य सरकारों अथवा राज्य सरकारों के अधीन कार्य करने वाली किसी स्थानीय संस्था में लाभ के पद पर आसीन है तो उसे राष्ट्रपति बनने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है।

राष्ट्रपति के पद पर आसीन होने के उपरांत वह किसी प्रकार के लाभ का पद ग्रहण नहीं कर सकता। साथ ही, उसे बिना किराये के अधिकारिक आवास की सुविधा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, उसके वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधाओं का निर्धारण संसद द्वारा बनाये गये कानूनों के माध्यम से किया जाता है जिनके उपभोग का अधिकार उसे प्राप्त होता है। अनुच्छेद 59 (4) के अनुसार, राष्ट्रपति के वेतन एवं भत्ते को उसके कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता है।

संविधान के अनुच्छेद 57 के अनुसार, संवैधानिक रीतियों एवं प्रावधानों के आधार पर किसी व्यक्ति का निर्वाचन राष्ट्रपति पद के लिए दोबारा किया जा सकता है।

राष्ट्रपति की पदावधि (Term of Office of the President)

अनुच्छेद 56 के अनुसार, राष्ट्रपति पद ग्रहण की तिथि से अपने पद पर पांच वर्षों तक आसीन रहता है। इस अवधि में निम्नांकित कारणों से उसे पदच्युत किया जा सकता है :

1. अपना लिखित त्याग पत्र उप राष्ट्रपति को सौंप दिये जाने की स्थिति में
2. अनुच्छेद 61 के प्रावधानों के अनुसार, संविधान की अवहेलना के आरोप में महाभियोग द्वारा राष्ट्रपति द्वारा स्वलिखित त्याग पत्र उप राष्ट्रपति को सौंपे जाने की सूचना लोक सभा के अध्यक्ष को दी जानी चाहिए।

राष्ट्रपति पर महाभियोग प्रक्रिया (Impeachment)

अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग का आरोप संसद के किसी सदन द्वारा लगाया जा सकता है। लेकिन ऐसा कोई भी आरोप तब तक नहीं लगाया जाएगा जब तक कि-

1. प्रस्तावित आरोप एक संकल्प (resolution) के रूप में न हो;
2. जो कि कम-से-कम 14 दिन की लिखित सूचना देने के बाद न प्रस्तुत किया गया हो;
3. जिस पर सदन के 1/4 सदस्यों ने हस्ताक्षर करके प्रस्तावित करने का तत्थ प्रकट न किया हो;
4. उस सदन के कुल सदस्य-संख्या के कम-से-कम 2/3 बहुमत द्वारा ऐसे संकल्प को पारित न कर दिया गया हो। जब संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार का आरोप लगाया जा चुका हो तब दूसरा सदन उन आरोप की जाँच (Investigation) करेगा। जाँच या तो सदन स्वयं करेगा या किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के द्वारा करायेगा, जिसको उस सदन द्वारा निर्दिष्ट किया जायगा। राष्ट्रपति को इस जाँच में स्वयं उपस्थित होकर या वकील द्वारा अपना बचाव प्रस्तुत करने का अधिकार होगा।

   यदि जाँच के बाद वह सदन अपनी सदस्य-संख्या के कम-से-कम 2/3 बहुमत द्वारा एक संकल्प पारित करके यह घोषित कर देता है कि राष्ट्रपति पर लगाया गया आरोप साबित हो चुका है तो ऐसे संकल्प का प्रभाव उसको पारित किये जाने की तारीख से राष्ट्रपति को अपने पद से हटाया जाना होगा। [अनु०61(4)]।

अमेरिका में भी राष्ट्रपति को महाभियोग लगाकर हटाया जा सकता है। लेकिन इस बात पर भारतीय अमेरिकी संविधान के उपबन्धों में कुछ अन्तर है। भारत के राष्ट्रपति पर महाभियोग 'संविधान के अतिक्रमण' के लिए लगाया जा सकता है जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति

पर महाभियोग 'राजद्रोह', 'घूस लेने' और अन्य 'अपराध' करने के आधार पर लगाया जा सकता है।

अमेरिका में महाभियोग के आरोप लगाने की कार्यवाही केवल निम्न सदन द्वारा प्रारम्भ की जा सकती है। यह सदन आरोप की जाँच के लिए न्यायिक समिति नियुक्त करता है। इस जाँच के परिणाम को सीनेट में भेजा जाता है।

जिस समय सीनेट में महाभियोग की सुनवाई होती है उस समय अमेरिका के सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधिपति सीनेट की अध्यक्षता करता है।

यदि सीनेट अपने 2/3 बहुमत से आरोपों को मान लेता है तो राष्ट्रपति दोषसिद्ध हो जाता है और अपने पद से हटा दिया जाता है।

महाभियोग प्रक्रिया में मनोनीत सदस्यों के भाग लेने का औचित्य

राष्ट्रपति को उसके पद से हटाने की प्रक्रिया अर्थात महाभियोग प्रक्रिया में संसद के निर्वाचित सदस्यों के साथ-साथ मनोनीत सदस्य भी भाग लेते हैं। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद के मनोनीत सदस्य भाग नहीं लेते हैं।

महाभियोग प्रक्रिया में संसद के मनोनीत सदस्यों के भाग लेने का आधार यह है कि राष्ट्राध्यक्ष को पद से हटाने की शक्ति एक संस्था के रूप में संसद को प्राप्त है। इस कारण संसद के निर्वाचित एवं मनोनीत दोनों ही श्रेणी के सदस्यों का समान महत्व है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में मनोनीत सदस्यों के न भाग लेने का आधार यह है कि भारत एक गणराज्य है जिसका चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। जनता द्वारा संसद् सदस्य, राज्य विधान मण्डल के लिए चुने गए प्रतिनिधि राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं अत: मनोनीत सदस्यों के भाग लेने से भारत की गणराज्यीय प्रकृति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

महाभियोग का राजव्यवस्था में महत्व (Significance of Impeachment in the Polity)

राजव्यवस्था में महाभियोग का निम्नांकित महत्व है:

i. संवैधानिक प्रधान तथा राष्ट्राध्यक्ष को पद से हटाने वाली यह प्रक्रिया संविधान की सर्वोच्चता अथवा विधि के शासन के प्रचलन का प्रमाण है।

ii. संसद द्वारा राष्ट्राध्यक्ष को पद से हटाने का प्रावधान जनता में निहित संप्रभुता और संसद की सर्वोच्चता का प्रमाण है।

iii. संसद द्वारा की जाने वाली जाँच के दौरान राष्ट्रपति को अपना पक्ष रखने का अधिकार 'अनु. 14' से विकसित 'नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत' की व्यावहारिकता का प्रमाण है। इस रूप में इसका संबंध 'अनु. 19(1)**(a)** में प्रक्रियात्मक नैसर्गिक न्याय से भी स्थापित है।

iv. महाभियोग के प्रस्ताव को पारित करने की प्रक्रिया एक संसदीय प्रक्रिया है जिसकी प्रकृति अर्ध-न्यायिक है।

भारत और अमेरिका में महाभियोग की तुलना हालांकि भारतीय संविधान में महाभियोग का प्रावधान अमेरिकी संविधान से प्रेरित है। लेकिन भारतीय राजव्यवस्था में इसे पूर्णत: नया दृष्टिकोण प्रदान किया गया है। इसे निम्नांकित तथ्यों से प्रमाणित किया जा सकता है-

अमेरिका में महाभियोग

(i) संविधान के उल्लंघन अथवा आपराधिक कृत्यों के आधार पर प्रस्तावित

(ii) केवल उच्च सदन को चर्चा का अधिकार (केन्द्रीकृत परिसंघ का प्रमाण)

(iii) बैठक की अध्यक्षता का अधिकार उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को प्राप्त है क्योंकि अमेरिकी राष्ट्रपति राष्ट्र तथा सरकार दोनों का अध्यक्ष है।

भारत में महाभियोग

(i) केवल संविधान के उल्लंघने आधार पर प्रस्तावित

(ii) दोनों सदनों को समान अधिकार (संसदीय तंत्र की सुदृढ़ता का प्रमाण)

(iii) न्यायपालिका और विधायिका का शक्ति पृथक्कीकरण होने के कारण ऐसा कोई प्रावधान भारत में नहीं है। दूसरी ओर भारत का राष्ट्रपति संवैधानिक प्रधान है, जिसे पद से हटाने का अधिकार केवल संसद का है।

(महाभियोग की प्रक्रिया जटिल इसलिए है कि मंत्रीपरिषद् राष्ट्रपति को अपने फायदे के लिए अपदस्थ न करें। दूसरी ओर महाभियोग की प्रक्रिया संविधान में इसलिए भी उल्लिखित है क्योंकि देश की जनता को यह एहसास रहे कि वह सर्वोच्च है।

राष्ट्रपति के चुनाव संबंधी विवाद (Disputes Relating to Election of President)

निम्नांकित परिस्थितियों में राष्ट्रपति के चुनाव को चुनौती दी जा सकती है :

1. राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की अवहेलना।
2. मतदाताओं पर अनुचित दबाव।
3. नामांकन पत्र की अनुचित स्वीकृति।

संविधान के अनुच्छेद 71 के तहत राष्ट्रपति एवं उप राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित विवादों के निपटारे का अधिकार उच्चतम न्यायालय को प्रदान किया गया है।

राष्ट्रपति के विशेषाधिकार (अनुच्छेद 361)- राष्ट्रपति को निम्नलिखित विशेषाधिकार प्रदान करता है-

1. **अनु.** 361 के अनुसार राष्ट्रपति अपने पद की शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों के पालन के लिए या उन शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने द्वारा किए गए या किए जाने के लिए तात्पर्यित किसी कार्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नहीं होगा। किन्तु यह अनु. 61 के अधीन महाभियोग के आरोप की जांच के लिए संसद के किसी सदन द्वारा नियुक्त या निर्दिष्ट किसी न्यायालय, न्यायधिकरण या निकाय द्वारा राष्ट्रपति के आचरण का पुनर्विलोकन किए जाने का निषेध करता है।
2. अनु. 361 के खंड (2) के अनुसार राष्ट्रपति के विरूद्ध उसकी पदावधि के दौरान किसी भी प्रकार की दांडिक कार्यवाही न तो संस्थित की जाएगी और न चालू रखी जाएगी।
3. अनु. 361 के खण्ड (3) के अनुसार राष्ट्रपति की पदाविधि के दौरान किसी भी न्यायालय को उसे बन्दी बनाने या कारावासित करने के लिए कोई भी आदेशिका जारी करने की शक्ति नहीं है।

राष्ट्रपति के अधिकार एवं कार्य (Powers & Functions of President)

1. **कार्यपालिका शक्तियां (Executive Powers)**
   - प्रशासन पर निगरानी रखने का अधिकार।
   - विभिन्न संघीय अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार। यथा- प्रधान मंत्री, मंत्री परिषद, सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, राज्यों के राज्यपाल, महान्यायवादी, राजनयिक पदाधिकारी, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक आदि।
   - राजनयिक अधिकार।
   - मंत्रिपरिषद से सूचना प्राप्त करने का अधिकार।
   - राज्य सरकारों को निर्देश देने तथा नियम एवं विनियम बनाने का अधिकार।
2. **विधायी शक्तियां (Legislative Powers)**
   - राष्ट्रपति विधेयकों पर अनुमति देता है।
   - विधायी क्षेत्र के प्रशासन के तहत राष्ट्रपति को किसी महत्वपूर्ण कार्य के लिए संसद की असाधारण बैठक बुलाने का अधिकार प्राप्त है।
   - किसी विधेयक पर विवाद होने की स्थिति में संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाने का अधिकार।
   - संसद के सत्रारंभ तथा प्रतिवर्ष संसद के प्रथम सत्र के प्रारंभ में राष्ट्रपति को संसद को संबोधित करने का अधिकार प्राप्त है।
   - राज्य सभा तथा लोक सभा में सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार। राज्य सभा में 12 तथा लोक सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय के 2 सदस्यों के मनोनयन का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है।
   - विधेयकों को स्वीकृत करने का अधिकार। धन विधेयक को छोड़कर राष्ट्रपति किसी भी विधेयक को स्वीकृति प्रदान कर सकता है या अस्वीकृत कर सकता है या उसे विचारार्थ सदन को वापस कर सकता है।
   - वित्त विधेयक या कोई ऐसा विधेयक जिसका संबंध भारत की संचित निधि से है, या ऐसे विधेयक जो राज्य के हितों से संबद्ध करों पर प्रभाव डालते हैं, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति के बिना संसद में पुर:स्थापित नहीं किये जा सकते हैं।
3. **वित्तीय शक्तियां (Financial Powers)**
   - राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना धन विधेयक को संसद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

- प्रति वर्ष सदन के पटल पर वार्षिक बजट तथा पूरक, अतिरिक्त एवं अपवादभूत अनुदानों को प्रस्तुत कराने का अधिकार।
- देश की आकस्मिकता निधि पर नियंत्रण।
- राज्यों में आय कर के वितरण का अधिकार तथा राज्यों के लिए जूट-निर्यात कर से प्राप्त होने वाली धनराशि के अंश के निश्चय का अधिकार।
- केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंधों के लिए आवश्यकतानुसार आयोग के गठन का अधिकार।

4. **क्षमादान शक्तियां (Powers to Grant Pardon)**

- अनु. 72 के तहत राष्ट्रपति को क्षमादान का अधिकार प्राप्त है।
- क्षमादान की शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री तथा मंत्री परिषद के परामर्श पर ही किया जा सकता है।
- वस्तुतः राष्ट्रपति की यह शक्ति इसकी कार्यपालिका शक्ति का ही विस्तार है।

'अनु०-72' को राष्ट्रपति की दया अधिकारिता कहा जाता है। न्यायालय के अनुसार यह न्यायिक शक्तियाँ नहीं है, बल्कि उसकी कार्यपालिकीय शक्तियों का ही विस्तार है। अतः राष्ट्रपति को एक अपीलीय न्यायालय के रूप में नहीं देखा जा सकता। दूसरी ओर 'दिल्ली सरकार बनाम प्रेम राज, 2003' मामले में न्यायालय ने यह कहा है की राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल मंत्रीपरिषद् के परामर्श पर ही इस शक्ति का प्रयोग करेगा।

यह भी कहा गया है कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल ऐसी शक्तियों को विधि के द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता।

5. **आपातकालीन शक्तियां (Emergency Powers)**

- विभिन्न प्रकार की संकटकालीन स्थितियों (यथा अनु. 352, 356, 360) में राष्ट्रपति को विशेष अधिकार प्रदान किये गये हैं।
- ये संकटकालीन स्थितियों, युद्ध या बाह्य आक्रमण अथवा सशस्त्र विद्रोह से, राज्यों में संवैधानिक ढांचे की विफलता तथा वित्तीय संकट की स्थिति में उत्पन्न हो सकती हैं।

6. **सैनिक शक्ति (Military Powers)**

राष्ट्रपति

विशेषाधिकार (Privileges)

- अनु. 61 के सापेक्ष प्रभावी अर्थात् महाभियोग का प्रस्ताव विचाराधीन होने पर अनु. 361 प्रभावी नहीं होगा।
- राष्ट्रपति के विरूद्ध दांडिक मामले में कोई कार्यवाही की जाएगी न ही किसी न्यायालय द्वारा उसके विरूद्ध कोई रिट निर्गत कराया जाएगा।
- दीवानी मामलों में उसके कार्यकाल के दौरान उसके व्यक्तिगत नाम से कोई मामला न्यायालय में दायर किया जा सकता है। लेकिन इसे दावे से प्राप्त होने वाले लाभों का उल्लेख करने वाली सूचना दो माह पूर्व दी जानी चाहिए।
- हालांकि राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद् के परामर्श पर कार्य करता है। लेकिन ऐसी उन्मुक्तियाँ अनु. 361 में मंत्रीपरिषद् को प्राप्त नहीं हैं।

विवेकाधिकार (Discretionary Powers)

- भारत के संवैधानिक प्रधान तथा राष्ट्राध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति को यद्यपि व्यावहारिक रूप से अपने विवेक पर कार्य करने का अधिकार है। लेकिन संविधान की सर्वोच्चता के कारण इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है।
- जिन अवसरों पर राष्ट्रपति मंत्रीपरिषद् के परामर्श के बिना कार्य करता है, उन्हें इस श्रेणी में रखा जाता है। जैसे- (i) प्रधानमंत्री की नियुक्ति (ii) वीटों शक्तियों का प्रयोग
- यह भी मान्यता है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति अथवा किसी सांसद को अयोग्य घोषित करने (दल-बदल के आधार को छोड़कर) के लिए राष्ट्रपति क्रमशः उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों से गठित चयन मंडल तथा निर्वाचन आयोग से परामर्श लेता है।

- राष्ट्रपति देश के प्रतिरक्षा बलों का सर्वोच्च सेनापति है। उसे युद्ध घोषित करने तथा शांति स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु इस शक्ति के प्रयोग को संसद विधि द्वारा विनियमित कर सकती है। इस प्रकार राष्ट्रपति की सैनिक शक्ति उसकी कार्यपालिका शक्ति के अधीन है जिसका प्रयोग वह मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा से करता है।

7. **अन्य शक्तियां (Other Powers)**

- अनुच्छेद 309 के तहत राष्ट्रपति को केन्द्रीय लोक सेवाओं के पदों के लिए व्यक्तियों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त है।
- राष्ट्रपति अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत विधि या तथ्य के किसी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय की राय प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है।
- अनुच्छेद 213 के प्रावधानों के अनुरूप राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने के अनुदेश दे सकता है।
- अनुच्छेद 240 के अन्तर्गत राष्ट्रपति अंडमान तथा निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, दादरा और नागर हवेली तथा दमन और दीव (सभी संघशासित क्षेत्र) के प्रशासन के लिए विनियम बना सकता है।
- अनुच्छेद 339 और 340 के तहत राष्ट्रपति को अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में प्रतिवेदन देने के लिए और पिछड़े वर्ग की दशाओं के अन्वेषण तथा उन्हें सुधारने के लिए उपाय के संबंध में प्रतिवेदन करने के लिए एक आयोग के गठन की शक्ति प्राप्त है।

राष्ट्रपति एवं अनुच्छेद 72 (President and Article 72)

संविधान के **अनुच्छेद 72** के तहत राष्ट्रपति को क्षमादान की शक्ति प्राप्त है लेकिन किसी भी परिस्थिति में राष्ट्रपति क्षमादान के आवेदन पर विचार करने के लिए बाध्य नहीं है।

सामान्यत: राष्ट्रपति के क्षमादान के अधिकार के संदर्भ में न्यायालयों द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाता है लेकिन यह सुनिश्चित करने के लिए कि राष्ट्रपति ने सभी आवश्यक दस्तावेजों का अध्ययन कर लिया है कई अवसरों पर न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन का कार्य किया गया है, (शरत बनाम खगेन्द्र AIR 1961 SC 334 हरबंस बनाम उत्तर प्रदेश राज्य AIR 1982 SC 849, गोडसे बनाम महाराष्ट्र राज्य AIR 1961 SC 600)। राष्ट्रपति द्वारा क्षमादान देने की प्रक्रिया के संबंध में संविधान में विशिष्ट प्रावधान नहीं किये गये हैं।

लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि अन्य शक्तियों के समान क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद के परामर्श पर ही किया जाना चाहिए।

कई अन्य लोकतंत्रात्मक देशों में राष्ट्राध्यक्ष द्वारा सलाहकार परिषद के परामर्श पर क्षमादान की शक्ति का प्रयोग किये जाने का प्रावधान है।

यद्यपि भारत के संदर्भ में इस प्रकार की कोई सांविधानिक व्यवस्था नहीं है, तथापि संविधान के अनुच्छेद 76(2) के तहत राष्ट्रपति भारत के महान्यायवादी से अथवा अनुच्छेद 143 के तहत उच्चतम न्यायालय से इस संबंध में परामर्श प्राप्त कर सकता है।

भारतीय राजव्यवस्था में राष्ट्रपति की वीटो शक्ति

(Veto Powers of President in Indian Polity)

यद्यपि भारत के संविधान संघात्मक तथा एकात्मक, दोनों ही गुणों पर समान रूप से बल देता है लेकिन इसके बावजूद अधिकांश अवसरों पर एकात्मकता के गुण प्रभावी रहे हैं। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रपति की निषेधाधिकार (वीटो) की शक्ति का उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वीटो की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 111 के निर्वचन से उद्धृत की जाती है। वीटो शक्ति का उपयोग सामान्यत: उन परिस्थितियों में किया जाता है जहां राष्ट्रपति यह महसूस करता है कि सरकार ने कोई ऐसा निर्णय लिया है जो संविधान का या तो उल्लंघन करता हो अथवा नागरिकों के अधिकारों का हनन।

कार्यपालिका को प्राप्त इस शक्ति को निम्नांकित चार प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है:

1. **आत्यांतिक वीटो (Absolute Veto) :-** इस प्रकार के वीटो का प्रयोग किसी राष्ट्र के प्रमुख द्वारा किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति नहीं देने के लिए किया जाता है। ब्रिटेन में सन् 1707 के पूर्व ऐसे वीटो का प्रयोग राजतंत्र द्वारा किया जाता था। भारत में ऐसे वीटो के प्रयोग की शक्ति भारत शासन अधिनियम 1935 से प्रेरित है।

2. **विशेषित वीटो (Qualified Veto) :-** विशेषित वीटो अमेरिकी राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र में है। इस प्रकार के वीटो का प्रयोग राष्ट्रपति दस दिनों की अवधि के लिए कर सकता है। किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए कांग्रेस में राष्ट्रपति द्वारा प्रेषित किया जाता है। पुनर्विचार के उपरांत असाधारण बहुमत से विधेयक के पारित हो जाने के पश्चात उसे राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना ही अधिनियम बना दिया जाता है।
3. **निलंबनकारी वीटो (Suspensive Veto) :-** इस प्रकार का वीटो फ्रांस तथा भारत के राष्ट्रपति के अधिकार क्षेत्र में है। इस प्रकार के वीटो का उल्लेख भारत के संविधान के अनुच्छेद 111 में है जिसके अनुसार, धन विधेयक को छोड़कर भारत का राष्ट्रपति यदि किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए संसद को प्रेषित करता है तथा संसद द्वारा पुनर्विचार के पश्चात उसे राष्ट्रपति के पास दुबारा भेजा जाता है तो राष्ट्रपति को उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति देना अनिवार्य है। उल्लेखनीय है कि धन विधेयकों के संदर्भ में भारत के राष्ट्रपति को वीटो की शक्ति प्राप्त नहीं है।
4. **जेबी वीटो (Pocket Veto) :-** अमेरिका के राष्ट्रपति की तुलना में भारत के राष्ट्रपति की जेबी वीटो की शक्ति का स्वरूप अधिक व्यापक है। अमेरिकी राष्ट्रपति किसी विधेयक को अधिकतम 10 दिनों की अवधि तक लंबित रख सकता है जबकि भारत का राष्ट्रपति धन विधेयक को छोड़कर अनुच्छेद 111 के तहत किसी अन्य विधेयक को अनिश्चितकाल के लिए लंबित कर सकता है।

   ऐसे प्रावधान को ही जेबी वीटो कहते हैं। सन् 1986 में तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह द्वारा भारतीय डाकघर (संशोधन) विधेयक, 1986 के संदर्भ में इस वीटो शक्ति का प्रयोग किया गया था।

इन प्रावधानों के अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत किसी राज्य के राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए लंबित कर सकता है। अनुच्छेद 201 में यह प्रावधान है कि राष्ट्रपति उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे भी सकता है अथवा उसे लंबित कर सकता है।

राष्ट्रपति की वीटो शक्ति के संबंध में उल्लेखनीय है कि सरकारिया आयोग ने यह स्पष्ट उल्लेख किया था कि वीटो शक्ति का प्रयोग करने के क्रम में यह आवश्यक है कि उसे लंबित करने के कारणों का विवरण संसद को प्रदान किया जाना चाहिए। किसी राज्यपाल द्वारा किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए तभी प्रेषित किया जाना चाहिए जब वह राज्य के क्षेत्र में नागरिकों के अधिकारों के हनन के मामले से संबंधित हो। साथ ही, वीटो शक्ति का प्रयोग व्यक्तिगत कारणों के लिए नहीं बल्कि सरकार के विधि निर्माण कार्य को विनियमित करने के लिए किया जाना चाहिए।

राष्ट्रपति की अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति (अनु. 123)

(Power of President to promulgate ordinances)

राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों में उसके अध्यादेश जारी करने की शक्ति सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है। अनु. 123 में यह उपबन्धित है कि जब संसद् के दोनों सदन सत्र में न हों और राष्ट्रपति को इस बात का समाधान हो जाये कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनमें तुरन्त कार्यवाही करना आवश्यक हो गया है तो वह ऐसे अध्यादेश प्रख्यापित कर सकेगा जो उसे उक्त परिस्थितियों में अपेक्षित प्रतीत हों। राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो संसद् द्वारा पारित अधिनियम का होता है। प्रत्येक ऐसा अध्यादेश संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जायेगा और संसद के पुनः समवेत (Reassemble) होने की तारीख से छः सप्ताह की समाप्ति पर समाप्त हो जायेगा, जब तक कि छः सप्ताह के पूर्व दोनों सदन उसके अनुमोदन के संकल्प को पारित न कर दें। राष्ट्रपति किसी समय अपने द्वारा जारी किये गये अध्यादेशों को वापस ले सकता है। राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति संसद् की विधायी शक्ति की सह-विस्तारी (Co-extensive) है, अर्थात् यह उन्हीं विषयों से सम्बन्धित है जिन पर संसद् को विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है। अतः यदि कोई अध्यादेश ऐसा उपबन्ध करता है जिसे अधिनियमित करने का संसद का अधिकार नहीं है तो वह शून्य होगा। इस प्रकार, किसी अध्यादेश द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अनु. 13 (क) के अधीन 'विधि' शब्द के अन्तर्गत 'अध्यादेश' भी शामिल है। इस प्रकार अध्यादेश जारी करने के लिए निम्न शर्तें हैं-

1. अध्यादेश तभी जारी किये जा सकते हैं जब संसद के दोनों सदन सत्र में न हों और राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनके कारण तुरन्त कार्रवाई कराना आवश्यक हो गया है। एक सदन का सत्र में होना अध्यादेश जारी करने में बाधक नहीं होगा, क्योंकि विधि बनाने के लिए एक सदन सक्षम नहीं है (111)।
2. राष्ट्रपति द्वारा प्रख्यापित अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो संसद के अधिनियम का होता है।

3. प्रत्येक अध्यादेश संसद के दोनों सदनों के समक्ष अनुमोदन के लिए रखा जायेगा और सदन के पुनः समवेत होने की तारीख से छः सप्ताह के बीतने पर समाप्त हो जायेगा।
4. राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश को किसी भी समय वापस लिया जा सकता है।
5. अध्यादेश उन्हीं परिसीमाओं के अधीन है जिन परिसीमाओं के अधीन संसद द्वारा पारित विधि है। अध्यादेश मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं।
6. अध्यादेश जारी करने की शक्ति राष्ट्रपति के वैयक्तिक समाधान पर आधारित है, न्यायालय अध्यादेश जारी किये जाने के कारणों की जाँच नहीं कर सकते। अन्तिम निर्णय राष्ट्रपति पर है। अध्यादेश की वैधता को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि उसका प्रयोग असद्भावनापूर्वक (mala fide) किया गया है।

राजव्यवस्था में अध्यादेश का औचित्य (Significance of Ordinance in the Polity)

अध्यादेश कार्यपालिका को आकस्मिक परिस्थितियों से निपटने की शक्ति प्रदान करता हैं इसमें न्यायालय द्वारा किसी विधि के अविधिमान्य घोषित किये जाने से उत्पन्न परिस्थितियां भी शामिल हैं, जिसके निपटारे के लिए अध्यादेश जारी किया जा सकता है। अध्यादेश द्वारा कर-विधियों में संशोधन या परिवर्तन भी किया जा सकता है क्योंकि अध्यादेश जारी करने की राष्ट्रपति की शक्ति संसद की सह-विस्तारी है।

अध्यादेश की विधिमान्यता को नैतिकता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है। अध्यादेश को अस्पष्टता, मनमाना प्रयोग, युक्तियुक्त और जनहित के आधार पर चुनौती दी जा सकती है।

अध्यादेश पर नियंत्रण (Control over ordinance)

1. **संसदीय नियंत्रण (Parliamentary Checks):-**
   a. अनुच्छेद 123 (2)(क) के तहत संसद को एक प्रस्ताव पारित कर अध्यादेश को रद्द करने का अधिकार प्राप्त है।
   b. संसद के सत्र के पुनः प्रारंभ होने से 6 सप्ताह की अवधि में अध्यादेश पर संसद को चर्चा करने का अधिकार प्राप्त है। इस अवधि के बीत जाने के पश्चात अध्यादेश स्वतः निरस्त हो जाता है।
2. **न्यायिक नियंत्रण (Judicial Checks) :-** न्यायिक नियंत्रण के तहत समय-समय पर उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णयों के आधार पर असंवैधानिक अध्यादेशों को निरस्त करने संबंधी निर्देश दिये हैं। इस दृष्टिकोण से डी.सी. वाधवा बनाम बिहार राज्य, 1987, एस.सी.सी. 378 का मामला अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस मामले में न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि सन् 1967 से सन् 1981 के मध्य बिहार के राज्यपाल ने 256 अध्यादेश निर्गत किये जिन्हें एक वर्ष से लेकर 14 वर्ष तक प्रभावी रखा गया। न्यायालय ने कहा कि ऐसा कदम अध्यादेश की शक्ति का दुरुपयोग और संविधान के साथ कपट है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 13 के प्रावधानों के अनरूप न्यायालय में किसी अध्यादेश की विधिमान्यता को चुनौती इस आधार पर दी जा सकती है कि वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों के हनन से संबंधित है।
3. **संवैधानेत्तर नियंत्रण (Extra-constitutional Checks):-** लोक सभा प्रक्रिया विनियम के तहत नियम 71 में यह उल्लेख किया गया है कि जब कोई विधेयक किसी अध्यादेश को निरस्त करने के उद्देश्य से सदन में प्रस्तुत किया जाता है तो विधेयक के साथ एक प्रमाण पत्र का संलग्न होना अनिवार्य है जिसमें उन परिस्थितियों का उल्लेख किया जाता है जिनमें वह विधेयक सदन में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार यदि कोई अध्यादेश इस उद्देश्य से निर्गत किया जाता है कि वह किसी सदन में लंबित विधेयक में संशोधन करना चाहता है तो उन सभी परिस्थितियों का उल्लेख अनिवार्य है जिनमें अध्यादेश निर्गत किया जाना है।

राष्ट्रपति की विवेकाधीन/शक्तियां (Discretionary Powers of President)

वास्तव में संविधान में कहीं विवेकाधीन शक्तियां नहीं दी गई हैं परन्तु प्रथाओं, भारतीय राजव्यवस्था के व्यवहारिक पक्ष से ये शक्तियां दिखती है जहाँ राष्ट्रपति अपने विवेक का प्रयोग करता है।

i. **प्रधानमंत्री की नियुक्ति :-** जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये कि किसी भी एक दल को लोकसभा में सदस्यों का स्पष्ट बहुमत न प्राप्त हो तो राष्ट्रपति ऐसी दशा में स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। वर्तमान त्रिशंकु विधायिकाओं लोक सभाओं में इस शक्ति का प्रयोग सर्वाधिक हो रहा है।

उदारीकरण के इस दौर में जहाँ क्षेत्रीयता के कारण छोटे-छोटे दलों के उदभव ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जहाँ किसी एक दल को बहुमत मिलना कठिन है इसी सन्दर्भ में प्रधानमंत्री की नियुक्ति के समय राष्ट्रपति की यह शक्ति महत्वपूर्ण है।

ii. **पद-धारी की अचानक मृत्यु की दशा में प्रधानमंत्री की नियुक्ति-**

- जहां सत्तारूढ़ बहुमत दल अपने लोकसभा के नेता का चुनाव करने हेतु तत्काल बैठक न कर सकती हो
- जहां मंत्रिमण्डल के सदस्यों के बीच कोई निश्चित वरीयता क्रम न हो।
- जहां मंत्रिमण्डल से बाहर कि किसी नाम का सुझाव दिया गया हो।

iii. ऐसे मंत्रिमण्डल की सलाह पर जिसने लोकसभा में बहुमत खो दिया हो या जिसके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पारित हो चुका हो।

iv. उस स्थिति में मंत्रियों की बर्खास्तगी जब मंत्रिपरिषद ने लोकसभा का विश्वासमत गवां दिया हो पर वो इस्तीफा देने को तैयार न हो।

v. पाकेट/जेबी बीटो।

vi. मंत्रिमण्डल की सलाह को राष्ट्रपति एक बार पुनर्विचार हेतु लौटा सकता है।

vii. संसद द्वारा पारित बिल को एक बार पुनर्विचार हेतु लौटा सकता है।

राष्ट्रपति की पूर्वानुमति की आवश्यकता वाले विधेयक (Bills requiring Presidential consent)

1. नये राज्यों के निर्माण/वर्तमान राज्यों की सीमाओं आदि में परिवर्तन से संबंधित विधायन (अनु.3)
2. ऐसे विधान की सिफारिश करने की अनन्य शक्ति राष्ट्रपति को दी गई है जिससे वह ऐसा विधायन प्रारंभ करने के पूर्व प्रभावित राज्यों के विचार जान सके।
3. अनु. 117(1)-वित्त विधेयको के लिए।
4. कोई विधेयक जो सही अर्थो में धन विधेयक नहीं है। परन्तु जिससे भारत की संचित निधि में से व्यय करने का।
5. कोई विधेयक जो ऐसे कराधान को प्रभावित करता है जिससे राज्यों के हित सबंद्ध है। या उन सिद्धान्तों को प्रभावित करता है जिनसे राज्यों को धन वितरण किया जाता है। या
6. आयकर के संबंध में 'कृषि आय' पद के प्रश्न में परिवर्तन करने हेतु लाया जाये।
7. व्यापार की स्वतंत्रता पर निर्बंधन आरोपित करने वाले राज्य विधेयक।
8. अनु.31 (क) के संबंध में विधायन।

अनुसूचित क्षेत्रों के संबंध में राष्ट्रपति की शक्तियां (Powers of President in relation to Scheduled Areas)

1. संसद द्वारा बनाये गये विधान के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी क्षेत्र को अनुसूचित क्षेत्र घोषित करे (पांचवी अनुसूची पैरा 6-7)। इस संदर्भ में राष्ट्रपति ने अनुसूचित क्षेत्र आदेश 1950 निकाला था।
2. ये अनुसूचित क्षेत्र विभिन्न राज्यों में अनुसूचित जाति/जनजातियों एस.टी. के रूप में विनिर्दिष्ट जनजातियों के क्षेत्र संविधान की पांचवी और छठी अनुसूची में उपबंधित प्रशासन के अनुसार संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को उक्त क्षेत्रों के बारे में निर्देश देने का होगा।
3. ऐसे राज्य का राज्यपाल जिसमें वह अनुसूचित क्षेत्र है, प्रतिवर्ष/जब भी राष्ट्रपति मांगे, उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्र के प्रशासन के संबंध में राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन देगा।
4. राज्यपाल के निर्देश पर उस राज्य की अनुसूचित जनजाति के कल्याण और उन्नति से संबंधित विषयों पर सलाह लेने के लिए जनजाति सलाहकार परिषदों का गठन किया जायेगा।

राष्ट्रपति की क्षमादान की शक्ति (Power of President to grant Pardons)

राष्ट्रपति को किसी अपराध के लिए दोषसिद्ध ठहरा दिये गये किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा (Pardon), प्रविलम्बन (Reprieves), विराम (Respites), या परिहार (remissions) करने की अथवा दण्डादेश के निलम्बन, परिहार (remit) या लघुकरण (commute) करने की शक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रपति को क्षमादान की शक्ति निम्नलिखित मामलों में प्राप्त है-

क. यदि दण्ड अथवा दण्डादेश सेना न्यायालय ने दिया हो।

ख. दण्ड अथवा दण्डादेश ऐसे विषय से सम्बन्धित विधि के विरूद्ध अपराध है जिस विषय पर संघ कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है।

ग. उन सभी मामलों में जिनमें दण्डादेश मृत्यु दण्डादेश है।

राष्ट्रपति अपनी इस शक्ति का प्रयोग भी मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से करता है। अमेरिका में राष्ट्रपति केवल अमेरिकीय फेडरेशन (केन्द्र) के विरूद्ध किये गये अपराधों को क्षमा कर सकता है।

'लघुकरण' (Commute) का तापर्त्य है एक के बदले में दूसरा, अर्थात् बड़े दण्ड को कम करना; जैसे-कठोर कारावास को साधारण कारावास में बदलना।

'परिहार' (remission) का अर्थ दण्डादेश की मात्रा को उसकी प्रकृति में परिवर्तन किये बिना कम करना है; जैसे-एक वर्ष के कारावास के दण्ड को घटाकर 6 माह कर देना।

'विराम' (respite) का अर्थ है किन्हीं विशेष कारणों से दंड को कम कर देना; जैसे-गर्भवती स्त्री के मृत्यु-दण्डादेश को साधारण कारावास के दंड में बदल देना। इसके अन्तर्गत, दंड कम भी किया जा सकता है तथा उसकी प्रकृति को भी बदला जा सकता है।

'प्रतिलम्ब' (reprieve) का अर्थ है मृत्यु-दंड का अस्थायी निलम्बन करना जबकि सिद्धदोष व्यक्ति क्षमादान के लिये या दंडादेश के लघुकरण के लिए राष्ट्रपति को आवेदन देता है।

क्षमादान का प्रयोग परीक्षण के पूर्व उसके दौरान और उसके पश्चात् सभी स्थितियों में किया जा सकता है। अनु. 161 के अधीन राज्य के राज्यपाल को भी किसी सिद्धदोष व्यक्ति के अपराध को क्षमा, प्रविलम्बन विराम या परिहार करने की शक्ति प्राप्त है।

1. राष्ट्रपति को सभी प्रकार के मृत्यु -दंडादेश के मामले में क्षमादान की शक्ति प्राप्त है जबकि राज्यपाल को मृत्यु-दंडादेश के मामले में क्षमादान की शक्ति नहीं है।
2. राष्ट्रपति को सेना-न्यायालय (कोर्ट- मार्शल) के दंडादेश के मामले में क्षमादान की शक्ति प्राप्त है जबकि राज्यपाल को ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं है।

मारू राम बनाम भारत संघ के मामले में यह अभिर्धारित किया गया है कि क्षमादान की शक्ति का प्रयोग करते समय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 433 (क) में निर्हित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर करना चाहिये। न्यायालय ने कहा कि क्षमादान की शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति मंन्त्रिमंडल के परामर्श से करता है।

केहर सिंह बनाम **भारत संघ** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनु. 72 के अधीन राष्ट्रपति के क्षमादान की शक्ति के विस्तार पर पूर्णरूपेण विचार किया है। इस मामले में इन्दिरा गांधी की हत्या के मामले में मृत्युदंड दिये गये अभियुक्त केहर सिंह ने अनु. 72 के अधीन राष्ट्रपति को क्षमादान का आवेदन दिया। उसने परीक्षण न्यायालय में दिये मौखिक साक्ष्य का उद्धरण देते हुए यह अभिकथन किया कि न्यायालय का निर्णय गलत था और वह निर्दोष है। अतः क्षमादान का हकदार है। उसने यह भी प्रार्थना की कि राष्ट्रपति उसके आवेदन पर विचार करते समय उसे सुनवाई का अवसर प्रदान करें। राष्ट्रपति ने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए उसके क्षमादान आवेदन को अस्वीकार कर दिया। राष्ट्रपति ने कहा कि वे उच्चतम न्यायालय के गुणावगुण (merit) पर विचार नहीं कर सकते हैं।

राष्ट्रपति के उक्त निर्णय के विरूद्ध प्रस्तुत विशेष इजाजत से अपील की याचिका उच्चतम न्यायालय में फाइल की गई। उच्चतम न्यायालय के पाँच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनु. 72 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति एक स्वतन्त्र शक्ति है और वह मामले के गुणावगुण पर विचार कर सकता है, न्यायालय का निर्णय चाहे जो भी हो।

राष्ट्रपति दाण्डिक मामले के साक्ष्य का परीक्षण कर सकता है और यह निर्णय ले सकता है कि मामले में क्षमादान शक्ति का प्रयोग किया जाय या नहीं। वह न्यायालय से भिन्न निर्णय ले सकता है। ऐसा करते समय वह निर्णय को संशोधित, परिवर्द्धित या अधिष्ठित (Supersede) नहीं करता है। न्यायिक विषय यथायत रहता है। क्षमादान की शक्ति एक सांविधानिक शक्ति है। यह एक अनुग्रह नहीं है जैसा कि इंग्लैण्ड में है। न्यायालय ने यह भी कहा कि राष्ट्रपति अपनी क्षमादान की शक्ति का प्रयोग मन्त्रिमंडल के परामर्श से ही करता है।

न्यायालय राष्ट्रपति के क्षमादान की शक्ति के विस्तार का परीक्षण कर सकता है किन्तु इसका प्रयोग कैसे किया गया है, उसका परीक्षण

नहीं कर सकता है। राष्ट्रपति को अपने निर्णय के आधार बताने के लिए नहीं किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन- क्षमादान की शक्ति का प्रयोग राजनीतिक, धर्म और जाति के कारणों से नहीं किया जा सकता है।

अनुच्छेद 74 के खंड (2) के अनुसार इस प्रश्न पर कि क्या मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी, और दी तो क्या दी, न्यायालय में आपत्ति नहीं उठायी जा सकेगी। इस खण्ड के उपबंध से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच हुए संवाद गोपनीय होते हैं और उसकी जाँच न्यायालय द्वारा नहीं की जा सकती है।

एस. आर. बोम्मई बनाम **भारत संघ** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यद्यपि अनु. 74 (2) के अधीन मन्त्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया परामर्श न्यायिक जाँच के परे है किन्तु जिन आधारों (materials) पर ऐसा परामर्श आधारित होता है वे परामर्श के भाग नहीं होते हैं; अत: उनका न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

राष्ट्रपति की स्थिति (Position of President)

राष्ट्रपति की स्थिति के सन्दर्भ में दो मत प्रकट किए जाते हैं प्रथम क्या राष्ट्रपति एक वास्तविक प्रधान है दूसरा, क्या राष्ट्रपति एक संवैधानिक प्रधान है।

राष्ट्रपति एक वास्तविक प्रधान है (President in the Real Head)

भारत के राष्ट्रपति की स्थिति के संदर्भ में मतैक्य नहीं है। इस स्थिति में राष्ट्रपति की वास्तविक तथा संवैधानिक स्थितियों का उल्लेख वांछनीय है। निम्नांकित तर्कों के आधार पर राष्ट्रपति को वास्तविक प्रधान कहा जा सकता है :

1. **संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित है :**- राष्ट्रपति को सामान्य तथा संकटकालीन, दोनों ही समय में अत्यन्त व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। अनुच्छेद 53 में यह स्पष्ट उल्लेख है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से कर सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि राष्ट्रपति प्रशासन का संचालन स्वयं कर सकता है।
2. **महाभियोग की जटिल प्रक्रिया :**- भारतीय संविधान के अनुच्छेद 61 में राष्ट्रपति के महाभियोग की प्रक्रिया का उल्लेख है जिसके आधार पर यह स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। कई संविधानविदों के अनुसार, राष्ट्रपति इस बीच लोक सभा को भंग कर सकता है तथा 6 माह की अवधि के लिए अध्यादेश जारी कर सकता है।
3. **विवेकाधिकार :**- विशिष्ट परिस्थितियों का सामना करने के लिए भारत के राष्ट्रपति को कई विवेकाधिकार भी प्राप्त हैं। लोक सभा में किसी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने की स्थिति में राष्ट्रपति अपने विवेक के आधार पर प्रधानमंत्री की नियुक्ति कर सकता है।

राष्ट्रपति एक संवैधानिक प्रधान है (President is the Constitutional Head)

यद्यपि राष्ट्रपति को कई विशिष्ट अधिकार प्रदान किये गये हैं तथापि उसे भारत की कार्यपालिका का संवैधानिक प्रधान ही कहा जा सकता है। अनुच्छेद 74 में राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद के गठन का प्रावधान किया गया है। संविधान के 42वें संशोधन द्वारा मंत्रिपरिषद द्वारा दिये जाने वाले परामर्शों को मानने के लिए राष्ट्रपति को बाध्य कर दिया गया है।

संविधान में यह भी उल्लिखित है कि मंत्रिपरिषद द्वारा लिये गये निर्णयों की सूचना प्राप्त करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है लेकिन इन निर्देशों के निर्वचन से स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार के निर्णय लेने का वास्तविक अधिकार मंत्रिपरिषद को प्राप्त है। इस संदर्भ में न्यायपालिका द्वारा किये गये संविधान के निर्वचनों के आधार पर भी यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक प्रधान है। संविधान के अनुच्छेद 75 (1) में यह उल्लेख है कि मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। अत: स्पष्ट है कि इसकी अवधि लोक सभा के विश्वासपर्यंत है। राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद की नियुक्ति तथा उसके प्रसादपर्यंत उसका जीवनकाल भी केवल संवैधानिक औपचारिकता है।

राजव्यवस्था में राष्ट्रपति की स्थिति (Position of President in the Polity)

संविधान में कुछ ऐसे उपबन्ध हैं जो राष्ट्रपति को तानाशाह बना सकते हैं। वह आपात की उद्घोषणा करके संसद को भंग कर सकता है और बड़ी आसानी से सारी कार्यपालिका-शक्ति को अपने हाथ में ले सकता है। वह अध्यादेशों को जारी करके देश के लिए स्वयं विधि बना सकता है और प्रशासन चला सकता है, मूल अधिकारों को निलम्बित कर सकता है।

उपर्युक्त मत सही नहीं है। हमने संसदीय प्रणाली का आदर्श अपनाया है। संसदीय प्रणालियों का मूल सिद्धान्त यह है कि राष्ट्र का प्रधान सांविधानिक प्रधान होता है और वास्तविक शक्ति जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की मन्त्रिपरिषद् में निहित होती है जो लोक सभा के प्रति उत्तदायी होती है।

''भारतीय संविधान में राष्ट्रपति का वही स्थान है जो इंग्लैण्ड के संविधान में वहाँ के सम्राट का है। वह राष्ट्र का प्रधान होता है, किन्तु राष्ट्र का शासक नहीं। राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् के परामर्श की उपेक्षा नहीं कर सकता है। इस संदर्भ में राष्ट्रपति पर विभिन्न उपबन्ध निम्नलिखित हैं-

1. मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। यदि राष्ट्रपति ऐसी मन्त्रिपरिषद् के परामर्श की उपेक्षा करता है, जिसको लोकसभा में बहुमत प्राप्त है, तो वह त्यागपत्र दे देगी और इस प्रकार एक सांविधानिक संकट उत्पन्न हो जायेगा। संविधान के अनुसार उसे अपने परामर्श के लिए एक मन्त्रिपरिषद को रखना एक बाध्यता है। यदि राष्ट्रपति द्वारा अपदस्थ प्रधानमन्त्री लोकसभा में पुनः बहुमत प्राप्त कर लेता है तो राष्ट्रपति के लिए उसके साथ काम करना असम्भव हो जाएगा।
2. यदि राष्ट्रपति ऐसे मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर देता है जिसे लोकसभा में बहुमत प्राप्त है तो मन्त्रिमण्डल उसके विरूद्ध महाभियोग का आरोप लगाकर उसे स्वयं हटा सकता है। संसद की यह शक्ति राष्ट्रपति को अधिनायक बनने से रोकती है।
3. विधि बनाने, कर लगाने और राज्य की संचित निधि से धन आदि खर्च करने के लिए संसद की अनुमति आवश्यक है। संसदीय समर्थन वस्तुतः मन्त्रिमण्डल का समर्थन ही होता है। राष्ट्रपति संसदीय समर्थन के बिना कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। उसके द्वारा जारी किये गये अध्यादेश को भी संसद का अनुसमर्थन प्राप्त होना चाहिये। आपात्-उदघोषणा की उसकी शक्ति भी संसद के दोनों सदनों की अनुसमर्थन-शक्ति के अधीन है।
4. सन् 1950 से लेकर आज तक संविधान के संचालन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत का राष्ट्रपति कार्यपालिका का औपचारिक या सांविधानिक प्रधान है और वास्तविक कार्यपालिका-शक्ति मन्त्रिमण्डल मे निहित है।

न्यायपालिका ने भी अपने निर्णयों में सर्वदा इसी मत का अनुमोदन किया है। न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया कि हमारे संविधान में इंग्लैण्ड की संसदीय सरकार की प्रणाली को अपनाया गया है। जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का सांविधानिक प्रधान होता है और वास्तविक कार्यपालिका-शक्ति मन्त्रिपरिषद् में निहित होती है।

यू.एन.राव बनाम **इन्दिरा गाँधी** लोकसभा के विघटन हो जाने पर भी मन्त्रिपरिषद समाप्त नहीं होती है। मन्त्रि-परिषद् प्रत्येक दशा में बनी रहती है और राष्ट्रपति को सलाह देती रहती है। यदि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह के बिना कार्य करता है तो वह अनुच्छेद 53 (1) के विपरीत होगा और असंवैधानिक होगा। केन्द्र में कामचलाऊ सरकार का उपबन्ध नहीं किया गया है। अतः जो मन्त्रिमण्डल रहता है वह पूर्ण मन्त्रिमण्डल के रूप में कार्य करता रहता है। राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल को अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए सिफारिश कर सकता है। (44वें संविधान-संशोधन के अनुसार), किन्तु पुनर्विचार के पश्चात् मन्त्रिमण्डल के निर्णय को मानने के लिए वह बाध्य होता है।

उपराष्ट्रपति (Vice-President)

संविधान के अनुच्छेद 63 में भारत के लिए एक उपराष्ट्रपति का प्रावधान किया गया है। उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन अध्यक्ष होता है। उपराष्ट्रपति को पदच्युत करने के लिए महाभियोग की आवश्यकता नहीं है। उपराष्ट्रपति को पद से हटाने के लिए राज्य सभा द्वारा पारित प्रस्ताव को लोक सभा की स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है। राष्ट्रपति महाभियोग की स्थिति में स्वयं या अपने प्रतिनिधि द्वारा अपनी सफाई प्रस्तुत कर सकता है लेकिन उपराष्ट्रपति के संदर्भ में ऐसी कोई व्यवस्था संविधान में नहीं की गई है।

अनु. 66(1) के अन्तर्गत यह प्रावधान किया गया है कि उपराष्ट्रपति का निर्वाचन दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में आनुपातिक प्रणाली के अनुसार, एकल संक्रमणीय पद्धति द्वारा किया जायेगा। लेकिन सन् 1961 में संविधान के 11वें संशोधन के उपरांत यह सुनिश्चित किया गया है कि उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए संसद के दोनों सदन अलग-अलग निर्वाचक मंडल समझे जायेंगे। कोई व्यक्ति एक बार से अधिक उपराष्ट्रपति निर्वाचित हो सकता है। उपराष्ट्रपति का निर्वाचन चुनाव आयोग के नियंत्रण में किया जाता है तथा विवाद की स्थिति में समाधान सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है। ,

राज्य सभा का पदेन अध्यक्ष होने के कारण अध्यक्षीय कार्यो का निष्पादन उपराष्ट्रपति द्वारा राज्य सभा में किया जाता है। राज्य सभा में मतदान में दोनों पक्षों में बराबर मतदान होने पर उपराष्ट्रपति अपना निर्णायक मत देता है। उपराष्ट्रपति के पद पर नियुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति द्वारा निम्नांकित अर्हताएं पूरी हों :

- वह भारत का नागरिक हो,
- वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
- वह राज्यसभा के सदस्य के निर्वाचन की अर्हता रखता हो

संविधान के अनुच्छेद 65(1) के तहत उपराष्ट्रपति को विशेष परिस्थितियों में कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करने का अधिकार प्राप्त है।

उपराष्ट्रपति के कार्य एवं शक्तियां

1. राज्य सभा का सभापतित्व करना: राज्यसभा के सभापति के रूप में
2. **राष्ट्रपति के रूप में कार्यवाहक**- यदि राष्ट्रपति की मृत्यु,त्यागपत्र, पद से हटाये जाने या अन्य कारण से राष्ट्रपति पद रिक्त होता है तो जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर पद ग्रहण नहीं कर लेता तब तक उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। (अनु. 65)

मंत्रिपरिषद (Council of Minister)

अनुच्छेद 74 के तहत प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद के गठन का प्रस्ताव किया गया है जो राष्ट्रपति को उसके दायित्वों के निर्वहन में सहायता प्रदान करती है। राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की स्थिति में अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति शासन का प्रावधान है लेकिन केन्द्र में राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष शासन की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।

संविधान के 42वें तथा 44वें संशोधनों के प्रावधानों से राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। शमशेर बनाम पंजाब राज्य मामले में इस संबंध में न्यायालय द्वारा निर्वचन किया गया है। मंत्रिपरिषद के गठन के संबंध में विस्तृत प्रावधान अनुच्छेद 75 में किये गये हैं, यथा-

1. राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मंत्री की नियुक्ति।
2. प्रधान मंत्री के परामर्श पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति।
3. संविधान की तृतीय अनुसूची के प्रावधानों के अनुरूप मंत्रियों को पद एवं गोपनीयता की शपथ दिलाने का कार्य राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है।
4. किसी मंत्री द्वारा संसद के किसी सदन की लगातार 6 माह तक सदस्यता ग्रहण नहीं किये जाने की स्थिति में उस तिथि की समाप्ति से उसे पदच्युत समझा जाता है।
5. मंत्रियों के वेतन एवं भत्ते के निर्धारण का दायित्व संसद का है जो समय-समय पर विधि द्वारा निर्धारण का कार्य करती है। किसी विधि के नहीं होने की स्थिति में मंत्रियों के वेतन तथा भत्ते का निर्धारण संविधान की द्वितीय अनुसूची के प्रावधानों के अनुरूप किया जाता है।

मंत्रिपरिषद का आकार (Size of Council of Ministers)

91 वाँ संविधान संशोधन, 2004: इस संशोधन द्वारा अनु. 75 में खण्ड (1) के पश्चात् दो नए खण्ड 1क और 1ख जोड़े गए हैं। मंत्रियो की अधिकतम संख्या मंत्रियो की कुल संख्या लोकसभा के कुल सदस्य संख्या के 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी।

मंत्रिमंडल (Cabinet)

कैबिनेट मन्त्री अपने विभागों के अध्यक्ष होते हैं। सभी कैबिनेट मन्त्री मन्त्रि-परिषद के सदस्य होते हैं। केवल कुछ अग्रतम और प्रमुख मन्त्रीगण ही मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। मंत्रिमण्डल (Cabinet), मंत्रिपरिषद् (Council of Ministers) की एक छोटी इकाई है। मन्त्रीमण्डल नीति-निर्धारण करने वाली सर्वोच्च संस्था है। सभी वरिष्ठ मंत्री कैबिनेट के सदस्य होते हैं।

राजयमन्त्री की परंम्परा ब्रिटिश संविधान से ली गई है। वे एक तरह से कैबिनेट-स्तर के ही होते हैं और अपने विभागों के स्वतन्त्र रूप से उत्तरदायी होते हैं और वेतन भी उसके बराबर ही पाते हैं। उपमन्त्री कैबिनेट मन्त्री से कम वेतन पाते हैं और अपने विभागों के स्वतन्त्र रूप से अध्यक्ष नहीं होते हैं। उनका कार्य अपने कैबिनेट-मन्त्रियों की सहायता करना होता है। मन्त्रियों के विभाग का आंवटन प्रधानमन्त्री करता है।

एस.पी.आनन्द बनाम **एच.डी.देवगौड़ा मामले में** उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि एक ऐसा व्यक्ति जो संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं है उसे छः माह के लिए प्रधानमंत्री या मंत्री नियुक्त किया जा सकता है किन्तु यदि वह इस

अवधि के अन्दर संसद के किसी सदन का सदस्य निर्वाचित नहीं होता है तो मंत्री या प्रधानमंत्री नहीं रहेगा।

गैर सदस्य निर्वाचित हुए बिना पुनः मंत्री नियुक्त नहीं किया जा सकता। एक गैर-सदस्य मंत्री नियुक्त किए जाने के 6 माह के भीतर निर्वाचित नहीं हो पाता है उसे दोबारा मंत्री नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

मंत्रीपरिषदः शासन पद्धति की विशेषताएँ (Characteristics of Cabinet System of Governance)

- मंत्रिपरिषद अनुत्तरदायी सांविधानिक प्रधान के रूप में कार्य करती है।
- मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है।
- गोपनीयता मंत्रिपरिषद की एक प्रमुख विशेषता है।
- व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का अभिन्न संबंध।
- राजनीतिक एकता एवं सहचारिता स्थापित करना।

प्रमुख कार्य

- नीति निर्धारण
- प्रशासन संबंधी कार्य
- राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियंत्रण
- विधायिका संबंधी कार्य
- वैदेशिक संबंधों पर नियंत्रण
- समन्वयकारी कार्य
- वित्तीय कार्य

मंत्रिपरिषद को नियंत्रित करने के प्रावधान

- अविश्वास का प्रस्ताव, निंदा का प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव द्वारा
- बजट में कटौती - जांच द्वारा

प्रधानमंत्री (Prime Minister)

अनुच्छेद 75 (1) उपबन्धित करता है कि 'प्रधानमन्त्री' की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की मन्त्रणा पर करेगा। उसका विवेकाधिकार एक सुनिश्चित सांविधानिक परिपाटी (convention) द्वारा परिसीमित है। भारत में ब्रिटिश कैबिनेट-प्रणाली को अपनाया गया है जो रूढ़ियों के आधार पर कार्य करती है।

कैबिनेट

कैबिनेट चार प्रकार की होती है:

1. **इनर कैबिनेटः** प. जवाहर लाल नेहरू द्वारा यह संकल्पना प्रस्तुत की गई। इसमें ग्रह, वित्त, रक्षा एवं विदेश मंत्रालय के समूह शामिल है।
2. **किचन कैबिनेटः** यह संकल्पना अमेरिकी राष्ट्रपति जान एफ कैनेडी ने प्रस्तुत की। इसके अंतर्गत प्रधानमंत्री के द्वारा गैर सरकारी सदस्यों (मंत्रीपरिषद् के बाहर के सदस्यों) से सलाह ली जाती है। भारत में इसका प्रारम्भ श्रीमती इंद्रिरा गांधी के कार्यकाल में हुआ।
3. **शैडो कैबिनेटः** यह संकल्पना ब्रिटेन की देन है। यह ऐसी राजनीतिक प्रणाली में पाई जाती है जहाँ दो दलीय प्रणाली होती है। उल्लेखनीय है कि ऐसी प्रणाली जहाँ एक दल सत्ता में होता है वहीं दूसरा दल विपक्ष में होता है। यह विपक्ष ही शैडो कैबिनेट के रूप में कार्य करता है। यह कैबिनेट जहाँ एक ओर सरकार बनाने का विकल्प प्रस्तुत करता है वहीं सरकार की नीतियों पर नियंत्रण करता है। यही विपक्ष जब सत्ता में आता है तो वास्तविक कैबिनेट के रूप में कार्य करता है। भारत में यह संकल्पना वर्ष 2004 से सामने आई है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान में दो गठबंधन केन्द्र में विद्यमान हैं।
4. **वार कैबिनेटः** यह संकल्पना ब्रिटेन की है। इसके अंतर्गत युद्ध के संबंध में सभी निर्णय इसी कैबिनेट द्वारा लिए जाते हैं।

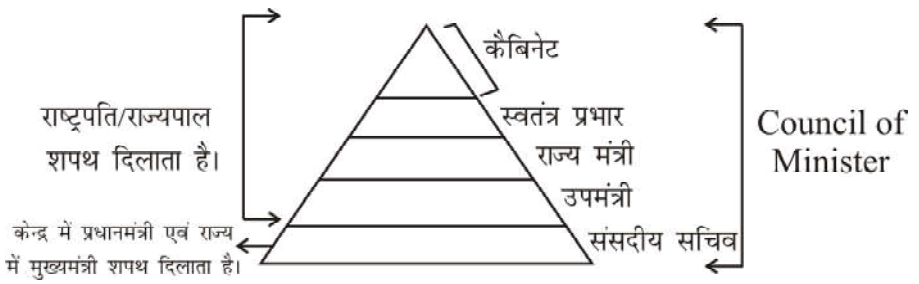

राष्ट्रपति केवल उसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है जो या तो लोकसभा में बहुमत-दल का नेता हो, या जो लोकसभा के बहुमत-दल का विश्वास प्राप्त करने की स्थिति में हो।

राज्य सभा का सदस्य भी प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जा सकता है, बशर्ते उसे लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो और वे उसे अपना नेता चुनें। जब कि किसी दल को लोकसभा में बहुमत नहीं प्राप्त है, अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है और ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर सकता है जो उसके अनुसार लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त करने की स्थिति में हो और एक स्थायी सरकार बना सके।

1. चुनाव के पहले बने संविद या गठबन्धन के नेता को।
2. सदन में सबसे बड़े दल के नेता को।
3. चुनाव के पश्चात् बने गठबन्धन के नेता को।
4 मन्त्रिमण्डल के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास होने पर विपक्ष के नेता को।

यदि लोकसभा में किसी भी दल को बहुमत नहीं प्राप्त है तो राष्ट्रपति को सबसे बड़े दल के नेता को पहले प्रधानमन्त्री नियुक्त करना चाहिए।

प्रधानमंत्री के कार्य (Function of Prime Minister)

- मंत्रिमंडल का गठन करना।
- विभागों का बंटवारा करना।
- मंत्रिमंडल की बैठकों का सभापतित्व करना।
- अन्य मंत्रालयों के कार्यों की निगरानी करना।
- विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति करना।
- राष्ट्रपति एवं मंत्रिमंडल के मध्य संवाद स्थापित करना।
- अन्तराष्ट्रीय मामलों में प्रतिनिधित्व करना।

राष्ट्रपति को सूचना देने से संबंधित प्रधानमंत्री का कर्तव्य

प्रधानमंत्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह-

क. संघ के कार्यकलाप प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी मंत्री परिषद् के सभी विनिश्चय राष्ट्रपति को सूचित करें।

ख. किसी विषय को जिस पर किसी मंत्री ने विनियमय कर दिया है किंतु मंत्री परिषद् ने विचार नहीं किया है। राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा किए जाने पर परिषद् के समक्ष विचार के लिए रखें।

ग. किसी विषय का जिस पर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया है किन्तु मंत्री परिषद् ने विचार नहीं किया है, राष्ट्रपति द्वारा उपेक्षा किए जाने पर परिषद् के समक्ष विचार के लिए रखें।

लोकसभा का विघटन (Dissolution of Lok Sabha)

अनु. 85 लोकसभा के विघटन करने की शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है। किन्तु इस मामले में भी राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की मन्त्रणा से ही कार्य करता है और उसकी सिफारिश पर ही लोकसभा का विघटन करता है। राष्ट्रपति अपने विवेक से लोक-सभा को भंग नहीं कर सकता है जब तक प्रधानमन्त्री को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है। राष्ट्रपति उसके परामर्श से लोकसभा का विघटन करने के लिए बाध्य है।

राष्ट्रपति निम्न स्थितियों में अपने विवेक से लोकसभा को भंग करने का अधिकार रखता है।

1. जब वह सदन में अपना बहुमत खो देता है; या
2. जब वह अपना बहुमत सिद्ध करने में असमर्थ हो जाता है; या
3. जब उसके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित हो जाता है; या
4. जब वह लोकसभा के समक्ष जाने से इन्कार कर देता है और राष्ट्रपति इस तथ्य से अवगत है कि सरकार का बहुमत नहीं है।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है और उसे वैकल्पिक सरकार बनाने का प्रयास करना चाहिये। सन् 1979 में सर्वप्रथम ऐसी स्थिति केन्द्र में उत्पन्न हुई।

सन् 1977 के चुनाव में जनता पार्टी विजयी रही और श्री मोरारजी के नेतृत्व में केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार पदासीन हुई। जुलाई, 1979 में विरोधी पक्ष के नेता के द्वारा सरकार के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया गया।

लोकसभा में अविश्वास के प्रस्ताव पर विचार के दौरान अपने दल से काफी संख्या में लोगों के दल-बदल करने के कारण श्री मोरारजी ने त्यागपत्र दे दिया। किन्तु लोकतांत्रिक परम्पराओं का पालन करते हुए उन्होंने राष्ट्रपति को लोकसभा के भंग करने का परामर्श नहीं दिया। इसके पश्चात् श्री चरण सिंह को दिये गये नियुक्ति पत्र में राष्ट्रपति ने उनसे यह कहा था कि वे लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करें। किन्तु लोकसभा के समक्ष जाने के पूर्व ही चरणसिंह ने प्रधानमन्त्री पद से अपना त्यागपत्र दे दिया क्योंकि उनको समर्थन देने वाले दलों में से सबसे बड़े दल ने उन्हें समर्थन देने से इन्कार कर दिया।

सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)

मन्त्रिपरिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व संसदीय सरकार का मुख्य आधार है। इंग्लैण्ड में यह सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण रूढ़ि (convention) पर आधारित है। भारतीय संविधान ने स्पष्ट उपबन्ध द्वारा इस सिद्धान्त को सुरक्षित किया है। अनुच्छेद 75 (3) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ यह है कि मन्त्रीगण अपने कार्यों के लिए टीम के रूप में लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

मंत्रियों का वैयक्तिक उत्तरदायित्व (Individual Responsibility of Ministers)

सामूहिक उत्तरदायित्व के साथ-साथ मन्त्रियों के व्यक्तिगत दायित्व का सिद्धान्त भी होता है। प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के कर्मचारियों द्वारा किये गये कार्यों के लिए स्वंय उत्तरदायी होता है और उसे अपने विभाग से सम्बन्धित प्रश्नों के बारे में संसद में उत्तर देना पड़ता है।

प्रधानमन्त्री के सांविधानिक कर्तव्य (Constitutional Duties of Prime Minister)

अनुच्छेद 78 यह उपबन्धित करता है कि प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल के सभी 'निर्णयों' (all decisions) की सूचना राष्ट्रपति को देगा। वह ऐसी सूचनाएँ भी देगा जिनकी माँग राष्ट्रपति करता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सफलता के साथ कार्यान्वित करना ही इस प्रावधान का मुख्य उद्देश्य है।

मन्त्रियों की पदच्युति (Removal of Ministers)

अनुच्छेद 75(2) यह कहता है कि मन्त्रीगण राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपना पद धारण करेंगे। यदि इसका शाब्दिक अर्थ लगाया जाय तो यह अर्थ होगा कि राष्ट्रपति मंत्रियों को पदच्युत कर सकता है। लेकिन इस मामले में भी राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह मानने के लिए बाध्य है। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, लेकिन दूसरे मन्त्री प्रधानमन्त्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का आवश्यक परिणाम है। वस्तुतः सामूहिक उत्तरदायित्व प्रधानमन्त्री के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है।

मन्त्रिमण्डल की पदच्युति (Removal of Cabinet)

मन्त्रिमण्डल तभी तक रह सकता है जब तक कि उसे लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। जैसे ही लोकसभा में बहुमत समाप्त हो जाता है, मन्त्रिमण्डल को स्वयं त्यागपत्र दे देना चाहिए। यदि ऐसा मन्त्रिमण्डल स्वयं त्यागपत्र नहीं देता है तो राष्ट्रपति उसे पदच्युत कर सकता है।

क्या राष्ट्रपति ऐसे मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है जिसे लोकसभा का बहुमत प्राप्त है, लेकिन जिसने जनता का समर्थन खो दिया है? प्रो. डायसी का मत है कि सम्राट ऐसे मन्त्रिमण्डल को बिना प्रधानमन्त्री की सलाह के पदच्युत नहीं कर सकता है। प्रो. जेनिंग्स भी सामान्य नियम इसी को मानते हैं, यदि मन्त्रिमण्डल संविधान के प्रजातांत्रिक ढ़ाँचे को नष्ट करने वाली नीति का पालन करता है या संसद् की अवधि को अनिश्चित काल के लिए बढ़ा देता है या निर्वाचक-मण्डलों को अपने दल के हित में अदल-बदल करता है या चुनाव- प्रणाली में मूल परिवर्तन करता है तो सम्राट के लिए न्यायोचित है कि उसकी नीतियों को मानने से इन्कार कर दे, अर्थात् उक्त परिस्थितियों में सम्राट मन्त्रिमण्डल को पदच्युत कर सकता है।

इंग्लैण्ड में इसका कोई उदाहरण नहीं है। भारत के नार्थ-वेस्ट फ्रान्टियर प्रान्त में खान साहब के मन्त्रिमण्डल को राज्यपाल ने इसी आधार पर पदच्युत किया था।

भारत का महान्यायवादी (अनु.76) (Attorney General For India)

भारत का महान्यायवादी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है। राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को भारत का महान्यायवादी नियुक्त करेगा जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखता हो। महान्यायवादी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है तथा ऐसे पारिश्रमिक पाता है जिसे राष्ट्रपति निर्धारित करे।

महान्यायवादी भारत सरकार का प्रथम विधि अधिकारी है और वह ऐसे-सम्बन्धी विषयों पर मन्त्रणा देता है जिसे राष्ट्रपति समय-समय पर उसे भेजे या सौंपे। वह उन कृत्यों को भी करेगा जो संविधान या किसी प्रवृत्त विधि के द्वारा उसे दिये गये हों। अपने कर्त्तव्यों के पालन में उसे देश के सभी न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार है।

इस अनुच्छेद के अन्तर्गत बनाये गये नियम के अनुसार महान्यायवादी उच्चतम न्यायालय में भारत सरकार के विरूद्ध प्रस्ताव किये गये सभी मामलों में भारत सरकार की तरफ से उपस्थित (appear) होगा। वह भारत सरकार से सम्बन्धित किसी मामले में उच्चतम न्यायालयों के समक्ष भी उपस्थित होगा।

वह भारत सरकार के विरूद्ध न तो कोई सलाह दे सकता है और न ही किसी मुकदमें में खड़ा हो सकता है। वह सरकार की अनुमति के बिना आपराधिक मामलों में अभियुक्तों का प्रतिवाद नहीं करेगा और न तो किसी कम्पनी के संचालक के पद पर नियुक्ति स्वीकार करेगा। इसे संसद् के किसी सदन में बोलने और उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार है, किन्तु उसे संसद् में मतदान का अधिकार नहीं होगा। ऐसे समय में उसे संसद् में एक सदस्य के समस्त विशेषाधिकारों और विमुक्तियों का भी अधिकार होगा।

राजव्यवस्था में महान्यायवादी के पद का महत्व

राजव्यवस्था में महान्यायवादी का महत्व इस राय में है कि वह सरकार को संवैधानिक प्रावधानों के विधिक मूल्यों के अनुरूप विधि बनाने के विषय पर परामर्श देता है। इसी कारण अनु. 74 में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने की योग्यता का उल्लेख है। इसी योग्यता के कारण महान्यायवादी को भारत के राज्यक्षेत्र में सभी न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार है।

भारत का नियंत्रक-महालेखा परीक्षक (Comptroller and Audito-General of India)

संविधान के **अनु॰ 148 तथा 149** में भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के संबंधित विस्तृत प्रावधान हैं। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक संसद तथा राज्य विधायिका की वित्तीय समितियों की कार्यप्रणाली की दृष्टि से महत्वपूर्ण संस्था है। यह विभिन्न मंत्रालयों द्वारा सौंपी गई रिर्पोट की जांच में सहयोग कर उनकी सत्यता की पुष्टि करता है। ये समितियां विधायिका में अपनी अनुशंसाओं के साथ रिर्पोट प्रस्तुत करती हैं।

संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provisions)

- अनु॰ 148(1). भारत का एक नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक होगा जिसको राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा और उसे पद से केवल उसी रीति से और उन्हीं आधारों पर हटाया जाएगा जिस रीति से और जिन आधारों पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जाता है।
- संविधान में यह उल्लिखित है कि महालेखा परीक्षक के वेतन तथा सेवा की अन्य शर्तों का निर्धारण संसद द्वारा विधि के तहत किया जाता है। इन शर्तों में उसके कार्यकाल के दौरान परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
- सेवा निवृत्ति के बाद वह केन्द्र अथवा सरकार के अधीन किसी पद पर आसीन नहीं हो सकता।
- वेतन तथा भत्ते भारत की संचित निधि पर भारित हैं।
- अनु॰ 149 में महालेखापरीक्षक के कर्तव्यों एवं शक्तियों की व्याख्या है जिनका प्रयोग संसदीय विधि के तहत ही किया जा सकता है।

नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा जिन संस्थाओं के अंकेक्षण (Audit) का कार्य किया जाता है वे निम्नांकित हैं:-

1. भारतीय रेल, डाक तथा संचार विभाग सहित केन्द्र तथा राज्य सरकारों के सभी विभाग तथा कार्यालय।
2. केन्द्र तथा राज्य सरकार के अधीन कार्यरत लगभग 1200 सार्वजनिक कंपनियां तथा निगम।
3. केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा नियंत्रित 400 स्वायत्त अथवा गैर-व्यावसायिक निकाय।
4. केन्द्र तथा राज्यों के राजस्व-घोषित 4400 प्राधिकारी तथा निकाय।

इस पद से संबंधित विशेष नियम हैं :-

1. इस पद पर आसीन होने से पहले संविधान की तीसरी सूची अनुसार शपथ लेना जरूरी है।
2. नियुक्ति होने के बाद वेतन, छुट्टी, पेंशन में अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाएगा।
3. इस पद से हटने के बाद वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी पद का पात्र नहीं होगा।
4. इस पद से संबंधित व्यय भारत की संचित निधि से पूरे किए जाएंगे।

- भारतीय लेखापरीक्षा और लेखा विभाग में सेवा करने वाले व्यक्तियों की सेवा और शर्तें राष्ट्रपति महालेखा- परीक्षक से परामर्श करने के बाद निर्धारित करता है।

अंकेक्षण की प्रकृति (Nature of Audit)

संविधान अनिवार्यता के आधार पर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा किए जाने वाले अंकेक्षण को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है

1. विनियामक (Regulation)
2. कार्य निष्पादन (Performance)

विनियामक अंकेक्षण (Regulatory Audit)

- व्यय की गई राशि की इस रूप में जांच कि ऐसे व्यय के लिए प्राधिकृत किया गया था अथवा नहीं
- नियमों, विनियमों तथा विधियों के अनुरूप व्यय की जांच।
- व्यय के लिए प्राधिकृत करने वाले सक्षम प्राधिकारी की जांच।
- अनावश्यक व्यय की जांच।
- इस तथ्य की जांच कि केन्द्र अथवा राज्य स्तर पर व्यय की गई राशि तार्किक थी अथवा नहीं ।
- वित्तीय विवरण के विभिन्न मदों की तार्किकता की जांच।

कार्यनिष्पादन अंकेक्षण (Performance Audit)

इस प्रकार के अंकेक्षण में इस तथ्य की जांच की जाती है कि सरकार द्वारा चलाए गए कार्यक्रमों का कार्य निष्पादन कितना संतोषजनक रहा है?

अंकेक्षण रिर्पोट के आधार कार्य

निश्चित रूप से अपनी विविधता के कारण वार्षिक लेखा की जांच तथा अंकेक्षण कार्य सरल नहीं है जिसका एक कारण समय सीमा का कम होना भी है। इस कारण केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर कई विशिष्ट समितियां कार्य करती हैं जिनके समक्ष ऐसी रिर्पोट प्रस्तुत की जाती है। इन समितियों में लोक समिति तथा लोक उपक्रम समिति सबसे महत्वपूर्ण हैं।

लोक लेखा समिति

समिति द्वारा निम्नांकित कार्य किए जाते हैं:-

1. लेखा में उल्लिखित व्यय के प्राधिकृत उद्देश्यों से संगत अथवा असंगत होने की जांच।
2. व्यय के प्राधिकृत किए जाने की जांच
3. कोष के वितरण अथवा पुनर्वियोग की जांच।
4. स्वायत्त/अर्द्धस्वायत्त निकायों के लेखे की जांच।

लोक उपक्रम समिति (Public Accounts Committee)

जिस प्रकार सरकार के व्यय पर नियंत्रण रखने का कार्य लोक समिति द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार लोक उपक्रम समिति सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा किए गए व्यय की जांच कर उन पर नियंत्रण रखती है। समिति के कार्यों में निम्नांकित प्रमुख हैं:-

1. सार्वजनिक उपक्रमों की रिर्पोटों तथा खातों की जांच।
2. सार्वजनिक उपक्रमों पर नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की जांच।

3. इन समितियों के कार्यों का उद्देश्य न केवल व्यय की अनियमितताओं की जांच है बल्कि उन्हें दूर करने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव भी देना है।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंध

अन्तर्राष्ट्रीय संबंध प्रभाग नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक का वैदेशिक मामलों का प्रभाग है जिसके माध्यम से द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय अन्त: क्रियाएं की जाती हैं। महालेखा परीक्षक द्वारा इंटरनेशनल ऑर्गेनइजेशन ऑफ सुप्रीम ऑडिट इन्स्टीट्यूशन (INTOSAI) से संबंधित सभी मामलों का अध्ययन किया जाता है। उल्लेखनीय है कि INTOSAI द्वारा 2005-10 के लिए एक रणनीतिक योजना चलाई जा रही थी। इसी प्रकार, महालेखा परीक्षक द्वारा एशियन आर्गेनाइजेशन ऑफ सुप्रीम ऑडिट इन्स्टीट्यूशन (ASOSAI) से संबंधि त मामलों का भी अध्ययन किया जाता है।

क्या CAG मात्र महालेखा परीक्षक है?

यह सत्य है कि CAG का संचित निधि से धन निर्गम पर कोई नियंत्रण भारत में नही है। CAG की भूमिका उस धन के खर्च हो जाने के बाद लेखाओं की परीक्षा तक ही सीमित है। इसके विपरीत ब्रिटेन में CAG की भूमिका संसद द्वारा अनुमान मांगों पर नियंत्रण की भी होती है।

राज्य की कार्यपालिका (State Executive)

राज्यपाल (Governor)

भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था होने के कारण प्रत्येक राज्य का अपना पृथक प्रशासन होता है। इसके लिए राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति का प्रावधान किया गया है। सामान्यत: एक राज्य के लिए एक राज्यपाल नियुक्त होता है लेकिन अनुच्छेद 153 के प्रावधानों के अनुरूप एक ही व्यक्ति को दो या दो से अधिक राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। राज्यपालों की नियुक्ति का प्रावधान कनाडा के संविधान से प्रेरित है।

राज्यपाल की नियुक्ति के संदर्भ में हरगोविंद पंत बनाम रघुकुल तिलक, ए.आई.आर. 1979, एस.सी. 1109 मामला उल्लेखनीय है। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि राज्यपाल का पद भारत सरकार के अधीन नियोजन नहीं है। कोई व्यक्ति जो राज्य लोक सेवा आयोग का सदस्य रहा हो, उसे राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जा सकता है, क्योंकि वह पद ऐसा पद नहीं है जिसके धारण करने का प्रतिषेध अनुच्छेद 319 (घ) में किया गया है। यह एक स्वतंत्र संवैधानिक पद है जो न तो संघ सरकार के नियंत्रण में है और न उसके अधीनस्थ है। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत अपना पद धारण करता है।

राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने के लिए किसी व्यक्ति द्वारा निम्नांकित शर्तों का पालन किया जाना अनिवार्य है, जिसका उल्लेख अनुच्छेद 158 के तहत किया गया है :

1. राज्यपाल को संसद अथवा पहली अनुसूची में उल्लिखित राज्यों के विधानमंडलों का सदस्य नहीं होना चाहिए।
2. किसी लाभ के पद पर आसीन होने का वर्जन।

राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है जिसका विस्तृत उल्लेख अनुच्छेद 154 में किया गया है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 160 में यह उल्लेख है कि राष्ट्रपति ऐसे किसी आकस्मिकता में, जो संविधान में उपबंधित नहीं है, राज्य के राज्यपाल के कृत्यों के निर्वहन के लिए ऐसा उपबंध कर सकेगा जो वह ठीक समझता है। साथ ही, अनुच्छेद 162 में राज्य की कार्यपालिका शक्ति के विस्तार का उल्लेख किया गया है।

राज्यपाल की नियुक्ति के कारण (Reasons for Appointment of Governor)

भारतीय संविधान के अन्तर्गत किसी राज्य के राज्यपाल के निर्वाचन का प्रावधान नहीं किया गया है बल्कि उसकी नियुक्ति केन्द्रीय मंत्रिमंडल के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि भारत में परिसंघीय प्रणाली विद्यमान है लेकिन अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया की भांति राज्यपाल का निर्वाचन नहीं किया जाता।

भारत की भांति राज्यपाल की नियुक्ति कनाडा में भी की जाती है। राज्यपाल के निर्वाचन नहीं करने तथा इसके स्थान पर उसका मनोनयन करने के संदर्भ में निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है:

1. प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किये जाने पर एक राज्य में दो शक्ति केन्द्रों की स्थापना की आशंका में वृद्धि होगी जो राज्य के प्रशासनिक तंत्र के लिए हानिकारक होगी।

2. केन्द्र की भांति राज्य में भी संसदीय शासन प्रणाली के तहत एक संवैधानिक प्रमुख का होना अनिवार्य है जिसके लिए राज्यपाल को निर्वाचित नहीं कर उसे नियुक्त किया जाना अनिवार्य है।
3. राज्यपाल वस्तुतः राज्य की कार्यपालिका का भाग है जिसके कारण उसे राष्ट्रपति, जो भारत की कार्यपालिका का प्रधान होता है, के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना अनिवार्य है। इस संदर्भ में भी राष्ट्रपति द्वारा उसकी नियुक्ति की जाती है।
4. किसी राज्य में राज्यपाल के संवैधानिक प्रमुख होने के कारण उसे दलगत राजनीति से ऊपर होना आवश्यक है जो नियुक्ति किये जाने से ही संभव है।
5. मनोनयन के कारणों में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्यपाल द्वारा निष्पक्ष रूप से राज्य के प्रशासन में मंत्रिमंडल का मार्गनिर्देशन करना आवश्यक है। निर्वाचित होने की स्थिति में ऐसा संभव नहीं है।

उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट होता है कि भारत के संविधान में राज्यपाल की नियुक्ति की जो व्यवस्था की गई है वह सर्वथा न्यायोचित है। कई अवसरों पर राज्यपाल के मनोनयन की पद्धति की आलोचना इस रूप में की जाती है कि राज्यपाल तथा मंत्रिपरिषद के मध्य गतिरोध की स्थिति में राज्य की स्वतंत्रता बाधित होती है। हांलाकि व्यावहारिकता में ऐसा नहीं है क्योंकि राज्यपाल राज्य का वास्तविक प्रधान नहीं होता। दूसरी ओर, यदि राज्यपाल कभी अपने अध्यादेश निर्गत करने की शक्ति का दुरुपयोग करता है तो उसके इस कृत्य को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है। साथ ही, राज्यपाल चूँकि मंत्रिपरिषद के परामर्श पर कार्य करता है, अतः उसके निरंकुश होने की आशंका अत्यन्त न्यून होती है।

राज्यपाल के कार्य और अधिकार (Powers & Functions of Governor)

राज्य के संवैधानिक प्रधान होने के कारण राज्यपाल को कई विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। वस्तुतः राज्य की संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में ही निहित है। यद्यपि राज्यपाल किसी राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है जैसे राष्ट्रपति देश का होता है, लेकिन इसके बावजूद कई अवसरों पर यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल को राष्ट्रपति की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

विशेष रूप से यह राज्यपाल के विवेकाधिकार की विस्तृत संवैधानिक व्याख्या के संदर्भ में है। इसके बावजूद भारत के एकात्मक परिसंघ में राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रतिनिधि वे रूप में कार्य करता है।

अतः उसकी वैवेकिक शक्तियाँ राज्यों पर संघ के लंबवत नियंत्रण का प्रमाण हैं। राज्यपाल के अधिकारों को निम्नांकित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:

1. **कार्यपालिका संबंधी अधिकार** :- संवैधानिक रूप से कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन सभी विषयों पर है जिन पर राज्य विधान मंडल को विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त है। राज्यपाल द्वारा मंत्रि परिषद, महाधिवक्ता तथा राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति करता है। अनुच्छेद 166 में यह उपबंधित है कि किसी राज्य सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के नाम से ही की जायेगी।

   दूसरी ओर, अनुच्छेद 167 के तहत मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के कार्यों के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं संबंधी मंत्रि परिषद के सभी विनिश्चय राज्यपाल को सूचित करे। राज्यपाल द्वारा मांगे जाने पर राज्य के प्रशासन संबंधी और विधान विषयक प्रस्थापनाओं की समस्त जानकारी उपलब्ध कराना भी मुख्यमंत्री का दायित्व है।

   यद्यपि राज्यपाल को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त नहीं है लेकिन अनुच्छेद

राज्यपाल की विवेकाधिकार शक्ति

अनु० 164(1) में राज्यपाल अपने विवेकाधिकारों से मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है।

भारतीय संविधान में अधिकारों को निरपेक्ष होने से बचाया गया है। इस कारण विवेकाधिकार भी निरपेक्ष नहीं है। अतः स्पष्ट है कि राज्यपाल संविधान के संरक्षण परिरक्षण और प्रतिरक्षण की शपथ तथा संसदीय तंत्र की मूलभावना के सापेक्ष ही विवेकाधिकारों का प्रयोग करेगा।

अनु० 163 में राज्यपाल द्वारा आवश्यकतानुसार विवेकाधिकारों के प्रयोग का प्रावधान है। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है कि 'आवश्यकतानुसार' शब्दावली का अर्थ अनिवार्यता से है। इसी आधार पर वह ऐसे अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। यदि राज्यपाल ने स्वतंत्रत रूप से अथवा मंत्रिपरिषद के परामर्श के विरूद्ध कोई निर्णय लिया है अथवा अपने विवेकाधिकारों का प्रयोग किया है तो अनु० 226 के तहत उच्च न्यायालय अथवा अनु० 136 या अनु० 142 के तहत उच्चतम न्यायालय समुचित आदेश देकर पूर्ण न्याय सुनिश्चित कर सकता है। इसी आधार पर उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया है कि राज्यपाल भ्रष्टाचार के मामलों में किसी मन्त्री के विरूद्ध अभियोजन का आदेश अपने विवेकाधिकारों से दे सकता है।

217(1)के अनुसार, राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति में राज्यपाल का परामर्श प्राप्त करता है।

2. **विधायी अधिकार :-** राज्यपाल विधानमंडल के दोनों सदनों का सत्र आहूत करता है, उसे स्थगित कर सकता है अथवा उसे भंग कर सकता है। प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के प्रारंभ में विधानमंडल की बैठक में अभिभाषण करना भी राज्यपाल का एक महत्वपूर्ण विधायी अधिकार है। वह विधान परिषद में 1/6 सदस्यों का मनोनयन कर सकता है। मनोनीत होने वाले व्यक्तियों को साहित्य, कला, विज्ञान, सहकारिता आंदोलन तथा समाजसेवा के क्षेत्रों में विशेष अनुभव होना चाहिए। राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को पारित होने के लिए राज्यपाल की स्वीकृति अनिवार्य है। अनुच्छेद 201 के तहत वह किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है।

3. **क्षमादान अधिकार :-** अनुच्छेद 161 के तहत राज्यपाल को क्षमादान की शक्ति प्राप्त है। मृत्युदंड के संबंध में राज्यपाल की भूमिका नगण्य है क्योंकि इस संबंध में राष्ट्रपति को अनन्य अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 72 में राष्ट्रपति को जो न्यायिक शक्ति प्रदान की गई है वह मृत्यु दंड के संदर्भ में राज्यपाल को अनुच्छेद 161 के तहत प्राप्त क्षमादान की शक्ति से भिन्न है। इसी प्रकार राज्यपाल को सैन्य न्यायालयों के संदर्भ में भी न्यायिक शक्ति प्राप्त नहीं है। के.के. नानावटी बनाम मुंबई राज्य, ए.आई.आर. 1961, एस.सी. 112 मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अनुच्छेद 161 के तहत राज्यपाल की दंडादेश को निलंबित करने की शक्ति उच्चतम न्यायालय में दायर अपीलों के संबंध में बनाए गए नियमों के अधीन है।

4. **वित्तीय अधिकार :-** प्रत्येक वर्ष वित्तीय विवरण तैयार कर उसे विधान मंडल में सदन पटल पर प्रस्तुत करवाने का दायित्व राज्यपाल का है। राज्य की संचित निधि के राज्यपाल के अधीन होने के कारण वह विधानमंडल की स्वीकृति की आशा में व्यय की अनुमति दे सकता है।

5. **आपातकालीन अधिकार :-** सामान्यत: राज्यपाल को आपात शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। वह राष्ट्रपति को राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता संबंधी रिपोर्ट अग्रसारित कर सकता है जिसके आधार पर राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के तहत राज्य स्तरीय आपातकाल की घोषणा करता है। एक अपवाद के रूप में जम्मू कश्मीर के राज्यपाल को उस राज्य के संविधान के अनुच्छेद 92 के तहत आपातकाल घोषित करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार के शासन को राज्यपाल शासन कहते हैं।

6. **विवेकाधिकार :-** अनुच्छेद 153 के तहत राज्यपाल को विवेकाधिकार प्राप्त हैं। इन विवेकाधिकारों की विस्तृत व्याख्या संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों के निर्वचन से होती है। मुख्य रूप से निम्नांकित परिस्थितियों में राज्यपाल अपने विवेकाधिकार का प्रयोग कर सकता है :

a. मुख्यमंत्री का चुनाव
b. विधान सभा में सरकार को अपना विश्वास सिद्ध करने का निर्देश
c. विधान सभा का विघटन
d. अनुच्छेद 356 के प्रयोग के लिए राष्ट्रपति को सिफारिश करना
e. अनु. 201 के तहत राष्ट्रपति के विचार के लिए किसी विधेयक को आरक्षित रखना
f. किसी विधेयक को पुनर्विचार हेतु लौटाना
g. मंत्रिमण्डल को पदच्युत करने के संबंध में-
   1. यदि राज्यपाल के कहने पर मुख्यमंत्री विधानसभा को बुलाकर विश्वास प्राप्त करने से मना कर दे।
   2. यदि मंत्रिमण्डल संविधान के अनुसार कार्य नही कर रहा हो।

(h) असाधारण परिस्थितियों में विधानसभा का अधिवेशन बुलाना एवं स्थगित करना।

(i) मुख्यमंत्री के विरूद्ध मुकदमा दायर करने की अनुमति देना।

(j) अनु. 371 के अर्न्तगत कुछ राज्यों के राज्यपालों को विशेष उत्तरदायित्व दिये गये हैं जिन्हें वह अपने विवेक से संपन्न कर सकता है-
   1. गुजरात, महाराष्ट्र के संदर्भ में विदर्भ, मराठवाड़ा, सौराष्ट्र तथा कच्छ आदि क्षेत्रों के विकास हेतु विशेष उपबंध।
   2. नागालैण्ड के राज्यपाल को विरोधी नागाओं की हिंसात्मक गतिविधियों से निपटने के लिए विशेष उत्तरदायित्व।

संविधान सभा की प्रान्तीय संविधान समिति ने राज्यपाल के निर्वाचन का सुझाव दिया था लेकिन संविधान सभा में इस पर इस कारण सहमति नहीं बन पाई कि उसके निर्वाचन से राज्य में राज्यपाल और मुख्यमंत्री के रूप में दो शक्ति केन्द्र बनने की आशंका थी यह भारत के परिसंघीय ढ़ाचे की मूल भावना का विरोध होता। इसी कारण संविधान सभा में राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति का प्रावधान किया।

3. असम के राज्यपाल को जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन के संबंध में।
4. सिक्किम के राज्यपाल को राज्य में शांति व सभी क्षेत्र के लोगों के सामाजिक व आर्थिक कल्याण के लिए विशेष उत्तरदायित्व।

राज्यपाल की भूमिका (Role of Governor)

1. केन्द्र व राज्य सरकार के बीच सद्भावनापूर्ण संबंधों के लिए अनु. 256, 257, 258 के तहत केन्द्र सरकार राज्यो को आवश्यक निर्देश दे सकती है। ये निर्देश राज्यपाल के माध्यम से ही दिये जाते है और राज्यपाल का ये कर्तव्य है कि वह देखे कि राज्य इसका पालन कर रहे है या नही।
2. राज्य के कार्य के संबंध में समय समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।
3. राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना।
4. अनु. 200 के तहत संपत्ति अनिवार्य अधिग्रहण या उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम करने संबंधी विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित करें।

सरकारिया आयोग की राज्यपाल पर संस्तुतियां

(Recommendation of Sarkaria Commission regarding Governor)

राज्यपाल के पद को अधिक निष्पक्ष, कुशल व कार्यसक्षम बनाने हेतु सरकार द्वारा सन् 1983 ई में सरकारिया आयोग का गठन किया गया इसकी सिफारिशें निम्नलिखित थी–

1. अनु. 155 का संसोधन करके राज्यपाल की नियुक्ति में संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह का भी प्रावधान किया जाय।
2. किसी व्यक्ति को अपने गृहराज्य में नियुक्ति न किया जाय।
3. किसी अनुभवी व निष्पक्ष व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जाये।
4. जिस व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जाये उसने स्वयं को उस राज्य की राजनीति से पृथक कर लिया हो।
5. राज्यपाल बनाया जाने वाला व्यक्ति सक्रिय राजनीति मे वर्तमान में दखल न रखता हो।
6. अल्पसंख्यक जाति का अगर कोई योग्य व्यक्ति उपलब्ध हो तो उसे राज्यपाल पद हेतु प्राथमिकता दी जाये।
7. राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को प्रत्येक 15 दिन पर रिपोर्ट भेजने की जो परपंरा है वह चलती रहनी चाहिए।
8. राज्यपाल द्वारा किसी विधेयक को राष्ट्रपति द्वारा विचार हेतु आरक्षित रखने की परपंरा चलती रहनी चाहिए।
9. केन्द्र के सत्तारूढ़ दल के किसी व्यक्ति को उस राज्य का राज्यपाल न बनाया जाये जिसमें किसी अन्य दल की सरकार हो।

राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की वीटो शक्ति की तुलना

(Comparison of veto powers of President and Governor)

सामान्यत: राष्ट्रपति की भांति राज्यपाल को भी वीटो की शक्ति प्राप्त है। अधिकांश अवसरों पर राज्यपाल भी राष्ट्रपति की तरह ही अपनी वीटो शक्ति का प्रयोग करता है लेकिन राज्यपाल द्वारा जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर लिया जाता है तो उसे अनुमति देने या विधारित करने की घोषणा केवल राष्ट्रपति ही कर सकता है।

विधेयक को अनुमति के लिए आरक्षित करने के पश्चात राज्यपाल की शक्ति समाप्त हो जाती है। यदि विधेयक पुन: पारित किया जाता है तो उसे पुन: राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रस्तुत करना अनिवार्य है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह अनुमति दे या नहीं दे। दूसरे अवसर पर यदि राज्य विधेयक धन विधेयक होता है तो राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति की घोषणा कर सकता है या स्वीकृति विधारित कर सकता है। दूसरी ओर, राज्यपाल इस संबंध में अपनी अनुमति की घोषणा नहीं करता है और न उसे लौटाता है बल्कि उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित कर सकता है। यदि कोई विधेयक उच्च न्यायालय को संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है तो राज्यपाल विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने के लिए बाध्य है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि वीटो शक्ति के संबंध में राष्ट्रपति की शक्ति राज्यपाल की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है।

राष्ट्रपति एवं राज्यपाल की अध्यादेश निर्गत करने की शक्ति का तुलनात्मक विवेचन

(Comparison between ordinance Making Powers of President & Governor)

वीटो शक्ति की भांति राष्ट्रपति तथा राज्यपाल, दोनों को ही अध्यादेश निर्गत करने की शक्ति प्रदान की गई है। दोनों ही इस शक्ति का प्रयोग तभी कर सकते हैं जब क्रमशः संसद या राज्य विधानमंडल संत्र में नहीं हो। अध्यादेश जारी करने की परिस्थितियों के संदर्भ में राष्ट्रपति तथा राज्यपाल, दोनों को ही समान शक्तियाँ प्राप्त हैं तथा वे दोनों स्वविवेक के आधार पर इस प्रकार का निर्णय ले सकते हैं। दोनों की इस शक्ति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भिन्नता यह है कि राष्ट्रपति को अध्यादेश प्रख्यापित करने के लिए किसी अनुदेश की आवश्यकता नहीं है जबकि राज्यपाल निम्नांकित तीन परिस्थितियों में राष्ट्रपति से अनुदेश प्राप्त कर ही अध्यादेश प्रख्यापित कर सकता है :

1. वैसे ही उपबंध अंतर्विष्ट करने वाले विधेयक को विधानमंडल में पुर:स्थापित किये जाने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी की अपेक्षा होती।
2. राज्यपाल वैसे ही उपबंध अंतर्विष्ट करने वाले विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करना आवश्यक समझता है।
3. वैसे ही उपबंध अंतर्विष्ट करने वाला राज्य के विधानमंडल का अधिनियम तब तक अविधिमान्य होता जब तक राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखे जाने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त नहीं हो गई होती।

उपरोक्त दशाओं को छोड़कर शेष अन्य परिस्थितियों में राज्यपाल तथा राष्ट्रपति को इस संबंध में कमोबेश समान अधिकार प्राप्त हैं।

राज्यपाल की स्थिति (Postion of Governor)

राष्ट्रपति की भांति राज्यपाल की स्थिति पर भी विचारकों के मध्य व्यापक मतभेद रहे हैं। इस दृष्टिकोण से राज्यपाल की संवैधानिक तथा वास्तविक, दोनों ही स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है। यद्यपि संविधान में राज्यपाल को कई विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं लेकिन वह अपने इन अधिकारों का प्रयोग मंत्रिपरिषद के परामर्श पर ही कर सकता है। कई अवसरों पर अनुच्छेद 163 के तहत राज्यपाल अपने विवेकाधिकारों का प्रयोग कर सकता है जो उसकी स्थिति को कुछ सीमा तक सुदृढ़ बनाता है।

राज्य का संवैधानिक प्रमुख होने के नाते राज्य की वास्तविक शक्तियां मंत्रिपरिषद में ही केन्द्रित हैं। यह मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। मंत्रिपरिषद एक परामर्शदात्री संस्था के रूप में कार्य करती है जिसके फलस्वरूप राज्यपाल को व्यवहारिक रूप से शक्तियां प्राप्त नहीं होतीं और उसकी संवैधानिक स्थिति वही होती है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की है।

दूसरी ओर, राज्य के वास्तविक प्रधान के रूप में राज्यपाल के विवेकाधिकारों का उल्लेख समीचीन है। मुख्यमंत्री के चुनाव सहित अन्य विधायी प्रक्रियाओं के संदर्भ में राज्यपाल को विशिष्ट शक्त्यां प्राप्त हैं। राज्यपाल के विभिन्न अधिकारों, कार्यों एवं शक्तियों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सामान्य अवस्था में राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख है लेकिन विशेष परिस्थितियों में वह स्वविवेक का उपयोग कर महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

मुख्यमंत्री (Chief Minister)

अनु० 164(1) के अनुसार राज्यपाल, मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है तथा मुख्यमंत्री की सलाह पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करता है। ये सभी राज्यपाल के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं।

उपरोक्त उपबंध का तात्पर्य यह नहीं है कि राज्यपाल, मुख्यमंत्री को किसी भी समय बर्खास्त कर सकता है। राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री को तब तक बर्खास्त नहीं किया जा सकता जब तक उसे विधान सभा में विश्वास मत प्राप्त है।

मुख्यमंत्री की शक्तियाँ एवं कार्य

मुख्यमंत्री की सलाह पर ही राज्यपाल अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। उच्चतम न्यायालय ने एफ. गौस मुहीद्दीन बनाम द गवर्नमेंट आफ इंडिया AIR 2002 मद्रास SC 470 मामलें में स्पष्ट किया है यह मुख्यमंत्री का विशेषाधिकार है कि वह मंत्रिमंडल निर्माण में ऐसे मंत्रियों को चुने जिसे वह उपयुक्त समझता हो। मुख्यमंत्री विभिन्न मंत्रियों के मंत्रालयों का आबंटन करता है।

वह मंत्रिपरिषद की बैठक की अध्यक्षता करता है। मुख्यमंत्री किसी मंत्री को त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है। अथवा किसी मंत्री को पदच्युत करने हेतु राज्यपाल को परामर्श दे सकता है।

मुख्यमंत्री अपने पद से त्यागपत्र देकर किसी भी समय मंत्रिपरिषद को भंग कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनु० 167 के उपबंध ों के अनुरूप मुख्यमंत्री, राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य संवाद का माध्यम होता है। इस अनुच्छेद के अनुसार मुख्यमंत्री, राज्यपाल

को मंत्रिपरिषद के सभी निर्णयों से अवगत कराता है। साथ ही, किसी विषय को जिसपर किसी मंत्री ने विनिश्चय कर दिया है। किंतु मंत्रिपरिषद ने विचार नहीं किया है, राज्यपाल द्वारा अपेक्षा किए जाने पर मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद के समक्ष उस विषय को विचार हेतु रखता है।

अनु.163 : राज्यपाल को सहायता और सलाह देने के लिए मंत्रि-परिषद्

1. जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने कृत्यों या उनमें से किसी को अपने विवेकानुसार करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, मुख्यमंत्री होगा।
2. यदि कोई प्रश्न उठता है कि कोई विषय ऐसा है या नहीं जिसके संबंध में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षित है कि वह अपने विवेकानुसार कार्य करे तो राज्यपाल का अपने विवेकानुसार किया गया विनिश्चय अंतिम होगा और राज्यपाल द्वारा की गई किसी बात की विधिमान्यता इस आधार पर प्रश्नगत नहीं की जाएगी कि उसे अपने विवेकानुसार कार्य करना चाहिए था या नहीं।
3. इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जाएगी कि क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई सलाह दी, और यदि दी तो क्या दी।

परन्तु उच्चतम न्यायालय ने पुलिस एस्टैबलिसमेंट बनाम मध्य प्रदेश राज्य AIR 2005 SC 325 मामले में निर्णय दिया है कि अनु० 163(1) के अंतर्गत राज्यपाल बिना मंत्रिमंडल के परामर्श के भी किसी मंत्री के विरूद्ध भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम तथा भारतीय दण्ड संहिता के अंतर्गत किए गए अपराधों के लिए अभियोजन करने की स्वीकृति दे सकता है।

अनु० 164(2) के अनुसार मंत्रिपरिषद राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। किसी राज्य का राज्यपाल अपने कार्यों का निर्वहन मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है। अनु० 163(3) के अनुसार इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नहीं की जायेगी कि क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई सलाह दी, और दी है तो क्या दी है। इस प्रकार कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मध्य शक्ति पृथ्क्कीकरण सिद्धांत को स्थापित किया गया है।

अनु० 164(4) के अनुसार कोई मंत्री, जो निरंतर 6 माह की किसी अवधि तक राज्य के विधानमंडल का सदस्य नहीं है उस अवधि की समाप्ति पर मंत्री नहीं रह सकता।

राज्य का महाधिवक्ता (Advocate-General for the State)

जो व्यक्ति उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता रखता हो उसे राज्य का महाधिवक्ता नियुक्त किया जा सकता है।

महाधिवक्ता का यह कर्तव्य होगा कि :-

1. सरकार को कानूनी विषयों पर सलाह दे।
2. राज्यपाल के द्वारा दी कानूनी जरूरतों को पूरा करे।
3. संविधान या अन्य कानून के द्वारा दिए गए कर्तव्यों का पालन करे।

संघ राज्य क्षेत्र का प्रशासन (अनु० 239.अनु० 241) (Administration of Union Territories)

संघ शासित प्रदेशों का शासन राष्ट्रपति द्वारा चलाया जाता है। इन प्रदेशों के प्रशासन का संचालन प्रशासक द्वारा चलाया जाता है। अंडमान-निकोबार, दिल्ली और पुडुचेरी के प्रशासकों को 'उपराज्यपाल' कहा जाता है, जबकि चंडीगढ़ का प्रशासक मुख्य आयुक्त कहलाता है। वर्तमान में पंजाब के राज्यपाल ही चंड़ीगढ का प्रशासक हैं, दादर एवं नगर हवेली का प्रशासक दमन और दीव का कार्य भी देखता है। लक्षदीव का अलग प्रशासक है।

भारत के राज्य क्षेत्र में राज्यों के अतिरिक्त कई ऐसे प्रदेश हैं जो संघ शासित हैं। वर्तमान में इनकी संख्या 7 है-

1. दिल्ली
2. अंडमान-निकोबार द्वीप समूह
3. लक्षद्वीप
4. दादरा एवं नगर हवेली

5. दमन तथा दीव
6. पुडुचेरी
7. चंडीगढ़

भारत में संघशासित प्रदेशों की अलग पहचान बनाने का मुख्य कारण उनकी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक विशिष्टता है। संघ शासित प्रदेश का प्रशासन पूर्ण रूप से केन्द्रीय कार्यपालिका के अधीन होता है। प्रशासन के लिए राष्ट्रपति द्वारा एक प्रशासक की नियुक्ति की जाती है। इसके अतिरिक्त, **अनु॰ 239(2)** के अनुसार किसी राज्य के राज्यपाल को भी किसी संघशासित प्रदेश का प्रशासक नियुक्त किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में वह मंत्रिपरिषद् के परामर्श पर कार्य नहीं करता।

उच्चतम न्यायालय ने देवी जी वल्लभभाई बनाम प्रशासक, गोवा, दमन तथा दीव, AIR 1982 SC 1029 मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि किसी संघ शासित प्रदेश के प्रशासक का पद पूर्णत: संवैधानिक नहीं है तथा वह राज्य के राज्यपाल के पद से भिन्न है। अपनी मंत्रिपरिषद् के परमर्श से सहमत नहीं होने पर वह राष्ट्रपति के दिशा निर्देशों पर कार्य करता है। अत: उसे राज्यपाल के समकक्ष नहीं समझना चाहिए।

हांलाकि अनु॰ 239 के तहत ऐसे प्रदेशों का प्रशासन केन्द्र द्वारा किया जाता है लेकिन वे केन्द्र सरकार के भाग नहीं होकर स्वतंत्र संवैधानिक इकाईयां हैं। भारत में कुल सात ऐसे प्रदेशों में से दिल्ली तथा पुडुचेरी में विधान सभाएं कार्य करती हैं। इनके निर्वाचित प्रतिनिधियों को भी राष्ट्रपति के निर्वाचन में मतदान का अधिकार है।

जहां तक संघ शासित प्रदेश के लिए विधि निर्माण का प्रश्न हैं, अनु॰ 246 (4) के तहत संसद किसी विषय पर ऐसे प्रदेश के लिए विधि निर्माण कर सकती है। इसके अतिरिक्त, अपनी अवशिष्ट शक्तियों का प्रयोग कर संसद अनु॰ 248 तथा संघ सूची की प्रविष्टि संख्या 97 के तहत विधि निर्माण कर सकती है।

अनु॰ 239 'क क' के तहत दिल्ली के संबंध में विशेष प्रावधान हैं। संविधान के 69 वें संशोधन अधिनियम, 1991 की धारा 2 से इसे राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र कहा गया है। इसी संशोधन में दिल्ली के प्रशासक को उपराज्यपाल कहा गया है।

अनु॰ 239 'क ख' में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की स्थिति में उपबंध किए गए हैं। राष्ट्रपति उपराज्यपाल के परामर्श पर अथवा स्वयं संतुष्ट होने पर ऐसी दशा में प्रदेश के प्रशासन का पूरा अधिकार स्वयं ले सकता है ऐसी स्थिति में वह विधानमंडल को निलंबित कर सकता है। पुडुचेरी के संबंध में अनु॰ 239 'ख' में कहा गया है कि विधान सभा के सत्र में नहीं रहने पर आवश्यक कार्यवाही के लिए राष्ट्रपति अध्यादेश प्रख्यापित कर सकता है।

इसी प्रकार **अनु॰ 240** के तहत राष्ट्रपति को कई संघ राज्य क्षेत्रों के लिए विनियम बनाने का अधिकार है। ऐसे विनियम का वही प्रभाव होगा जो किसी संसदीय अधिनियम का है।

अनु॰ 241 ऐसे प्रदेशों के लिए उच्च न्यायालय के संबंध में उललेख करता है इसके अनुसार, संसद विधि द्वारा किसी उच्च न्यायालय का गठन कर सकती है अथवा उस राज्य क्षेत्र में किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय घोषित कर सकती है।

प्रशासक की अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति

(Power of the Administrator to Promulgate Ordinance)

अनु॰ 239ख यह उपबन्धित करता है कि जब पांडिचेरी संघ राज्य-क्षेत्र का विधान मण्डल सत्र में नहीं है और प्रशासक को यह समाधान हो जाता है कि ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं जिनके कारण तुरन्त कार्यवाई करना आवश्यक हो गया तो वह ऐसे अध्यादेश प्रख्यापित कर सकेगा जो उसे उन परिस्थितियों में अपेक्षित प्रतीत हो।

परन्तु प्रशासक कोई ऐसा अध्यादेश राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त करके ही प्रख्यापित कर सकता है। प्रशासक उस समय जब विधान-मण्डल विघटित कर दिया जाता है या निलम्बित रहता है तब ऐसा अध्यादेश प्रख्यापित नहीं कर सकता है। ऐसे अध्यादेश को वही बल प्राप्त होगा जो संघ राज्य क्षेत्र के विधानमण्डल के समक्ष रखा जाएगा और विधानमण्डल के पुन: समवेत होने से 6 सप्ताह की समाप्ति पर, प्रवर्तन में नहीं रहेगा।

12. न्यायपालिका

भारतीय शासन प्रणाली का तीसरा आधार स्तंभ न्यायापालिका है। भारत की शासन प्रणाली संघीय है, किन्तु न्यायापालिका एकीकृत है। इसका मतलब है कि पूरे देश के लिए एक ही सर्वोच्च न्यायालय है। केन्द्र और राज्यो के लिए पृथक -पृथक न्यायालय नही है और न ही विभिन्न न्यायालयों के मध्य शक्तियों का विभाजन है। भारतीय न्यायापालिका का संगठन शंकु की आकृति का है जिसमें शिखर पर उच्च न्यायाल है। उसके नीचे उच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के नीचे अधीनस्थ न्यायालय विभिन्न जिलों में स्थापित किए गए है।

जिला एवं सत्र न्यायाधीश जिले का सर्वोच्च अधिकारी होता है वह सिविल मामलें की सुनवाई करने के दौरान जिला न्यायाधीश और आपराधिक मामलों की सुनवाई के दौरान सत्र न्यायाधीश (session judge) के रूप में जाना जाता है।

जिला एंव सत्र न्यायाधीश के नीचे सिविल और आपराधिक मामलों को देखने के लिए अलग अलग मजिस्ट्रेट होते है। मुंसिफ मजिस्ट्रेट या सिविल जज सिविल मामलों को देखता है वहीं न्याययिक मजिस्ट्रेट फौजदारी मामलों को देखता है न्यायिक मजिस्ट्रेट का प्रमुख मुख्य न्याययिक मजिस्ट्रेट होता है।

न्यायापालिका पर बढते बोझ को देखते हुए और त्वरित न्याय दिलाने के लिए कुछ राज्यों में पंचायत न्यायालय का भी गठन किया गया है।

इन सब के अलावा देश में विभिन्न प्राधिकरण तथा आयोग भी स्थापित किए गए है

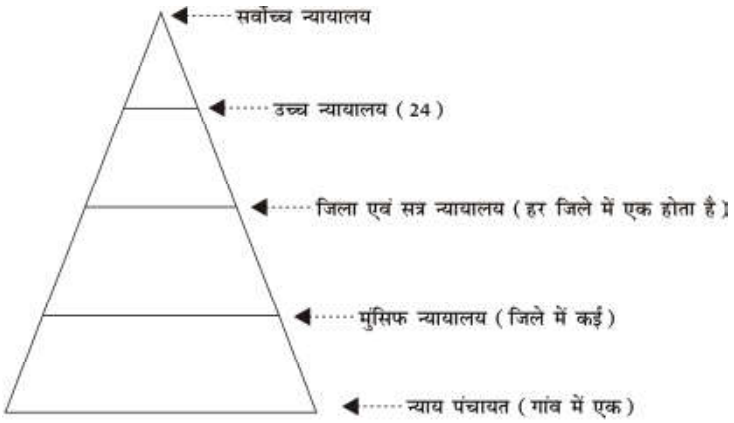

संघ की न्यायपालिका (Union Judiciary)

किसी राष्ट्र में कार्यपालिका एवं विधायिका की सफलता एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका पर ही निर्भर करती है। स्वतंत्र न्यायपालिका वस्तुत: राष्ट्र के नागरिकों को एक स्वस्थ प्रशासन उपलब्ध कराने में सक्षम है। सामान्यत: न्यायपालिका के कई स्तर होते हैं जिनके आधार पर वह अपने कार्यों का निष्पादन करती है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है कि अमेरिका में उच्चतम न्यायालय परिसंघीय शासन व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है जो न्यायपालिका की शीर्षस्थ संस्था है।

इसी प्रकार भारत में भी उच्चतम न्यायालय का स्थान एक सर्वोच्च न्यायिक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित है। न्यायपालिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य न्यायिक प्रशासन उपलब्ध कराना है। इसके अतिरिक्त वह संविधान के निर्वचन तथा विधि निर्माण की एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में कार्य करती है। न्यायपालिका के अस्तित्व के कारण नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण संभव है क्योंकि न्यायपालिका इस संदर्भ में विधायिका तथा कार्यपालिका के कृत्यों की निगरानी करती है।

विभिन्न प्रकार के अभिलेखों के माध्यम से नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण न्यायपालिका की विशेषता है।

भारत सहित कई अन्य देशों जैसे अमेरिका, स्विट्जरलैंड आदि में न्यायपालिका संविधान का निर्वचन करने वाली सर्वोच्च संस्था है। भारत में न्यायपालिका का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह राष्ट्रपति को आवश्यकतानुसार परामर्श देने का कार्य भी करती है। किसी देश में न्यायपालिका को प्रभावशाली बनाने की कई शर्तें हैं। इन शर्तों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण न्यायपालिका की स्वतंत्रता है।

न्यायपालिका एवं कार्यपालिका (Judiciary and Executive)

न्यायपालिका एवं कार्यपालिका की शक्तियों का संकेन्द्रण किसी भी राष्ट्र के विकास में बाधक हो सकता है क्योंकि इससे सरकार के निरंकुश होने की व्यापक आशंका होती है। न्यायपालिका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दायित्व कार्यपालिका द्वारा क्रियान्वित विधियों तथा कार्यक्रमों की विधिमान्यता की जांच कर यह सुनिश्चित करना है कि वह नागरिकों के अधिकरों का संरक्षण करने में सक्षम है। इसके लिए न्यायपालिका को सभी प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त होना अनिवार्य है। साथ ही, उसे पूर्णत: निष्पक्ष बनाने की भी अनिवार्यता है। इस दृष्टिकोण से कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मध्य शक्ति का पृथक्कीकरण किया जाना चाहिए। कमोबेश ऐसी ही व्यवस्था भारत के संविधान द्वारा उपबंधित है। इस संबंध में स्पष्ट उल्लेख संविधान के भाग 4 में समावेशित राज्य के नीति निदेशक तत्वों की संकल्पना में निहित है (अनु॰ 50)।

यद्यपि सैद्धांतिक रूप से कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मध्य शक्ति पृथक्कीकरण एक अनिवार्यता है, लेकिन व्यावहारिकता में शासन व्यवस्था की इन दोनों इकाइयों के मध्य गहरे अन्तरसंबंध भी स्थापित हैं। कई अवसरों पर कार्यपालिका द्वारा अर्द्ध-न्यायिक कार्यों का निष्पादन किया जाता है जिन्हें प्रशासनिक अधिनिर्णय (Administrative adjudication) कहते हैं। दूसरी ओर, हांलाकि न्यायपालिका विधियों के निर्वचन तथा उनकी विधिमान्यता की जांच करती है लेकिन कई अन्य अवसरों पर प्रत्यायोजित विधान के तहत कार्यपालिका द्वारा भी विधियों का निर्वचन किया जाता है, जो कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के पारस्परिक संबंधों की पुष्टि करता है।

शक्ति पृथक्कीकरण का सिद्धांत (Doctrine of Seperation of Powers)

ऐतिहासिक रूप से शासन व्यवस्था की तीन पृथक इकाइयों, विधायिका, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका की संकल्पना अरस्तू ने दी थी। इसके पश्चात कई अन्य विचारकों ने भी अरस्तू की इस संकल्पना को सुदृढ़ आधार प्रदान किया लेकिन 16वीं शताब्दी में फ्रांसिसी विचारक बॉडिन ने सर्वप्रथम शक्ति पृथक्कीकरण के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या के संदर्भ में अपने विचार प्रस्तुत किये। इसके पश्चात, जॉन लॉक ने भी शासन व्यवस्था को विधायिका, कार्यपालिका एवं परिसंघीय इकाइयों में विभक्त किया। अंतत: मान्टेस्क्यू ने शक्ति पृथक्कीकरण के सिद्धांत की विस्तृत व्याख्या की। इस सिद्धांत के अनुसार, शक्ति पृथक्कीकरण वस्तुत: स्वतंत्रता की संकल्पना पर आधारित है। स्वतंत्रता एक वृहत संकल्पना है जिसके अन्तर्गत नैतिक एवं विधिक, दोनों ही प्रकार की स्वतंत्रताएं सम्मिलित हैं।

मान्टेस्क्यू के अनुसार, जब कार्यपालिका एवं विधायिका के मध्य शक्ति संबंध स्थापित होते हैं तो नागरिकों की स्वतंत्रता का संरक्षण नहीं हो पाता है। अत: स्पष्ट है कि भारत जैसे देश में जहां विधि का शासन स्थापित करने का उपबंध संविधान में किया गया है, वहां शक्ति पृथक्कीकरण के सिद्धांत का अनुपालन अत्यन्त आवश्यक है।

आलोचनात्मक दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है कि किसी भी राष्ट्र में सरकार की विभिन्न इकाइयों के मध्य पारस्परिक समन्वय की स्थापना आवश्यक है ताकि प्रशासनिक कार्य सुचारु रूप से निष्पादित किये जा सकें।

इन इकाइयों के मध्य शक्ति पृथक्कीकरण के कारण उनमें कार्य करने की व्यावहारिकता में कमी होती है। कई आलोचकों का यह भी मानना है कि शक्ति पृथक्कीकरण एक अवैज्ञानिक संकल्पना है तथा इसके कारण देश की शासन व्यवस्था में कई प्रकार के व्यवधान उत्पन्न होने की आशंका होती है। अत: ऐसे आलोचकों के अनुसार, शासन व्यवस्था का विभाजन न्यूनतम पांच स्तरों पर किया जाना चाहिए, यथा, विधायिका, कार्यपालिका (अस्थायी अथवा राजनीतिक), न्यायपालिका, सिविल सेवा तथा निर्वाचकगण। इसके अतिरिक्त यह भी आलोचना की जाती है कि स्वतंत्रता तथा शक्ति पृथक्कीकरण के मध्य गहरा संबंध नहीं है क्योंकि स्वतंत्रता किसी राष्ट्र में निवास करने वाले नागरिकों की मानसिकता पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर होती है।

उपर्युक्त व्याख्या तथा आलोचना से संबंधित तथ्यों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट है कि भारत में ब्रिटेन की भांति शक्ति का संकेन्द्रण नहीं है बल्कि शक्ति समन्वय एवं शक्ति पृथक्कीकरण के मध्य एक अनूठा समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

इसके अतिरिक्त, भारत के संविधान ने वस्तुत: शासन व्यवस्था की तीनों इकाइयों, विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को ऐसे अधिकार प्रदान किये हैं जिनके आधार पर वे सभी एक दूसरे को निरंकुश होने से बचाती हैं।

भारत का उच्चतम न्यायालय (Supreme Court of India)

भारत का उच्चतम न्यायालय संविधान के सर्वोच्च व्याख्याकार के रूप में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य होने वाले विवादों के अंतिम निर्णय करने के लिए एक स्वाधीन न्यायाधिकरण के रूप में कार्य करता है। सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों का

संरक्षक है। साथ ही, एक सलाहकार के रूप में भी इसकी भूमिका अति विशिष्ट है। समय-समय पर यह राष्ट्रपति को उन तथ्य संबंधी प्रश्नों पर परामर्श देता है जो सार्वजनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को दीवानी तथा फौजदारी, दोनों ही प्रकार के मामलों में अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय के पुनर्विलोकन का अधिकार प्रदान किया गया है। भारत जैसे संघात्मक राज्य में सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता के संदर्भ में निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है:

1. सर्वोच्च अथवा संघीय न्यायालय संघात्मक सरकार का एक अभिन्न अंग है जिसका एकमात्र कार्य संविधान की व्याख्या करना तथा संघ एवं उसकी इकाइयों के मध्य के विवादों का समाधान करना है।
2. कार्यपालिका द्वारा विभिन्न कानूनों के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करना।
3. प्रशासन के विभिन्न विभागों पर अतिक्रमण रोकने के उद्देश्य से निगरानी करना।
4. नागरिकों के सभी अधिकारों का संरक्षण करना।
5. संवैधानिक मामलों में राष्ट्रपति को परामर्श देना।

उपरोक्त आवश्यकताओं के संदर्भ में भारत में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना सन् 1935 में एक संघीय न्यायालय के रूप में की गई थी लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत संविधान के अनुच्छेद 124 के तहत 26 जनवरी, 1950 को इसने भारतीय न्यायपालिका की शीर्षस्थ संस्था के रूप में कार्य करना प्रारंभ किया।

संसद को यह अधिकार है कि वह विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कर सकती है। प्रारंभ में उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या 8 थी किन्तु संसद समय-समय पर इनकी संख्या में वृद्धि करती रही है। वर्तमान में उच्चतम न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश सहित 31 न्यायाधीशों का प्रावधान है।

अनुच्छेद 124(2) के अनुसार, राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के उपरांत जिनसे वह परामर्श करना उचित समझता है, उच्चतम न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश का परामर्श अनिवार्य है।

इसके लिए सन् 1999 के राष्ट्रपति संदर्भ के तहत गठित एक चयन मंडल का सहयोग भी अनिवार्य बनाया गया है। न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में मुख्य न्यायाधीश का परामर्श निर्णायक और प्राय: पूर्णतया मान्य बनाया गया है। संविधान में मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के संबंध में कोई विशेष प्रावधान नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 126 में कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश के पद का भी प्रावधान है जिसकी नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश के पद के रिक्त हो जाने पर की जाती है।

योग्यता

अनु॰ 124(3) के अनुसार

उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किये जाने के लिए निम्नांकित अर्हताएँ हैं :

आरंभिक अधिकारिता: ऐसी अधिकारिता का तात्पर्य यह है कि किसी न्यायालय में पहली बार किसी मामले कि सुनवाई की जाती है। सामान्यत: ऐसे न्यायालयों के पास अनन्य अधिकारिता भी होती है जिसका अर्थ यह है कि उस न्यायालय में ही किसी मामले कि सुनवाई की जा सकती है।

अनु. 131 में उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता उल्लिखित है जिसमें उसकी अनन्य अधिकारिता भी शामिल है। संघ-राज्य अथवा राज्य-राज्य विवादों के समाधान के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। लेकिन यह अनिवार्य है कि ऐसे मामले विधिक अधिकारों से संबंधित हों।

राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ, 1971 मामले में न्यायालय ने विधिक अधिकारों के संबंध में निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख किया है-

क. संघ अथवा राज्य कि किसी विधि की वैधता कि जाँच करना।
ख. संघ तथा राज्यों के बीच 7वीं अनुसूची में उल्लिखित किसी विषय पर विधि बनाने की शक्ति में विवाद की स्थिति में।
ग. परिसंघीय ढाँचे से संबंधित कोई अधिकार, जैसे- अनु. 356।

अन्य प्रावधानों के लिए आरंभिक अधिकारिता-

1. 'अनु. 32' के तहत रिटों के निर्गत करने के विषय पर।
2. 'अनु. 71' में राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित विवादों पर

उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता निम्नांकित विषयों पर लागू नहीं होती-

1. 'अनु. 262' और अंतर्राज्यीय जल-विवाद अधिनियम 1956 की धारा 11 के तहत अंतर्राज्यीय जल-विवादों पर।
2. 'अनु. 280' के अंतर्गत वित्त आयोग को सौंपे गए विषयों पर।
3. 'अनु. 290' के तहत संघ और राज्यों के बीच व्यय के बँटवारे पर
4. 'अनु. 143(2)' के अंतर्गत परामर्श माँगे गए विषयों पर।

स्पष्टत: भारत के उच्चतम न्यायालय की अधिकारिताओं का संकुचन अथवा विस्तार भारतीय राजनीतिक प्रणाली के पूर्णत: अनुकूल है।

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. न्यूनतम पाँच वर्षों तक लगातार किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्यरत हो। या
3. दस वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय में अधिवक्ता रहा हो या
4. राष्ट्रपति की दृष्टि में प्रख्यात विधिवेत्ता हो।

न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया

अनु. 124(4) के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों को उनके पद से हटाने की प्रक्रिया उल्लिखित है। उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों को केवल दो आधारों- "सिद्ध कदाचार" या "असमर्थता" के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा उनके पद से हटाया जा सकता है।

उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को पद से हटाने के लिए समावेदन प्रत्येक सदन (लोक सभा और राज्य सभा दोनों) की कुल सदस्य-संख्या के बहुमत द्वारा तथा सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित होना चाहिए।

इसके पश्चात् समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष रखा जाएगा और उसके आदेश दे देने पर उसे पद से हटा दिया जाएगा। ऐसा समावेदन संसद के एक ही सत्र में प्रस्तावित और स्वीकृत होना चाहिए।

अभिलेख न्यायालय (Court of Record)

अनु. 129 उच्चतम न्यायालय को एक अभिलेख न्यायालय घोषित करता है और उसे ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियाँ प्रदान करता है। अभिलेख न्यायालय से तात्पर्य ऐसे न्यायालय से है जिसके निर्णय एवं कार्यवाहियां लिखित होती हैं, ताकि भविष्य में अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के पूर्व आधार प्रस्तुत हो सके। दूसरे, ऐसे न्यायालय को अपने अवमान हेतु किसी व्यक्ति को दंड देने की शक्ति भी प्राप्त होती है।

उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता (Jurisdictions of Supreme Court)

उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को दो प्रमुख आधारों यथा संरचनात्मक तथा कार्यात्मक आधार पर विभाजित किया जा सकता है। संरचनात्मक आधार के अंतर्गत राजनीतिक ढाँचे में विभिन्न अधिकारों का संरक्षण किया जाता है। वहीं कार्यात्मक आधार के अंतर्गत राज्य के प्राधिकार एवं नागरिकों के अधिकारों के मध्य संतुलन स्थापित किया जाता है। उल्लेखनीय है कि संरचनात्मक आधार के तहत उच्चतम न्यायालय की आरंभिक एवं परामर्शी अधिकारी आती है वहीं कार्यात्मक आधार के तहत अपीलीय एंव रिट जारी करने संबंधी अधिकारिता आती है।

आरंभिक अधिकारिता (Original Jurisdiction)

आरंभिक अधिकारिता के अन्तर्गत ऐसे विषय है जिन्हें केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। आरंभिक अधिकारिता के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का समावेश किया गया है :

1. भारत सरकार और एक या अधिक राज्यों के मध्य विवाद,
2. भारत सरकार तथा एक राज्य एवं दूसरी ओर अन्य राज्य या राज्यों के मध्य विवाद,
3. दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य विवाद

न्याय प्रदान एवं कानून सुधार राष्ट्रीय मिशन (National Mission for Justice Delivery and Legal Reforms):- आपराधिक मामलों में जल्द ही न्याय उपलब्ध कराने के लिए 'न्याय प्रदान एवं कानून सुधार राष्ट्रीय मिशन' (National Mission for Justice Delivery and Legal Reforms) को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की मंजूरी में पश्चात् देश में लागू किया गया है। विधि मन्त्रालय के इस प्रस्तावित मिशन को सैद्धान्तिक मंजूरी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने दिसम्बर 2009 में प्रदान की थी, इसे लागू करने का फैसला प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को अध्यक्षता में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की 23 जून, 2011 की बैठक में किया गया था।

मिशन का उद्देश्य न्याय मिलने में होने वाली देरी को कम करना तथा न्याय प्रणाली में ढ़ाँचागत परिवर्तन व कार्य निष्पादन के मानदण्ड स्थापित कर इस बारे में जवाबदेही को और बढ़ाना है। अदालतों में मुकदमों के लम्बित रहने की औसत अवधि को 15 वर्ष से घटाकर 3 वर्ष 2015 तक करने का लक्ष्य इस मिशन में निर्धारित किया गया है। उल्लेखनीय है कि देश अदालतों में लगभग ढाई करोड़ मुकदमें वर्तमान में लम्बित हैं। इस मिशन पर अगले पाँच वर्षों में 5510 करोड़ रूपए का खर्च आएगा। इसमें से 75 प्रतिशत भाग का वहन केन्द्र द्वारा व शेष 25 प्रतिशत भाग का वहन राज्य सरकारों द्वारा किया जाएगा। पूर्वोत्तर राज्यों के मामले में केन्द्र द्वारा वहन किया जाने वाला भाग 90 प्रतिशत होगा।

सन् 1978 में 44वें संशोधन द्वारा समावेशित अनुच्छेद 139 क के अधीन उच्चतम न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों से मामलों का अंतरण कर सकता है। साथ ही, एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में भी मामलों का अंतरण कर सकता है। उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता व्यक्तियों के मूल अधिकारों के उल्लंघन संबंधी मामलों में भी लागू होती है। मूल अधिकारों के उल्लंघन होने पर उच्चतम न्यायालय पांच प्रकार की रिटें (आदेश) अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत जारी कर सकता है।

अपवाद

निम्नलिखित विवाद न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता से बाहर हैं-

1. किसी संधि, करार, वचनबंध, सनद, प्रसंविदा या अन्य तत्सम लिखत से उत्पन्न हुआ है जो इस संविधान के प्रारंभ से पहले की गई या निष्पादित थी तथा उसके पश्चात् प्रवर्तन में है और यह उपबंध करती है कि उक्त क्षेत्राधिकार उस पर लागू नहीं होगा। (अनु. 131 का परन्तुक)
2. अनु. 272 के अन्तर्गत संसद किसी विधि द्वारा अन्तर्राज्यिक नदी या नदी-घाटी के, या उसके जल का प्रयोग, विसरण या नियन्त्रण आदि से संबंधित किसी विवाद को उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर सकती है।
3. अनु. 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग को सौंपे हुए विषय से संबंधित विवाद।
4. अनु. 290 के अन्तर्गत संघ और राज्य के बीच कतिपय खर्चों के समायोजन से संबंधित विवाद।

अपीलीय अधिकारिताः (क) 'अनु. 132' में संवैधानिक मामलों में अपील का प्रावधान है। ऐसे मामलों में संविधान के निर्वचन से संबंधित विधि का कोई सारवान प्रश्न शामिल होना चाहिए। इसके लिए अनु. 134(क) के तहत उच्च न्यायालय से प्रमाण-पत्र लेना अनिवार्य है। इस अनुच्छेद को '44वें संशोधन 1978' के 'धारा 17' से शामिल किया गया था।

(ख) अनु. 134 में दांडिक मामलों में अपील का प्रावधान है जो प्रमाण-पत्र सहित अथवा रहित की जा सकती है। अनु. 134(1)(क) के अनुसार यदि उच्च न्यायालय ने किसी अभियुक्त कि रिहाई के आदेश के मृत्यु दंडादेश में बदल दिया है तो प्रमाण-पत्र के बिना अपील की जा सकती है।

(ग) अनु. 133 में दीवानी मामलों में अपील का प्रावधान है जिसके लिए उच्च न्यायालय का प्रमाण-पत्र अनिवार्य है।

(घ) अनु. 136 में विशेष इजाजत अपील का प्रावधान है जो उच्चतम न्यायालय का विवेकाधिकार है। विशिष्ट परिस्थितियों अथवा उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाण पत्र देने से इंकार करने पर ऐसी अपील की जा सकती है।

विशेष परिस्थितियों में मूल अधिकारों के संबंध में प्रारम्भिक अधिकारिता (अनु. 32)

अनु. 32 मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरूद्ध नागरिकों को उपचार प्रदान करने के लिए उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकारिता प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को अपने मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रचालित करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

अनु. 32 नागरिकों के मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरूद्ध शीघ्र उपचार का उपबंध करता है। इस अनु. के अन्तर्गत कोई व्यक्ति जिसके मूल अधिकारों का उल्लंघन हुआ है, उपचार हेतु न्यायालय में जा सकता है। इसलिए उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों का संरक्षक कहा गया है। इसके लिए उच्चतम न्यायालय निम्नांकित रिटें जारी कर उपचार प्रदान करता है-

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण
2. परमादेश
3. प्रतिषेध
4. अधिकार पृच्छा
5. उत्प्रेषण।

अपीलीय अधिकारिता (Appellate Jurisdiction)

उच्चतम न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता दीवानी, फौजदारी तथा संवैधानिक मामलों पर लागू होती है। सर्वोच्च न्यायालय में समस्त उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय देश का अंतिम अपीलीय अधिकरण है।

दीवानी मामलों में उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है लेकिन इसके लिए संविधान की व्याख्या से संबंधित किसी प्रश्न का निहित होना आवश्यक है। मृत्युदण्ड के मामलों में उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती

है। अनुच्छेद 134(ग) के अधीन उच्च न्यायालय यह प्रमाण पत्र देता है कि संबंधित मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है। दूसरी ओर, संवैधानिक मामलों में अपील किये जाने के लिए यह आवश्यक है कि उन मामलों में यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि उनमें विधि का सारवान प्रश्न निहित है। इन मामलों में भी उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाण पत्र दिया जाना अनिवार्य है। अनु. 132 (संवैधानिक मामलों में अपील) में विधि का सारवान प्रश्न एक शर्त है जबकि अनु. 133 (दीवानी मामलों में अपील) के तहत सारवान प्रश्न व्यापक महत्व का होना चाहिए।

दांडिक मामलों में, विशेषकर जिनमें मृत्युदंड दिया गया हो, बिना प्रमाण पत्र के भी अपील की जा सकती है। ऐसी अपील अनु. 134 के तहत की जाती है।

अनु. 134 (2) संसद को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह दांडिक मामलों में अपील की सुनवाई करने की उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार कर सके। सन् 1970 में संसद ने विधि की सहायता से उच्चतम न्यायालय की दांडिक अधिकारिता में वृद्धि की है जिसके आधार पर निम्नांकित दो मामलों में प्रमाण पत्र के बिना अपील की जा सकती है:

1. यदि उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त की दोषमुक्ति के आदेश को उलट कर उसे आजीवन कारावास या कम से कम 10 वर्ष की अवधि के कारावास की अवधि का दंडादेश दिया हो,
2. यदि उच्च न्यायालय ने अपने अधीनस्थ किसी न्यायालय से कोई मामला विचारण के लिए अपने पास मंगा लिया है और ऐसे विचारण में अभियुक्त व्यक्ति को दोषसिद्ध ठहराते हुए आजीवन कारावास या कम से कम 10 वर्ष की अवधि के कारावास का दंडादेश दिया है

परामर्शी अधिकारिता: अनु. 143 में राष्ट्रपति संविधान के निर्वचन से संबंधित विधि का प्रश्न रखने वाले विषयों पर उच्चतम न्यायालय से परामर्श के माँग कर सकता है।

ऐसी ही शक्ति 'भारत शासन अधिनियम, 1935 के 'धारा' में परिसंघीय न्यायालय को प्राप्त थी। उच्च्तम न्यायालय पर परामर्श देने की बाध्यकारिता नहीं है तथा यह उसका विवेकाधिकार है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि 'अनु. 143' में उसकी 'वैवेकिकीय अधिकारिता' (Discretionary Juridiction) अंतर्निहित है। ऐसा परामर्श देने के लिए न्यूनतम 5 न्यायाधीशों की खंडपीठ अनिवार्य है। राष्ट्रपति के लिए भी उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए परामर्श को मानना बाध्य नहीं है।

विशेष इजाजत अपील (Special Leave Apeal)

अनुच्छेद 136 के तहत विशेष इजाजत अपील का प्रावधान किया गया है। किसी विशिष्ट मामले, जहां अन्याय होने की गंभीर आशंका हो तथा उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप की आवश्यकता हो, में अनु. 136 के अन्तर्गत संसद ने उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की है कि वह अपील के लिए विशेष इजाजत प्रदान करे। इस अनुच्छेद के तहत उच्चतम न्यायालय किसी भी न्यायालय या अधिकरण से अपील ग्रहण कर सकता है।

प्रकृति के दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि अनु. 136 उच्चतम न्यायालय को एक शक्ति प्रदान करता है न कि उसके अधिकार का सृजन करता है। इस शक्ति से न्यायालय को अपने विवेकानुसार, असाधारण और गंभीर मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त होता है।

परामर्शी अधिकारिता (Advisory Jurisdiction)

अनुच्छेद 143 में यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा किसी संवैधानिक या सामाजिक महत्व के प्रश्न पर माँगे गये सुझाव पर उच्चतम न्यायालय परामर्श देता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दी

अमेरिकी उच्चतम न्यायालय के साथ तुलना

चूँकि भारत का राजनीतिक ढाँचा परिसंघीय है। अत: अमेरिका के उच्चतम अथवा परिसंघीय न्यायालय के साथ भारतीय उच्चतम न्यायालय की तुलना स्वाभाविक है।

भारत के उच्चतम न्यायालय कि आरंभिक अधिकारिता अपेक्षाकृत सीमित है जबकि इसकी अपीलीय अधिकारिता अमेरिकी उच्च्तम न्यायालय से विस्तृत है। इसका मुख्य कारण यह है कि अमेरिका के विपरीत भारतीय परिसंघ राज्यों के मध्य समझौते का परिणाम नहीं है। अत: यहाँ राज्यों को स्वतंत्रता के बदले स्वायत्त प्रदान की गई है। इस कारण संघ-राज्य विवादों की आशंकाएँ अपेक्षाकृत कम होंगी।

दूसरी ओर, भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में अधिकारों को विधियों पर वरीयता दी गई है। इस कारण अपीलीय और रिट अधिकारितों का विस्तृत होना स्वाभाविक है। उल्लेखनीय है कि लोकतंत्र में व्यक्तियों/नागरिकों अधिकारों का विशेष महत्व है। इसी कारण उपरोक्त अधिकारिता का विशेष महत्व है।

गई सलाह को राष्ट्रपति मानने हेतु बाध्य नहीं है।

न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review)

अनुच्छेद 137 के अनुसार, उच्चतम न्यायालय को संसद या विधान मण्डलों द्वारा पारित किसी अधिनियम तथा कार्यपालिका द्वारा दिए गये किसी आदेश की वैधानिकता के अथवा अपने द्वारा दिए गए निर्णय या आदेश का पुनर्विलोकन का अधिकार है। ऐसे कानूनों अथवा आदेशों का पुनर्विलोकन करते समय उच्चतम न्यायालय को अधिकारिता की सीमाओं के उल्लंघन की भी जाँच करने का अधिकार है।

अनुच्छेद 141 के अनुसार, उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्य क्षेत्र में सभी न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होती है।

अनुच्छेद 13 के तहत मूल अधिकारों के संबंध में उच्चतम न्यायालय राज्य को निर्देश प्रदान कर सकता है। किसी विधि की संवैधानिकता का निश्चय करते समय उच्चतम न्यायालय को केवल इस मूल प्रश्न पर विचार करना होता है कि कानून संबद्ध प्राधिकार की शक्तियों में समावेशित है या नहीं।

उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता में वृद्धि (Enlargement of the Jurisdiction of the Supreme Court)

संसद विधि बनाकर उच्चतम न्यायालय को संघ सूची के संबंध में अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियाँ प्रदान कर सकती है (अनु. 138)। संसद उच्चतम न्यायालय को अनु. 32 के खण्ड (2) में वर्णित प्रयोगों से भिन्न प्रयोजनों के लिए निर्देश, आदेश या रिट जारी करने की शक्ति प्रदान कर सकती है (अनु. 139)।

संविधान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के प्रावधान

संविधान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता हेतु निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं -

1. उच्चतम व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति यद्यपि राष्ट्रपति द्वारा की जाती है तथापि उन्हें पदच्युत करने का अधिकार संसद का है।
2. न्यायाधीशों को उनके पद से संसद संविधान द्वारा निर्धारित विशेष प्रक्रिया के माध्यम से ही हटा सकती है।
3. न्यायाधीशों के वेतन एवं सेवा शर्तों का निर्धारण संसद द्वारा किया जाता है किन्तु किसी भी न्यायाधीश के वेतन एवं सेवा शर्तों में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिससे हानि की आशंका होती है। (अनु. 125)
4. संविधान के अनुसार, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पदमुक्त होने के बाद सरकार के अधीन किसी लाभ के पद को ग्रहण नहीं कर सकते न ही वे न्यायालयों में वकालत कर सकते हैं।
5. उच्चतम तथा उच्च न्यायलयों को अपने कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकी सेवा शर्तों के निर्धारण का अधिकार है। सरकार या संसद न्यायालयों के संस्थापन के संबंध में हस्तक्षेप नहीं कर सकती।
6. न्यायाधीशों के वेतन तथा भत्ते आदि भारत की संचित निधि से दिए जाते हैं। इस संबंध में संसद को मतदान करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

42 वां संविधान संशोधन एवं उच्चतम न्यायालय

42वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के अधिकारों को सीमित करने का प्रयास किया गया था। इस संशोधन द्वारा एक नया अनुच्छेद 32 ए का समावेश संविधान में किया गया था जिसके तहत यह प्रावधान किया गया था कि उच्चतम न्यायालय को अनु. 32 के तहत तब तक किसी राज्य द्वारा बनाये गये कानून की वैधता पर विचार करने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा जब तक उसके साथ केन्द्रीय कानून का भी संबंध नहीं हो।

किसी राज्य के उच्च न्यायालय को भी केन्द्रीय कानूनों की वैधता पर विचार करने का अधिकार नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यह भी प्रावधान था कि किसी कानून की वैधता का विचार किये जाने के लिए उच्चतम न्यायालय के सात-न्यायाधीशों वाले खंडपीठ को ही अधिकार प्राप्त होगा।

कोई भी कानून तभी असंवैधानिक घोषित किया जा सकेगा जब खंडपीठ के कम से कम दो तिहाई न्यायाधीश उसे असंवैधानिक करार दें। लेकिन संविधान के 43वें तथा 44वें संशोधन अधिनियमों द्वारा न्यायालयों के अधिकारों को वापस उसी स्वरूप में कर दिया गया।

उच्चतम न्यायालय की स्वतंत्रता (Independence of Supreme Court)

भारत एक संघात्मक राज्य है तथा संघात्मक राज्य के आधारभूत सिद्धांत के अनुसार, इसमें संघ तथा उसकी विभिन्न इकाइयों के अधिकारों का विभाजन किया जाता है। लेकिन इस विभाजन के कारण उत्पन्न होने वाले विवादों के समाधान के लिए एक स्वतंत्र

एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का होना अनिवार्य है। भारत में भी ऐसी ही व्यवस्था की गई है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए संविधान में कई प्रावधान किये गये हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. **नियुक्ति :-** संविधान के प्रावधानों के अनुसार, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति एक चयन मंडल के परामर्श पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। जिसका गठन सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों द्वारा किया जाता है। इन नियुक्तियों में संसद की कोई भूमिका नहीं है। इस आधार पर स्पष्ट है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले को विधायिका से पृथक रखा गया है। चयन मंडल के सदस्यों में से 50 प्रतिशत से अधिक का विचार किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जाने के पक्ष में होना अनिवार्य है।
2. **कार्यावधि की सुरक्षा :-** भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की कार्यावधि भी सुरक्षित रखी गई है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश 65 वर्ष की आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं। उन्हें पद से हटाने के लिए संवैधानिक प्रक्रिया का ही प्रयोग किया जा सकता है जो व्यावहारिक दृष्टिकोण से अत्यन्त जटिल है।
3. **ऊँची योग्यता :-** राजनीतिक प्रभाव से न्यायाधीशों को मुक्त रखने के उद्देश्य से संविधान में उनकी ऊँची योग्यताओं का निर्धारण किया गया है।
4. **उन्मुक्तियां :-** संसद तथा राज्य विधानमंडलों में सर्वोच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के संबंध में केवल कदाचार तथा अक्षमता को छोड़कर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता। उनके वेतन तथा भत्ते के मामले पर भी संसद में मतदान नहीं कराया जा सकता है।
5. न्यायालय के अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति संविधान के अनु. 129 उच्चतम न्यायालय को और अनु. 215 उच्च न्यायालय को अपने अवमान के लिए किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है। यह शक्ति न्यायालयों की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है।
6. **संसद उच्चतम न्यायालय की शक्ति और अधिकारिता को बढ़ा सकती है, किन्तु कम नहीं कर सकती :-** सिविल मामलों में संसद उच्चतम न्यायालय में की जाने वाली अपीलों की आर्थिक सीमा को बदल सकती है, और इस प्रकार उसकी अधिकारिता को बढ़ा सकती है। वह इसे अपनी अधिकारिता को और अधिक कार्यसाधक रूप में प्रयोग करने के लिए सहायक शक्तियाँ प्रदान कर सकती है।

राजव्यवस्था में उच्चतम न्यायालय की भूमिका (Role of Supreme Court the Polity)

उच्चतम न्यायालय व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दृष्टिकोण से संविधान एवं समाज का संरक्षक है। विशेष रूप से मौलिक अधिकारों का अभिरक्षक होने के कारण इसे 'लोकतंत्र का रक्षक' भी कहा जाता है। साथ ही, भारतीय संविधान के विभिन्न उपबंधों की विस्तृत व्याख्या करने का अधिकार भी उच्चतम न्यायालय को ही प्राप्त है।

संविधान के अनुच्छेद 32 में सर्वोच्च न्यायालय को मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिए समुचित कार्यवाही करने के साथ-साथ इन अधिकारों के संरक्षण हेतु अभिलेख निर्गत करने का भी विशिष्ट अधिकार प्राप्त है। साथ ही, अनु. 13(2) के तहत, किसी विधि द्वारा मूल अधिकारों का अतिक्रमण किये जाने की स्थिति में उच्चतम न्यायालय उस विधि को असंवैधानिक घोषित कर सकता है। नागरिकों के अधिकारों के संरक्षण के दृष्टिकोण से यह उल्लेखनीय है कि लोकहित वाद को छूट देकर निर्धनों तथा दरिद्र लोगों के लिए भी न्यायालय की सहायता प्राप्त करना सरल बना दिया गया है। न्यायालय ने अपनी प्रक्रिया को सरल बनाते हुए यह व्यवस्था की है कि डाक द्वारा भेजे गये पोस्टकार्ड को भी रिट याचिका समझा जा सकता है। राज्य के नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन के दृष्टिकोण से भी उच्चतम न्यायालय की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

न्यायालय ने कई अवसरों पर यह अभिनिर्धारित किया है कि नीति निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन मूल अधिकरों के संदर्भ में ही किया जाना चाहिए। इस तथ्य से उच्चतम न्यायालय नागरिकों के अधिकारों के संरक्षण के प्रति कटिबद्ध है। दूसरी ओर, कई अवसरों पर न्यायालय ने यह भी कहा है कि नीति निदेशक तत्वों का क्रियान्वयन सरकार का दायित्व है, अतः इस कार्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं किया जाना चाहिए।

पर्यावरण संरक्षण के लिए उच्चतम न्यायालय की कटिबद्धता अनु. 21 के तहत अभिनिर्धारित पारिस्थितिकी एवं जन न्यास की संकल्पना से स्पष्ट होती है (एम.सी. मेहता बनाम कमल नाथ 1997)। इसके अतिरिक्त, वेल्लोर नागरिक कल्याण फोरम बनाम भारत संघ 1996 SC 2173 मामले में उच्चतम न्यायालय ने सभी उच्च न्यायालयों को हरित खंडपीठ स्थापित करने का निर्देश दिया है। इस खंडपीठ की सहायता से उद्योगों द्वारा पर्यावरण रक्षा के क्षेत्र में प्रयास करने में व्यापक सहायता प्राप्त होगी। सामाजिक दृष्टिकोण

से भी उच्चतम न्यायालय ने कई विशिष्ट प्रयास किये हैं। उल्लेखनीय है कि सरला मुद्गल बनाम भारत संघ 1995 मामले में न्यायालय ने दूसरा विवाह करने के प्रयोजन के लिए धर्म परिवर्तन पर रोक लगाने का प्रयत्न किया है। स्पष्टत: उच्चतम न्यायालय न केवल संविधान बल्कि सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं पर्यावरणीय विषयों का भी संरक्षक है।

भारत का उच्चतम न्यायालय संविधान के संरक्षक के रूप में (SC as Guardian of the Constitution)

इसे निम्नलिखित बिन्दुओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है-

1. अनु. 131 के तहत संघ तथा राज्य में विवाद होने पर इसका निपटारा उच्चतम न्यायालय करेगा। इन दोनों की सीमा का निर्धारण भी उच्चतम न्यायालय ही करता है।
2. संविधान के शब्दों को स्पष्ट करने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को है।
3. संघीय प्रावधान से संबंधित सभी मुद्दों पर उच्चतम न्यायालय का निर्णय अंतिम होता है।
4. संविधान के सभी अंगों तथा उनकी शक्तियों के निर्धारण का अधिकार उच्चतम न्यायालय का है।
5. अंतर्राष्ट्रीय जल विवादों को निपटाने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को है।
6. यह कार्यपालिका तथा विधायिका की शक्ति पर निगरानी रखता है।
7. कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा बनाई गई विधियों अथवा आदेशों का पुनर्विलोकन करता है।
8. केशवानन्द भारती वाद में उच्चतम न्यायालय ने संविधान के आधारभूत ढ़ांचे को बताया जिसमें विधायिका और कार्यपालिका कोई बदलाव नहीं कर सकती।
9. शासन के प्रत्येक अंग पर एक निश्चित प्रतिबंध आरोपित है इनका परीक्षण तथा व्याख्या उच्चतम न्यायालय ही करता है।
10. इसे अपीलीय अधिकार प्राप्त है।
11. इसे आरंभिक शक्ति प्राप्त है। जिसके तहत लोग सीधे यहां तक पहुंच सकते है।
12. सलाहकारी शक्ति अनु. 143 के अन्तर्गत निहित है।

उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारों के संरक्षक के रूप में (SC as Guardian of Fundamental Rights)

1. मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर हम अनु. 32 के अन्तर्गत न्याय पाने के लिए जा सकते है, इसके लिए उच्चतम न्यायालय 5 प्रकार की रिट जारी करता है।
2. S.P. Gupta Vs. U.O.I., 1982 वाद से न्यायपालिका ने जनहित याचिका को न्यायिक सक्रियता के उपकरण के रूप में स्वीकार किया जिससे मौलिक अधिकार अत्यधिक व्यापक हो गए हैं।
3. न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति द्वारा मूल अधिकारों का संरक्षण करता है।

मुख्य न्यायाधीश एंव अन्य न्यायाधीश (Chief Justice and Other Judges)

राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिमण्डल परिषद की सलाह पर उच्च्तम न्यायालय व उच्च न्यायालय के वैसे न्यायधीशों जिन्हें राष्ट्रपति आवश्यक समझे, परामर्श करके मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती है।

द्वितीय जनवाद में सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्धारित किया कि मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के संदर्भ में योग्यता के स्थान पर वरिष्ठता का पालन किया जाना चाहिए।

अन्य न्यायाधीश

सुप्रीम कोर्ट के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए अनु. 124(2) के अनुसार राष्ट्रपति का भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करना अनिवार्य होगा। एक ऐतिहासिक वाद-एडवोकेट ऑन रिकार्डस बनाम भारत संघ वाद (1993) में सुप्रीम कोर्ट ने निर्णय दिया कि सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश की राय उच्चतम न्यायालय व उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु तथा हाई कोर्ट के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण हेतु निर्णायक होगी।

इस वाद के द्वारा उच्चतम न्यायालय ने अपने ही पूर्व निर्णय एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ वाद (1982) को पलट दिया जिसमें यह कहा गया था कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की राय/परामर्श राष्ट्रपति पर बाध्यकारी नहीं होगी। परन्तु Presidential

Reference Case (1998) और द्वितीय न्यायाधीश वाद (Scond Judges case) (1993) में उच्चतम न्यायालय ने मुख्य न्यायाधीश की शक्ति को निरंकुश होने से बचाने हेतु कुछ दिशा निर्देश दिये है जिनका पालन उच्चतम न्यायालय को किसी व्यक्ति को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाने हेतु अपनी राय देने से पूर्व करना होगा। ये निम्न हैं-

1. भारत के मुख्य न्यायाधीश को इस संबंध में अपने चार वरिष्ठतम सहयोगी न्यायाधीशों का परामर्श लेना अनिवार्य होगा।
2. इन चारों न्यायधीशों के विचार उसे लिखित रूप में सरकार को उपलब्ध कराने होंगे।
3. यदि सरकार भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा प्रस्तावित किसी व्यक्ति के विरूद्ध कुछ ठोस प्रमाण उपलब्ध कराती है जो उस व्यक्ति को इस पद के लिए अयोग्य बनाता है तो मुख्य न्यायाधीश इस संदर्भ में अपने चारों सहयोगियों से चर्चा करेगा।
4. यदि मुख्य न्यायाधीश अपने सहयोगियों से ऊपर वर्णित प्रक्रिया के अनुसार परामर्श किये बिना कोई नाम प्रस्तावित करता है तो सरकार उसे मानने के लिए बाध्य नहीं होगी।

निष्कर्ष

न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु कार्यपालिका की भूमिका अब बहुत सीमित है। वह अपने सुझाव दे सकती है, आपत्ति जाहिर कर सकती है तथा कभी-कभी नियुक्तियों की घोषणा में कुछ विलंब कर सकती है। यह प्रक्रिया इस रूप में महत्वपूर्ण है कि इसने कार्यपालिका-न्यायपालिका शक्ति पृथक्कीकरण को सुदृढ़ता दी है तथा न्यायपालिका की स्वतंत्रता संरक्षित की है।

इस प्रक्रिया से उत्पन्न समस्या

यह आशंका है कि वर्तमान न्यायाधीश अपने समान विचार वाले व्यक्तियों का स्वभावत: चयन कर सकते हैं और संभव है कि ये न्यायाधीश जनता से पूर्णत: अलग विचार रखें और ऐसे निर्णय दें जो आम जनता के हितों व विचारों से पूर्णतया पृथक हो।

चयन प्रक्रिया को बेहतर बनाने हेतु सुझाव

1. न्यायिक नियुक्तियों के लिए राष्ट्रीय न्यायिक आयोग को अधिकार हो जिसमें सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों के प्रतिनिधि बार के प्रतिनिधि तथा कार्यपालिका के प्रतिनिधि भी इस निर्णय प्रक्रिया में शामिल हों।
2. नियुक्ति की प्रक्रिया में पारदर्शिता लाई जाये।
3. न्यायिक नियुक्तियों का आधार विधिक समता के साथ न्यायिक अनुभव, स्वतंत्र व्यक्तित्व, ईमानदारी आदि को भी बनाया जाय।

न्यायिक सुधार (Judicial Reforms)

न्यायपालिका को जनता की आवश्यकताओं व आकांक्षाओं के प्रति अधिक संवेदनशील बनाने हेतु तथा न्याय की प्रक्रिया को त्वरित व सर्वसुलभ बनाने हेतु कई सुधार अपेक्षित हैं जो निम्न हैं-

1. देश भर के सभी स्तरों के सभी न्यायालयों का पूर्ण कम्प्यूटरीकरण जिससे लंबित वादों का शीघ्र निपटारा हो सके।
2. न्यायपालिका में रिक्तियों को शीघ्रातिशीघ्र भरा जाये।
3. बार एशोसिएशन के उपयुक्त व योग्य सदस्यों को न्यायिक पदों के लिए आकर्षित करने हेतु कुछ प्रावधान किये जाये।
4. कोर्ट शुल्क को कम करने का प्रावधान किया जाय जिससे समाज के वंचित वर्गो को सस्ता न्याय सुलभ हो सके।
5. किसी वाद के संबंध में तीन से अधिक स्थगन (Adjournment) न दिये जाये।
6. राष्ट्रीय न्यायिक आयोग जैसी संस्थाओं को न्यायधीशों के भ्रष्टाचार संबंधी मामलों की जांच के व्यापक अधिकार दिये जाये।
7. न्यायधीशों के रक्त संबंधियों को उसी न्यायालय में वकालत करने से रोका जाये।
8. फास्ट ट्रैक कोर्ट जैसे अभिकरणों का अधिकाधिक निर्माण किया जाये जिससे लंबित मामले त्वरित गति से निपट सके।
9. जनहित याचिका के दुष्प्रयोग को रोकने की आवश्यकता है।
10. विभिन्न उच्च न्यायालय के स्थानीय बेंच का निर्माण लंबित वादों को निपटाने में सहायक होगा।
11. प्रक्रियात्मक सुधार विशेषकर सिविल प्रोसीजर कोड और आपराधिक संहिता में सुधार।

त्वरित न्यायालय अथवा फास्ट ट्रैक कोर्ट (Fast Track Court)

11वें वित्त आयोग ने उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों के आधार पर यह अनुशंसा की थी कि देश के विभिन्न भागों में त्वरित न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिए ताकि लंबित मामलों का निपटारा अतिशीघ्र किया जा सके। इस अनुशंसा के आधार

पर अप्रैल 2001 से देश में फास्ट ट्रैक कोर्ट की स्थापना की जा रही है। सरकार द्वारा निर्धारित लक्ष्य के अनुसार, कुल 20 लाख लंबित मामलों के शीघ्र निपटारे के उद्देश्य से 500 करोड़ रुपये के लागत पर 1734 ऐसे न्यायालयों की स्थापना की जायेगी।

न्यायालय के नियम (Rules of Court)

अनु॰ 145 के प्रावधानों के अनुरूप राष्ट्रपति के अनुमोदन से उच्चतम न्यायालय की पद्धति एवं प्रक्रिया के संबंध में उच्चतम न्यायालय नियम बना सकता है। निम्नलिखित मुद्दों पर ऐसे नियम बनाए जा सकते हैं:-

क. न्यायालय में विधि व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के बारे में नियम।

ख. अपील प्रक्रिया सुनने के बारे में।

ग. जमानत मंजूरी।

घ. स्थगन संबंधी

ड़. कार्यवाहियों को रोकने के बारे में नियम।

च. उस न्यायालय में किन्हीं कार्यवाहियों के और उनके आनुषंगिक खर्चे के बारे में तथा उसमें कार्यवाहियों के संबंध में प्रभारित की जाने वाली फीसों के बारे में नियम।

छ. उस न्यायालय द्वारा सुनाए गए किसी निर्णय या किए गए आदेश का जिन शर्तों के अधीन रहते हुए पुनर्विलोकन किया जा सकेगा उनके बारे में एवं ऐसे पुनर्विलोकन के लिए प्रक्रिया के बारे में, जिसके अंतर्गत वह समय भी है जिसके भीतर ऐसे पुनर्विलोकन के लिए आवेदन उस न्यायालय में ग्रहण किए जाते हैं से संबंधित नियम।

ज. जिस अपील के बारे में न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि वह तुच्छ या तंग करने वाली है अथवा विलंब करने के प्रयोजन से की गई है, उसके संक्षिप्त अवधारण के लिए उपबंध करने वाले नियम।

झ. मौलिक अधिकारों को लागू करने से संबंधित प्रक्रिया के लिए नियम।

ञ. अनुच्छेद 317(1) में निर्दिष्ट जाँचों के लिए प्रक्रिया के बारे में नियम।

राष्ट्रीय न्यायिक परिषद/राष्ट्रीय न्यायिक आयोग (National Judicial Council)

पूर्व में न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका के पास था लेकिन सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट एसोसिएशन बनाम भारत संघ, 1993, 4, एस.सी.सी. 441 के उपरांत यह अधिकार न्यायपालिका को प्रदान कर दिया गया।

इसके अनुसार, न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए एक चयन मंडल का गठन किया गया जिसमें उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों को सम्मिलित किया गया है। इस संबंध में और अधिक पारदर्शिता लाने के उद्देश्य से सन् 1990 में राष्ट्रीय न्यायिक आयोग के गठन के लिए एक विधेयक पुर:स्थापित किया गया था।

भारत के विधि आयोग ने सन् 1987 में दिये गये अपने प्रतिवेदन में न्यायिक आयोग के गठन का सुझाव दिया था। हाल ही में संविधान पुनरीक्षण आयोग ने भी ऐसे एक आयोग के गठन का सुझाव दिया है। वस्तुत: कई उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों (पंजाब, राजस्थान एवं कर्नाटक) के कृत्यों के संदर्भ में ही राष्ट्रीय न्यायिक आयोग के गठन के प्रावधान किये गये हैं। इस आयोग के द्वारा तीन प्रमुख कार्यो को संपादित करने की अपेक्षा होगी-

1. उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण में राष्ट्रपति को सलाह देना।
2. राष्ट्रपति को किसी न्यायाधीश के विचलनकारी व्यवहार पर संस्तुति करना।
3. न्यायपालिका के लिए बदलती परिस्थितियों में आदर्श आचार संहिता का निर्माण करना।

इसके अतिरिक्त आयोग न्यायाधीशों की भर्ती, वेतन, प्रशिक्षण, परिलब्धियों आदि अन्य मामलों में भी सुझाव देगा।

आयोग का संगठन

- इस आयोग का अध्यक्ष भारत के सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश होगा तथा सदस्यों में उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों, केन्द्रीय विधि व न्यायमंत्री तथा राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री से सलाह के बाद नियुक्त कोई प्रतिष्ठित नागरिक होंगे।

- सिद्धान्त रूप से इस आयोग की अनुशंसाएं राष्ट्रपति पर बाध्यकारी होंगी।

लाभ

1. इससे न्यायपालिका की गुणवत्ता तथा कार्यकुशलता में वृद्धि होगी।
2. अखिल भारतीय स्तर पर चयन प्रक्रिया से योग्य व्यक्तियों को न्यायिक सेवा हेतु आकर्षित किया जा सकेगा।
3. न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित अस्पष्टता समाप्त हो सकेगी।

NJAC असंवैधानिक घोषित

16 अक्टूबर 2015 को केन्द्र सरकार को झटका देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने पुरानी कॉलेजियम प्रणाली को समाप्त करके राष्ट्रीय न्याययिक नियुक्ति आयोग कानून को असंवैधानिक करार देते हुए रदद् कर दिया। इस तरह से इन एन जे ए सी से जुडा 99वां संविध ान शसोंधन अधिनियम रदद् हो गया और पुरानी कॉलेजियम प्रणाली लागू हुई।

न्यायमूर्ती जगदीश सिंह खेहड़ की अध्यक्षता वाली पांच सदस्यीय संवैधानिक पीठ ने 4:1 के बहुमत से यह ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए कहा कि संविधान का अनु. 124 ए (1) का प्रावधान (सी) न्यायापालिका की स्वतंत्रता और विधायिका के बीच शक्ति के विभाजन का हनन करता है।

साथ ही सर्वोच्च न्यायलय ने एन जे ऐ सी कानून को संविधान के मूल ढांचे को नुकसान पहुंचाने वाला बताया।

राज्य की न्यायपालिका (State Judiciary)

उच्च न्यायालय (High Court)

भारत की परिसंघीय व्यवस्था में राज्य की न्यायपालिका में सर्वोच्च स्थान पर उच्च न्यायालय अवस्थित है। उच्च न्यायालय राज्य के सभी अधीनस्थ न्यायालयों एवं अधिकरण के अधीक्षण का कार्य करता है। **एल. चंद्रकुमार बनाम भारत संघ**, ए.आई.आर. 1997, एस.सी. 1125 मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अनुच्छेद 323 (क) एवं 323 (ख) के अधीन बनाये गये सभी अधिकरणों के विनिश्चयों की समीक्षा राज्य के उच्च न्यायालय के खंडपीठ द्वारा की जा सकती है।

संविधान के अनुच्छेद 231 के तहत संसद को दो या अधिक राज्यों के लिए एक उच्च न्यायालय के गठन का अधिकार प्रदान किया गया है। इसी प्रकार अनुच्छेद 230 के अनु. संसद विधि द्वारा किसी उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार संघ राज्य क्षेत्र पर कर सकती है।

सन् 2000 में तीन नये राज्यों के गठन के पश्चात भारत में कुल 21 उच्च न्यायालय कार्यरत हैं। उच्च न्यायालय के गठन के संबंध में उल्लेखनीय है कि प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश होते हैं जिनकी निश्चित संख्या का उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है।

किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा संबद्ध राज्यपाल के परामर्श के आधार पर की जाती है। दूसरी ओर, अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, संबद्ध राज्य के राज्यपाल तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श के आधार पर की जाती है। सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स एसोसिएशन बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 1984, एस.सी. 268 मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उच्च न्यायालयों के गठन के क्रम में न्यायाधीशों की संख्या सुनिश्चित करने के लिए संबद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा भारत के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के मामले में उल्लेखनीय है कि राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए भारत के मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त एक चयन मंडल (Collegium) का भी प्रावधान किया गया है। यह मंडल उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों तथा दोनों उच्च न्यायालयों (जहां से किसी न्यायाधीश का स्थानांतरण किया जाना है तथा जहां उस न्यायाधीश को कार्यभार संभालना है) के मुख्य न्यायाधीशों को सम्मिलित किया गया है।

वस्तुत: यह प्रावधान निष्पक्ष एवं स्वतंत्र न्यायपालिका के सुनिश्चितीकरण की दिशा में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयास है। कई अवसरों पर राष्ट्रपति द्वारा आवश्यकतानुसार अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति भी किसी उच्च न्यायालय में की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, अनुच्छेद 126 के तहत भारत का मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति पर उच्च न्यायालय के किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय में उच्च न्यायालय की स्वतंत्रता तदर्थ न्यायाधीश (Adhoc Judge) के रूप में नियुक्त कर सकता

है।

उच्च न्यायालय की निष्पक्षता बनाये रखने के उद्देश्य से न्यायाधीशों पर यह प्रतिबंध लगाया गया था कि वे अवकाश ग्रहण करने के बाद किसी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते लेकिन संविधान के 7वें संशोधन अधिनियम, 1956 की धारा 13 द्वारा अनुच्छेद 220 का संशोधन कर यह प्रावधान किया गया है कि कोई व्यक्ति जिसने संविधान के प्रारंभ के पश्चात किसी उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश के रूप में पद धारण किया है, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के सिवाय भारत में किसी न्यायालय या किसी प्राधिकारी के समक्ष अभिवचन का कार्य नहीं करेगा। यह उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद के निर्वचन के क्रम में यह भी स्पष्ट है कि जिस राज्य के उच्च न्यायालय में उसने कार्य किया है वहां भी वह अभिवचन का कार्य नहीं कर सकता। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की आयु के संबंध में यह प्रावधान है कि आयु की अवधारण ऐसे प्राधिकरण द्वारा और ऐसी रीति से किया जायेगा जो संसद विधि द्वारा उपबंधित करे।

उच्च न्यायालय की अधीक्षण अधिकारिता- 'अनु. 227' में उच्च न्यायालय अपने अधिकार क्षेत्र में सैन्य न्यायालयों को छोड़कर अन्य सभी न्यायालयों और न्यायाधिकरणों पर निगरानी रख सकता है। उच्चम न्यायालय ने प्रमोद सारस्वत बनाम आलोक कुमार 1981 मामले में यह कहा है कि अधीक्षण की अधिकारिता में न्यायिक और प्रशासकीय दोनों ही कार्य शामिल हैं तथा उच्च न्यायालय इसका प्रयोग स्वत: संज्ञान के आधार पर भी कर सकता है। लेकिन इसे किसी भी स्थिति में उच्च न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता नहीं कहा जा सकता है।

मामलों के हस्तानांतरण की अधिकारिता (Transfer of Cases)

अनु. 228 के तहत संविधान के निर्वचन से संबंधित विधि का कोई प्रश्न शामिल होने पर इस अधिकारिता का प्रयोग किया जा सकता है। इसके लिए निम्नांकित में से किसी शर्त का पूरा होना अनिवार्य है-

क. यदि कोई मामला अधिनस्थ न्यायालय में लंबित है।

ख. उस मामले में विधि का कोई प्रश्न शामिल है।

ग. उस मामले के निपटारे के लिए विधि के उस प्रश्न की व्याख्या अनिवार्य हो गई है।

ऐसे मामलों के हस्तानांतरण के बाद उच्च न्यायालय या तो स्वयं उस मामले का निपटारा कर सकता है या विधि के प्रश्न की व्याख्या के बाद अधीनस्थ न्यायालय को उसके निपटारे का निर्देश दे सकता है।

यह सर्वविदित है कि शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने तथा अधिकारों एवं समाज के संरक्षण के लिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता अनिवार्य है। इस संबंध में कई विशिष्ट प्रावधान किये गये हैं तथा व्यावहारिक रूप से भी इस दिशा में कार्य किया जाता है। उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालय के अधिकारियों तथा सेवकों की नियुक्ति उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा की जाती है तथा उनके वेतन और भत्ते की व्ययभारिता राज्य की संचित निधि पर होती है। साथ ही, न्यायाधीशों की नियुक्ति के बाद उनके वेतन तथा भत्ते में किसी भी प्रकार का अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को पद से हटाने की प्रक्रिया वही होती है जिसके आधार पर उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को पद से हटाया जाता है। इसके अतिरिक्त, राज्य विधान सभा में न्यायाधीशों के कृत्यों पर चर्चा वर्जित है। न्यायाधीश को पद से हटाने वाली प्रक्रिया संबंधी प्रस्ताव पर विधान मंडल में विचार तभी हो सकता है जब किसी न्यायाधीश पर सिद्ध कदाचार या अक्षमता का आरोप हो।

अभिलेखय न्यायालय (Court of Record)

उच्चतम न्यायालय की भाँति राज्य का प्रत्येक उच्च न्यायालय भी एक अभिलेख न्यायालय है और उन्हें ऐसे न्यायालयों की समस्त शक्तियाँ एवं अधिकार प्राप्त है। अनु. 215 के तहत उच्च न्यायालय को उसके अवमान हेतु दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है। सर्वोच्च न्यायालय की भांति उच्च न्यायालय भी एक अभिलेख न्यायालय है। दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय की कार्यवाहियों तथा निर्णयों को प्रकाशित करने का प्रावधान है तथा ये सभी अधीनस्थ न्यायालयों के लिए बाध्यकारी होते हैं।

उच्च न्यायालय की अधिकारिता (Jurisdictions of High Court)

1. **आरंभिक अधिकारिता :-** मूल अधिकारों के संरक्षण संबंधी मामलों को राज्य के उच्च न्यायालय में ही प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि इस संबंध में राज्य के किसी अन्य न्यायालय को अधिकार प्राप्त नहीं है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय कई अभिलेख अथवा रिट जारी कर सकता है। अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत पुनरीक्षण का प्रयोग अनुच्छेद 12 की परिधि में आने वाले राज्य व अन्य प्राधिकारियों के विरूद्ध किया जाता है जबकि अनुच्छेद 227 के तहत

अधिकारिता राज्य क्षेत्र के भीतर न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों के अधीक्षण से संबंधित है जिसके बारे में उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है।

2. **अपीलीय अधिकारिता :-** उच्च न्यायालय में अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों की अपील की जा सकती है जिसमें दीवानी, फौजदारी और राजस्व संबंधी सभी प्रकार के अभियोग सम्मिलित हैं। फौजदारी मामलों में सत्र न्यायालय द्वारा दिये गये मृत्युदंड के आदेश पर उच्च न्यायालय की पुष्टि आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय के ही एक न्यायाधीश के निर्णय के विरूद्ध पूरे उच्च न्यायालय में पुन: अपील की जा सकती है। अनुच्छेद 225 के निर्वचन से स्पष्ट होता है कि संविधान लागू होने के पूर्व उच्च न्यायालय को राजस्व संबंधी मामलों में अपील की सुनवाई का अधिकार नहीं था लेकिन अब इस प्रकार की अपीलें उच्च न्यायालय में की जा सकती हैं। ये अपीलें राजस्व मंडल के निर्णयों के विरूद्ध होती हैं।

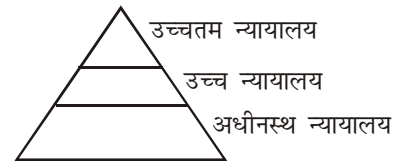

त्रिभुजाकार न्यायिक ढाँचा

3. **उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता (अनु. 226)** यह उपबंधित करता है कि अनु. 32 में किसी बात के होते हुए भी प्रत्येक उच्च न्यायालय को उन समस्त क्षेत्रों में, जिनके संबंध में वह अपनी अधिकारिता का प्रयोग करता है, संविधान के भाग-3 में प्रदत्त मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए और किसी अन्य प्रयोजन के लिए, संबंधित राज्य में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को समुचित मामलों में किसी सरकार को ऐसे निर्देश या आदेश या रिट जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार पृच्छा हैं, जारी करने की शक्ति होगी। इस प्रकार उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता केवल मूल अधिकारों की संरक्षा तक ही सीमित नहीं है बल्कि अन्य विधिक अधिकारों की संरक्षा हेतु भी उपलब्ध है। इस मामले में उच्च न्यायालयों की शक्ति उच्चतम न्यायालय की अपेक्षा अधिक विस्तृत प्रतीत होती है परन्तु वास्तविक अर्थों में ऐसा है नहीं। यद्यपि किसी "अन्य प्रयोज्य के लिए" पदावली से तात्पर्य किसी विधिक अधिकार या विधिक कर्तव्य से है किन्तु यह स्पष्ट है कि अनु. 226(क) द्वारा उच्च न्यायालय को प्रदत्त शक्ति अनु. 32 के खंड (2) के अधीन उच्चतम न्यायालय को प्राप्त शक्ति को किसी प्रकार अधिक नहीं है।

अनु. 226 का विस्तार

उच्चतम न्यायालय ने वासप्पा बनाम नागप्पा के मामले में अनु. 226 में निहित उच्च न्यायालय की शक्ति के विषय में कहा है कि ''अनु. 226 की भाषा बहुत विस्तृत है और यह उच्च न्यायालय को बड़ी विस्तृत शक्ति प्रदान करती है जिससे वे अन्याय को दूर करने में सफल हो सकें। उच्च न्यायालय अनु. 226 में वर्णित रिटों को यदि वह उचित समझे तो परिस्थितियों के अनुसार भी जारी कर सकता है। उच्च न्यायालयों की शक्ति केवल रिटों के जारी करने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह अपनी अधिकारिता के भीतर आने वाले किसी भी व्यक्ति या प्राधिकारी को समुचित आदेश या निर्देश जारी कर सकता है। इस प्रकार अनु. 226 के अधीन उच्च न्यायालय किसी भी प्रशासनिक एवं कार्यपालिका के अधिकारी के कार्यों का परीक्षण कर सकता है और पीड़ित पक्षकार को उपचार प्रदान कर सकता है।

उच्चतम तथा उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिताओं की तुलना

(Comparison of Writ jurisdictions of Supreme Court & High Courts)

'अनु. 32' और 'अनु. 226' में क्रमश: ऐसी अधिकारिताएँ उल्लिखित हैं जिनके अनुसार जहाँ उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारों के विषय पर रिट निर्गत करता है, वहीं उच्च न्याालय मूल अधिकारों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी ऐसी अधिकारिता का प्रयोग करता है। ऐसे प्रावधान से यह प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता उच्चतम न्यायालय से अधिक विस्तृत है।

तार्किक रूप से इस विचार को निराधार कहा जाना चाहिए क्योंकि भारत का न्यायिक ढ़ाँचा त्रिभुजाकार है जिसके शीर्ष पर उच्चतम न्यायालय अवस्थित है। ऐसे ढ़ाँचे का कारण यह है कि भारत में न्यायिक विकेंद्रीकरण की संकल्पना प्रचलित है। अत: स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उच्च न्यायालय को कई स्वायत्त शक्तियाँ प्राप्त हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी 'रिट अधिकारिता' उच्चतम न्यायालय से अधिक विस्तृत है। इसके निम्नांकित तथ्यों से प्रमाणित किया जा सकता है-

क. क्षेत्राधिकार के आधार पर जहाँ 'अनु. 226 के रिट उस उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार तक प्रभावित होते हैं। वहीं 'अनु. 32 के रिट भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र पर।

ख. न्यायवादिता के सिद्धांत के अनुरूप जहाँ उच्च न्यायालय के रिट अधिकार व्यवस्था बनाए रखने और नागरिकों के अधिकारों की

रक्षा में सहायक है, वहीं 'अनु. 32' के रिट उपचारात्मक होने के साथ-साथ निर्देशात्मक भी है, अर्थात् भविष्य में अधिकारों के प्रवर्तन के लिए इनके जरिए नए दिशा निर्देश जारी किए जा सकते हैं।

ग. आपातकाल के दौरान भी 'अनु. 32' के तहत बंदी-प्रत्यक्षीकरण निलंबित नहीं होता।

घ. अनु. 32 संविधान के मूल ढाँचे का भाग है। जबकि अनु. 226 मूल ढ़ाचे का भाग नहीं है।

ड. अनुच्छेद 226(1) में उल्लिखित **'किसी अन्य प्रयोजन के लिए'** पदावली के अंतर्गत उच्च न्यायालय मूल अधिकारों से भिन्न प्रयोजन पर भी रिट जारी कर सकता है। इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय की अधिकारिता विस्तृत है। परन्तु ऐसी रिट प्रशासकीय मामलों से संबंधित होती हैं जो संबंधित राज्य में ही आबद्धकर होती हैं दूसरे इस पर भी उच्चतम न्यायालय स्थगन आदेश जारी कर सकता है।

निष्कर्षत: यह तथ्य सामने आता है कि अतिरिक्त शक्तियाँ प्राप्त होने के बावजूद भारत के एकात्मक परिसंघ में उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता के उच्चतम न्यायालय से अधिक विस्तृत होने का प्रश्न नहीं उठता।

5. **न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति :-** उच्च न्यायालय को भी यह अधिकार प्राप्त है कि वह किसी भी ऐसे संवैधानिक संशोधन, केन्द्रीय कानून या राज्य के कानून को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के प्रावधानों के विपरीत हों।

6. **प्रशासनिक शक्ति :-** उच्च न्यायालय न्यायिक शक्तियों के अतिरिक्त राज्य की समस्त न्यायिक व्यवस्था पर नियंत्रण रखता है जिसके लिए निम्नांकित प्रावधान किये गये हैं :

   a. उच्च न्यायालय किसी मामले को एक अधीनस्थ न्यायालय से किसी अन्य अधीनस्थ न्यायालय में स्थानांतरित कर सकता है।

   b. अधीनस्थ न्यायालयों की कार्य पद्धति, रिकार्ड और रजिस्टर तथा हिसाब आदि रखने के संबंध में उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालयों के लिए नियम बना सकता है।

   c. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा न्यायालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है।

   d. यदि अधीनस्थ न्यायालय में कोई ऐसा अभियोग चल रहा हो जिसमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है तो उच्च न्यायालय उस मामले को अपने समक्ष प्रस्तुत करने का आदेश दे सकता है।

अधीनस्थ न्यायालय (Subordinate Courts)

उच्च न्यायालय से परामर्श करके राज्यपाल जिला न्यायाधीश की नियुक्ति करता है। वही व्यक्ति जिला न्यायाधीश बन सकता है जो कम से 7 वर्ष तक अधिवक्ता या प्लीडर रहा हो तथा वह संघ या राज्य की सेवा में पहले से नहीं हो। राज्य के राज्यपाल को ऐसा कदम उठाने से पहले राज्य के उच्च न्यायालय से परामर्श करना जरूरी है।

अनु. 235: अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण

अधीनस्थ न्यायालयों का नियंत्रण जिसके अंतर्गत राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों और जिला न्यायाधीश पर पद को धारण करने वाले व्यक्तियों की पदस्थापना, प्रोन्नति और उनको छुट्टी देना उच्च न्यायालय में निहित है।

राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण (National Green Tribunal)

पर्यावरण से संबंधित कानूनी मासले निपटाने के लिए बने नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल ने अपना कार्य आरंभ कर दिया। ट्रिब्यूनल ने अपनी पहली सुनवाई नियमगिरी की पहाड़ियों से संबंधित मामले पर की। अक्टूबर 2010 में संसद ने नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल एक्ट पास किया था। राष्ट्रीय ग्रीन ट्रिब्यूनल का गठन संविधान के अनुच्छेद 21 से प्रेरित है।

ट्रिब्यूनल का मुख्यालय दिल्ली में रहेगा और देश भर में चार सर्किट बेंच होंगी। पूर्वी क्षेत्र की बेंच कोलकाता, पश्चिमी क्षेत्र की बेंच पुणे, मध्य क्षेत्र की बेंच भोपाल और दक्षिण क्षेत्र की बेंच चेन्नई में होगी। हालांकि इन चारों बेंच ने अभी काम करना शुरू नहीं किया है। ट्रिब्यूनल जल प्रदूषण, वन संरक्षण, वायु प्रदूषण, पर्यावरण संरक्षण, लोक उत्तरदायित्व, जैव विविधता के मामलों की सुनवाई करेगा। उल्लेखनीय है कि ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के बाद ग्रीन ट्रिब्यूनल बनाने वाला भारत दुनिया का तीसरा देश है। ट्रिब्यूनल कानून के तहत पर्यावरण से जुड़े कानूनों का उल्लंघन होने पर कोई भी व्यक्ति ट्रिब्यूनल से शिकायत कर सकता है। ट्रिब्यूनल के निर्णय को सिर्फ सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी जा सकती है। उल्लेखनीय देशभर की अदालत में पर्यावरण से जुड़े लगभग 5 हजार केस लंबित हैं।

ग्राम न्यायालय (Gram Nyayalaya)

ग्राम न्यायालय की व्यवस्था को वैकल्पिक निम्न कारणों से माना गया:

1. ग्राम न्यायालय अपनी कार्यवाही के दौरान सामान्य न्यायिक प्रक्रियाओं का अक्षरश: पालन नहीं करेगा।
2. किसी विवाद में सम्बद्ध पक्षों को अपना पक्ष प्रस्तुत करने हेतु वकील लेना अनिवार्य नहीं होगा।
3. ग्राम न्यायालय के अन्तर्गत मध्यस्थ की व्यवस्था द्वारा दोनों सम्बद्ध पक्षों के बीच समझौते का भी प्रावधान है।

आयोग का मानना था कि पिछले कुछ वर्षों में लंबित मुकदमों की संख्या घटानें हेतु 'फास्ट ट्रैक कोर्ट' स्थापित किये गये, साथ ही न्यायिक प्रक्रिया को सरल बनाने की दिशा में भी अनेक कार्य हुए जैसे लोकहित वाद को मान्यता परन्तु इसके अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हुए। ग्राम न्यायालय की स्थापना के मूल उद्देश्यों के रूप में आयोग ने निम्न तथ्य रेखांकित किये-

1. ग्राम न्यायालय स्थानीय स्तर पर ही संचालित किये जाने के कारण स्थानीय विवादों का शीघ्र निस्तारण संभव हो सकेगा।
2. इस प्रकार गैर जरूरी व छोटे मुकदमों की संख्या में कमी आयेगी।
3. न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता ने आम आदमी को न्यायालयों से दूर कर दिया है। ग्राम न्यायालय की सरल सहज, न्यायिक प्रक्रिया इस दूरी को कम करने में मददगार होगी।

संसद में ग्राम न्यायालय विधेयक 2007 में प्रस्तुत किया गया जिसे सभी दलों तथा वर्गों का भरपूर समर्थन मिला। राज्य सभा ने 17 दिसम्बर, 2008 को यह विधेयक निर्विरोध पारित किया जबकि लोक सभा में यह विधेयक 22 दिसम्बर, 2008 को पारित किया गया।

संसद में बहस के दौरान न्यायिक तंत्र की कमजोरियों को स्वीकार करते हुए यह माना गया कि अधिनियम विशेष रूप से कमजोर वर्गों व सुदूर क्षेत्रों के निवासियों हेतु न्याय को सुलभ व सहज बनायेगा तथा समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार व अपराध को कुछ सीमा तक नियंत्रित करने में सफल रहेगा।

- प्रत्येक ग्राम पंचायत में अथवा दीवानी मामलों की संख्या के आधार पर कुछ ग्राम पंचायतों को जोड़कर एक ग्राम न्यायालय की स्थापना की जायेगी।
- प्रत्येक ग्राम न्यायालय में एक न्याय अधिकारी होगा जो उसी गाँव से कार्य करेगा जहाँ ग्राम पंचायत का कार्यालय होगा।
- उक्त अधिकारी के पास प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट की व जिला न्यायालय की सभी शक्तियाँ होंगी तथा वह दीवानी व फौजदारी सभी प्रकार के मुकदमों की सुनवाई करने के लिये अधिकृत होगा।
- ग्राम न्यायालयों की कार्यवाही तथा फैसले स्थानीय-प्रादेशिक भाषा में होंगे।
- आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग हेतु इस अधिनियम में सरकार द्वारा वकीलों की नियुक्ति व उन्हें भुगतान करने का प्रावधान है।
- दो साल से कम सजा वाले सभी फौजदारी मामले व स्थानीय स्तर के सभी मुकदमें इस न्यायालय के समक्ष रखे जा सकेंगे।
- ग्राम न्यायालय अधिनियम का एक प्रमुख प्रावधान यह है कि यह न्यायालय भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 को लागू करने हेतु बाध्य नहीं होंगे। अदालत की कार्यवाही प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्त और उच्च न्यायलय के नियमों व निर्देशों के आधार पर चलेगी।
- फौजदारी व दीवानी मामलों में अपराध प्रक्रिया संहिता के स्थान पर सरसरी सुनवाई प्रक्रिया अपनाई जायेगी।
- इन फैसलों के खिलाफ सत्र न्यायालय में अपील की जा सकेगी जिन्हें अपील के छ: माह के भीतर फैसला देना होगा।
- ग्राम न्यायालय को प्रत्येक मुकदमे 10 दिन के भीतर फैसला सुनाना होगा और इसके एक सप्ताह के भीतर दोनों पक्षों को फैसले के प्रति नि:शुल्क उपलब्ध करवानी होगी।
- ग्राम न्यायालय का समस्त कार्य राज्य उच्च न्यायालय की देख-रेख में व उनके निर्देशों के अनुरूप चलेगा।
- ग्राम न्यायालय अधिनियम के अन्तर्गत पुलिस को भी गया है, कि वह सभी सम्बद्ध दस्तावेज न्यायालय को उपलब्ध करवायेगी तथा सभी प्रकार से सहयोग करेगी।
- ग्राम न्यायालय की स्थापना पर होने वाला खर्च केन्द्र सरकार द्वारा वहन किया जायेगा, साथ ही प्रथम तीन वर्ष तक केन्द्र सरकार संचालन व्यय का आधा भाग देगी।

प्रथम दृष्टि में ग्राम न्यायालय एक साहसिक कदम है, जो न्याय व्यवस्था के प्रति सामान्य जन में एक विश्वास जागृत करेगा,

वहीं न्यायपालिका के कार्यभार में कमी लाकर उसकी कार्यप्रणाली को सुचारू करेगा। 2 अक्टूबर गाँधी जी की पुण्यजयंती के अवसर पर इसे पूरे देश में लागू कर दिया गया है।

ग्राम न्यायालय की स्थापना द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हो सके इसके लिये अनेक प्रासंगिक मुद्दों का समाधान आवश्यक है, जैसे कि स्थानीय स्तर की राजनीति से ग्राम न्यायालय की कार्यवाही प्रभावित न हो, फैसले के लिये निर्धारित समय सीमा का पालन करने हेतु अधिकारी पाबंद हों आदि। साथ ही न्याय अधिकारी के रूप में योग्य व समर्पित व्यक्ति का चयन हो जो इसे न्यायिक कार्य के साथ-साथ अपना सामाजिक उत्तरदायित्व मानकर चलें।

न्यायपालिका का विकेन्द्रीयकरण भारतीय न्याय व्यवस्था की एक सार्थक पहल है जिसे सभी वर्गों व राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त है, यह अधिनियम सामाजिक परिदृश्य को बदलने की क्षमता रखता है तथा निम्न व उपेक्षित वर्ग इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

लोक अदालत (Lok Adalat)

1. भारत में लोक अदालतों की स्थापना शीघ्र न्याय तथा अल्पव्यय न्याय के उद्देश्यों से की गई है।
2. शीघ्र न्याय की अवधारणा पर आधारित इस व्यवस्था में सौहार्दता तथा समझौते को न्याय का उद्देश्य बनाया जाता है।
3. 6 अक्टूबर, 1985 को उच्चतम न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश पी.एन. भगवती की अध्यक्षता में प्रथम लोक अदालत का आयोजन किया गया था।
4. न्यायिक सेवा प्राधिकार अधिनियम की सहायता से लोक अदालत की संकल्पना का सुदृढ़ीकरण किया गया है।
5. अधिनियम के अनुसार, केन्द्र या राज्य सरकार या जिला प्रशासन समय-समय पर और निर्धारित स्थानों पर लोक अदालत का आयोजन कर सकती है।
6. लोक अदालतों के निर्णय को दीवानी अदालतों द्वारा निर्णय के समरूप माना जाता है।
7. संबंधित वादी-प्रतिवादी लोक अदालत के निर्णय मानने के लिए बाध्य होता है।
8. अधिनियम के अनुसार, न्यायिक पदाधिकारी अथवा सरकार द्वारा निर्धारित योग्यता रखने वाले व्यक्ति लोक अदालत की अध्यक्षता करते हैं।
9. वर्ष 2002 में संसद ने कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम 1987 में इस उद्देश्य से संशोधान किया ताकि मुकदमेबाजी से पहले मतभेदों को सुलझाने की व्यवस्था की जाए।
10. लोक अदालतों को अंतिम रूप से मामलों का निपटारा करने एवं निर्णय देने का अधिकार प्रदान किया गया है। इनके द्वारा दिए गए निर्णय को न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकती।

परिवार न्यायालय (Family Courts)

राज्य सरकार द्वारा पारिवारिक अदालतों का गठन पारिवारिक न्यायालय अधिनियम 1984 के अन्तर्गत किया जा सकता है प्राय: इस प्रकार की अदालतों की स्थापना 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में की जाती है। इस प्रकार की अदालतों का मुख्य उद्देश्य विवाह एवं अन्य पारिवारिक विवादों का त्वरित समाधान करना है तथा यह प्रयास करना है कि मामला आपसी सहमति से हल हो जाये।

विधायिका बनाम न्यायपालिका (Legislature verses Judiciary)

भारत में संविधान को सर्वोच्चता प्रदान करते हुए शासन के तीनों अंगों में शक्ति पृथक्करण के द्वारा शक्तियों का बंटवारा किया गया है ताकि ये अंग सुचारू रूप से अपने कार्य का संचालन करते हुए संविधान में निहित लोकतंत्रात्मक गणराज्य की अवधारणा को मूर्त रूप प्रदान कर सकें। लेकिन शासन के दो अंगों विधायिका व न्यायपालिका में समय-समय पर एक दूसरे के प्रति विश्वास में कमी देखी गई जब दोनों ने एक दूसरे पर अपने कार्यो में हस्तक्षेप का आरोप लगाया। विभिन्न चरणों में हम इनके बनते बिगड़ते संबंधों को देख सकते हैं-

1950-67:- इस पूरे काल में न्यायपालिका ने अपने कार्यकरण को वैधानिक व औपचारिक रखकर मौलिक अधिकारों को प्राथमिकता प्रदान की। विधायिका ने इस काल में न्यायपालिका के दृष्टिकोण का समर्थन किया। दूसरी ओर जब निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए विधायिका ने संशोधन किये तो न्यायपालिका ने उन पर आपत्ति नहीं की।

1970- का दशक: 1967 के गोलकनाथ वाद से विवाद प्रारंभ हुआ जब न्यायपालिका ने संसद की संशोधन शक्ति पर प्रतिबंध

लगाने की कोशिश की व मौलिक अधिकारों को सर्वोच्चता प्रदान की। दूसरी तरफ संसद ने विभिन्न संशोधनों यथा- संविधान संशोधन 24,25,39,42 से न्यायिक पुनरावलोकन पर प्रतिबंध का प्रयास किया। इसी समय प्रतिबद्ध न्यायपालिका की संकल्पना भी दी गई जिसमें न्यायपालिका को सरकार के सामाजिक दर्शन के प्रति प्रतिबद्धता की मांग की गई।

इसी काल में प्रिवीपर्स तथा बैंकों में राष्ट्रीयकरण वाद में विधायिका व न्यायपालिका के मध्य मतभेद उभरे। न्यायालय ने केशवानन्द भारती वाद में आधारभूत संरचना का सिद्धान्त प्रस्तुत कर संसद की शक्ति को सीमित करने का प्रयास किया। इसे संसदीय संप्रभुता पर आक्रमण कहा गया। इसी समय सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में वरिष्ठता का उल्लंघन किया गया तथा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के मनमाने स्थानान्तरण किये गये तथा न्यायपालिका को सार्वजनिक रूप से हतोत्साहित करने का प्रयास किया गया जो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक नई प्रवृत्ति थी।

80- के दशक में : न्यायपालिका ने जनहित की संकल्पना पर जोर देते हुए सामाजिक न्याय का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इससे पुन: विधायिका व न्यायपालिका के मध्य विवाद के आरोप लगाए गए क्योंकि विधायिका ने इसे न्यायिक सक्रियता कहा जबकि न्यायपालिका ने इसे न्यायपालिका का वास्तविक कार्य कहा।

90- के दशक में : न्यायपालिका ने अपने महत्वपूर्ण निर्णय के अन्तर्गत न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति के बजाय मुख्य न्यायाधीशों की राय को प्राथमिकता प्रदान की।

न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review)

किसी अवसर पर संसद या राज्य विधानमंडलों द्वारा संविधान का अतिक्रमण किये जाने, उनके द्वारा अपनी निश्चित सीमाओं के बाहर विधि निर्माण करने या मौलिक अधिकारों के हनन करने वाले कानूनों का निर्माण करने की स्थिति में न्यायपालिका द्वारा ऐसे कानूनों को अवैध घोषित किया जा सकता है। इस शक्ति को ही न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति कहते हैं। वस्तुत: न्यायपालिका को यह शक्ति प्रदान करने का मूल उद्देश्य संविधान के प्रावधानों का संरक्षण कर भारत में विधि के शासन का सुनिश्चितीकरण है। भारतीय संविधान में यद्यपि किसी स्थान पर स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है कि संविधान सर्वोच्च है लेकिन इसके बावजूद विधि के शासन की स्थापना की संकल्पना संविधान की सर्वोच्चता के सिद्धांत पर ही आधारित है। भारतीय राजव्यवस्था के सभी अंग विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका संविधान से ही अपनी शक्तियां प्राप्त करते हैं। इस स्थिति में संविधान के संरक्षण का दायित्व न्यायपालिका का हो जाता है। दूसरी ओर, चूंकि भारतीय राजव्यवस्था संघीय शासन व्यवस्था है अत: केन्द्र तथा राज्यों के मध्य समन्वय की स्थापना करने में भी न्यायपालिका की विशिष्ट भूमिका है जिसके लिए उसके द्वारा संविधान का संरक्षण करना अनिवार्य है। संविधान के अनुच्छेद 13 और 32 के तहत मौलिक अधिकारों के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है। इसी प्रकार अनुच्छेद 226 में उच्च न्यायालय भी रिट के माध्यम से मौलिक अधिकारों के संरक्षण का कार्य करता है। अनुच्छेद 131 तथा 132 में उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह संघ तथा राज्य द्वारा निर्मित विधियों की विधिमान्यता की जांच कर सकता है। इस संबंध में अनुच्छेद 246 का उल्लेख भी समीचीन है जिसके द्वारा केन्द्र और राज्यों के मध्य विधि निर्माण की शक्तियों के विभाजन का स्वरूप सुनिश्चित किया गया है। उपरोक्त व्याख्या इस तथ्य का प्रमाण है कि भारतीय संविधान में न्यायिक पुनर्विलोकन के दो शक्तिशाली आधारस्तंभ हैं- संघात्मक व्यवस्था एवं मौलिक अधिकार।

तुलनात्मक दृष्टिकोण से भारत में उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की जो शक्ति प्रदान की गई है वह अमेरिका की अपेक्षा न्यून है। अमेरिका का संविधान अत्यन्त संक्षिप्त है जिसके कारण संघ तथा राज्यों के मध्य कई प्रकार के विवाद उत्पन्न होते हैं जिसके आधार पर अमेरिकी उच्च्तम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यापक शक्ति प्रदान की गई है। लेकिन भारत के संदर्भ में ऐसी स्थिति नहीं है। अनुच्छेद 246 में संघ तथा राज्यों के मध्य कानून निर्माण की शक्ति का पर्याप्त विभाजन होने के कारण ऐसे विवादों की उत्पत्ति सीमित दायरे में होती है।

भारत के संविधान में प्रत्येक मौलिक अधिकार की सीमा सुनिश्चित कर दी गई है। इस कारण भी अमेरिका में विवादों की आशंका भारत की अपेक्षा अधिक है जो अमेरिकी उच्चतम न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति की व्यापकता का कारण है। इस संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि अमेरिका के संविधान में 'कानून की उचित प्रक्रिया' (Due Process of Law) शब्दावली का प्रयोग किया गया है जबकि भारत के संविधान में जापान के संविधान से प्रेरित होकर 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' (Procedure Established by Law) शब्दावली का प्रयोग है। इस दृष्टिकोण से एक ओर जहां अमेरिका का उच्चतम न्यायालय किसी भी कानून की विधिमान्यता की जांच कर सकता है, वहीं दूसरी ओर, भारत का सर्वोच्च न्यायालय संघ अथवा राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि की विधिमान्यता की जांच तभी कर सकता है जब विधि निर्माण के क्रम में संविधान के किसी प्रावधान का उल्लंघन

किया गया हो।

आलोचना

आलोचनात्मक दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त होने के कारण उच्चतम न्यायालय समय-समय पर अपने ही निर्णयों में परिवर्तन करता रहा है जिसके परिणामस्वरूप कई अवसरों पर भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। इसके अतिरिक्त, न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति के प्रयोग के कारण सदैव यह आशंका होती है कि संसद अथवा राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई किसी विधि को न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है जिसके कारण कई अवसरों पर उसके समुचित क्रियान्वयन में कठिनाइयां आती हैं। ऐसी स्थिति में विधायिका एवं न्यायपालिका के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने की भी आशंका होती है।

विश्लेषण

उपरोक्त आलोचनात्मक व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि कई अवसरों पर न्यायपालिका ने अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का सक्रिय प्रयोग किया है लेकिन अधिकांशतः भारतीय राजव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण में इस प्रकार की शक्ति ने व्यापक योगदान दिया है। वस्तुतः न्यायिक पुनर्विलोकन शासन की शक्ति को मर्यादित रखने का एक महत्वपूर्ण साधन है। सन् 1997 में दिये गये एक निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति संविधान का मूलभूत लक्षण है अतः इसे संवैधानिक संशोधन कर सीमित नहीं किया जा सकता है।

न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान का "आधारभूत ढ़ाँचा" है

केशवानन्द भारती के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि विधानमंडल द्वारा संविधान के किसी भी भाग (मूल अधिकारों सहित) में अनु. 368 के अन्तर्गत संविधान संशोधन प्रक्रिया के तहत संशोधन किया जा सकता है, लेकिन उससे संविधान के "आधारभूत ढाँचें" में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। लेकिन, 42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनु. 368 में खंड (4) एवं (5) को सम्मिलित किया गया। जिसके अनुसार क्रमशः कोई संशोधन किसी भी आधार पर न्यायालयों द्वारा प्रश्नगत नहीं किया जाएगा एवं संविधान के उपबन्धों का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करने पर संसद की संविधायी शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बन्धन नहीं होगा। इसके उपरान्त मिनर्वा मिल्स के मामलें में उच्चतम न्यायालय ने अनु. 368 के खंड (4) एवं (5) को अविधिमान्य घोषित कर दिया तथा स्पष्ट किया कि "न्यायिक पुनर्विलोकन" संविधान का "आधारभूत ढ़ाँचा" है। इस प्रकार मिनर्वा मिल्स के मामले में न्यायालय ने केशवानन्द भारती वाद की विधिमान्यता को बनाए रखा। इसके पश्चात् अपने ऐतिहासिक महत्व के निर्णय एल. चन्द्रकुमार बनाम भारत संघ में यह अभिनिर्धारित किया है कि अनु. 226 में निहित उच्च न्यायालयों की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढ़ाँचा है, जिसे संविधान में संशोधन करके भी समाप्त नहीं किया जा सकता।

न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism)

न्यायिक सक्रियता का तात्पर्य संविधान, कानून और अपने दायित्वों के प्रसंग में कानूनी व्याख्या से आगे बढ़कर सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और सामाजिक -आर्थिक न्याय की आवश्यकता के दृष्टिकोण से संविधान और कानून की रचनात्मक व्याख्या करते हुए जन साधारण के हितों की रक्षा के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना है। भारतीय राजव्यवस्था के आरंभिक चरणों में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा फलीभूत नहीं हुई थी लेकिन 1970 के दशक तथा उसके उपरांत इस प्रकार की संकल्पना का विकास हुआ है। दूसरे शब्दों में, न्यायपालिका ने 1970 के दशक के उपरांत संविधान एवं विभिन्न विधियों की रचनात्मक व्याख्या पर विशेष बल देना प्रारंभ किया है। इसका मूल उद्देश्य संविधान के विभिन्न प्रावधानों का संरक्षण करना है। 1980 के दशक में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा के विकास को त्वरित गति प्राप्त हुई। 1990 के दशक में वस्तुतः न्यायिक सक्रियता की संकल्पना भारतीय राजव्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन गई। व्यावहारिक रूप से उच्चतम न्यायालय द्वारा इस दिशा में प्रथम प्रयास किये गये थे लेकिन कालांतर में उच्च न्यायालयों तथा अन्य न्यायालयों ने भी इस मार्ग को प्रशस्त करने में अहम भूमिका निभाई। तकनीकी दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि राजव्यवस्था में न्यायपालिका की भूमिका निषेधत्मक रही है लेकिन न्यायिक सक्रियता के कारण वर्तमान में यह भूमिका रचनात्मक कही जा सकती है। न्यायिक सक्रियता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि इसके माध्यम से शासन की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण रखा जा सकता है। स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि कई अवसरों पर कार्यपालिका द्वारा अपने विवेकाधिकारों का दुरुपयोग किया जाता है जो संवैधानिक प्रावधानों का उल्लंघन करता है। इसके अतिरिक्त, न्यायिक सक्रियता के माध्यम से कानूनी न्याय के साथ-साथ सामाजिक- आर्थिक न्याय का सुनिश्चितीकरण भी संभव हो सका है। इस दिशा में न्यायपालिका द्वारा बंधुआ मजदूरी तथा बाल श्रम को प्रतिबंधित करने वाले निर्णय महत्वपूर्ण हैं। हाल के वर्षों में आलोचकों द्वारा यह विचार व्यक्त

किये गये हैं कि न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता प्रदर्शित करते हुए कई अवसरों पर अपने क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण भी किया है जो न्यायिक तानाशाही जैसी संकल्पना का उदय भी कर सकती है। इस स्थिति में न्यायपालिका तथा राजव्यवस्था के अन्य अंगों के मध्य समन्वय में कमी की आशंका है। इस आशंका को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका तथा विधायिका को अपने कर्तव्यों के निर्वहन के प्रति सचेत बनाते हुए न्यायपालिका को सक्रिय बनाने के संबंध में सीमाओं का निर्धारण किया जाये।

नौंवी अनुसूची न्यायिक समीक्षा के दायरे से बाहर नहीं

अपने ऐतिहासिक निर्णय में उच्चतम न्यायलय ने 11 जनवरी, 2007 को एक महत्वपूर्ण निर्णय में कहा कि नौंवी अनुसूची में शामिल किया गया कोई भी अनुच्छेद या कानून न्यायिक समीक्षा के दायरे से बाहर नहीं है। मुख्य न्यायाधीश वाई. के. सब्बरवाल की अध्यक्षता में गठित 9 सदस्यीय संविधान पीठ ने एक याचिका पर सर्वसम्मत निर्णय देते हुए स्पष्ट किया कि 24 अप्रैल, 1973 के बाद नौंवी अनुसूची में सम्मिलित किया गया कोई भी कानून न्यायिक समीक्षा का विषय हो सकता है। यह समय सीमा केशवानन्द भारती के चर्चित मामलें में उच्चतम न्यायालय के फैसले से जुड़ी है। उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त मामले में न्यायालय ने व्यवस्था की थी कि विधानमंडल की शक्तियों के प्रयोग के फलस्वरूप संविधान के ''आधारभूत ढ़ाँचें'' में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

संविधान पीठ ने स्पष्ट कहा कि नागरिकों के मूल अधिकार संविधान के ''आधारभूत ढ़ाँचें'' के भाग हैं। इसलिए इन मूल अधिकारों में परिवर्तन या उनका हनन करने वाली कोई भी विधि न्यायिक समीक्षा से परे नहीं है। न्यायालय ने अनु. 14, 15, 19, 20 एवं 21 को अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार करार दिया। न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया कि मूल अधिकारों एवं नीति-निदेशक तत्वों के मध्य परस्पर सामंजस्य होना चाहिए। उल्लेखनीय है कि नौंवी अनुसूची को प्रथम संविधान संशोधन, 1951 द्वारा अनुच्छेद 31 के अन्तर्गत नौंवी अनुसूची को संविधान में जोड़ा गया था इसका उद्देश्य भूमि सुधार तथा संबंधित कानूनों को इस सूची में सम्मिलित कर उन्हें न्यायिक समीक्षा से दूर करना था।

जनहित याचिका (Public In terest Litigation)

संविधान/कानून का लाभ समाज के सभी वर्गों को प्राप्त होना चाहिए परन्तु इसका लाभ समाज के अभिजात्य वर्ग को ही प्राप्त हुआ क्योंकि न्यायिक प्रक्रिया अत्यधिक जटिल एवं महंगी है। इस कारण कानून/संविधान का लाभ को समाज के सभी वर्गों को दिलाने हेतु ऐसे प्रयास को जनहित याचिका कहते हैं। जब किसी व्यक्ति या समुदाय के मौलिक अधिकारों या मानवीय अधिकारों का हनन होता है और वह व्यक्ति अज्ञानता या गरीबी के कारण न्यायालय जाने में अक्षम है तो जनहित से प्रेरित होकर कोई अन्य व्यक्ति या संस्था न्यायालय में वाद ला सकती है।

पी.एन.भगवती व कृष्णा अय्यर ने की एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ (1982) वाद में इसका प्रारम्भ हुआ।

जनहित याचिका (PIL: Public Interest Litigation) की विशेषताएं

1. जनहित से प्रेरित होकर वाद
2. वापस नहीं लिया जा सकता।
3. औपचारिकता का अभाव।
4. केवल पोस्टकार्ड के माध्यम से वकील की जरूरत नहीं।
5. कानूनी न होकर सामाजिक अधिक है।
6. न्याय को प्राथमिकता, तकनीक गौण।

भारतीय विधि में लोकहित वाद का अर्थ एक ऐसे मामले अथवा वाद से है जो जनता के व्यापक हितों की रक्षा करता है। ऐसे वादों में यह अनिवार्य नहीं है कि पीड़ित को ही न्यायालय में जाना चाहिए। उसकी ओर से कोई अन्य व्यक्ति अथवा संस्था भी वाद दायर कर सकती है अथवा न्यायालय स्वत: संज्ञान ले सकता है। इसी कारण इसे न्यायिक सक्रियता का एक महत्वपूर्ण उपकरण माना गया है। ऐसे प्रावधान का तर्क यह है कि कई अवसरों पर पीड़ित के पास इतने संसाधन उपलब्ध नहीं होने अथवा अन्य किसी कारणवश न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने की समस्या हो सकती है। जनहितवाद किसी विधि में परिभाषित नहीं है। इसे न्यायालय ने जनता के व्यापक हितों के संदर्भ में निर्वाचित किया है। हालांकि मुख्य रूप से जनहितवादों का उद्देश्य जनता के हितों की रक्षा है लेकिन कई अन्य मामलों में भी यह लागू होता है, जैसे:-

1. विशेषकर गरीबों के बुनियादी मानवाधिकारों का उल्लंघन।
2. सरकारी नीतियों के तत्वों तथा उद्देश्यों की जांच।

3. लोक कर्तव्यों के पालन के लिए स्थानीय प्राधिकारियों पर दबाव।
4. धार्मिक अथवा अन्य मूल अधिकारों का उल्लंघन।

जनहितवादों को उच्चतम न्यायालय ने एसपी. गुप्ता बनाम भारत संघ, 1982 मामले में अधिकारिक मान्यता दी थी। इसके बाद यह भारत में न्यायिक सक्रियता का ज्वलंत प्रतीक बन गया। इस मामले में न्यायालय ने यह कहा कि कोई व्यक्ति अथवा सामाजिक समूह उन व्यक्तियों के संवैधानिक अथवा विधिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम अथवा उच्च न्यायालय की रिट अधिकारिता के प्रयोग के लिए याचिका दायर कर सकता है जो सामाजिक-आर्थिक अथवा अन्य अयोग्यताओं के कारण न्यायालय तक नहीं पहुँच पाते।

लोकहितवाद के लाभ (Benefits of PIL)

1. देश के सतर्क नागरिकों द्वारा मितव्ययी न्याय प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि ऐसी याचिका दायर करने के लिए सांकेतिक फीस निधारित है।
2. बड़े पैमाने पर जन हित की रक्षा से राज्य को उत्तरदायी बनाने में सहायता।
3. मानवाधिकारों, संवैधानिक, विधिक तथा मूल अधिकारों की रक्षा।
4. लोक नीतियों के निर्धारण तथा कार्यान्वयन में राज्य को निर्देशन।

न्यायिक दृष्टिकोण (Judicial Approach)

यह विदित है कि जनहितवादों के जरिए अधिकारों की रक्षा की जाती है लेकि न्यायालय ने इसके दुरूपयोग की संभावित आशंका को दूर करने के लिए कुछ निर्देश जारी किए हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया है कि सभी न्यायालयों को यह देखना चाहिए कि ऐसे वादों से क्या कोई निजी हित साधने का प्रयास किया गया है अथवा लोकप्रियता प्राप्त करने की मंशा है। इन स्थितियों में ऐसी याचिकाएं स्वीकार्य नहीं होंगी। इसी प्रकार, राजनीतिक दबाव समूह, जो प्रशासकीय अथवा राजनीतिक विधियों से अपने हित नहीं साध सके, द्वारा ऐसी याचिका इस उद्देश्य से दायर नहीं की जा सकती।

अन्य निर्देश

- जनहित याचिका किसी उच्च न्यायालय अथवा सीधे उच्चतम न्यायालय में दायर की जा सकती है।
- यह अनिवार्य नहीं है कि याचिका दायर करने वाले के व्यक्तिगत अधिकारों का हनन हुआ हो।
- कर्तव्यों से विमुख होने के कारण जनहित प्रभावित हुआ हो।
- संवैधानिक विधियों/पद्धतियों से असंगत कार्य किए गए हों।

भारत में जनहितवादों के महत्व में वृद्धि के प्रमुख कारण

1. ब्रिटेन के विपरीत भारत का लिखित संविधान जो मूल अधिकारों तथा नीति निदेशक तत्वों का स्पष्ट उल्लेख कर राज्य-नागरिक शक्ति संबंधों के संतुलन का एक ढ़ाँचा बनाता है।

हाल के वर्षों में न्यायिक सक्रियता के बढ़ने के कारण

1990 के दशक तथा उसके उपरांत भारत में न्यायिक सक्रियता का फैलाव तीव्र गति से हुआ है। इसका सबसे बड़ा कारण उदारीकृत और बाजारी अर्थव्यवस्था का विस्तार तथा बढ़ता हुआ उपभोक्तावाद है। ऐसे उपभोक्तावाद से विभिन्न स्तरों पर सेवाओं की माँग अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई है। इसके फलस्वरूप उन सेवाओं की आपूर्ति में प्रशासनिक जटिलताएँ भी बढ़ गई हैं। इसलिए सेवाओं की माँग और पूर्ति के बीच एक असंतुलन उत्पन्न हो गया है। दूसरी ओर, इस उपभोक्तावाद ने निश्चित रूप से भ्रष्टाचार का भी तीव्र फैलाव किया है। इसी कारण कई अवसरों पर यह प्रतीत होता है कि कार्यपालिका अपने कर्तव्यों का निर्वहन नहीं कर पा रही है। ऐसी स्थिति में आलोचकों का यह मानना है कि न्यायिक सक्रियता कार्यपालिका में हस्तक्षेप है। इसी प्रकार कई आलोचकों ने यह भी कहा है कि न्यायपालिका विधायिका के कार्यों में भी हस्तक्षेप करती है।

आलोचकों के इन पक्षों को तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि बदलती आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों में प्रशासनिक जटिलताओं और जन आकांक्षाओं के बीच की खाई इस समस्या का मुख्य कारण है। इन परिस्थितियों में नए अधिकारों की व्याख्या आवश्यक हो गई है ताकि न्याय उपलब्धता की दर बढ़ाई जा सके। इसी आधार पर न्यायिक-सक्रियता को इस रूप में परिभाषित करना तार्किक होगा कि यह संविधान अथवा विधि की पहलकारी और रचनात्मक व्याख्या करने वाली एक प्रक्रिया है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और विधिक न्याय उपलब्ध कराने में सहायक है। अत: इसे कार्यपालिका और विधायिका के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कहा जाना चाहिए। संवैधानिक प्रावधानों में भी ऐसे हस्तक्षेप को रोकने के लिए कई प्रावधानों शामिल हैं। जैसे-

i. 'अनु. 50' में कार्यपालिका और न्यायपालिका का शक्ति पृथक्कीकरण
ii. 'अनु. 121' और 'अनु. 122' में अप्रत्यक्ष रूप से विधायिका और न्यायपालिका का शक्ति पृथक्कीकरण।

नए अधिकारों की व्याख्या के संदर्भ में कई अवसरों पर न्यायालय को विशिष्ट निर्णय भी देने होते हैं। उच्चतम न्यायालय द्वारा हाल ही में सम-लैंगिगता और Live in Relationship जैसे विषयों पर दिए गए निर्णय शामिल हैं।

निष्कर्षत: न्यायिक सक्रियता ने न केवल शासन और प्रशासन को विभिन्न विषयों पर मार्गदर्शन दिया है, उन्हें अपेक्षाकृत अधिक पारदर्शी और संवेदनशील बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अत: न्यायिक सक्रियता राजव्यवस्था में प्रति व्यक्ति न्याय उपलब्ध कराने वाला महत्वपूर्ण साधन है।

2. भारतीय राजव्यवस्था में प्रचलित सामाजिक विधान जैसे वर्गीकरण विधान, समस्याओं के उन्मूलन के विधान (नागरिक अधिकार सुरक्षा अधिनियम 1955, बंधुआ मजदूरी (उन्मूलन) अधिनियम, अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम) आदि।
3. राजव्यवस्था में प्रचलित संरक्षणात्मक विभेदीकरण की संकल्पना जो समावेशी संवृद्धि का मूल आधार है।
4. जीवन के अधिकार के अर्थ का विस्तार तथा उसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण, मानवीय गरिमा, आजीविका, सतत विकास आदि शामिल हैं।

आलोचना

1. प्रचार हित याचिका के रूप में प्रयोग।
2. न्यायपालिका को पहले लंबित वादों को प्राथमिकता देना चाहिए।
3. निर्णय को प्रशासनिक व वित्तीय कठिनाइयों के कारण लागू नहीं किया जाता तो इससे न्यायालय की प्रतिष्ठा में गिरावट आती है।

निष्कर्ष

आलोचनाओं के बावजूद जनहित याचिका बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह भारतीय न्यायपालिका की अनोखी देन है। इसके द्वारा अभावग्रस्त वंचित लोगों के सामूहिक अधिकार की रक्षा की गई है तथा इसके द्वारा आम व्यक्तियों का विश्वास भारतीय लोकतंत्र और शासन व्यवस्था के प्रति ज्यादा सकारात्मक हुआ है।

अखिल भारतीय न्यायिक सेवा (All India Judicial Services)

भारतीय संविधान के अनु. 312 में खण्ड (2), (3) में अखिल भारतीय सेवाओं के गठन के अर्न्तगत न्यायिक सेवाओं का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है जो परिसंघ के अन्तर्गत न्यायपालिका की विशिष्ट स्थिति से भी स्थापित होता है।

इन सेवाओं के पक्ष में तर्क

1. अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के माध्यम से अधिक योग्य व्यक्ति इन सेवाओं में नियोजित किये गये जा सकेंगे।
2. विभिन्न राज्यों में अधीनस्थ न्यायपालिका के स्तर पर सुधार होगा तथा सभी राज्यों में एक समान गुणवत्ता के न्यायिक अधिकारियों की नियुक्ति हो सकेगी।
3. इनके गठन से राष्ट्रीय एकता को भी बढ़ावा मिलेगा क्योंकि एक राज्य का व्यक्ति अन्य राज्यों में भी न्यायिक अधिकारियों के रूप में नियुक्ति हो सकेगा।
4. इनसे न्यायिक सेवाओं के मामले में भ्रष्टाचार में कमी होगी क्योंकि गृह राज्य में नियुक्त होने पर व्यक्ति पक्षपात, दुर्भावना से कार्य कर सकता है।
5. इनके गठन से न्यायिक सेवा के सदस्यों की पदोन्नति तीव्र होगी तथा उच्च न्यायालय में अनुभवी तथा अपेक्षाकृत कम आयु के न्यायाधीश नियुक्त हो सकेंगे।

विपक्ष में तर्क

1. राज्यों तथा उच्च न्यायालय दोनों का इन सेवाओं पर मुखर विरोध है यद्यपि उच्चतम न्यायालय प्रयासरत है कि इनका गठन अवश्य हो।
2. बाह्य व्यक्ति स्थानीय भाषा को समझने में उतना सक्षम नहीं होगा। अत: ये न्यायिक प्रक्रिया को नकारात्मक रूप से प्रभावित करेगा।
3. विभिन्न राज्यों का मत है कि इन सेवाओं के गठन से उनकी स्वायत्तता और अधिक सीमित हो जायेगी। न्यायिक अधिकारियों के चयन में उनका नियंत्रण और भी कम हो जायेगा।
4. कई सामाजिक,शैक्षिक रूप से पिछड़े राज्यों में वहां के स्थानीय लोगों को न्यायिक सेवाओं में नियुक्ति का अवसर नही मिलेगा।
5. अधीनस्थ न्यायालयों के ऊपर उच्च न्यायालयों का अधिकार भी सीमित हो जायेगा विशेषकर अनुशासनात्मक तथा प्रोन्नति आदि के मामले में। इन्हीं कारणों से अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के गठन की ओर कोई ठोस प्रगति नहीं हो पाई है।

राजव्यवस्था में न्यायपालिका की भूमिका (Role of Judiciary in Polity)

भारतीय लोकतन्त्र के चार प्रमुख स्तम्भ हैं-न्यायपालिका, कार्यपालिका, विधायिका व पत्रकारिता। हमारे लोकतंत्र का भविष्य इन

स्तम्भों की सक्रियता, सम्बद्धता व सजगता पर ही निर्भर करता है। सिद्धान्ततः कार्यपालिका व विधायिका नीतिगत निर्णयों को आकार देने व उन्हें लागू करने हेतु उत्तरदायी होती है तथा यह कार्य सुचारू रूप से हो यह उत्तरदायित्व न्यायपालिका पर होता है।

संविधान द्वारा परिकल्पित लोककल्याणकारी राज्य में, जनता की आवश्यकता के अनुरूप राज्य की भूमिका में विस्तार हो गया है जिसके कारण अनेक नये विधान अस्तित्व में आये हैं। सामान्य जन में अपने अधिकारों के प्रति बढ़ती जागरूकता का एक अन्य कारण हैं, जिससे वर्तमान समय में विवादों के स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ मुकदमों की संख्या में अकल्पनीय वृद्धि हुई है। उपरोक्त चुनौतियों के कारण न्यायपालिका की भूमिका में भी तदानुरूप परिवर्तन हुए हैं। साथ ही जन आकांक्षाओं व राज्य की परिवर्तित कार्य प्रक्रियाओं ने न्यायपालिका के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। नागरिकों के सभी वर्गों को अविलंब व वहनयोग्य न्याय सुलभ करवाने हेतु अनेक नये अभिकरण व प्रक्रियाएँ अस्तित्व में आई हैं जैसे कि लोक-हित-वाद, लोक अदालतें आदि।

भारत के प्रथम अटार्नी जनरल स्व. श्री एम.सी. सीतलवाड़ ने भी न्यायपालिका की परिवर्तित भूमिका पर निम्न टिप्पणी की थी: ''वर्तमान परिस्थितियों में हमें न्यायालय चाहिए जहाँ लोग सहज रूप से जा सकें, उनका व्यय कम से कम हो तथा निर्णय शीघ्र हो।''

जिस प्रकार भारतीय लोकतंत्र में आम नागरिक की सह-भागिता सुनिश्चित करने हेतु 73वें तथा 74वें संशोधन अधिनियम द्वारा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को संवैधानिक दायरे के अन्तर्गत लाया गया है। उसी प्रकार दिसम्बर, 2008 के शीतकालीन सत्र में संसद में न्यायपालिका के विकेन्द्रीकरण की दिशा में अपना पहला कदम बढ़ाते हुए ग्राम न्यायालय अधिनियम पारित किया। यह अपने आप में एक क्रान्तिकारी प्रयोग है।

विधि आयोग द्वारा सन् 1986 में प्रस्तुत 114वीं रिपोर्ट में आम आदमी तक अविलंब न्याय उपलब्ध करवाने हेतु वैकल्पिक उपायों की आवश्यकता पर बल दिया गया था। आयोग नें माना कि विलंबित मुकदमों की संख्या कम करने तथा सुदूर व ग्रामीण क्षेत्रों में 'न्याय आपके द्वार' की अवधारणा को साकार करने हेतु सार्थक पहल आवश्यकता है। पूर्व में इस दिशा में किए गये प्रयासों (लोक अदालत) के परिणाम उत्साहजनक नहीं रहे। अतः प्रयासों की नवीन कड़ी के रूप में आयोग ने 'ग्राम न्यायालय' के रूप में वैकल्पिक व्यवस्था की सिफारिश की।

राष्ट्रीय विधिक परिषद की स्थापना का प्रस्ताव (National Legal Council)

दिनांक 10-11-2006 को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के विरूद्ध की गयी शिकायतों की जांच के लिये राष्ट्रीय विधिक न्यायिक परिषद की स्थापना के लिये विधेयक बनाने का प्रस्ताव पारित किया है। सरकार के अनुसार इससे न्यायालयों के कार्यों में पारदर्शिता आयेगी और न्यायाधीशों का जनता के प्रति उत्तरदायित्व सुनिश्चित होगा। राष्ट्रीय विधिक परिषद न्यायाधीशों के विरूद्ध कदाचार की जांच करेगा। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति न्यायाधीशों के विरूद्ध, भारत के मुख्य न्यायाधीश के सिवाय, शिकायत कर सकेगा। राष्ट्रीय विधिक परिषद में भारत के मुख्य न्यायाधीश, उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीश और उच्च न्यायालय के दो वरिष्ठतम मुख्य न्यायाधीश होंगे जिन्हें भारत का मुख्य न्यायाधीश नामजद करेगें। किन्तु यदि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशे के विरूद्ध शिकायत होगी तो उसमें भारत के मुख्य न्यायाधीश और उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश, जिन्हें भारत का मुख्य न्यायाधीश नामजद करे, होंगे। इसके द्वारा न्यायाधीश (जांच) अधिनियम, 1968 में संशोधन किया जाना प्रस्तावित है। प्रस्तावित विधेयक में शिकायत के लिये नई प्रक्रिया विहित की जायेगी। इसके अनुसार शिकायत का पहले न्यायिक परिषद द्वारा प्रारम्भिक जांच की जायेगी। यदि सभी आरोप सिद्ध हो जाते हैं तो परिषद उसे राष्ट्रपति को सौंपेगी जो उसे संसद को अग्रसारित कर देगा। जिन न्यायाधीशों के विरूद्ध आरोप सिद्ध हो जायंगे उनके ऊपर निम्नलिखित कदम उठाये जायेंगे जैसे-सलाह दिया जाना, सेवानिवृत्ति का निवेदन, कुछ अवधि के लिये न्यायिक कार्यों से विरत रखना, चेतावनी देना आदि। निर्देशन प्रक्रिया (तममितमदबम चतवबमकनतम) केवल न्यायाधीश के पदच्युत करने के लिये की जाती है। प्रस्तावित प्रक्रिया छोटे मामलों में प्रयुक्त की जायेगी। संविधान के अनुच्छेद 124 (4) में विहित प्रक्रिया न्यायाधीशों के विरूद्ध केवल दो आधारों कदाचार और असक्षमता पर की जा सकती है। महाभियोग की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि संवैधानिक उपबन्ध अपना उद्देश्य खो देता है। न्यायाधीश रामास्वामी का मामला इसका उदाहरण है जिनके विरूद्ध महाभियोग इसलिये पारित नहीं हो सकता क्योंकि कांग्रेस पार्टी ने संसद में उस पर मतदान से विरत रही।

प्रश्न यह है कि विगत वर्षों में न्यायिक सुधारों के लिये कई आयोगों का गठन किया गया और उनकी रिपोर्ट सरकार के पास है। केवल न्यायाधीशों के ऊपर निगरानी की व्यवस्था से कोई लाभ नहीं होने वाला है। त्वरित न्याय न्याय का एक आवश्यक तत्व है। देश के न्यायालयों में लाखों मामले लम्बित हैं। आपराधिक मामलों में वर्तमान में कई उदाहरण आये हैं जिनमें विलम्ब के कारण साक्षियों को धन, बल के द्वारा तोड़ लिया गया और पीड़ित पक्ष को न्याय नहीं मिला। जहीरा का मामला, मोटु का मामला, नीतिश कटारा और जेसिका लाल का मामला इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। दण्ड प्रक्रिया संहिता में आवश्यक सुधार न करने के कारण इस

प्रकार की स्थिति आती है। आधे अधूरे विधि सुधार से न्यायिक प्रक्रिया में जनता का विश्वास बनाये रखना सम्भव नहीं है।

नोट :-

सामाजिक न्यायापीठ (Social Justice Bench) - सर्वोच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एच एल दत्तू ने सामाजिक मुददों से जुडे मामलों की सुनवाई व इनके त्वरित निस्तारण के लिए सामाजिक न्यायापीठ नाम से एक पीठ का गठन किया है। इसका दायित्व दो न्यायधीशों न्यायमूर्ति मदन बी. को और न्यायमूर्ति यू.यू ललित को सौंपा।

यह पीठ प्रत्येक शुक्रवार को सामाजिक समस्याओं से जुडे लम्बित व नवीन दोनो प्रकार के मामलों पर सुनवाई करती है

पीठ ने अब तब ठंडी रातों में ठिठुरतें बेघरों के लिए आश्रय घर, नर्मदा बांध से विस्थापितों का मुदद्ा, सर्कस मे बच्चों का शोषण और अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के छात्रों के लिए छात्रावास उपलब्ध कराने जैसे मुदद्ो पर सुनवाई कर आवश्यक आदेश जारी किए।

21वां विधि आयोग - सर्वोच्च न्यायालय के सेवा निवृत्त न्यायाधीश न्यायमूर्ति बलबीर सिंह चौहान की अध्यक्षता में 21वें विधि आयोग का गठन किया गया। इसका कार्यकाल 1 सितबंर 2015 से 31 अगस्त 2018 तक का होगा।

विधि आयोग भारत सरकार द्वारा गठित किया जाने वाला एक गैर-सांविधिक निकाय (Nonstatutory body) है तथा प्रत्येक तीन वर्ष पर इसका गठन किया जाता है।

स्वतंत्र भारत में प्रथम विधि आयोग का गठन 1955 में (अध्यक्ष एम.सी.सीतलवाड) किया गया था।

13. संघ राज्य संबंध

परिचय (Introduction)

संघ तथा राज्यों के मध्य विधायी संबन्धो से सम्बन्धित प्रावधान संविधान के भाग 11, अनु. 245 - 255 में दिया गया है। संघ सरकार तथा उसकी इकाइयों के मध्य स्थापित होने वाले संबंधों के आधार पर शासन व्यवस्था को एकात्मक अथवा संघात्मक स्वरूप प्रदान किया जाता है।

भारत का संविधान यह स्थापित करता है कि भारत राज्यों का संघ है लेकिन वस्तुतः भारत की राजव्यवस्था परिसंघीय है तथा इसकी प्रेरणा कनाडा के संविधान से प्राप्त की गई है।

एकात्मक शासन व्यवस्था में कमोबेश सभी शक्तियां केन्द्र के अधीन होती हैं जबकि संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र तथा इकाइयों अथवा राज्यों के मध्य शक्तियों का पर्याप्त विभाजन किया जाता है। लेकिन ये शक्तियां राज्यों को केन्द्र द्वारा प्रदान नहीं की जातीं बल्कि दोनों ही संविधान से अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं।

केन्द्र तथा राज्यों के मध्य जिन शक्तियों का विभाजन किया जाता है वे हैं: विधायी, प्रशासनिक तथा वित्तीय। इन्हीं के आधार पर संघ-राज्य संबंधों की स्थापना होती है। संघ राज्य संबंधों का मूल उद्देश्य है। सहकारी संघवाद की स्थापना करना, संसाधनों का समतामूलक वितरण सुनिश्चित करने एवं न्याय की उपलब्धता सुनिश्चित करना।

संघ राज्य विधायी संबंध अनु. 245-255

(Union State Legislative Relations Art. 245–255)

हांलाकि संघ तथा उसकी इकाइयों के मध्य विधायी शक्तियों का विभाजन देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा वहां प्रचलित रही शक्तियों के आधार पर किया जाता है लेकिन सभी परिसंघीय प्रणाली में विधायी संबंध मुख्यतः दो अधारों पर स्थापित किये जाते हैं : राज्यक्षेत्र, जिसके अन्तर्गत यह सुनिश्चित किया जाता है कि संघ तथा राज्य किस राज्य क्षेत्र पर अपने प्राधिकार का प्रयोग करेंगे तथा विषय, जिसके तहत संघ तथा राज्यों द्वारा बनाई जाने वाली विधियों के विषयों का उल्लेख किया जाता है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 245 (1) के तहत राज्य क्षेत्र का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार, इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुए संसद भारत के संपूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी तथा किसी राज्य का विधानमंडल संपूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा।

इसी प्रकार अनुच्छेद 245 (2) यह उपबंधित करता है कि संसद को असीमित राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता प्राप्त हैं। वस्तुतः अनुच्छेद 245 (2) में यह स्पष्ट किया गया है कि संघ द्वारा बनाई गई विधि इस आधार पर अविधिमान्य नहीं समझी जायेगी कि उसका राज्यक्षेत्रातीत (Extateritorial) प्रवर्तन होगा। लेकिन इसके विपरीत राज्य विधानमंडलों को राज्य के बाहर के क्षेत्र के लिए विधान बनाने का प्राधिकार नहीं है। इस संबंध में राज्यक्षेत्रीय संबंध के सिद्धांत का उल्लेख समीचीन है।

इस सिद्धांत के अनुसार, राज्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे विधान के प्रयोजन और राज्यक्षेत्र के साथ संबद्ध होने के बीच संबंध स्थापित करें।

यद्यपि संविधान ने संसद को राज्यक्षेत्र से संबंधित विशिष्ट अधिकारिता प्रदान की गई है लेकिन निम्नांकित क्षेत्र ऐसे हैं जहां संसद की यह अधिकारिता प्रभावी नहीं है :

1. **अनुच्छेद 240** के तहत अंडमान और निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, दादरा और नागर हवेली, दमन और दीव तथा पांडिचेरी जैसे क्षेत्रों के लिए विधि निर्माण का अधिकार राष्ट्रपति का है।
2. संविधान की पांचवीं अनुसूची के भाग ख में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि राज्यपाल यह निर्देश दे सकता है कि संसद का कोई अधिनियम किसी अनुसूचित क्षेत्र में लागू नहीं होगा।
3. संविधान की छठी अनुसूची के पैरा 12 में यह उल्लेख किया गया है कि असम के राज्यपाल को यह अधिकार होगा कि वह घोषित करे कि संसद की कोई विधि किसी स्वायत्तशासी जिले में लागू नहीं होगी।
4. मिजोरम, मेघालय, त्रिपुरा आदि राज्यों के स्वायत्तशासी जिलों के लिए भी संसद की विधि के लागू नहीं होने के संबंध में घोषणा करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त है।

अनुच्छेद 245 एवं 246 के संयुक्त निर्वचन से **आनुषांगिक अथवा प्रासंगिक शक्ति के सिद्धांत** (Doctrine of Incidental Power) की व्याख्या होती है। एस.एस. बोला बनाम बी. डी. सरडाना, 1997, एस.सी. 3127 मामले में इस सिद्धांत का उल्लेख न्यायालय द्वारा किया गया था। इसके अनुसार, संसद को अनुषंगी विषयों पर भी विधि बनाने की शक्ति होगी। इस सिद्धांत का प्रत्यक्ष संबंध अनु. 246(2) से है जिसमें यह उल्लेख है कि संसदीय विधियों का राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्तन (Extra–territorial operation) हो सकता है।

दूसरे शब्दों में, संसद संघ सूची में शामिल विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी विधि बना सकती है और ऐसी विधि इस आधार पर अविधिमान्य नहीं समझी जाएगी। किसी विषय पर विधान बनाने की शक्ति में ऐसे अनुषांगी विषय पर विधान बनाने की शक्ति समाहित होती है जिसके बारे में युक्तियुक्त रूप से यह कहा जा सकता है कि वह उस शक्ति में सम्मिलित है।

अनुच्छेद 246 में विभिन्न विषयों का उल्लेख किया गया है जिसके आधार पर संघ अथवा राज्यों को विधान बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। इसकी प्रेरणा भारत शासन अधिनियम, 1935 से प्राप्त की गई है। इस दस्तावेज में कनाडा, जहां दो सूचियों का उल्लेख है, के विपरीत संघ, राज्य तथा समवर्ती सूचियों का समावेश भारत के संविधान में किया गया। इन सूचियों का विस्तृत उल्लेख अनुसूची 7 में किया गया है। संघ सूची में कुल 99 विषय, राज्य सूची में 61 विषय तथा समवर्ती सूची में 52 विषय समावेशित हैं। संसद तथा राज्य विधानमंडल विधि निर्माण की अपनी शक्तियां क्रमशः अनुच्छेद 246 (1) तथा 246 (3) से प्राप्त करते हैं। समवर्ती सूची की दशा में यह शक्ति अनुच्छेद 246 (2) के तहत वर्णित है।

संघ सूची एवं राज्य सूची के मध्य अतिव्याप्ति के संदर्भ में संघ सूची को प्रधानता दिये जाने का प्रावधान है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई विषय सूची 1 की किसी प्रविष्टि के अधीन और साथ ही, सूची 2 की किसी प्रविष्टि के अधीन भी आता है तो सूची 1 की प्रविष्टि को अधिमान दिया जाता है।

इसे संघ की सर्वोच्चता का सिद्धांत कहते हैं। कलकत्ता गैस कंपनी बनाम पश्चिम बंगाल राज्य, ए.आई.आर. 1962, एस.सी. 1044 मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायपालिका का यह दायित्व होगा कि वह दोनों सूचियों की प्रविष्टियों को एक साथ पढ़े, भाषा का युक्तियुक्त और व्यावहारिक अर्थान्वयन करे तथा उनके मध्य समन्वय की स्थापना करे।

इस संबंध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जब कोई विधानमंडल किसी अन्य विधानमंडल के कार्यक्षेत्र में आने वाले किसी विषय पर सीधे विधान बनाता है तो वह विधि शक्ति बाह्य होती है और परिणामस्वरूप शून्य होती है। कई अवसरों पर विधानमंडल यह कार्य अप्रत्यक्ष रूप से करता है।

इस प्रकार के विधान को **आभासी विधान (colourable legislation) कहते हैं।** उदाहरणस्वरूप, बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 को न्यायालय ने आभासी विधान बताकर शून्य घोषित कर दिया गया था। इसके विपरीत, यदि किसी विधानमंडल ने व्यापक अथवा अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग किया है जिससे अधिनियम का प्रवर्तन ऐसे विषय पर हो सकता है जो सुसंगत प्रविष्टि के बाहर हो तो न्यायालय व्यापक पदों को सीमित अर्थ देकर निर्वचन करता है। इसे अर्थ संकोच अथवा अर्थ के अल्पीकरण का सिद्धांत कहते हैं।

कई अवसरों पर संसद को राज्यों द्वारा विधि निर्माण का अधिकार प्रदान किया जाता है। इस संबंध में अनुच्छेद 252 का उल्लेख समीचीन है। अनुच्छेद 252 (1) के अनुसार, यदि किन्हीं दो या अधिक राज्यों के विधानमंडलों को यह वांछनीय प्रतीत होता है कि उन विषयों में से, जिनके संबंध में संसद को अनुच्छेद 249 और 250 में यथा उपबंधित के सिवाय राज्यों के लिए विधि बनाने की शक्ति नहीं है, किसी विषय का विनियमन ऐसे राज्यों में संसद विधि द्वारा करे और यदि उन राज्यों के विधानमंडलों के सभी सदन उस आशय का संकल्प पारित करते हैं तो उस विषय का तदनुसार विनियमन करने के लिए कोई अधिनियम पारित करना संसद के लिए विधिपूर्ण होगा और इस प्रकार पारित अधिनियम ऐसे राज्यों को लागू होगा और ऐसे अन्य राज्य को लागू होगा, जो तत्पश्चात अपने विधानमंडल के सदन द्वारा या जहां दो सदन हैं वहां दोनों सदनों में से प्रत्येक सदन इस निमित्त पारित संकल्प द्वारा उसको अंगीकार कर लेता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 253 के तहत संसद को अन्तर्राष्ट्रीय करारों को प्रभावी बनाने के लिए विधान बनाने की शक्ति प्रदान की गई है।

उपरोक्त व्याख्या यह स्पष्ट करती है कि केन्द्र–राज्य विधायी संबंधों के विस्तृत अवलोकन से संघ की सर्वोच्चता प्रकट होती है। यद्यपि राज्य सूची में उल्लिखित विषयों पर विधान बनाने की शक्ति राज्य विधानमंडलों को प्रदान की गई है लेकिन संविधान ने यथासंभव यह सुनिश्चित किया है कि अधिकांश अवसरों पर संघ द्वारा बनाई गई ही विधिमान्य होगी विशेष रूप से संविधान के अनुच्छेद

252 तथा 253 के प्रावधानों से स्पष्ट होता है कि संसद की विधि निर्माण की शक्ति का विस्तार भी किया गया है जो पुनः संघ की सर्वोच्चता को प्रमाणित करता है।

संसद द्वारा बनाई गई विधियों और राज्यों के विधान मंडलों द्वारा बनाई गई विधियों में असंगति

जहाँ राज्य के विधान मंडल द्वारा समवर्ती सूची के किसी विषय के संबंध में बनाई विधि में कोई ऐसा उपबंध अंर्तविशिष्ट है जो संसद द्वारा पहले बनाई गई विधि के या उस विषय के संबंध में किसी विद्यमान विधि के उपबंधों के विरूद्ध है, तो यदि ऐसे राज्य के विधान मंडल द्वारा इस प्रकार बनाई गई विधि को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखा गया है और उस पर उसकी अनुमति मिल गई है तो, वह विधि उस राज्य में अभिभावी होगी।

राज्य-सूची के विषयों पर संसद् को विधि बनाने की शक्ति

(Powers of Parliament to make laws on State Subject)

सामान्य परिस्थितियों में केन्द्र और राज्यों में विधायन शक्ति के विभाजन को कठोरता से कायम रखना आवश्यक है और कोई भी सरकार किसी दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में उक्त शक्ति का वितरण या तो निलम्बित कर दिया जाता है या केन्द्र को राज्य-सूची के विषयों पर विधि बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वे परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं-

1. **राष्ट्रीय हित**- अनुच्छेद 249 के अन्तर्गत यदि राज्य सभा में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से संकल्प पारित करके यह घोषित कर दिया गया है कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक तथा इष्टकर है कि संसद राज्य-सूची में वर्णित किसी विषय पर विधि बनाये तो जब तक वह संकल्प प्रवृत्त है, संसद् का उस विषय पर कानून बनाना विधिसंगत होगा। राज्यसभा का ऐसा संकल्प केवल एक वर्ष के लिए प्रभावी रहता है। किन्तु इस कालावधि को राज्यसभा प्रत्येक बार संकल्प द्वारा एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। संसद् द्वारा पारित कोई भी विधि संकल्प के प्रवृत्त न रहने से छः मास की समाप्ति पर प्रवृत्त न रहेगी।
2. **आपात् घोषणा के दौरान**- अनुच्छेद 250 के अनुसार जब आपात् की घोषणा प्रवर्तन में हो तो संसद् को राज्य-सूची के किसी भी विषय पर विधि बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। संसद् द्वारा बनायी गयी कोई ऐसी विधि आपात् उद्घोषणा के समाप्त हो जाने पर 6 मास के पश्चात् स्वतः प्रभावी नहीं रह जायेगी। ध्यान रहे कि ऐसे समय राज्यों की विधायी शक्ति समाप्त नहीं हो जाती है वरन उनके द्वारा बनायी गयी विधि यदि संसद द्वारा बनायी विधि के विरूद्ध है तो संसद की विधि प्रभावी होगी और राज्य के विधान-मण्डल द्वारा निर्मित विधि विरोध की मात्रा तक शून्य होगी।
3. **राज्यों की सहमति से बनाई गई विधि**- अनुच्छेद 252 के अनुसार यदि किन्हीं दो या दो से अधिक राज्यों के विधान-मण्डलों ने यह संकल्प पारित कर दिया है कि राज्य सूची के किसी विषय पर संसद् को विधि बनाना वांछनीय है तो संसद् उस विषय पर विधि बना सकती है। ऐसी विधि को अन्य राज्य भी संकल्प पारित करके अंगीकार कर सकते हैं। ऐसे अधिनियम बाद में केवल संसद् द्वारा संशोधित या निरसित किये जा सकते हैं, राज्य विधान-मण्डलों द्वारा नहीं।
4. **अन्तर्राष्ट्रीय करारों को प्रभावी करने के लिए विधान**- अनुच्छेद 253 के अधीन संसद् को अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और करारों के कार्यान्वयन (implementation) के लिए, चाहे वह राज्य सूची का ही विषय हो, भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या किसी भाग के लिए विधि बनाने की शक्ति है। ऐसी विधि के बनाने में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति-विभाजन कोई बाधा उपस्थित नहीं करता हैं। सन्धियों को संसद के अनुसमर्थन (ratrification) की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु वे स्वतः लागू नहीं होती हैं। सन्धियों के कार्यान्वयन के लिए संसदीय विधान अनिवार्य होता है। किन्तु सन्धियों को लागू करने वाली विधियाँ सांविधानिक परिसीमा के अधीन होती हैं; अतः वे मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकती है।
5. **राज्यों में सांविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की दशा में**- अनुच्छेद 356 के अनुसार जब राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट मिलने पर अन्यथा यह समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है जिसमें किसी राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धें के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि राज्य के विधान-मण्डल की शक्तियाँ संसद के अधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोग की जायंगी।

संघ और राज्यों में विधायी शक्ति के वितरण की उपर्युक्त योजना से यह स्पष्ट है कि संविधान-निर्माताओं ने राज्यों की अपेक्षा केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाया है। राज्यों को अपने सूची के विषयों पर भी विधि बनाने के मामले में अत्यधिक शक्ति नहीं है। कुछ परिस्थितियों में केन्द्र उनमें हस्तक्षेप कर सकता है। यह कहा जाता है कि उपर्युक्त उपबन्ध हमारे संविधान के विशेष गुण हैं। इनके अधीन

केन्द्र विशिष्ट परिस्थितियों में राज्य-सूची के विषयों पर संविधान में संशोधन किये बिना विधि बना सकता है। इन उपबन्धों का प्रयोग विशिष्ट परिस्थितियों में राज्यों की सहमति से ही किया जाता है। इस प्रकार हमारे संविधान-निर्माताओं ने संघात्मक सिद्धान्त की अन्य संघात्मक संविधानों के कार्यान्वयन से प्राप्त अनुभवों एवं भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर परिवर्तित रूप में संविधान में समाविष्ट किया है। केन्द्रीय कर की यह प्रवृत्ति सभी संघात्मक संविधानों में परिलक्षित होती है। अन्य संविधानों में यह लक्ष्य न्यायपालिका द्वारा संविधान के निर्वचन से प्राप्त किया गया है। भारतीय संविधान में इस लक्ष्य की प्राप्ति स्पष्ट उपबन्धों को समाविष्ट करके प्राप्त की गयी है। स्पष्ट है कि परम्परागत संघात्मक सिद्धान्त के अनुसरण से अधिक हमारे संविधान-निर्माताओं ने देश की एकता एवं अखंडता को प्राथमिकता दी है। इसके अतिरिक्त देश के विकास के लिए केन्द्रीय नियन्त्रण आवश्यक माना गया है।

संघ और राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्ध अनुच्छेद 256-263

(Union State Administrative Relation Art 256-265)

हम जानते हैं संघात्मक संविधान दो स्तरों की सरकारों की स्थापना करता है-संघ और राज्य। इनके बीच शक्तियों का विभाजन रहता है। किन्तु संघीय शासन-व्यवस्था की शक्ति और सफलता संघ और राज्यों के बीच अधिकतम सहयोग एवं समन्वय पर निर्भर करती है। वस्तुतः केन्द्र और राज्यों में प्रशासनिक सम्बन्धों का समायोजन एक कठिन कार्य होता है। सरकारों में मतभेद की अधिक सम्भावना रहती है। केन्द्र और राज्य अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुता-सम्पन्न हैं। किन्तु केन्द्र को संविधान में राज्यों की अपेक्षा अधिक कर्त्तव्य सौंपे गये हैं। देश में विधि-व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का है। ऐसी स्थिति में यदि केन्द्र को कुछ अधिक शक्ति न प्राप्त हो तो प्रशासन-तन्त्र का सुचारू रूप से संचालन नहीं किया जा सकता है। प्रशासकीय कठिनाइयों को दूर करने के लिए हमारे संविधान-निर्माताओं ने संविधान में आवश्यक उपबन्धों का समावेश किया है और संसदीय विषयों के प्रशासन के लिए राज्यों के ऊपर आवश्यक नियन्त्रण की शक्ति प्रदान की है। आपातकालीन स्थिति में तो राज्य-सरकारें पूर्ण रूप से संघीय सरकार के अधीन कार्य करती हैं।

सामान्य परिस्थितियों में भी संविधान राज्यों के ऊपर केन्द्र के नियन्त्रण का उपबन्ध है, जो इस प्रकार है-

1. संघ द्वारा राज्यों को निर्देश (अनु. 256, 257, 305 और 339);
2. (i) संघ कृत्यों को राज्यों को सौंपना (अनु. 258);
   (ii) राज्य के कृत्यों को संघ को सौंपना (अनु. 258क)
3. अखिल भारतीय लोकसेवाएँ (अनु. 312)
4. केन्द्रीय अनुदान (अनु. 275)।

संघ द्वारा राज्यों को निदेश (Directives of the Union to States)

संघ द्वारा राज्यों को निदेश देने की व्यवस्था संघीय सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है और यह किसी भी परिसंघीय संविधान में नहीं पायी जाती है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने भारत की विशेष परिस्थितियों को देखते हुए ऐसी व्यवस्था को संविधान में समाविष्ट करना उचित समझा।

अनुच्छेद 256 यह उपबन्धित करता है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जायेगा जिसमें संसद द्वारा बनायी गयी विधियों का पालन सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका, शक्ति का विस्तार किसी राज्य को निदेश देने तक विस्तृत होगा, जिसे भारत सरकार उस प्रयोजन के लिए आवश्यक समझे। केन्द्रीय विधियों के अनुपालन में कोई बाधा न उत्पन्न हो, इसलिए केन्द्रीय सरकार को ऐसी शक्ति प्रदान की गयी है।

अनु. 257(1) के अनुसार प्रत्येक राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करेगा जिसमें संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इस प्रयोजन के लिए केन्द्र राज्यों को आवश्यक निर्देश देगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 257(2) के अनुसार राज्यों को राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार-साधनों के निर्माण और राज्यों के अन्दर रेलवे की रक्षा के लिये किये जाने वाले उपायों के बारे में भी आवश्यक निर्देश दे सकता है। संघ सरकार को किसी सड़क या जलमार्ग को राष्ट्रीय राजमार्ग या राष्ट्रीय जलमार्ग घोषित करने की शक्ति प्राप्त है।

यदि खण्ड (2) में दिये गये संघीय निदेशों के पालन करने में राज्य सरकार को अतिरिक्त खर्च करना पड़ता है तो अनुच्छेद 257(4) के अधीन संघीय सरकार राज्य को ऐसी राशि देगी जो करार द्वारा नियत की गयी हो। ऐसे किसी करार के अभाव में राज्यों को दी जाने वाली राशि का निर्धारण उच्चतम न्यायालय द्वारा नियुक्त मध्यस्थ (Arbitrator) करेगा।

राज्यों द्वारा संघ के निदेशों की अवहेलना न की जा सके, इसके लिए भी संविधान में उपबन्ध हैं अनुच्छेद 356 के अनुसार यदि राज्य इन निदेशों का पालन करने या उन्हें प्रभाव देने में विफल हो जाता है तो राष्ट्रपति यह घोषणा कर सकता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिसमें राज्य सरकार संविधान के अनुसार संचालित नहीं की जा सकती है और तब वह राज्य को समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता हैं।

संघ कृत्यों को राज्यों को सौंपना (Assigning tasks of the Union to States)

अनुच्छेद 258 (1) के अधीन संसद किसी राज्य सरकार की सहमति से, संघ कार्यपालिका शक्ति से संबंधित किसी विषय को उस सरकार को या उसके पदाधिकारियों को सशर्त सौंप सकती है। खण्ड (2) के अधीन संसद को संघ के विधानों के क्रियान्वयन के लिए राज्य के प्रशासन-तन्त्र का प्रयोग करने की शक्ति भी है। इस प्रयोजन के लिए संसद् राज्य अथवा उसके पदाधिकारियों को ऐसी शक्ति प्रदान कर सकती है, जिससे उसकी विधियों को उस राज्य में समुचित रूप में लागू किया जा सके। यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ खण्ड (1) के अन्तर्गत राज्यों को शक्तियाँ राज्य सरकारों की सहमति से सौंपी जाती हैं वहाँ खण्ड (2) के अन्तर्गत राज्यों की सहमति आवश्यक नहीं है।

राज्य सरकार के कृत्यों को संघ सरकार को सौंपना (Assigning tasks of the States to the Union)

राज्य सरकारें अपने कृत्यों को संघ सरकार को सौंप सकती हैं। अनु. 258 (क) यह उपबन्धित करता है कि किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से ऐसे किसी विषय से सम्बन्धित कृत्य, जिस पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सशर्त या बिना शर्त के उसे सौंप सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ किसी भी सरकार के लिए अपने प्रशासकीय कार्यों के सीधे संचालन में असुविधा होती हो तो वे दूसरी सरकार द्वारा उसे सम्पादित करवा सकती हैं। किन्तु राज्य संघ को अपने कृत्य संघ की सहमति से ही दे सकते हैं, जबकि संघ अपने कृत्यों को राज्यों को उनकी सहमति के बिना भी सौंप सकता हैं। स्पष्ट है कि संविधान ने प्रशासकीय सम्बन्धों में भी संघ की प्रभुता स्वीकार की है।

अखिल भारतीय सेवाएँ (All-India Services)

वैसे तो संघीय संविधान में केन्द्र और राज्यों की अलग-अलग सेवाएँ होती हैं। किन्तु भारतीय संविधान में इन सेवाओं के अतिरिक्त एक संघ और राज्यों के सम्मिलित सेवाओं (common Services) का भी उपबन्ध है, जिसे 'अखिल भारतीय सेवाएँ' कहा जाता है। अनुच्छेद 312 के अन्तर्गत यदि राज्य सभा अपने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित संकल्प (resolution) द्वारा यह घोषित कर देती है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक या इष्टकर है तो संसद विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन कर सकती है और उन सेवाओं की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकती है। इन सेवाओं के सृजन का मुख्य उद्देश्य है अधिकतम अन्तर्राज्यीय सहयोग एवं समन्वय सुनिश्चित करना तथा इन पदाधिकारियों द्वारा केन्द्रीय नीतियों को समुचित रूप से कार्यान्वित करना।

केन्द्रीय अनुदान (Central Grant)

संविधान के अन्तर्गत राज्यों के राजस्व के स्त्रोत अत्यंत सीमित हैं जबकि नीति निदेशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत उन्हें समाज-उत्थान के बहुत से कार्य करने पड़ते हैं। इन सब कार्यों के लिए उसे प्राप्त होने वाला राजस्व अपर्याप्त होता है। इस प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अनुदान प्रदान करती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों के सहायतार्थ अनुदान से दो उद्देश्यों की पूर्ति होती है-

1. इसके माध्यम से केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों पर नियन्त्रण रखती है; क्योंकि अनुदान प्राय: कुछ शर्तों के अधीन प्रदान किये जाते हैं। यदि कोई राज्य इन शर्तों को पूरा नहीं करता तो उसका अनुदान रोका जा सकता है; और
2. इसके द्वारा संघ और राज्यों में सहयोग और समन्वय की भावना का सृजन होता है और यदि कोई राज्य अपनी जनता के कल्याण हेतु योजनाओं को विकसित करना चाहता है तो वह संघ से अनुदान माँग सकता है और संघ उसे सहर्ष अनुदान प्रदान करता है।

अन्तर्राज्यीय जल-सम्बन्धी विवादों का निपटारा (Resolving Interstate Water Dispute)

अनुच्छेद 262(1) के अन्तर्गत संसद विधि द्वारा अन्तर्राज्यिक नदियों या नदी-घाटियों के जल-प्रयोग, वितरण या नियन्त्रण से सम्बन्धित किसी विवाद के न्यायनिर्णयन के लिए उपबन्ध कर सकती है। इस अनुच्छेद के खण्ड (2) के अन्तर्गत संसद विधि द्वारा यह भी उपबन्ध कर सकती है कि ऐसे विवादों के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय की अधिकारिता नहीं रहेगी।

अनु. 262 की शक्ति के प्रयोग में संसद द्वारा नदी बोर्ड अधिनियम, 1956 और अन्तर्राज्यीय जल-विवाद अधिनियम, 1956 पारित किया गया है। नदी बोर्ड अधिनियम की स्थापना राज्यों की प्रार्थना पर की गयी है। यह अन्तर्राज्यीय नदियों या नदी-घाटियों के विनियमन और विकास के बारे में सरकार को सलाह देता है। जल-विवाद अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्र सरकार को ऐसे विवादों के निपटारे के लिए न्यायाधिकरण स्थापित करने की शक्ति प्रदान की गयी है।

अंतर्राज्यिक जल-विवाद संबंधी प्रावधान

'अनु' 262' में ऐसे विवादों के समाधान का उल्लेख है। हालांकि जल राज्य सूची में प्रविष्टि संख्या-17 में उल्लिखित है। लेकिन जल संबंधी विवादों के समाधान के लिए ऐसे विषय पर विधि बनाने का अधिकार का संघ है। जिसके लिए संघ-सूची की प्रविष्टि-56 में ऐसे विषय का उल्लेख है।

अनु. 262(1) से प्रेरित होकर संसद द्वारा अंतर्राज्यिक जल-विवाद अधिनियम 1956 के बनाया गया है जिसके तहत विवाद से संबद्ध राज्य अथवा राज्यों द्वारा धारा-3 के अनुरूप संघ से एक न्यायाधिकरण के गठन का अनुरोध किया जा सकता है। अधिनियम की धारा-4 के तहत संघ को ऐसे न्यायाधिकरण के गठन का अधिकार है।

जल-विवाद न्यायाधिकरण में एक अध्यक्ष तथा 2 सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति उच्चतम अथवा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशें में से भारत के मुख्य न्याधीश की अनुशंसा पर की जाती है। इसी अधिनियम के तहत केन्द्र द्वारा एक नदी जल बोर्ड का भी गठन किया गया है जिसका कार्य ऐसे विषयों पर संघ को परामर्श देना है। अधिनियम की धारा-11 के तहत उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता और अन्य न्यायालयों की अधिकारिताएँ इस विषय पर सीमित है। लेकिन न्यायाधिकरण द्वारा दिए गए निर्णय के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय मे अपीलीयस की जा सकती है।

संघ राज्य वित्तीय संबंधः परिसंघात्मक प्रणाली की सफलता सुनिश्चित करने के मूल उद्देश्य से भारतीय संविधान में संघ तथा राज्यों के मध्य वित्तीय समन्वय की स्थापना के विशिष्ट प्रावधान किये गये हैं। संविधान द्वारा संघ तथा राज्यों के लिए अलग-अलग राजस्व के स्रोत का प्रावधान किया गया है। संसद द्वारा संघ सूची में उल्लिखित विषयों, राज्यों द्वारा राज्य सूची में उल्लिखित विषयों के संबंध में करारोपण का प्रावधान है। अनुच्छेद 265 में यह उल्लेख किया गया है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर अधिरोपित या संगृहीत नहीं किया जा सकता। साथ ही, कार्यपालिका के आदेश से कोई कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता।

अंतर्राज्य संमवय- सहकारी संघवाद कि स्थापना की दृष्टि से अनु. 263 में अंतर्राज्यीय परिषद का प्रावधान है। जिसका कार्य विभिन्न विषयों पर राज्यों के बीच संमवय की स्थापना करना है। सरकारिया आयोग की सिफारिशों और **Dabur (India) Vs. State of Uttar Pradesh 1990** मामलें में उच्च्तम न्यायालय द्वारा किए गए निर्देशों के आधार पर 1990 में ऐसी एक परिषद् कार्यरत है।

संघ राज्य वित्तीय संबंध (Union-State Financial Relations)

भारतीय संविधान में कर एवं फीस की व्याख्या अलग-अलग की गई है। कर एक अनिवार्य आहरण है जो साधारण जन के लाभ के लिए किया जाता है। यह एक सामान्य भार के रूप में अधिरोपित किया जाता है। दूसरी ओर, फीस भी एक अनिवार्य आहरण है लेकिन इसका संबंध फीस देने वाले किसी व्यक्ति को प्राप्त होने वाले किसी विशेष लाभ या विशेषाधिकार से होता है। इसके अतिरिक्त, कर एवं फीस में एक महत्वपूर्ण विभेद यह है कि कर को संचित निधि का भाग बनाया जाता है जबकि फीस संचित निधि से अलग रखी जाती है। बी.एस.ई. ब्रोकर्स फोरम बनाम सेबी, ए.आई.आर. 2001, एस.सी. 1010 मामले में उच्च्तम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कर एवं फीस में कोई प्रजातीय अंतर नहीं है। राज्य धन संग्रह करने की अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा कर भी अधिरोपित कर सकता है और फीस भी।

संविधान के 80वें संशोधन, 2000, जिसे 1 अप्रैल, 1996 से प्रभावी बनाया गया है, के उपरांत केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंधों में व्यापक परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं। इसके पूर्व आय पर कर (कृषि आय से भिन्न) और उत्पाद शुल्क संघ द्वारा अधिरोपित और संगृहीत किये जाते थे लेकिन इस संशोधन के उपरांत संघ सूची में उल्लिखित विषयों पर आरोपित कर से प्राप्त राजस्व केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वितरित किये जाने का प्रावधान है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि अधिभार या किसी विशेष परिस्थिति में आरोपित कर इसके अपवाद हैं।

वित्तीय संबंधो को तीन आधारों पर विभाजित किया जा सकता है-

i. कर संबंधी

ii. राजस्व संग्रहण

iii. राजस्व अंतरण संबंधी प्रावधान

(i) कर संबंधी प्रावधान (अनु. 264-265)

अनु. 265 में विधि प्राधिकार के तहत कर आरोपित और संग्रहीत करने का प्रावधान है। विधि के प्राधिकार का अर्थ यह है कि ऐसी विधियों का निर्माण विधायिका द्वारा किया जाएगा। लेकिन ऐसी विधि अनु. 13 के प्रावधानों के अनुरूप हीं बनाई जा सकती हैं।

यह प्रावधान यह स्पष्ट करता है कि कर संबंधी विधि द्वारा मूल अधिकारों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा है कि अनु. 265 कोई मूल अधिकार नहीं देता। अत: इस विषय पर अनु. 32 के तहत संवैधानिक उपचार प्राप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन विधि के अधिकारों से असंगत होने के आधार पर अनु. 226 के तहत परमादेश निर्गत कराया जा सकता है। यह प्रावधान रिटों के मामलें में उच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता का प्रमाण है। कर संबंधी विधियों से अनु. 14 के तहत विधियों के समान संरक्षण की अवधारणा बाधित नहीं होनी चाहिए। साथ ही ऐसी विधि अनु. 19(1)(छ) का उल्लंघन नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार अनु. 289 के अनुसार एंघ राज्य की किसी संपत्ति अथवा आय पर 'कर' आरोपित नहीं कर सकता।

नदी तटवर्ती अधिकार:- इसके अंतर्गत नदी उद्गम स्थल को नदी जल का अधिक अधिकार प्राप्त होता है। कमोबेश यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू होता है।

अनु. 265 मूल अधिकार नहीं है इसलिए अनु. 32 के तहत इस संबंध में रिट जारी नहीं कराया जा सकता। परंतु अनु. 226 के तहत परमादेश जारी करवाया जा सकता है और यह उच्च न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता के अंतर्गत आएगा।

(ii) राजस्व संग्रहण अनु. (266-267)

संचित निधि (Consolidated Fund)

संविधान के अनुच्छेद 266(1) के तहत संघ तथा राज्यों की संचित निधि का प्रावधान किया गया है। अनुच्छेद के प्रावधानों में स्पष्ट उल्लेख है कि आकस्मिकता निधि में रखी जाने वाली राशि तथा कतिपय करों से प्राप्त राजस्व को छोड़कर शेष सभी राशियां भारत की संचित निधि का भाग बनती हैं। इसी प्रकार संघ तथा राज्य सरकारों को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होने वाले राजस्व भी क्रमश: संघ तथा राज्य की संचित निधि का भाग होती हैं।

अनुच्छेद 266 (2) यह उपबंधित करता है कि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त सभी अन्य लोक धनराशियां यथास्थिति, भारत के लोक लेखे में या राज्य के लोक लेखे में जमा की जायेंगी। संचित निधि में जमा की गई धनराशि के विनियोजन के संबंध में अनुच्छेद 266 (3) के तहत यह प्रावधान है कि संघ सरकार अथवा राज्य सरकार द्वारा क्रमश: भारत की संचित निधि तथा राज्य की संचित निधि से राशि का विनियोजन विधि द्वारा ही किया जा सकता है।

लोक लेखा (Public Accounts)

अनुच्छेद 266 (2) में भारत के लोक लेखें या राज्य के लोक लेखें का प्रावधान है। इसके अंतर्गत भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त अन्य सभी लोक धनराशियाँ यथास्थिति भारत के लोक लेखें में या राज्य लोक लेखें में जमा की जाएंगी।

आकस्मिकता निधि (Contingency Fund)

अनुच्छेद 267 (1) में भारत की आकस्मिकता निधि का प्रावधान किया गया है। इस निधि की स्थापना संसद विधि द्वारा कर सकती है। इसे भारत की आकस्मिकता निधि की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार राज्य विधानमंडल भी **अनुच्छेद 267 (2)** के तहत विधि द्वारा राज्य की आकस्मिकता निधि की स्थापना कर सकता है। संघ स्तर पर इस निधि से राष्ट्रपति द्वारा अत्यावश्यक स्थितियों से निपटने के लिए धनराशि व्यय की जा सकती है। राज्य स्तर पर यह कार्य राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

संघ-राज्य वित्तीय संबंधों की राजस्व संग्रहण संबंधी व्याख्या को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

1. **संघ द्वारा अधिरोपित तथा राज्यों द्वारा संगृहीत एवं विनियोजित किये जाने वाले कर :- (अनुच्छेद 268)** के अन्तर्गत संघ सूची में उल्लिखित स्टाम्प शुल्क (मुद्रांक शुल्क) तथा औषधीय एवं प्रसाधनीय सामग्रियों पर करों का अधिरोपण केन्द्र द्वारा किया जाता है। लेकिन इनका संग्रहण तथा विनियोजन राज्यों द्वारा किया जाता है। इनके आगमों पर केन्द्र का कोई अधिकार नहीं होता।
2. **संघ द्वारा अधिरोपित एवं संगृहीत तथा राज्यों द्वारा विनियोजित किये जाने वाले कर :-** अनुच्छेद 269 में इस प्रकार के

करों का प्रावधान किया गया है। इन प्रावधानों के अनुरूप केन्द्र द्वारा माल के विक्रय या क्रय पर तथा माल के पारेषण पर कर का उद्ग्रहण तथा संग्रहण किया जाता है लेकिन इनसे प्राप्त आगम को राज्यों को सौंप दिया जाता है।

3. **संघ द्वारा उद्गृहीत एवं संगृहीत तथा केन्द्र और राज्यों के मध्य वितरित किये जाने वाले कर :-** अनुच्छेद 268 तथा 269 को छोड़कर संघ सूची में उल्लिखित अन्य विषयों पर कर और शुल्क जो केन्द्र द्वारा उद्गृहीत तथा संगृहीत किये जाते हैं, वे केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वितरित किये जायेंगे। कर से प्राप्त आगम के वितरण के संबंध में वित्त आयोग द्वारा सिफारिशें की जाती हैं।
4. **कुछ शुल्कों और करों पर संघ के प्रयोजनों के लिए अधिभार :-** अनुच्छेद 271 के अनुसार, ऐसे अधिभारों के आगम अनन्य रूप से केन्द्र को सौंप दिये जाते हैं। समय-समय पर सरकार आय कर, निगम कर आदि पर अधिभार आरोपित करती है। राज्यों को अधिभार में से कोई अंश प्रदान नहीं किया जाता है।
5. **संघ से सहायता एवं अनुदान :-** अनुच्छेद 275 के तहत राज्यों को अनुदान प्रदान करने के संबंध में उपबंध किया गया है। विभिन्न राज्यों को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप संघ द्वारा अनुदान प्रदान किया जाता है। अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की अभिवृद्धि करने के लिए और अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन को बेहतर बनाने के लिए विशेष अनुदान दिये जा सकते हैं। इसी प्रकार, अनुच्छेद 282 के अन्तर्गत संघ और राज्यों को लोक प्रयोजन के लिए अनुदान की व्यवस्था की गई है।

iii. राजस्व अंतरण संबंधी प्रावधान (अनु. 268-81) (Provisions for Revenue Transfer)

1. संघ और राज्यों के बीच राजस्व अंतरण अथवा साझेदारी से संबंधित संवैधानिक प्रावधानों की विशेषता यह है कि इसमें दोनों ही स्तरों पर कर-आरोपण, संग्रहण और वितरण संबंधी प्रावधान है। दूसरी ओर कई विशिष्ट करों अथवा करारोपण संबंधी प्रावधान भी किए गए हैं। जैसे-संविधान के 88वें संशोधन 2003 की धारा-2 से अनु. 268 (क) शामिल कर सेवा कर के अधिरोपण, 'कर अधिकार' संघ का है। जबकि संग्रहण और विनियोजन (उपयोग) के लिए संघ और राज्यों को उत्तरदायी बनाया गया है।
2. अनु. 271 में अधिभार **(Sucharge)** आरोपित करने की शक्ति संघ की है। संघ-राज्य वित्तीय संबंधों को सुदृढ़ बनाने के लिए अनु. 275 में संघ द्वारा राज्यों को अनुदान दिए जाने का प्रावधान है ताकि राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। इसी प्रकार अनु. 293(2) में संघ, राज्यों को विभिन्न शर्तों पर ऋण प्रदान कर सकता है।

राजस्व की साझेदारी में अनु. 280 में वित्त आयोग का प्रावधान है। जिसका मुख्य कार्य इस संबंध में अनुशंसा करना है।

वित्त आयोग (Finance Commission)

संविधान के अनुच्छेद 280 के तहत राष्ट्रपति द्वारा एक पांच वर्षीय वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है। आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार सदस्य होते हैं। अध्यक्ष तथा सदस्यों की अर्हताओं का उल्लेख अनुच्छेद 280 (2) में किया गया है।

संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के मध्य कार्य विभाजन के साथ-साथ वित्तीय संसाधनों का भी विभाजन अनिवार्य है। ऐसे विभाजन के लिए आधारभूत सिद्धांत कार्यक्षमता की पर्याप्तता तथा उपयुक्तता है। लेकिन वित्तीय संसाधन की दृष्टि से इन सिद्धांतों को केन्द्र तथा राज्य सरकारों पर अलग-अलग लागू करने से विसंगतियां उत्पन्न होने की आशंका होती है। इस कारण राज्य सरकारों के लिए जिन करों की व्यवस्था होती है उनसे प्राप्त आय राज्यों के लिए पर्याप्त नहीं रह जाती। फलतः केन्द्र तथा राज्यों के मध्य राजस्व वितरण की आवश्यकता होती है। इस दृष्टिकोण से वित्त आयोग अत्यन्त प्रासंगिक संस्था के रूप में कार्य करता है। यद्यपि राज्यों को वित्तीय संसाधन प्राप्त करने के लिए वित्त आयोग के अतिरिक्त योजना आयोग की सिफारिशों पर भी निर्भर होना पड़ता है जिससे कई अवसरों पर दोनों आयोगों के मध्य मतभेद होने की आशंका भी होती है लेकिन इसके बावजूद वित्त आयोग वास्तविक रूप से राज्यों की आवश्यकताओं के अनुरूप राज्यों को वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराने में व्यापक सहायता प्रदान करता है। वित्त आयोग राष्ट्रपति को मुख्यतः तीन प्रकार के सुझाव देता है :

1. करों से प्राप्त शुद्ध आय को जिसे संविधान की व्यवस्था के अन्तर्गत बांटा जाना है और उनका संघ तथा राज्यों के मध्य वितरण करना है।
2. जिन राज्यों को ऐसी सहायता की अपेक्षा हो उन्हें भारत की संचित निधि से सहायता अनुदान के रूप में दिये जाने वाले भाग की नीति का निर्धारण।
3. ऐसा कोई भी विषय जो राष्ट्रपति द्वारा आयोग को विचारार्थ भेजा गया हो जिससे स्वस्थ अर्थव्यवस्था का निर्माण करने में बल

मिले।

अब तक कुल 14 वित्त आयोग गठित किये गये हैं।,

14वां वित्त आयोग

कार्यकाल - 2015 से 2020

अध्ययक्ष - डा. वाई. वी. रेड्डी

केंद्र सरकार ने 14वें वित्त आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने के संकेत दिया है वित्तमंत्री अरुण जेटली ने आज एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि आयोग की सिफारिशों पर सरकार गंभीरता से विचार करेगी उन्होंने कहा कि राज्य आत्मनिर्भर बनेंगे फिलहाल राज्यों को 32 फीसदी राजस्व में हिस्सा मिलता है, अगर नयी सिफारिश पर सहमति बनी तो राज्यों का राजस्व हिस्सा 10 प्रतिशत तक बढ़ जायेगा।

उन्होंने कहा कि विकास में राज्यों का सिर्फ रोल होता है, बल्कि बहुत अहम भूमिका होती है उन्होंने कहा कि गरीबों के बीच अच्छे से पैसे खर्च करने, गरीबी खर्च करने, इन्फ्रास्ट्रचर तैयार करने में यह पैसा खर्च किया जायेगा उन्होंने यह भी कि कमजोर ढांचे वाले 11 राज्यों को राजस्व मदद की जायेगी उन्होंने कहा कि नगर निगम को विकास योजनाओं अधिक वित्तीय अधिकार देने के लिए केंद्र प्रतिबद्ध हैण उन्होंने कहा कि नीति आयोग का गठन सरकार ने इसी अवधारणा के आधार पर की हैण अपनी प्रेस कान्फ्रेंस से पहले संसद में वित्तमंत्री ने आयोग की रिपोर्ट को टेबल किया

वित्त आयोग ने केंद्रीय करों में राज्यों की हिस्सेदारी बढ़ाकर 42 प्रतिशत करने का सुझाव दिया हैण यह फिलहाल 32 प्रतिशत है 14वें वित्त आयोग की रिपोर्ट में कर हस्तांतरण संबंधी सुझाव लागू होने पर राज्यों को 2014-15 के 3.48 लाख करोड़ रुपए और 2015-16 में 5.26 लाख करोड़ रुपए प्राप्त होंगे

रिपोर्ट में कहा गया है 'ज्यादा कर हस्तांतरण से राज्य सरकारों को अपनी जरुरतों और अनिवार्यताओं के मुताबिक योजनाओं के वित्तपोषण और डिजाइन में अधिक स्वायत्तता मिलेगी'

वाय वी रेड्डी की अध्यक्षता वाले आयोग के अंशकालिक सदस्य अभिजीत सेन ने इस पर असहमति जताई लेकिन सरकार ने राज्यों को कर हस्तांतरण से संबंधी ज्यादातर फैसलों को स्वीकार कर लिया है। सेन ने अपनी असमति पत्र में कहा था कि पहले साल विभाजनीय कर राजस्व में राज्यों का हिस्सा 38 प्रतिशत रखा जाए

आयोग का सुझाव है कि 2015-20 की अवधि में राज्यों के राजस्व और व्यय का संभावित आकलन करने के बाद 11 राज्यों के घाटे को पूरा करने के लिए 1.94 करोड़ रुपये का अनुदान दिए जाने की सिफारिश की है

रिपोर्ट में कहा गया 'राज्यों को ज्यादा हस्तांतरण के कारण केंद्र का राजकोषीय दायरा इसी अनुपात में कम होगा' एक विचाय है कि ज्यादातर संसाधन का प्रवाह कर राजस्व के हस्तांतरण के रूप में ही होना चाहिए।

वित्त आयोग की रिपोर्ट में कहा गया कि बहुत से राज्यों ने केंद्र प्रायोजित योजनाओं की संख्या और उनके परिव्यय घटाने का सुझाव दिया है आधिकारिक सूत्रों ने बताया कि सहयोपूर्ण संघवाद की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए केंद्र सरकार ने शुद्ध केंद्रीय कर प्राप्ति में राज्यों की हिस्सेदारी 42 प्रतिशत करने के 14वें वित्त आयोग के सुझाव को स्वीकार कर लिया है

इसी अवधारणा के अनुसार (योजना आयोग की जगह) नीति आयोग का गठन हुआ है, को ध्यान में रखकर सरकार ने सूत्रों ने कहा कि इस सुझाव के आधार पर किए जाने वाले कर हस्तांतरण से राज्यों की प्रप्ति में गुणात्वम बढ़ोतरी होगी उन्होंने कहा 'हस्तांतरण अनुपात में यह वृद्धि अब तक का सबसे बड़ा बदलाव है पिछले वित्त आयोगों ने 1-2 प्रतिशत की बढ़ोतरी के ही सुझाव दिये थे'

उन्होंने कहा '2014-15 के कुल हस्तांतरण के मुकाबले 2015-16 में राज्यों को होने वाले कर हस्तांतरण में 45 प्रतिशत से अधिक की बढ़ोतरी होगी' आयोग ने विधिवत निर्वाचित ग्राम पंचायतों और नगरपालिका संस्थाओं को मजबूत बनाने के लिए राज्यों को अनुदान दिये जाने की भी सिफारिश की है अनुदान को मूल अनुदान और प्रदर्शन अनुदान में विभाजित किया जाएगा

उल्लेखनीय है कि 31 मार्च, 2020 को समाप्त होने वाली पांच वर्ष की अवधि में पंचायतों और नगरपालिका समेत स्थानीय निकायों के लिए कुल अनुदान 2.88 लाख करोड़ रुपये होगा

सूत्रों ने कहा कि सरकार ने स्थानीय निकायों को ज्यादा संसाधन के हस्तांतरण के संबंध में आयोग के सुझाव को भी स्वीकार कर लिया है केंद्र प्रायोजित योजनाओं (सीसीएस) के संबंध में आयोग ने ज्यादा कर हस्तांतरण को ध्यान में रख कर ऐसी 30 योजनाओं को पहचान की है जिन्हें राज्यों को हस्तांतरित किया जा सकता है

हालांकि सूत्रों ने कहा कि योजनाओं के महत्व और कानूनी जिम्मेदारी को देखते हुए इनमें से केवल 8 योजनाओं को ही हस्तांतरित किया जा सकता है

सूत्रों ने बताया कि इनके अलावा आयोग ने सहयोगपूर्ण संघवाद को बढावा देने, वस्तु एवं सेवा कर के क्रियान्वयन, राजकोषीय मजबूती, सार्वजनिक सेवाओं और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की मूल्य नीति आदि के संबंध में भी सुझाव दिए हैं सूत्रों ने कहा कि सरकार आने वाले दिनों में इनका परीक्षण करेगी

भारतीय नियोजन और संघ-राज्य संबंध (Indian Planning and Union State Relations)

भारतीय परिसंघात्मक (संघात्मक) ढाँचे पर नियोजन के प्रभाव के संबंध में मतैक्य नहीं है। लेकिन निश्चित रूप से यह कहा जाना समीचीन होगा कि भारत में योजना प्रचालन किसी भी रूप में संघवाद का अपरदन नहीं करता। इसका मूल कारण यह है कि राष्ट्रीय नियोजन में राज्य स्तरीय कार्यक्रमों को भी शामिल किया जाता है। साथ ही, नियोजन को अनुमोदन करने का कार्य राज्यों की सदस्यता वाली राष्ट्रीय विकास परिषद् का होता है। अत: राज्यों के हितों की अनदेखी होने की कोई भावना नहीं रहती। वास्तव में नियोजन का उद्देश्य संघ और राज्यों के बीच पूरकता विकसित करना है न कि विवाद।

भारत में नियोजन की विषय-वस्तु की प्रकृति, योजना-निर्माण का स्वरूप, वित्तीय पहलू, राष्ट्रीय नीति, विदेशी सहायता संबंधी पहलू, योजना का कार्यान्वयन तथा योजना आयोग की सदस्यता जैसे पक्ष ऐसे हैं जिनमें केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोग तथा समन्वय होता है। हालांकि निश्चित रूप से इनमें संघ की प्रधानता रहती है लेकिन इसे तर्कसंगत कहा जाना चाहिए। इसका मुख्य कारण संरचनात्मक रूप से भारत का एक परिसंघीय संघ होना है।

यह भी देखा गया है कि सामान्यत: योजना आयोग और मंत्रिपरिषद राष्ट्रीय विकास परिषद् के सुझावों की अवहेलना नहीं करते। इसी कारण कई अवसरों पर परिषद् को सुपर कैबिनेट की भी संज्ञा दी जाती है। लेकिन इतना अवश्य है कि योजना प्रचालन के लिए परिषद् की सहमति अनिवार्य है जो संघ-राज्य संबंधों के समन्वयकारी होने का प्रमाण है।

निष्कर्षत: नियोजन और संघ-राज्य संबंध भारत में सहकारी संघवाद के ज्वलंत उदाहरण हैं।

योजना आयोग संघ राज्य संबंधों में संघ को मजबूती प्रदान करता है। इसे निम्नांकित आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है-

1. सामाजिक आर्थिक नियोजन एक समवर्ती सूची का विषय है। इस कारण यह संघ के साथ-साथ राज्य की सहभागिता होनी चाहिए जबकि योजना आयोग के संगठन में राज्य की सहभागिता नहीं दिखाई देती।
2. राज्य सूची के विषय पर भी योजना आयोग द्वारा पंचवर्षीय योजना वनाई जाती है।

परन्तु गठबंधन सरकारों के दौर में राज्यों की स्थिति में बदलाव दिखाई देता है क्योंकि केन्द्र सरकार का अस्तित्व क्षेत्रीय दलों पर निर्भर करता है।

भारत में अन्तर्राज्यीय जल विवाद (Inter State Water Disputes in India)

अनुच्छेद 262 में अन्तर्राज्यीय जल विवादों के समाधान के विषय पर संसद को निर्णय लेने की शक्ति प्रदान की गई है। जल विवादों के अतिरिक्त, संसद नदी घाटी से संबंधित विवादों पर भी निर्णय लेकर विधि निर्माण कर सकती है। इन विषयों पर संसद को यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को सीमित कर सकती है।

उल्लेखनीय है कि भारत में जल विवादों के समाधान के लिए एक-सदस्यीय न्यायाधिकरण के गठन का प्रावधान जल विवाद अधिनियम, 1956 के तहत किया गया है। इस पद पर उच्चतम अथवा उच्च न्यायालय के किसी कार्यरत अथवा निवर्तमान न्यायधीश को नियुक्त किया जाता है।

इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि किसी राज्य द्वारा इस विवाद के संदर्भ में कोई प्रार्थना प्राप्त होने पर केन्द्र को यदि यह लगता है कि वह विवाद बातचीत के द्वारा हल नहीं हो सकता है तो वह उस विवाद के हल हेतु एक ट्रिब्यूनल अधिकरण का गठन कर सकेगी। सभी संबद्ध राज्यों/पक्षों की राय जानने के बाद ट्रिब्यूनल अपना निर्णय देगा और जब वो निर्णय भारत सरकार के राजपत्र में छप जायेगा तभी उस निर्णय का बाध्यकारी स्वरूप स्थापित हो सकेगा।

नदी जल विवाद के सबंध में सरकारिया आयोग की संस्तुतियां

1. अंतर्राज्यीय नदी जल विवाद अधिनियम 1956 के अन्तर्गत किसी भी संबद्ध राज्य द्वारा कोई शिकायत प्राप्त होने के एक वर्ष के अन्दर संघ सरकार अधिकरण का गठन अनिवार्य रूप से करें।
2. संघ सरकार को यह शक्ति होनी चाहिए कि वो किसी राज्य से शिकायत प्राप्त हुए बिना भी कार्यवाही कर सके। यदि उसे लगता है कि भविष्य में कोई विवाद इस संबंध में उत्पन्न हो सकता है।
3. ट्रिब्यूनल के गठन की तिथि से लेकर 5 वर्ष की अवधि के भीतर ट्रिब्यूनल का निर्णय अनिवार्य रूप से कार्यान्वित किया जाये।
4. ट्रिब्यूनल के निर्णय को सुप्रीम कोर्ट के आदेश के समकक्ष दर्जा देकर उसके बाध्यकारी स्वरूप को अधिक ग्राह्य बनाया जा सके।

रावी-व्यास जल विवाद

हाल ही में पंजाब और हरियाणा के बीच उभरे जल विवाद का मुख्य कारण रावी और व्यास नदियों के जल का प्रबंधन तथा इनके और राजस्थान के बीच सतलज-यमुना संपर्क नहर का निर्माण है। उल्लेखनीय है कि पंजाब ने इन नदियों पर स्वामित्व का दावा किया है। सैद्धांतिक रूप से किसी भी राज्य द्वारा इस प्रकार का दावा तार्किक नहीं है क्योंकि 1985 से कार्यरत रावी-व्यास न्यायाधिकरण ने अपने निर्णय में यह कहा है कि नदी तटवर्ती राज्य को नदी के जल के उपयोग पर अधिकार होता है न कि उसके स्वामित्व का।

1966 में पंजाब पुनर्गठन अधिनियम की धारा 78 में पंजाब और हरियाणा दोनों को ही नदी तटवर्ती अधिकार दिये गये हैं। यह जल विवाद तब उभरा था जब पंजाब विधान सभा ने एक विधेयक पारित कर नदी जल विवादों को दूर करने वाले सभी नियमों तथा अधिनियमों को निरस्त करने का प्रावधान कर दिया। दूसरी ओर, सतलज-यमुना संपर्क नहर के संबंध में राजस्थान का दावा है कि पाकिस्तान के साथ सिन्धु जल संधि, 1960 में उसे भी नदी तटवर्ती अधिकार प्राप्त हैं।

कावेरी जल विवाद पर न्यायाधिकरण का निर्णय

5 फरवरी, 2007 को दक्षिण भारत के तीन राज्यों व एक केन्द्र शासित प्रदेश के बीच कावेरी जल के बँटवारे को लेकर चल रहे विवाद के हल के लिए गठित कावेरी जल विवाद पंचाट ने अंतिम निर्णय दे दिया। जिसके अनुसार-

1. एक सामान्य वर्ष में कावेरी बेसिन में उपलब्ध 740 अरब घन फुट, तमिलनाडु को 419 अरब घन फुट, केरल को 30 अरब घन फुट तथा पुडुचेरी को 7 अरब घनफुट पानी दिया जाएगा।
2. पर्यावरण हित को देखते हुए 10 अरब घन फुट जल आरक्षित किया जाएगा, साथ ही 4 अरब घन फुट जल अनिवार्य रूप से समुद्र में छोड़ा जाना निश्चित किया गया।
3. कावेरी बेसिन में पानी कम रहने की स्थिति में चारों राज्यों का हिस्सा बराबर अनुपात में घट जाएगा, जिस अनुपात में जल का वर्तमान बँटवारा किया गया है।

उल्लेखनीय है कि वर्ष 1990 में राज्यों कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल और केन्द्रशासित प्रदेश पुडुचेरी के बीच कावेरी नदी के जल के बँटवारे से संबंधित विवाद को हल करने के लिए एक न्यायाधिकरण का गठन किया गया था।

सोन नदी जल विवाद

21 सितंबर, 2011 को पटना उच्च-न्यायालय ने संघ सरकार को सोन नदी जल विवाद अधिकरण (Son River Water Dispute Tribunal) गठित करने को कहा है। उल्लेखनीय है कि सोन नदी बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ एवं झारखंड राज्यों के मध्य प्रवाहित होती है एवं जल के बटवारे को लेकर विवाद की स्थिति बनी है।

पूर्व में सन् 1980 में सोन नदी आयोग की स्थापना की गई थी जिसने सन् 1987 में जल बटवारे पर अपना निर्णय दिया था।

अन्तर्राज्यीय परिषद (Interstate Council)

संविधान के अनुच्छेद 263 में राज्यों के बीच के विवादों के समाधान के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद् के गठन का प्रावधान है। सरकारिया आयोग की संस्तुति के आधार वर्ष 1990 में पहली बार ऐसी परिषद् का गठन किया गया था।

इस परिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है व इसके सदस्य 28 राज्य एवं 2 संघ शासित मुख्यमंत्री तथा 5 कैबिनेट मंत्रियों को बनाया जाता है। यदि आवश्यक हो तो कुछ केन्द्रीय राज्य मंत्रियों को इसकी बैठक में बुलाया जा सकता है। इसमें निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते हैं।

सरकारिया आयोग ने अपनी संस्तुतियों में कहा था कि अन्य संगठनों से पृथक पहचान हेतु इसका नाम अन्तर-सरकारी परिषद (Inter Governmental Council) होना चाहिए।

अनु.263 (ग) (घ) में इसके प्रमुख कर्तव्य इस प्रकार परिभाषित किये गये हैं-

1. राज्यों के बीच यदि विवाद उत्पन्न हो जाये तो इसकी जांच करना व उस पर परामर्श देना।
2. कुछ या सभी राज्यों के बीच अथवा संघ एवं एकाधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों का अन्वेषण करना, उस पर विचार विमर्श करना तथा इस संबंध में उपर्युक्त सिफारिश करना।
3. राज्यों के बीच तथा संघ एवं राज्यों के बीच समन्वय द्वारा घनिष्ठता स्थापित करके सहकारी संघवाद की भावना को मजबूत करना।

उल्लेखनीय है कि संघ राज्य संबंधों में स्थापित करने के लिए तीन संस्थाए संवैधानिक रूप से अंतर्राज्जीय परिषद, वैधानिक रूप से क्षेत्रीय परिषद एवं कार्यकारी संस्था के रूप में राष्ट्रीय विकास परिषद हैं।

सहकारी परिसंघवाद (Cooperative Federalism)

जैसा कि विदित है एक परिसंघात्मक संविधान में संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन रहता है तथा प्रत्येक सरकार संविधान द्वारा विहित सीमा में ही कार्य करती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। चूँकि दोनों सरकारें एक ही नागरिक पर शासन करती हैं और उनके कल्याण के लिए कार्यों को सम्पादित करती हैं, इसलिए इनमें आपस में सहयोग एवं समन्वय आवश्यक होता है।

वे एक-दूसरे से अलग रहते हुए भी परस्पर सहयोगी होती हैं। परिसंघात्मक संविधान की स्थापना के प्रारम्भ के काल में विभिन्न सरकारों में प्रतियोगिता और स्पर्द्धा की भावना विद्यमान थी; क्योंकि वे जब परिसंघ में सम्मिलित हुए थे इनमें यह भावना व्याप्त थी कि कहीं केन्द्र सरकार अधिक शक्तिशाली न हो जाये और उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। इसी उद्देश्य से शक्तियों के विभाजन की योजना भी ऐसी अपनायी गयी थी जिसमें केन्द्र को कम शक्ति और राज्यों को अधिक शक्ति प्रदान की गई थी। राज्य अपने अधि कारों के प्रति अधिक सजग थे और इसी कारण अमेरिका, कनाडा एवं आस्ट्रेलिया में केन्द्र और राज्यों के बीच प्रारम्भ में अनेक विवाद उत्पन्न हुए। प्रारम्भ में संघवाद के स्वरूप को प्रतियोगी परिसंघ (Competitive federation) कहा जाता था। किन्तु कालान्तर में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके कारण यह प्रतियोगिता और स्पर्द्धा की भावना कम होती गई और उनके बीच सहयोग एवं समन्वय बढ़ता गया और वे एक-दूसरे के सहयोगी एवं सहायक के रूप में हो गये। केन्द्र एवं राज्यों के बीच इस सहयोग एवं समन्वय की भावना के उत्पन्न होने के कारण आज हम इसे सहकारी परिसंघ (Co-operative federalism) कहते हैं। इस परिवर्तन के तीन प्रमुख कारण हैं-

1. बाह्य आक्रमण एवं युद्ध के खतरे की आशंका
2. तकनीकी प्रगति और संचार-साधनों व अवागमन के साधनों का विकास
3. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का जन्म जिसमें राज्य सरकारों को जनता के कल्याण के लिए अधिक धन लगाना पड़ता है।

भारतीय संविधान-निर्माताओं ने अन्य देशों में परिसंघवाद के स्वरूप में हुए इस परिवर्तन को भलीभाँति समझा था और इसीलिए उन्होंने भारतीय संविधान में पहले से ही एसे उपबन्धों को सम्मिलित किया है जिनके माध्यम से केन्द्र और राज्यों के बीच सहकारिता की इस भावना को मूर्त रूप दिया जा सके और इस प्रकार दोनों सरकारें एकजुट होकर देश का समन्वित आर्थिक विकास कर सकें। ये उपबन्ध निम्नलिखित हैं-

1. **विधि-निर्माण में सहयोग**- अनुच्छेद 252 के अधीन यदि दो या अधिक राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा इस बात का संकल्प पारित कर दिया गया है कि राज्य सूची के किसी विषय पर संसद् को विधि बनाना वांछनीय है तो संसद् उस विषय पर विधि

बना सकती है। अन्य राज्य भी संकल्प पारित करके ऐसी विधियों को स्वीकार कर सकते हैं। राज्य-सूची में लोक-स्वास्थ्य, वन, कृषि, मत्स्यपालन आदि ऐसे विषय हैं जिन पर एक समान विधि की आवश्यकता पड़ सकती है। विभिन्न राज्यों द्वारा बनाई गई विधियों से इन मामलों में एकरूपता नहीं हो सकती हैं।

अनु. 252 के अधीन ऐसी सरल व्यवस्था की गई है जिससे संविधान में संशोधन किये बिना इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सके।

2. **राजस्व-विभाजन में सहयोग**- संघ और राज्यों में राजस्व के विभाजन की योजना में सन्तुलन और सहयोग की व्यवस्था है। कराधान के अनेक विस्तृत स्त्रोत संघ के पास है। किन्तु राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं को देखते हुए उनकी आय के स्त्रोत के साधन काफी सीमित हैं और उनका उत्तरदायित्व अधिक है और उन्हें जन-विकास, समाज कल्याण एवं जन सेवा के अनेक कार्य करने पड़ते हैं। संविधान निर्माताओं ने इसीलिए राज्यों के उत्तरदायित्वों को ध्यान में रखकर राजस्व के मामले में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। राज्यों द्वारा लगाये गये राजस्व से जो धन प्राप्त होता है वह सब राज्यों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है; जैसे-सीमा शुल्क, निगमकर पूँजी।

इसी उद्देश्य से करों से प्राप्त सामान्य राजस्व का अधिकांशतः भाग राज्यों को सौंपने की व्यवस्था है (अनु. 268-269)। राज्यों द्वारा लगाये गये करों से प्राप्त राजस्व का सम्पूर्ण भाग राज्यों को प्राप्त हो जाता है। केन्द्र को आयकर से मिलने वाली रकमों में से 80 प्रतिशत राजस्व राज्यों को उनकी आवश्यकता के अनुसार सौंप दिया जाता है। (अनु. 270, 272)।

केन्द्रीय अनुदान- संविधान के अन्तर्गत राज्यों के राजस्व के स्त्रोत अत्यन्त सीमित हैं जबकि लोकहित में उन्हें अनेक कार्य करने पड़ते हैं। इन सबके लिए उन्हें अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई उनकी आवश्यकताओं के लिए संघ सरकार द्वारा राज्यों को अनुदान देने का उपबन्ध किया गया है। (अनु. 273, 275)। संघ सरकार द्वारा इस प्रकार राज्यों को अनुदान दिये जाने से संघ और राज्यों में सहयोग और समन्वय की भावना का सृजन होता है और यदि कोई राज्य अपनी जनता के कल्याण हेतु विकास योजनाओं को कार्यान्वित करना चाहता है तो तो वह संघ से अनुदान माँग सकता है। अनुदान का उपबन्ध अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि संविधानों में भी है।

3 **प्रशासनिक सहकारिता**- भारतीय संविधान में केन्द्र और राज्यों में प्रशासनिक सम्बन्धों की योजना में भी आपस में सहयोग एवं सहकारिता को बढ़ावा दिया गया है। प्रशासनिक दृष्टि से केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोग की भावना का होना आवश्यक है। संघ की सम्पत्ति राज्यों में ही होती हैं। उनकी सुरक्षा, संघ के आदेशों-निर्देशों का पालन राज्य के द्वारा ही किया जाता है। संघ बिना राज्य के सहयोग के प्रशासन का कार्य सफलतापूर्वक नहीं चला सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गई है-

(i) अखिल भारतीय सेवाएँ- वैसे तो संघात्मक संविधान में संघ और राज्यों की अलग-अलग सेवाएं होती हैं, किन्तु भारतीय संविधान में इन सेवाओं के अतिरिक्त एक संघ और राज्यों की सम्मिलित सेवाओं का भी उपबन्ध है, जिसे 'अखिल भारतीय सेवाएँ' कहा जाता है। इन सेवाओं के सृजन का मुख्य उद्देश्य है-अधिकतम अन्तर्राज्यीय सहयोग एवं समन्वय सुनिश्चित करना। (अनु. 312)।

(ii) अनु. 261- अनुच्छेद 261 यह घोषणा करता है कि संघ और प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को समस्त भारतीय क्षेत्र में पूरा विश्वास और पूरी मान्यता प्रदान की जायेगी। उपर्युक्त अभिलेखों आदि के साबित करने की रीति और शर्ते तथा इनके प्रभाव का निर्धारण संसद विधि बनाकर करेगी।

क्षेत्रिक सम्बन्ध का सिद्धान्त (Theory of Territorial Nexus):- अनुच्छेद 245 (1) यह कहता है कि किसी राज्य का विधान मण्डल उस सम्पूर्ण राज्य के या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगा। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य की विधायी शक्ति का विस्तार राज्यक्षेत्र तक ही सीमित है। अर्थात् राज्य द्वारा बनायी गयी विधि भी राज्यक्षेत्र से बाहर के क्षेत्र में लागू हो सकेगी यदि राज्य और उस विषय-वस्तु से कोई सम्बन्ध हो जिसके ऊपर वह विधि लागू होती है। इसे क्षेत्रिक सम्बन्ध का सिद्धान्त कहते हैं।

संघ-राज्य संबंध : एक विश्लेषण (Union-State Relations: An Analysis)

भारत के विभिन्न राज्यों में तीव्र गति से बढ़ रही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विषमताएं केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक संबंधों की सुदृढ़ता पर प्रश्नचिन्ह लगाती हैं। इसके बावजूद संवैधानिक प्रावधानों की कार्यकुशलता के कारण भारत का परिसंघीय स्वरूप अक्षुण बना हुआ है। यद्यपि कई कारणों से संविधान केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तियां प्रदान करता है लेकिन राज्यों को इतनी शक्तियां अवश्य प्रदान की गई हैं कि केन्द्र को सरलतापूर्वक निरंकुश होने से बचाया जा सकता है।

वस्तुत: विकास एवं विनियामक, प्रशासनिक कार्य राज्यों की शक्तियों का ही भाग हैं। जिसके कारण राज्यों को व्यापक स्तर पर शक्तिशाली कहा जा सकता है। हाल के वर्षों में स्थानीय और क्षेत्रीय प्रकृति के विकास कार्यों और सामाजिक सेवाओं के संदर्भ में राज्यों के बढ़ते हुए दायित्वों के कारण राज्यों की वित्तीय आवश्यकताओं में त्वरित वृद्धि हुई है। पर्याप्त संसाधन उपलब्ध नहीं होने के फलस्वरूप राज्यों की परियोजनाओं के पूर्ण होने में अक्सर कठिनाइयां आती हैं जिसके कारण केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय मामलों में विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दृष्टिकोण से मूलत: कई राज्यों के मध्य उत्पन्न जल विवाद तथा कई राज्यों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक स्वायत्तता की मांग ने भी केन्द्र-राज्य संबंधों को विगत दशकों में व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इन विवादों का त्वरित निपटारा करने के उद्देश्य से सरकारिया आयोग ने कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

वस्तुत: 1950 एवं 1960 के दशक में केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों में समान सत्तारूढ़ दल होने के कारण केन्द्र-राज्य संबंध आज के परिप्रेक्ष्य की तुलना में अधिक मधुर रहे थे। इस दिशा में वास्तविक विवाद वस्तुत: 1967 में तब आया जब आम चुनावों के उपरांत कई राज्यों में केन्द्र के सत्तारूढ़ दल के विपरीत अन्य दलों की सरकारें गठित हुई। राजनीतिक मतभेद होने के कारण केन्द्र-राज्य संबंधों पर भी व्यापक कुप्रभाव परिलक्षित हुए। इस अवधि में मुलत: राज्यों ने अधिक स्वायत्तता की मांग पर बल दिया था। इस स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission - ARC) का गठन किया जिसने 1968 में इस दिशा में कार्य करने के लिए एम.सी. सीतलवाड समिति गठित की। समिति ने अन्तर राज्यीय परिषद के गठन का महत्वपूर्ण सुझाव दिया था। साथ ही, समिति ने योजना आयोग तथा वित्त आयोग के मध्य समन्वय की स्थापना पर विशेष बल दिया। प्रशासनिक सुधार आयोग ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दे पर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया।

आयोग के अनुसार, केन्द्र का हस्तक्षेप कतिपय ऐसे क्षेत्रों में हुआ था जो राज्यों के कार्यक्षेत्र के थे। अत: केन्द्र को इन क्षेत्रों से स्वयं को बाहर रखने की अनिवार्यता थी ताकि राज्यों की स्वतंत्रता बाधित नहीं हो। आयोग के अन्य सुझावों में विभिन्न राज्यों के राज्यपालों के लिए विशेष रूप से एक मार्गदर्शन की व्यवस्था करना भी शामिल था।

इसके उपरांत सरकार ने राजमन्नार केन्द्र-राज्य संबंध अन्वेषण समिति का गठन किया जिसने पूर्व में गठित आयोग की भांति अन्तर राज्यीय परिषद के गठन का सुझाव दिया। साथ ही, समिति ने अनुच्छेद 356 के प्रयोग को नियंत्रित करने पर विशेष बल दिया ताकि राज्यों की असुरक्षा की भावना पर नियंत्रण रखा जा सके। समिति ने यह स्पष्ट किया था कि अवशिष्ट शक्तियां तथा कर अधिरोपण की शक्तियां राज्यों को प्रदान की जानी चाहिए लेकिन केन्द्र सरकार द्वारा समिति की रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया गया। केन्द्र-राज्य संबंधों को मधुर बनाने की दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास सरकारिया अयोग का गठन था।

आयोग ने स्पष्ट किया कि देश की एकता और अखंडता को सुरक्षित रखने के लिए केन्द्र का शक्तिशाली होना अनिवार्य है। साथ ही, भारतीय संविधान में आमूल परिवर्तन के सुझाव को अस्वीकार करते हुए आयोग ने उल्लेख किया कि संविधान के अधिकांश उपबंध वर्तमान संदर्भ में भी प्रासंगिक हैं। सरकारिया आयोग ने राज्यों को समवर्ती सूची के विषयों पर अधिक अधिकार देने का सुझाव दिया है।

राज्यपाल पद के लिए किसी गैर-राजनीतिक व्यक्ति को नियुक्त किये जाने पर बल देते हुए आयोग ने यह सिफारिश की है कि राजनीतिक हसतक्षेप में कमी लाना संघ तथा राज्यों के संबंधों को बेहतर बनाने में आवश्यक है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संदर्भ में आयोग का मत है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का स्थानांतरण नहीं किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त व्याख्या यह स्पष्ट करती है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में केन्द्र-राज्य संबंधों को राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्तरों पर पुनर्परिभाषित करने की नितांत आवश्यकता है। नई परिभाषा के तहत अपेक्षाकृत अधिक स्वायत्तता देना तथा राज्यों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता को कम करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

मदनमोहन पुंछी आयोग (Madanmohan Punchhi Commission)

केन्द्र राज्य संबंध पर विचार करने के लिए न्यायमूर्ति एम.एम. पुंछी की अध्यक्षता में दूसरे केन्द्र राज्य संबंधों पर आयोग का गठन वर्ष 2007 में किया गया उल्लेखनीय है कि केन्द्र राज्य संबंधों पर ऐसा पहला आयोग सरकारिया आयोग था। जिसका गठन वर्ष 1983 में किया गया था।

संघ राज्य संबंधों पर पुंछी आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें दी हैं-

1. संविधान के अनुच्छेद 355 एवं 356 में आवश्यक संशोधन किए जाएं। उल्लेखनीय है कि उपरोक्त अनुच्छेदों के कारण राज्यों में असंतोष रहता है।
2. राज्यों की सहमति से तनाव वाले क्षेत्रों में केन्द्रीय बलों की तैनाती की जानी चाहिए। राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री का चुनाव करते समय चुनावपूर्व गठबंधन वाले नेता को वरीयता देनी चाहिए।

3. राज्यपाल की नियुक्ति के संदर्भ में आयोग ने सिफारिश की है कि ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करना चाहिए जो प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेता हो।
4. आयोग ने राज्यपालों को राजनीतिक लाभ के लिए बर्खास्त करने की आलोचना की है तथा राज्य विधान मंडल को महाभियोग द्वारा राज्यपाल को हटाने का सुझाव दिया है।

14. निर्वाचन

परिचय (Introduction)

लोकतंत्रात्मक गणराज्य की शासन व्यवस्था में निर्वाचन का विशेष महत्व है। वस्तुत: इसके माध्यम से देश के नागरिकों को अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार प्राप्त होता है जिसके आधार पर जनता के लिए सरकारें गठित होती हैं। दूसरे शब्दों में, निर्वाचकों द्वारा निर्वाचन, जनमत संग्रह आदि उपकरणों के माध्यम से देश की विधायिका पर नियंत्रण रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। लोकतंत्र की सफलता इस तथ्य पर भी निर्भर करती है कि किसी देश में नागरिक निर्वाचन के प्रति कितने सजग तथा जागरूक हैं।

एक आदर्श निर्वाचन पद्धति के अन्तर्गत निर्वाचकों को अपने अन्त:करण की स्वतंत्रता के साथ मतदान करने का अधिकार प्राप्त होना अनिवार्य है। इस संबंध में यह भी महत्वपूर्ण है कि वे ऐसी स्वतंत्रता का प्रयोग व्यावहारिक रूप से करने में समर्थ भी हैं। उन्हें किसी प्रकार के सांप्रदायिक, धार्मिक तथा भाषाई विभेद से मुक्त होना चाहिए।

आदर्श निर्वाचन पद्धति के तहत यथासंभव प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रक्रिया को प्रश्रय दिया जाना चाहिए ताकि नागरिकों को अपने लोकप्रिय प्रतिनिधियों का चुनाव करने में सरलता हो और लोकतंत्र की रक्षा की जा सके। लेकिन मतदान की पद्धति निश्चित रूप से गोपनीय होनी चाहिए ताकि निर्वाचकों पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं दिया जा सके।

इसके अतिरिक्त, यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाताओं की संख्या यथासंभव समान रहे। मतदान प्रक्रिया को निष्पक्ष तथा भ्रष्टाचार-मुक्त बनाये रखने के लिए यह अनिवार्य है कि निर्वाचकों को पर्याप्त राजनीतिक तथा निर्वाचन संबंधी प्रशिक्षण प्रदान किया जाये।

वयस्क मताधिकार (Adult Franchise)

निर्वाचन में वयस्क मताधिकार का विशेष महत्व होता है। कमोबेश सभी राष्ट्रों द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाने वाले इस अधिकार को सरकार द्वारा सुरक्षित रखा जाता है। यह अधिकार उन नागरिकों को प्रदान किया जाता है जिनमें राजनीतिक गतिविधियों को परखने तथा सरकार के गठन संबंधी विभिन्न आयामों को समझने की क्षमता का विकास हो गया हो।

इस संदर्भ में पूर्व सोवियत संघ का उदाहरण समीचीन है। पूर्व सोवियत संघ में 18 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद ही वयस्क मताधिकार प्रदान किया जाता था। यही व्यवस्था भारत के संदर्भ में भी विद्यमान है। स्पष्टत: ऐसे व्यक्तियों अथवा नागरिकों जिनमें ऐसी क्षमता विकसित नहीं हुई है, को मत देने के महत्वपूर्ण अधिकार से वंचित रखा जाता है।

दूसरे शब्दों में, भारत सहित विभिन्न राष्ट्रों में वयस्क मताधिकार को पूर्णत: निरपेक्ष अधिकार नहीं बनाया गया है।

हांलाकि वयस्क मताधिकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार है जिससे नागरिकों में राजनीतिक जागरुकता की भावना विकसित होती है। आलोचकों का मत है कि यदि किसी नागरिक को इससे वंचित रखा जाता है तो यह लोकतंत्र की भावना की लोकप्रियता पर प्रहार है। चूँकि इस अधिकार से नागरिक सरकारी गतिविधियों पर नियंत्रण रखने में समर्थ होते हैं। अत: इसका प्रावधान सभी नागरिकों के लिए किया जाना अनिवार्य है।

आलोचकों ने यह भी मत अभिव्यक्त किया है कि लोकतंत्र राजनीतिक समानता में विश्वास करता है। अत: मतदान के अधिकार से किसी को भी वंचित नहीं किया जा सकता। लेकिन उपरोक्त आलोचना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है क्योंकि मताधिकार एक ऐसा उपकरण है जिससे सरकारों की लोकप्रियता प्रभावित होती है। यह उपकरण लोकतांत्रिक प्रणाली के सुदृढ़ीकरण में भी सहायक है। अत: ऐसे अधिकार के दुरुपयोग पर अंकुश रखना सरकारों का प्रमुख दायित्व है।

स्पष्टत: ये अधिकार उन्हीं नागरिकों को प्रदान किये जाने चाहिए जिनमें राजनीतिक परख का विकास हो गया है ताकि सरकार के गठन में किसी भी प्रकार की समस्या उत्पन्न नहीं हो। भारत जैसे देश में जहां संविधान ने भारत को एक कल्याणकारी राज्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है, वहां वयस्क मताधिकार के दुरुपयोग पर अंकुश रखने की अनिवार्यता है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct & Indirect Elections)

निर्वाचन प्रक्रिया को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है, यथा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाता एक या अधिक प्रत्याशियों को अपना मत प्रत्यक्ष रूप से देता है। जिस प्रत्याशी को अन्य प्रत्याशियों की अपेक्षा अधिक मत प्राप्त होते हैं उसे विजयी घोषित किया जाता है। निर्वाचन की यह पद्धति अत्यन्त सरल तथा लोकप्रिय है अत: सभी लोकतांत्रिक देशों में यह प्रचलित है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन वस्तुत: जनता तथा उसके प्रतिनिधियों के मध्य गहरे पारस्परिक संबंधों की स्थापना में सहायक है। साथ ही, यह आम जनता में राजनीतिक जागरुकता की भावना का विकास करने में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन के दौरान नागरिकों को प्रत्याशियों के गुण एवं दोषों के आकलन का अवसर प्राप्त होता है जिससे वे सर्वाधिक लोकप्रिय प्रत्याशी का चुनाव करने में सक्षम होते हैं।

इस संदर्भ में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रत्यक्ष निर्वाचन की संकल्पना में शिक्षात्मक पक्ष अन्तर्निहित है। वस्तुत: लोकतंत्र की संकल्पना को परखने के लिए इससे बेहतर कोई और उपकरण उपलब्ध नहीं है।

दूसरी ओर, अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में नागरिकों द्वारा मध्यवर्ती स्तर पर एक निकाय का चुनाव किया जाता है जिसे निर्वाचक मंडल कहा जाता है। इस निर्वाचक मंडल द्वारा अन्तत: प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है। अत: स्पष्ट है कि ऐसी पद्धति में नागरिकों को सीमित राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में आदर्श पद्धति में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को लोकप्रियता प्राप्त नहीं है क्योंकि ऐसी व्यवस्था में नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों का विशेष महत्व है।

आलोचकों के अनुसार, अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की कई कमियां हैं जिनमें नागरिकों में राजनीतिक अवहेलना की भावना का विकास तथा निर्वाचन में भ्रष्टाचार की व्यापकता प्रमुख हैं।

निर्वाचन क्षेत्र (Constituencies)

लोकप्रिय प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए सुव्यवस्थित तथा संगठित निर्वाचन क्षेत्रों का होना अनिवार्य है। सैद्धांतिक रूप से ऐसे सभी निर्वाचन क्षेत्रों का आकार कमोबेश समान होना चाहिए। ऐसे क्षेत्रों के निर्धारण के फलस्वरूप नागरिकों तथा प्रत्याशियों के मध्य पारस्परिक समन्वय स्थापित की संभावना अपेक्षाकृत अधिक होती है। व्यावहारिक रूप से दो प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों का निर्धारण किया जा सकता है, यथा, **एकल-सदस्यीय** निर्वाचन क्षेत्र तथा **बहु-सदस्यीय** निर्वाचन क्षेत्र।

एकल-सदस्यीय पद्धति में सम्पूर्ण राष्ट्र को विधायिका के सदस्यों की संख्या के अनुरूप निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है तथा प्रत्येक क्षेत्र से एक सदस्य का निर्वाचन होता है। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार इस पद्धति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। भारत के अतिरिक्त अमेरिका तथा ब्रिटेन में यह पद्धति प्रचलित है।

दूसरी ओर, बहु-सदस्यीय पद्धति में विधायिका की सदस्य संख्या से कम निर्वाचन क्षेत्र निर्धारित होते हैं तथा आकार के अनुरूप प्रत्येक क्षेत्र से एक से अधिक प्रत्याशियों का निर्वाचन होता है। मतदाताओं को प्रत्याशियों की संख्या के अनुरूप मत देने का अधिकार प्राप्त होता है।

निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन (Delimitation of Constituencies)

निर्वाचन आयोग का एक महत्वपूर्ण कार्य निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन है। चुनाव क्षेत्रों के परिसीमन की व्यवस्था संसद द्वारा पारित परिसीमन आयोग अधिनियम, 1972 के अनुसार की जाती है। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि प्रति दस वर्ष बाद होने वाली जनगणना के पश्चात् एक परिसीमन का कार्य किया जायेगा।

ऐसे आयोग का गठन मुख्य निर्वाचन आयुक्त की अध्यक्षता में होता है। इसके सदस्य के रूप में सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के दो सेवानिवृत न्यायाधीश नियुक्त किये जाते हैं। जबकि सहायक सदस्यों की संख्या 2 से 7 के बीच हो सकती है। सहायक सदस्यों का चुनाव संबंधित राज्य के लोकसभा या विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों में से होता है। जनता द्वारा अपनी ओर से आपत्तियां आयोग को दी जाती हैं जिन पर चर्चा के उपरांत परिसीमन का कार्य किया जाता है।

आयोग द्वारा परिसीमन के लिए भौगोलिक तथ्यों तथा प्रशासनिक पक्षों को ध्यान में रखते हुए सुझाव दिये जाते हैं। लेकिन ये सुझाव सरकार पर बाध्यकारी नहीं हैं। मूल संविधान में यह उपबंध था कि निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन प्रत्येक जनगणना के उपरांत किया जाना चाहिए लेकिन संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 से इसमें परिवर्तन किया गया। वर्तमान में यह निर्धारित है कि वर्ष 2026 तक कोई परिसीमन नहीं किया जायेगा ताकि जिन राज्यों में जनसंख्या वृद्धि की दर अपेक्षाकृत अधिक है वे जनसंख्या स्थायित्व के लिए किये जा रहे प्रयासों में महत्वपूर्ण योगदान दे सकें।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation System)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को वर्तमान लोकतांत्रिक निर्वाचन प्रणाली में विशिष्ट स्थान प्राप्त है क्योंकि इसके माध्यम से कमोबेश सभी नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्राप्त होता है। यद्यपि अप्रत्यक्ष निर्वाचन का भाग होने से इस पद्धति का प्रचलन सीमित है लेकिन इसके बावजूद भारत जैसे देश में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्य सभा तथा विधान परिषद के सदस्यों के

निर्वाचन में इसका प्रयोग किया जाता है। प्रणाली के तहत दो प्रकार की पद्धतियां प्रचलित हैं, यथा,

एकल संक्रमणीय मत पद्धति तथा सूची पद्धति

(Single Transferable vote System & List System)

एकल संक्रमणीय मत पद्धति का प्रारंभ सन् 1793 में डेनमार्क में कार्ल आंद्रे द्वारा किया गया था जिसे वास्तविक रूप से सन् 1851 में इंग्लैंड में थॉमस हेयर ने प्रयोग किया। अत: इसे कई अवसरों पर हेयर प्रणाली भी कहा जाता है। इस प्रणाली के तहत सभी चुनाव प्रत्याशियों के नामों तथा संबद्ध चुनाव चिन्हों को एक मतपत्र पर मुद्रित किया जाता है। मत पत्र को दाहिने भाग पर रिक्त स्थान छोड़ दिये जाते हैं। इन रिक्त स्थानों पर मतदाताओं को 1, 2, 3, 4..... के रूप में वरीयता क्रम अंकित करना होता है। मतदाता एक से अधिक प्रत्याशियों के लिए मत दे सकता है। मतगणना के समय केवल प्रथम वरीयता प्राप्त प्रत्याशी के मतों की गणना की जाती है।

जब किसी प्रत्याशी द्वारा निर्वाचक कोटा के बराबर मत प्राप्त कर लिया जाता है तो उसे विजयी घोषित किया जाता है। यदि प्रथम वरीयता प्राप्त प्रत्याशी के मत कोटा के बराबर नहीं होते तो द्वितीय वरीयता प्राप्त प्रत्याशी को प्रथम के मत हस्तांतरित कर दिये जाते हैं तथा पुन: उसकी गणना की जाती है। यही प्रक्रिया बार-बार दुहराई जाती है तथा अन्तत: एक प्रत्याशी को विजयी घोषित किया जाता है।

दूसरी ओर, सूची पद्धति के अन्तर्गत सभी प्रत्याशियों की एक सूची बनाई जाती है तथा मतदाताओं को एक सूची को अपना मत देना होता है। सूची में वरीयता क्रम में प्रत्याशियों के नाम उल्लिखित होते हैं। मत के अनुसार, मतदाता के वरीयता क्रम की पहचान की जाती है। मतों की गणना का कार्य करने के दौरान यह देखा जाता है कि कुल वैध मतों तथा सीटों की कुल संख्या का अनुपात क्या है। इसी आधार पर प्रत्याशियों को विजयी घोषित किया जाता है। लेकिन सूची प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें मतदाताओं को अपनी इच्छानुसार प्रत्याशी के चुनाव का अवसर प्राप्त नहीं होता है।

राजनीतिक दल (Political Parties)

राजनीतिक दल वस्तुत: लोगों का एक ऐसा समूह है जिसमें वे एक सिद्धांत के आधार पर राष्ट्रीय हित के लिए कार्य करते हैं। किसी देश में राजनीतिक दलों का अस्तित्व व्यक्तिवाद के उदारवादी दर्शन पर आधारित होता है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समूह का निर्माण करने तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र होता है उसी प्रकार वह समान विचार वाले लोगों के साथ किसी राजनीतिक दल की स्थापना करने के लिए भी स्वतंत्र है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने प्रयासों से राष्ट्रीय हितों का संरक्षण करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। राजनीतिक दलों के संबंध में उल्लेखनीय है कि नये लोकतांत्रिक देशों में बहु दलीय प्रणाली विकसित है जबकि विकसित राष्ट्रों में द्विदलीय प्रणाली कार्यरत है। इसका मुख्य कारण यह है कि नये लोकतांत्रिक देशों में कई प्रकार के सामाजिक और आर्थिक विकास कार्यक्रम क्रियान्वित किये जाते हैं। इस क्रम में राजनीतिक दल अपने-अपने प्रयासों के माध्यम से इन कार्यक्रमों की सफलता में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। इस प्रकार के कार्यक्रम विकसित देशों में अपेक्षाकृत कम होते हैं।

संसदीय लोकतंत्र के प्रभावकारी संचालन के लिए राजनीतिक दलों की नितांत आवश्यकता है। ऐसे लोकतंत्र में विपक्ष के रूप में राजनीतिक दल सरकारी गतिविधियों पर एक ओर जहां नियंत्रण रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, वहीं दूसरी ओर, विपक्ष के कारण सरकारें विकासोन्मुखी कार्यक्रमों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक उत्तरदायी बनती हैं। राजनीतिक दल संसदीय शासन व्यवस्था में जनता की विभिन्न समस्याओं को सरकार तक लाने में भी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं।

भारत के संदर्भ में बहु-दलीय प्रणाली अपनाई गई है। यही प्रणाली फ्रांस में भी प्रचलित है। ऐसी प्रणाली में विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्य अपने विचार व्यक्त करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र होते हैं। उन पर दल का अनावश्यक दबाव नहीं होता। आवश्यकतानुसार, कई दल राष्ट्रीय हितों के संरक्षण के लिए एकजुट होकर कार्य करने में समर्थ होते हैं। साथ ही, चुनाव के दौरान आम जनता को सर्वोत्तम दल का चयन करने में व्यापक सहायता मिलती है। इस प्रकार की प्रणाली में निर्मित सरकार वस्तुत: प्रतिनिधित्व की भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है जो भारतीय लोकतंत्र की विशिष्टता है।

भारत में बहु-दलीय प्रणाली अपनाये जाने के कई कारण हैं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण द्वि-दलीय प्रणाली की अनम्यता से बचना है। साथ ही, भारत जैसे देश में जहां विविधता विद्यमान है, वहां दलों की संख्या का अधिक होना आवश्यक है क्योंकि राष्ट्र हित के संरक्षण के लिए केवल दो दलों द्वारा कार्य किया जाना पर्याप्त नहीं होगा।

विभिन्न राजनीतिक दलों के निर्माण के आधार

1. विचारधारा
2. आर्थिक तत्व
3. धार्मिक तत्व
4. जातीयता
5. क्षेत्रीयता
6. मनोवैज्ञानिक

भारत में उदारीकरण के पश्चात् विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थापना में तीव्रता आई है। निर्वाचन आयोग के अनुसार भारत में लगभग 300 राजनीतिक दल हैं जिनमें कुछ राष्ट्रीय, राज्यस्तरीय एवं क्षेत्रीय दल हैं।

उदारीकरण के दौर ने आर्थिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक स्तर पर क्षेत्रीय विषमता में विगत वर्षों में तीव्रता आई है। इसके कारण क्षेत्र आधारित मुद्दों को प्रमुखता मिली है। इसी के परिणाम स्वरूप जहाँ एक और विभिन्न नवीन राज्यों की माँग में तीव्रता आई है वहीं विभिन्न क्षेत्रीय दलों की स्थापना में तीव्रता आई है। ये क्षेत्रीय दल विभिन्न क्षेत्रीय मुद्दों के आधार पर चुनाव लड़ते हैं एवं चुनाव जीतकर या तो सरकार बनाते हैं अथवा प्रभावी विपक्ष की भूमिका निभाते हैं।

बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली के कार्य

1. राजनीतिक प्रक्रिया का एकीकरण, सरलीकरण तथा स्थिरीकरण।
2. सरकार का निर्माण।
3. विरोधी दल के रूप में सरकार पर अंकुश।
4. सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करना।
5. जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता।
6. नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा।
7. समाज में आधुनिकीकरण के प्रसार का कार्य।
8. जनता के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने का कार्य।

भारत में निर्वाचन प्रक्रिया (Electoral Procedure in India)

भारतीय संविधान में निर्वाचन संबंधी प्रावधान अत्यन्त सीमित हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि संविधान के अतिरिक्त कई विधियां भारत में निर्वाचन प्रक्रिया को नियंत्रित तथा विनियमित करती हैं। वस्तुत: संविधान में निर्वाचन की विधि तथा निर्वाचन आयोग की केवल रूपरेखा दी गई है। जिन विधियों का निर्वाचन की प्रक्रिया पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है उनमें निम्नांकित प्रमुख हैं:

1. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1950
2. लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951
3. परिसीमन अधिनियम, 1972
4. राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952
5. निर्वाचक निबंधन नियम, 1960
6. निर्वाचन प्रक्रिया नियम, 1961
7. चुनाव चिन्ह (आरक्षण एवं आवंटन) आदेश, 1968

भारत में निर्वाचन की प्रक्रिया भौगोलिक प्रतिनिधित्व तथा एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की पद्धति पर आधारित है। साथ ही, यहां वयस्क मताधिकार का प्रयोग भी किया जाता है। लोक सभा तथा विधान सभाओं के लिए निर्वाचन प्रत्यक्ष तथा राज्य सभा एवं राज्यों की विधान परिषदों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।

निर्वाचन की तिथियों का निर्धारण निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाता है। आयोग द्वारा यह निर्धारण केन्द्र सरकार अथवा राज्य सरकार

की अनुशंसा पर होता है। हांलाकि निर्वाचन आयोग द्वारा तिथियां निर्धारित की जाती हैं लेकिन संसद के लिए निर्वाचन प्रक्रिया का प्रारंभ राष्ट्रपति तथा किसी राज्य विधानमंडल के निर्वाचन के लिए संबद्ध राज्य के राज्यपाल द्वारा अधिसूचना के बाद ही होता है। प्रत्याशियों द्वारा नामांकन दायर करने के लिए आठ दिनों की समय सीमा निर्धारित है। एक प्रत्याशी एक से अधिक स्थानों से नामांकन अर्जी दायर कर सकता है। नामांकन का कार्य पूरा हो जाने के बाद अधिकारियों द्वारा उनकी जांच की जाती है तथा प्रत्याशियों को अपना नाम वापस लेने के लिए दो दिनों का समय दिया जाता है। नाम वापस लेने की तिथि से चुनाव अभियान के लिए 14 दिनों की अधिकतम अवधि निर्धारित है। उल्लेखनीय है कि चुनाव अभियान मतदान से 48 घंटे पूर्व समाप्त होना अनिवार्य है। प्रत्याशियों के लिए समय-समय पर निर्वाचन आयोग आचार संहिता निर्धारित करता है। आयोग को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 29-क के अधीन राजनीतिक दलों का पंजीकरण राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय दलों के रूप में करने की शक्ति प्रदान की गई है। यह पंजीकरण चुनाव चिन्ह (आरक्षण और आवंटन) आदेश, 1968 के तहत किया जाता है। दिसंबर, 2000 में इस आदेश को संशोधित कर पंजीकरण के नये मानदंडों का निर्धारण किया गया है।

इसके अनुसार, किसी दल को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा लोक सभा अथवा राज्य विधान सभा के चुनाव में किन्हीं चार राज्यों में कुल वैध मतों का 6 प्रतिशत प्राप्त करना अनिवार्य है। साथ ही, किसी राज्य या राज्यों से ऐसे दल को लोक सभा में चार सीटों पर विजय प्राप्त करना भी अनिवार्य है। राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता पाने के लिए दल को तीन राज्यों से लोक सभा में न्यूनतम 2 प्रतिशत सीटों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है।

निर्वाचन आयोग (Election Commission)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 324(1) के तहत स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने के लिए एक निर्वाचन आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है। आयोग में एक अध्यक्ष तथा कई सदस्य होते हैं। सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है। प्रारंभ से ही यह उपबंध किया गया था कि एक से अधिक आयुक्त नियुक्त किये जा सकते हैं। लेकिन सन् 1989 तक आयोग में एक ही आयुक्त था। 1 अक्टूबर, 1993 से निर्वाचन आयोग में एक मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा दो अन्य आयुक्त कार्यरत हैं। निर्वाचन आयुक्तों की सेवा की शर्तों का निर्धारण संविधान में नहीं किया गया है।

मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा शर्तें) अधिनियत 1951 (1993-94 में संशोधित के अंतर्गत उनका कार्यकाल 6 वर्ष का है। लेकिन कोई भी आयुक्त 65 वर्ष की आयु से अधिक अपने पद पर बना नहीं रह सकता है। मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की भांति ही अपने पद से हटाये जाने का प्रावधान है। अन्य आयुक्तों अथवा क्षेत्रीय आयुक्तों को पद से हटाने के लिए मुख्य निर्वाचन आयुक्त की अनुशंसा आवश्यक है।

संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार, मुख्य निर्वाचन आयुक्त ही आयोग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। आयोग राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, संसद तथा राज्य विधान मंडलों के लिए निर्वाचन प्रक्रिया का संचालन करता है। इसके लिए आयोग निम्नांकित कार्यों का निष्पादन करता है :

1. निर्वाचक नामावली तैयार करना।
2. निर्वाचन प्रक्रिया का संचालन।
3. मतगणना और परिणामों की घोषणा।
4. अर्द्ध-न्यायिक कार्य जैसे राष्ट्रपति को इस प्रश्न के बारे में परामर्श देना कि क्या कोई संसद सदस्य अनुच्छेद 103 या राज्य विधान मंडल का सदस्य अनुच्छेद 192 के तहत निरर्हता से ग्रस्त हो गया है?
5. राष्ट्रपति को क्षेत्रीय आयुक्तों की नियुक्ति के संबंध में सलाह देना।
6. विभिन्न राजनीतिक दलों का पंजीकरण तथा उनके लिए चुनाव चिन्हों का आवंटन।
7. निर्वाचन के संबंध में विवाद होने पर पर्यवेक्षकों की नियुक्ति।
8. विशिष्ट कारणों के आधार पर किसी स्थान पर निर्वाचन रद्द करना।
9. चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिए सुझाव देना।
10. राष्ट्रपति द्वारा चुनाव अधिसूचना की घोषणा के बाद चुनाव आयोग मतदान की तिथियों की घोषणा करता है। इस घोषणा में नामजदगी, पत्रों के जाँच की तिथि, चुनाव संघर्ष से नाम वापस लेने की तिथि का उल्लेख होता हैं।

अभी तक भारत में लोकसभा के आम चुनावों और आयोग के चुनौतीपूर्ण कार्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निर्वाचन क्षेत्रों में परिसीमन से लेकर निर्वाचन अधिनिर्णय तक के कार्य को चुनाव आयोग ने सामान्यतया कार्यकुशलता, निष्पक्षता और ईमानदारी

के साथ सम्पन्न किया। आयोग की इस निष्पक्ष भूमिका को भारत ही नहीं अपितु विश्व में भी सराहा गया है।

निर्वाचन प्रक्रिया के अन्तर्गत आयोग की भूमिका अति विशिष्ट है। संविधान तथा मुख्य निर्वाचन आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त (सेवा की शर्तें) अधिनियम में कई विशेष उपबंध कर आयोग की निष्पक्षता तथा स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि मुख्य तथा अन्य निर्वाचन आयुक्तों को उनके पद से हटाने के लिए विशेष प्रावधान हैं। दूसरे शब्दों में, उनका कार्यकाल किसी के प्रसाद पर आधारित नहीं है।

India International Institute of Democracy & Election Management (IIDM)

1. 17 जून 2011 को निर्वाचन आयोग द्वारा स्थापित किया गया है।
2. यह अनुसंधान, प्रशिक्षण तथा अन्य संबंधित कार्यो से सहभागी लोकतंत्र की स्थापना के लिए उत्तरदायी होगा।
3. मुख्य अवयव- (i) प्रशिक्षण एवं क्षमता निर्माण करना। (ii) मतदाताओं की शिक्षा और उनकी सहभागिता में बढोत्तरी करना। (iii) अनुसंधान एवं नवाचार को बढ़ावा देना। (iv) अंतर्राष्ट्रीय परियोजनाओं के माध्यम से तकनीकी सहयोग में बढ़ोत्तरी करना।
4. भारत सरकार के अतिरिक्त इसे कुछ संस्थाओं से भी समर्थन प्राप्त है। जैसे (क) संयुक्त राष्ट्र संघ (ख) राष्ट्रमंडल (ग) International Institute of Democracy and Electoral assis tance.

निर्वाचन आयोग की स्वतंत्रता (Independence of election Commission)

इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण 1975 मामले में न्यायालय ने यह कहा है कि आयोग द्वारा स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन कराना संविधान के मूल ढ़ाँचे का भाग होगा क्योंकि यह लोकतंत्र में आनुवांशिक रूप से शामिल है। इसी पृष्ठभूमि में मूल संविधान में ही आयोग की स्वतंत्रता सुनिश्चित की गई है। साथ ही उसे निरंकुश होने से भी बचाया गया है।

इसके लिए यह प्रावधान है कि मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की भांति ही पद से हटाया जाएगा। दूसरी ओर यद्यपि अन्य निर्वाचन आयुक्तों को मुख्य निर्वाचक आयुक्त के परामर्श पर ही राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकता है। लेकिन मुख्य निर्वाचन आयुक्त स्वत: संज्ञान के आधार पर ऐसा कोई परामर्श नहीं दे सकता। आयोग की स्वतंत्रता उसकी स्थायी प्रकृति से भी सुनिश्चित होती है।

निर्वाचन आयोग के अध्यक्ष को मुख्य आयुक्त कहने का कारण

निर्वचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त उन परिस्थितियों में अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है जब आयोग बहुसदस्यीय हो। अनु. 324(3) के प्रावधानों से स्पष्ट है कि उसकी नियुक्ति आयुक्त के रूप में की जाती है क्योंकि अनु. 324(1) के तहत विभिन्न स्तरों पर निर्वाचनों के संचालन के लिए उसे अधीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण की शक्तियों के साथ अधिकृत किया गया है।

निर्वाचन संबंधी अन्य संवैधानिक उपबंध: अनुच्छेद 325 के तहत धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधार पर किसी व्यक्ति का निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किए जाने के लिए अपात्र न होना और उसके द्वारा किसी विशेष निर्वाचक नामावली में सम्मिलित किये जाने का दावा नहीं किया जाना उपबंधित है। दूसरे शब्दों में, अनुच्छेद 325 भी सभी प्रकार के विभेदीकरण का प्रतिषेध करता है जो कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायक है।

अनुच्छेद 326 में वयस्क मताधिकार के द्वारा मतदान करने का अधिकार नागरिकों को प्रदान किया गया है। दूसरे शब्दों में यदि कोई नागरिक नियत तिथि को 18 वर्ष की आयु का है तथा वह विधि द्वारा निरर्हित नहीं है तो उसे वयस्क मताधिकार प्रदान

निर्वाचन संबंधी सुधार (Electoral Reforms)

भारतीय राजव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण तथा लोकतांत्रिक प्रणाली की सफलता के दृष्टिकोण से निर्वाचन सुधारों की परंपरा का आरंभ किया गया है।

i. वयस्क मताधिकार को प्रभावी बनाने के लिए संविधान के 61वें संशोधन अधिनियम, 1988 द्वारा मत देने की न्यूनतम आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी गई है जो 28 मार्च, 1989 से प्रभावी है।

ii. इसके उपरांत, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियमों में भी आवश्यक संशोधन किये गये।

iii. 1 अगस्त, 1996 से निर्वाचन संबंधी कानूनों में व्यापक परिवर्तन किये गये हैं। लोक प्रतिनिधित्व (संशोधन) अधिनियम, 1996 के अनुसार, राष्ट्रीय सम्मान कानून, 1971 की धारा 3 के तहत अयोग्य करार दिये जाने के उपरांत चंनाव में भाग लेने पर प्रतिबंध लगाने का प्रावधान किया गया है। इस धारा के अधीन दंडित होने पर चुनाव में भाग लेने से 6 वर्ष की अवधि तक प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

iv. निर्वाचन सुधारों के तहत जमानत राशि में वृद्धि कर अनावश्यक रूप से चुनाव में भाग लेने वाले प्रत्याशियों पर रोक लगाने की व्यवस्था भी की गई है। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम में संशोधन करके सरकार ने यह चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों की जमानत राशि वर्ष 2010 में बढ़ा दी है लोक सभा चुनाव के उम्मीदवारों को 25 हजार रूपए तथा विधान सभा चुनाव में उम्मीदवारों को 10 हजार की धनराशि अब जमानत के तौर पर जमा करनी होगी अनुसूचित जाति और जनजाति के उम्मीदवारों के मामले में यह राशि आधी होगी अभी तक लोक सभा चुनावों के लिए 10 हजार तथा विधान सभा चुनावों के लिए 5 हजार रूपए की धनराशि जमानत के तौर पर सामान्य वर्ग के उम्मीदवारों को जमा करनी पड़ती थी जमानत राशि में वृद्धि से विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में उम्मीदवारों की संख्या पर कुछ अंकुश लग सकेगा।

v. राष्ट्रीय तथा राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों के लिए एक प्रस्तावकर्ता तथा निर्दलीय होने की स्थिति में प्रस्तावकर्ता की संख्या दस निर्धारित है। राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के चुनाव के संदर्भ में प्रस्तावकर्ता तथा समर्थनकर्ता की संख्या 5 से बढ़ाकर 20 कर दी गई है।

vi. नाम वापस लेने की तिथि से मतदान की तिथि तक चुनाव अभियान की अवधि 20 दिनों से घटाकर 14 दिन कर दी गई है।

vii. पूर्व में किसी प्रत्याशी के निधन पर चुनाव को रद्द किये जाने का प्रावधान था लेकिन वर्तमान में इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया है। राष्ट्रीय राजनीतिक दलों को एक विकल्प के रूप में यह छूट दी गई है कि उनके प्रत्याशी के निधन के उपरांत सात दिनों की अवधि में वे नये प्रत्याशी के नाम की घोषणा कर सकते हैं लेकिन इस संबंध में निर्वाचन आयोग द्वारा अधिसूचना जारी किया जाना अनिवार्य है।

viii. निर्वाचन के दौरान आपराधिक गतिविधियों पर अंकुश रखने के उद्देश्य से नये प्रावधानों के तहत यह व्यवस्था की गई है कि किसी अस्त्र-शस्त्र के साथ मतदान केन्द्र के आस-पास भ्रमण करना अस्त्र-शस्त्र कानून, 1959 का उल्लंघन माना जायेगा तथा इसके तहत गिरफ्तार होने पर दो वर्ष के सशस्त्र कारावास अथवा/और जुर्माने का प्रावधान है।

ix. मतदान के 48 घंटे पूर्व उस क्षेत्र में नशीले पेय पदार्थों की बिक्री पर पूर्ण प्रतिबंध है।

x. इलैक्ट्रोनिक वोटिंग मशीनों का प्रयोग।

xi. चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों की अपनी आपराधिक, वित्तीय, शैक्षिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करना होगा।

➤ चुनावी खर्च की सीमा में वृद्धि

लोक सभा एवं कुछेक विधान सभाओं के अप्रैल-मई 2014 के चुनावों से पूर्व सरकार ने इन चुनावों में उम्मीदवारों द्वारा किए जा सकने वाले खर्च की अधिकतम सीमा में वृद्धि **फरवरी 2014** में की थी। मतदाताओं व मतदान केन्द्रों की संख्या के साथ-साथ महँगाई में वृद्धि के चलते चुनावी खर्च की सीमा में वृद्धि का प्रस्ताव चुनाव आयोग ने किया था, जिसे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की **28 फरवरी, 2014** की बैठक में मंजूरी प्रदान की गई। यथा–

सदन	वर्तमान सीमा (2014) रु0 लाख	पहले की सीमा (2011) रु0 लाख
• लोकसभा (बड़े राज्य)	70	40
• लोकसभा (छोटे राज्य)	54	40
• विधान सभा	28	14
• विधान सभा (पूर्वोत्तर एवं पर्वतीय)	20	08

ध्यातव्य है कि **केन्द्रशासित क्षेत्रों में दिल्ली में लोकसभा चुनावी खर्च की अधिकतम सीमा जहाँ रु0 70 लाख होगी,** वहीं अन्य केन्द्रशासित क्षेत्रों में यह रु0 54-54 लाख निर्धारित की गई है। **दिल्ली तथा पुदुचेरी में विधान सभाई** चुनावों के लिए चुनावी खर्च की अधिकतम **सीमा क्रमशः रु0 28 लाख व रु0 20 लाख** अब की गई है।

xii. मीडिया एवं अन्य एजेंसियों द्वारा चुनाव से पूर्व कराए जाने वाले ओपीनियन पोल व चुनावोपरांत कराए जाने वाले एक्जिट पोल अब चुनावों को प्रभावित नहीं कर पाएंगे ऐसे सर्वेक्षणों के प्रकाशन एवं प्रसारण के सम्बन्ध में कड़े दिशा-निर्देश चुनाव आयोग ने 15वीं लोक सभा के लिए चुनाव कार्यक्रम की घोषणा से दो सप्ताह पूर्व, 17 फरवरी, 2009 को जारी किए थे, इनके तहत् कई चरणों में लोक सभा/ विधान सभा चुनाव होन की स्थिति में ओपीनियन/एक्जिट पोल प्रकाशन एवं प्रसारण पर प्रतिबन्ध पहले चरण के मतदान समाप्ति के 48 घण्टे पूर्व प्रारम्भ होगा तथा अंतिम चरण के मतदान की समाप्ति तक यह जारी रहेगा। एक ही चरण के मतदान की स्थिति में भी यह प्रतिबन्ध मतदान समाप्त होने के लिए निर्धारित समय से 48 घण्टे पूर्व लागू होगा तथा मतदान की समाप्ति तक लगू रहेगा।

चुनाव आयोग के यह दिशा-निर्देश प्रिन्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सहित सभी तरह के मीडिया पर लागू होंगे। ओपीनियन पोल वे एक्जिट पोल के परिणामों के प्रकाशन/प्रसारण के सम्बन्ध में ऐसे ही दिशा-निर्देश चुनाव आयोग ने पहले 20 जनवरी, 1998 को जारी किए

थे जिनमें इनके प्रकाशन एवं प्रसारण को मतदान से पहले प्रचार बंद होने के समय से मतदान समाप्त होने के आधे घंण्टे बाद तक के लिए प्रतिबन्धित किया गया था।

चुनाव आयोग के उन दिशा-निर्देशों को उच्चतम उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई थी न्यायालय में इस मामले पर सुनवाई के दौरान ही चुनाव आयोग ने अपने दिशा-निर्देश सितम्बर 1999 में वापस ले लिए थे।

चुनाव सुधार से संबंधित समितियां (Committees on Electoral Reforms)

1. **दिनेश गोस्वामी समिति - 1990 में गठितः अनुशंसाएं**
   A. मतदाता पहचान पत्र का निर्माण।
   B. बूथ लूटने और चुनाव में धांधली करने वालों को सजा देने का अधिकार सीधे चुनाव आयोग को सौंपा जाये।
   C. ऐसे उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने से रोका जाये जो जाति,धर्म, भाषा या प्रजाति के नाम पर समुदाय में घृणा/उत्पन्न करते है।
2. **इंद्रजीत गुप्ता समिति - 1998ः-** इसने State Funding का सुझाव दिया अर्थात चुनावी खर्चे का वहन सरकार द्वारा किया जाना चाहिए।

चुनाव सुधार हेतु सुझाव

1. नकारात्मक वोटिंग का अधिकार हो।
2. अपराधियों को चुनाव लड़ने से रोकने के लिए और सख्त प्रावधान किये जाये।
3. राजनीतिक दलों को प्रायः चन्दे का रिकार्ड रखना चाहिए।
4. मोबाइल वोटिंग के द्वारा ज्यादा से ज्यादा मतदाता तक पहुंच बनाकर मतदान में जनता की भागीदारी बढ़ाई जाये।
5. समाज के माध्यम से जन चेतना द्वारा जनता को अपने कर्तव्यों के प्रति जागृत किया जाये।

दल-बदल कानून (Anti-Defection Law)

सन् 1985 में संविधान के 52वें संशोधन के तहत दल-बदल को गैर-कानूनी कहा गया है। इस संशोधन के द्वारा संविधान में दसवीं अनुसूची का समावेश किया गया है। संशोधन अधिनियम के द्वारा अनु. 101, 102, 190 तथा 191 में संशोधन किये गये हैं। इसके अनुसार, दल परिवर्तन करने वाले सदस्यों को अयोग्य घोषित किये जाने का प्रावधान किया गया है। दल-बदल कानून निम्नांकित स्थितियों में लागू नहीं होता है :

- विलय की स्थिति में
- विभाजन की स्थिति में।
- संसद अथवा राज्य विधानमंडल के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सभापति, उपसभापति द्वारा स्वयं को निष्पक्ष बनाने के लिए त्याग पत्र दिये जाने पर।

सदन का अध्यक्ष या सभापति दल परिवर्तन से संबंधित विवादों पर अंतिम निर्णय देता है तथा इन विवादों को न्यायालय में नहीं लाया जा सकता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने सन् 1993 में यह स्पष्ट किया है कि सदन के अध्यक्ष या सभापति के निर्णय की उच्चतम या उच्च न्यायालयों में पुनर्समीक्षा की जा सकती है।

चुनाव आचार संहिता (Electoral Code of Conduct)

यह सभी राजनीतिक दलों को समान अवसर प्रदान करता है जिससे सत्ताधारी दल को सरकार में रहने का लाभ न मिल पाये।

- जिस दिन से चुनाव आयोग चुनावों की तिथि की घोषणा करता है उसी दिन से चुनाव आचार संहिता लागू हो जाती है। इस दौरान प्रधानमंत्री को छोड़कर कोई अन्यमंत्री सरकारी सुविधाओं (गाड़ी) का प्रयोग नहीं कर सकता।
- किसी सरकारी कार्यक्रम का उद्घाटन नहीं कर सकते।
- किसी नये कार्यक्रमों की घोषणा नहीं की जा सकती।
- प्रशासनिक अधिकारियों के स्थानान्तरण का अधिकार चुनाव आयोग को प्राप्त हो जाता है।

इलक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीनों के लाभ

1. यह मतदान केन्द्र पर कब्जा एवं मतदान में धांधली को हतोस्ताहित करता है।
2. यह अवैध मतों की घटना को समाप्त करता है।
3. इसके द्वारा निर्धारित समय में अधिक मतदाता अपने मत डाल सकते है। इसके द्वारा मतदान केन्द्र को चालित भी बनाया जा सकता है इन दो बातों के कारण किसी निर्वाचन क्षेत्र में कम मतदान केन्द्रों की जरूरत होती है।
4. निर्वाचन अधिकारियों की जरूरत कम हो जाती है, जिससे निर्वाचन के संचालन का खर्च कम हो जाता है।
5. यह अनेक बार प्रयोग में लाया जा सकता है यह कागज एवं बैलेट बॉक्स के प्रयोग को समाप्त करता है और इसे रखने के लिए कम जगह की जरूरत पड़ती है। इस प्रकार यह लम्बी अवधि में सस्ता पड़ता है।

मतदान व्यवहार की प्रमुख प्रवृत्तियाँ या भारत में मतदान को प्रभावित करने वाले तत्व

भारत में सामान्यतया निम्नलिखत तत्व मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं-

1. **जातिवाद**-भारत में जातिवाद मतदान को प्रभावित करने वाला प्रमुख तत्व रहा है। बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, महाराष्ट्र आदि राज्यों में जाति तत्व अत्यधिक रूप में विद्यमान है। निर्वाचन के समय क्षेत्र विशिष्ट में उम्मीदवार के चयन का आधार जाति तत्व होता है। जातिवाद की राजनीति को पिछड़ी जातियों की आरक्षण की राजनीति ने एक प्रभावी तत्व बना दिया है।
2. **आर्थिक तत्व**- मतदाताओं की आर्थिक स्थिति मतदान व्यवहार को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करती है। यदि मतदाता की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है तो साधारणतया वह सत्तारूढ़ दल को ही मत देता है। यदि देश में महँगाई, सूखा, वस्तुओं की कमी आदि रहती है तो मतदाता विरोधी दलों को ही अधिक मत देते हैं। भारत के आम चुनावों में बढ़ती हुई महँगाई भी कम और अधिक प्रत्येक बार चुनावी मुद्दा बनती है।
3. **नेतृत्व**- प्रथम तीन आम चुनावों में कांग्रेस की सफलता का एक मुख्य कारण प. जवाहर लाल नेहरू का प्रभावशाली नेतृत्व एवं व्यक्तित्व था। इसी प्रकार इन्दिरा गाँधी, राजीव गाँधी, अटल बिहारी वाजपेयी, सोनिया गाँधी इत्यादि प्रमुख व्यक्तियों एवं नेतृतव की बदौलत इनसे संबंधित दलों की सरकार का निर्माण हुआ।
4. **स्थिर और सुदृढ़ सरकार की इच्छा** भारतीय मतदाता साधारणतया केन्द्र और राज्यों में स्थिर और सुदृढ़ शासन चाहते हैं। हाल ही उत्तर प्रदेश में हुए निर्वाचन में 16 वर्षों में चली आ रही अस्थिरता के परेशान मतदाताओं के लिए एवं सुदृढ़ शासन हेतु बहुजन समाज पार्टी के पक्ष में मतदान किया।

इसके अतिरिक्त भ्रष्टाचार, दलों की विचारधारा, कार्यक्रम और नीतियाँ बाध्य एवं विशेष घटनाओं का प्रभाव, मुस्लिम मतदाताओं का मत का व्यवहार इत्यादि तत्व भी मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

चुनाव में समस्या (Problem in Election)

भारत में वर्तमान समय में चुनाव निम्न समस्याओं से प्रभावित है-

1. भ्रष्टाचार
2. अपराधीकरण
3. जातिवाद
4. सांप्रदायिकता
5. बाहुबल की शक्ति के प्रयोग की समस्या।
6. धन बल का प्रयोग
7. चुनाव के उम्मीदवारों के चयन में मतदाताओं की कोई भूमिका नहीं होती बल्कि इनका चयन दलों के द्वारा होता है।
8. दल बदल की समस्या।
9 बूथ कैप्चरिंग।
10. त्रुटिपूर्ण चुनावी लिस्ट और मतदाता पहचान पत्र।
11. चुनावी प्रक्रिया में स्थानीय शासन की नकारात्मक भागीदारी।
12. वोटों की गणना में त्रुटि।
13. सीमाओं में त्रुटि।

➢ नकारात्मक मतदान का अधिकार (NOTA)

सर्वोच्च न्यायालय ने **27 सितम्बर, 2013** को एक ऐतिहासिक फैसले में यह व्यवस्था दी कि **किसी भी निर्वाचन क्षेत्र में इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन** (EVM) **पर नकारात्मक मतदान का बटन दबाकर सभी प्रत्याशियों को अस्वीकार करने का मतदाताओं को अधिकार है।**

सर्वोच्च न्यायालय ने फैसले में कहा कि **मतदान करना किसी व्यक्ति का अभिव्यक्ति के मूल अधिकार का हिस्सा है।** यह अधिकार संविधान के **अनुच्छेद 19(1) (क)** में प्रदान किया गया है। इसलिए मतदाता को नकारात्मक मतदान का अधिकार देना आवश्यक है, नहीं तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा।

इस फैसले के बाद भारत के निर्वाचन आयोग ने देश की **16वीं लोकसभा के लिए** 7 अप्रैल-12 मई, 2014 के बीच हुए **नौ चरणों** के मतदान के दौरान **पहली बार ईवीएम एवं बैलट पेपर पर मतदाताओं को नकारात्मक मतदान के लिए 'उपरोक्त में से कोई नहीं' (NOTA)** का विकल्प उपलब्ध कराया।

उल्लेखनीय है कि भारत के अलावा निम्नलिखित प्रमुख देशों में नकारात्मक मतदान की अवधारणा लागू है– **फ्रांस, बेल्जियम, ब्राजील, ग्रीस, यूक्रेन, चिली, बांग्लादेश, स्टेट ऑफ नवादा, फिनलैंड, अमेरिका, कोलंबिया, स्पेन** और **स्वीडन।**

➢ सोशल मीडिया हेतु E.C. के दिशा-निर्देश

सोशल मीडिया पर चुनाव प्रचार से जुड़ी कोई भी सामग्री अपलोड करने से पहले **निर्वाचन आयोग (E.C.)** से पूर्व अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में आवश्यक दिशा-निर्देश **19 मार्च, 2014** को आयोग ने जारी किए। यथा–

- **इंटरनेट या इंटरनेट आधारित सोशल मीडिया पर** राजनीतिक विज्ञापन के लिए जिला एवं राज्य स्तर पर मीडिया प्रमाणन एवं निगरानी समिति से **पूर्व प्रमाणन** प्राप्त करना आवश्यक होगा।
- सशोल मीडिया में चुनाव अभियान के दौरान किसी प्रकार के विज्ञापन पर होने वाले **खर्च को चुनाव खर्च के ब्यौरे में** सम्मिलित किया जाएगा।
- सोशल नेटवर्किंग साइट्स को राजनीतिक दलों और उम्मीदवारों द्वारा विज्ञापनों पर किए जाने वाले खर्च का लेखा-जोखा रखना होगा और उसे निर्वाचन आयोग द्वारा मांगे जाने पर प्रस्तुत करना होगा।
- **सोशल नेटवर्किंग साइटस** को यह सुनिश्चित करना होगा कि चुनाव प्रक्रिया के दौरान उनकी साइट पर प्रदर्शित कोई भी सामग्री गैर-कानूनी या दुर्भावनापूर्ण या चुनाव आचार संहिता का उल्लंघन करने वाली न हो।
- उम्मीदवारों को नामांकन पत्र जमा करते समय फार्म **संख्या-26** शपथ पत्र के रूप में देना अनिवार्य होगा, जिसमें उम्मीदवार द्वारा **टेलीफोन नंबर, ई-मेल आईडी** तथा **सोशल मीडिया आकउंट्स** की जानकारी दी जाती है।

15. स्थानीय शासन

स्थानीय स्वशासन से तात्पर्य शासन की उस प्रणाली से हैं, जिसमें निचले स्तर पर लोगों को भागीदार बनाकर लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को सुनिश्चित किया जाता है तथा लोगों को अपनी समस्यायें स्वयं हल करने के लिए सक्षम बनाया जाता हैं।

परिचय (Introduction)

स्थानीय स्तर की समस्या का समाधान स्थानीय स्तर पर स्थानीय व्यक्तियों के प्रबंधन में किया जाय। इसे ही लार्ड रिपन ने स्थानीय प्रशासन का मूल भाव कहा था। इस प्रकार स्थानीय स्तर की निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय लोगों की सहभागिता को सुनिश्चित किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार, सामुदायिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो जनता के प्रयासों को सरकारी सत्ता के प्रयासों से संबद्ध करती है, ताकि समुदायों की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दशा उन्नत की जा सके। साथ ही, इन समुदायों का एक राष्ट्र के रूप में गठन किया जा सके और उन्हें राष्ट्रीय प्रगति में पूर्णतया योगदान देने के योग्य बनाया जा सके। ग्रामीणों को उत्पादक कार्यों में लगाने तथा शिक्षा प्रसार एवं नई प्रविधियों का ज्ञान कराने के लिए सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की नितांत आवश्यकता है। व्यापक स्तर पर सामुदायिक विकास कार्यक्रमों एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवा का मूल उद्देश्य ग्राम्य जीवन का सर्वांगीण विकास करना है। इसके लिए इन कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के माध्यम से ग्रामीणों की मानसिकता में आमूल परिवर्तन करने का प्रयास भी किया जाता है।

संवैधानिक रूप से सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का मूल उद्देश्य आदर्श कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। दूसरे शब्दों में, सामुदायिक विकास वस्तुतः जनसमुदाय और सरकार की विकासगत तथा कल्याणकारी क्रियाओं का समन्वय है। अतः स्पष्ट है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक, संस्थात्मक एवं आर्थिक परिवर्तन सम्मिलित होते हैं।

भारत में ग्रामोन्नति के लिए स्वतंत्रता के पूर्व भी विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम अपनाये गये थे। सन् 1920 में गांवों का पुनर्निर्माण करने के लिए महात्मा गांधी द्वारा वर्धा शिक्षा कार्यक्रम क्रियान्वित किया गया था। प्रौढ़ शिक्षा, अस्पृश्यता निवारण आदि इस कार्यक्रम के अन्य महत्वपूर्ण पहलू थे। इसके उपरांत सन् 1921 में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने एक ग्रामीण विकास कार्यक्रम के माध्यम से कृषि, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य, मनोरंजन एवं शिक्षा के विकास पर बल दिया। इसी प्रकार, उत्तर प्रदेश में सन् 1948 में एक ग्रामीण विकास कार्यक्रम क्रियान्वित किया गया था। अधिकारिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत 2 अक्टूबर, 1952 को राजस्थान के नागौर जिले में सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम को ही वस्तुतः भारत में पंचायती राज व्यवस्था की बुनियाद कहा जाता है। सन् 1952 में प्रारंभ किये गये इस कार्यक्रम के उद्देश्यों में निम्नांकित प्रमुख थे :

1. ग्रामीण जनसंख्या में प्रगतिशील दृष्टिकोण सृजित करना
2. सहकारी कार्य पर विशेष बल
3. उत्पादन में वृद्धि का सुनिश्चितीकरण
4. रोजगार के अतिरिक्त अवसरों का सृजन

अक्टूबर 1953 से इस कार्यक्रम के साथ एक राष्ट्रीय विस्तार सेवा नामक कार्यक्रम भी संबद्ध कर दिया गया। राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम की अध्यक्षता बलवंत राय मेहता द्वारा की गई थी।

बलवंत राय मेहता समिति 1957 (Balwant Rai Mehta Committee)

सामुदायिक विकास की प्रक्रिया को त्वरित गति प्रदान करने के मूल उद्देश्य से बलवंत राय मेहता समिति ने लोकतंत्रात्मक विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत पर भारत में पंचायती राज व्यवस्था स्थापित करने का महत्वपूर्ण सुझाव दिया। समिति ने त्रि-स्तरीय प्रणाली के तहत ग्राम स्तर पर पंचायत, प्रखंड स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर पर जिला परिषद के गठन का प्रस्ताव किया था। प्रत्येक स्तर पर पंचायतों को अप्रत्यक्ष निर्वाचन के माध्यम से संबद्ध करने का प्रावधान किया गया था। पंचायत समिति का गठन सभी ग्राम पंचायतों के सदस्यों से किया जाना था तथा समिति के अध्यक्ष का चुनाव इन्हीं सदस्यों में से किया जाना था। इसी प्रकार, सभी पंचायत समिति के सदस्यों से जिला परिषद का गठन तथा इन्हीं सदस्यों द्वारा अपने में से परिषद के अध्यक्ष का चुनाव किये जाने

का प्रावधान था। सन् 1958 में राष्ट्रीय विकास परिषद ने बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों को लागू किये जाने का सुझाव दिया था। इन आधारों पर पंचायती राज प्रणाली के क्रियान्वयन की नीति निर्धारित की गई। पंचायती राज व्यवस्था के क्रियान्वयन के उपरांत उसकी सफलता के मार्ग में आने वाले व्यवधानों की पहचान की गई। इन व्यवधानों में निम्नांकित प्रमुख थे :

1. पर्याप्त धनराशि का अभाव।
2. राज्य सरकार पर पंचायतों की अत्यधिक वित्तीय निर्भरता।
3. विभिन्न सरकारी स्तरों तथा पंचायतों के मध्य समन्वय की कमी।
4. पंचायती राज संस्थाओं पर उच्च वर्गों तथा जमींदारों का वर्चस्व।
5. साक्षरता के प्रचार-प्रसार में कमी।

संथानम समिति 1963 (Santhanam Committee)

इस समिति के गठन का मूल उद्देश्य पंचायती राजव्यवस्था के तहत वित्त संबंधी प्रावधानों को सुदृढ़ बनाना था। इस समिति ने निम्न सुझाव दिए-

1. विशेष प्रकार के कर जैसे भूराजस्व और आवास कर आरोपित करने की शक्ति पंचायतों को दी जानी चाहिए।
2. एक पंचायत वित्त निगम की स्थापना की जानी चाहिए।

अशोक मेहता समिति (1977) (Ashok Mehta Committee)

दिसम्बर 1977 में पंचायती राज प्रणाली को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से अशोक मेहता समिति का गठन किया गया था। समिति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अब तक पंचायती राज संस्थाओं द्वारा किये गये कृत्यों का पुनरीक्षण था। 1978 में दी गई अपनी रिपोर्ट में समिति ने द्वि-स्तरीय प्रणाली के क्रियान्वयन का सुझाव दिया। प्रथम स्तर पर मंडल पंचायत (ग्राम पंचायत तथा पंचायत समिति के एकीकरण से निर्मित) तथा द्वितीय स्तर पर जिला परिषद के गठन का सुझाव दिया।

15-सदस्यीय मंडल पंचायत के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से किये जाने का परामर्श दिया गया था। जबकि जिला परिषद के सदस्यों का निर्वाचन निर्वाचन क्षेत्रों के निर्धारण के उपरांत किया जाना था। समिति ने पंचायतों की राज्य सरकार पर वित्तीय निर्भरता में कमी करने का महत्वपूर्ण सुझाव दिया तथा पंचायतों को कर अधिरोपित करने के अधिकार प्रदान करने की भी अनुशंसा की। साथ ही, पंचायती राज संस्थाओं की गतिविधियों में राजनीतिक हस्तक्षेप को कम करने के भी सुझाव दिये गये। सरकार द्वारा अशोक मेहता समिति की अनुशंसाओं को अस्वीकार कर दिये जाने से बलवंत राय मेहता समिति के सुझावों के आधार पर ही पंचायती राज संस्थाएं कार्य करती रहीं।

एल.एम. सिंघवी समिति (1986) (L.M. Singhvi Committee)

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देने के सन्दर्भ में इस समिति का गठन किया था। इस समिति ने निम्न सुझाव दिए।

1. ग्राम सभा को लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की इकाई के रूप में स्थापित करना।
2. पंचायतों के निर्वाचन में राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप में रोक।
3. पंचायती राजव्यवस्था को संवैधानिक आधार प्रदान करना।

उपरोक्त सिफारिशों के सन्दर्भ में 1989 में 64वें संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया जो पास नहीं हो सका तदुपरांत इसे 1991 में 73वें संविधान संशोधन के रूप में प्रस्तुत किया गया जो 1992 में पारित किया गया तथा यह 24 अप्रैल 1993 से प्रभावी है।

पंचायती राज की नई प्रणाली (New System of Panchayati Raj)

संविधान राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अंतर्गत अनुच्छेद 40 के प्रावधानों में पंचायतों के गठन के संबंध में उपबंध किये गये हैं। इन प्रावधानों के आधार पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए पंचायतों का गठन अनिवार्य है। दूसरी ओर, विभिन्न केन्द्रीय एवं राज्य-स्तरीय कार्यक्रमों के क्रियान्वयन तथा ग्रामीण विकास के लिए भी पंचायती राज संस्थाओं का विशेष महत्व है।

इस पृष्ठभूमि में संविधान के 73वें संशोधन अधिनियम, 1992 तथा 74वें संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा भाग 9 (अनु. 243 से 243 ण) एवं भाग 9-क (अनु. 243 त से 243 य) अन्त:स्थापित किया गया जिसके माध्यम से क्रमश: पंचायती राज एवं

नगरपालिकाओं की नई प्रणाली का प्रारंभ किया गया है। 73वें संशोधन अधिनियम में पंचायतों को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई है तथा अनुपूरक विधि निर्माण के लिए राज्यों को दिशा निर्देश भी दिये गये हैं।

चूंकि नागालैंड, मेघालय और मिजोरम में संविधान की पांचवीं एवं छठी अनुसूची के अधीन समानांतर संस्थाएं कार्यरत हैं अतः भाग 9 के प्रावधान इन राज्यों पर लागू नहीं होते हैं। इसी प्रकार, मणिपुर राज्य में ऐसे पर्वतीय क्षेत्र, जिनके लिए तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन जिला परिषदें विद्यमान हैं, में भी ये प्रावधान लागू नहीं किये जायेंगे। अनुच्छेद 243-ड. में यह भी उल्लिखित है कि कोई बात जिला स्तर पर पंचायतों के संबंध में पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग जिले के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में लागू नहीं होंगी जहां दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद कार्यरत है।

73वें संशोधन के अनुसार, वर्तमान पंचायती राज प्रणाली त्रि-स्तरीय है। प्रथम स्तर अथवा ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, मध्यवर्ती स्तर अथवा द्वितीय स्तर पर पंचायत समिति तथा जिला स्तर अथवा तृतीय स्तर पर जिला परिषद कार्यरत है। जिन राज्यों की जनसंख्या 20 लाख या उससे अधिक है उन्हीं राज्यों में मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों के गठन का प्रावधान है।

किसी गांव की निर्वाचक नामावली में जो नाम दर्ज होते हैं उन व्यक्तियों के समूह को अनुच्छेद 243-क में ग्राम सभा की संज्ञा दी गई है। ग्राम पंचायत वस्तुतः गांव की निर्वाचित कार्यपालिका है जिसके सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से होता है। अनुच्छेद 243-ग में राज्यों द्वारा बनाई गई विधियों में निम्नलिखित के प्रतिनिधित्व का उपबंध किया गया है:

1. ग्राम पंचायत का अध्यक्ष मध्यवर्ती स्तर के पंचायत का सदस्य होगा तथा यदि किसी राज्य में जहां मध्यवर्ती स्तर अस्तित्व में नहीं है, वहां जिला पंचायत का सदस्य होगा।
2. मध्यवर्ती स्तर पर कार्यरत पंचायत का अध्यक्ष जिला पंचायत का सदस्य होगा।
3. उस राज्य के लोक सभा सदस्य तथा विधान सभा सदस्य अपने संबद्ध निर्वाचन क्षेत्रों में जिला एवं मध्यवर्ती स्तर के पंचायतों के सदस्य होंगे।
4. राज्य के राज्य सभा सदस्य तथा विधान परिषद के सदस्य जिला और मध्यवर्ती स्तर के पंचायतों के सदस्य होंगे।

नई प्रणाली में पंचायती राज व्यवस्था के लिए आरक्षण की नीति को अत्यन्त व्यापक बनाया गया है। पंचायतों में आरक्षण व्यवस्था अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के अतिरिक्त महिलाओं तथा पिछड़े वर्गों के लिए भी की जा सकती है।

अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण उनकी जनसंख्या के अनुपात में होता है जिनमें से 1/3 आरक्षित प्रवर्ग की महिलाओं के लिए आरक्षित किया जाता है। प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन से भरे जाने वाले कुल स्थानों में से कम से कम 1/3 स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होते हैं।

इस संबंध में उल्लेखनीय है कि आरक्षण की यह अवधि अनुच्छेद 334 के प्रावधानों के अनुरूप निर्धारित है जो सन् 2026 तक प्रभावी होगी। पंचायतों के निर्वाचन की अवधि के संबंध में उल्लेखनीय है कि नई पंचायतों का गठन विद्यमान पंचायत की अवधि समाप्त होने के पूर्व कर लया जाता है। यदि किसी पंचायत का विघटन उसके कार्यकाल के पूर्व हो जाये तो ऐसी स्थिति में निर्वाचन उसके विघटन की तिथि से 6 माह के अन्दर पूरा करना अनिवार्य है। विघटन के उपरांत गठित पंचायत शेष अवधि के लिए ही कार्य करती है।

अनुच्छेद 243-ट में पंचायतों के निर्वाचन के लिए एक राज्य निर्चाचन आयोग के गठन का प्रावधान है। इस आयोग की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए यह उपबंध किया गया है कि राज्य निर्वाचन आयुक्त को उसी पद्धति द्वारा पद से हटाया जा सकता है जिस विधि से उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को हटाये जाने की व्यवस्था है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 329 के अनुसार, चुनाव प्रक्रिया के प्रारंभ हो जाने के साथ ही न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। पंचायतों के कार्यों एवं शक्तियों के संदर्भ में अनुच्छेद 243 छ एवं 243 ज के अनुसार, राज्य विधानमंडल को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह पंचायतों को ऐसी शक्तियां और प्राधिकार दे जो उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने में समर्थ बनाने के लिए आवश्यक हो। ये शक्तियां निम्नलिखित के संबंध में हो सकती हैं :

1. आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय के लिए योजनाएं तैयार करना।
2. आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय संबंधी योजनाओं का क्रियान्वयन।
3. 11वीं अनुसूची में सूचीबद्ध विषय।

इनके अतिरिक्त, राज्य विधानमंडल पंचायतों को ऐसी शक्तियां भी प्रदान कर सकती है जिससे वे कर, शुल्क एवं पथ कर वसूल

करने एवं इकठा करने में समर्थ हो सके। राज्य अपने द्वारा संगृहीत ऐसे कर एवं शुल्क के भाग को पंचायतों को सौंप भी सकता है। साथ ही, राज्य की संचित निधि से पंचायतों को अनुदान भी प्रदान किये जा सकते हैं।

संविधान के 73वें संशोधन के लागू होने की तिथि से एक वर्ष के भीतर और उसके पश्चात प्रत्येक पांच वर्ष के बाद राज्य सरकार द्वारा पंचायतों की वित्तीय समीक्षा के लिए एक पृथक वित्त आयोग की स्थापना का प्रावधान किया गया है। यह आयोग पंचायतों की वित्तीय स्थिति में सुधार लाने, पंचायतों को प्रदान किये जाने वाले करों, शुल्कों तथा फीसों को दर्शाने तथा पंचायतों को अनुदान दिये जाने संबंधी सुझाव देने का महत्वपूर्ण कार्य भी करता है। पंचायतों के वित्त के स्रोतों के संबंध में उल्लेखनीय है कि राज्य विधि द्वारा अनुज्ञात कर अधिरोपित कर सकता है। साथ ही, राज्य सरकार पथकर, संगृहीत कर एवं शुल्क आदि से प्राप्त धनराशि के भाग को पंचायतों को सौंपने का प्रावधान है। इनके अतिरिक्त अनुदान के साथ-साथ केन्द्र या राज्य सरकार द्वारा विकास कार्यक्रमों के लिए आवंटित निधि भी पंचायतों के वित्त का एक महत्वपूर्ण साधन है।

सहकारी समितियों का गठनः- जनवरी, 2012 में 97वें संविधान संशोधन अधिनियम 2011 को अधिसूचित किया गया। इसके द्वारा देश में सहकारी समितियों (Co–operative societies) की स्थापना को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया। इस संविधान संशोधन द्वारा मूल अधिकार के अनुच्छेद 19(1)(c) के अंतर्गत नागरिकों को संगम या संघ बनाने के साथ-साथ सहकारी समितियों की स्थापना करने की भी स्वतंत्रता प्रदान की गई है। इस प्रकार सहकारी समितियों की स्थापना करना एक मूल अधिकार बन गया है। इस संविधान संशोधन के द्वारा राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अंतर्गत अनुच्छेद 43B को जोड़ा गया है जिसके तहत राज्य सहकारी समितियों की स्थापना को प्रोत्साहन देगा।

इसके अतिरिक्त इस संविधान संशोधन द्वारा भाग 9ख-सहकारी समितियाँ भी जोड़ा गया है। इसके अंतर्गत संविधान में अनुच्छेद 243यज से 243यन (Art 243ZH–243ZT) का समावेश किया गया है। 97वें संविधान संशोधन द्वारा सहकारी समितियों की स्वायत्तता एवं प्रजातांत्रिक कार्यपद्धति और उनके सदस्यों एवं अन्य हितधारकों के प्रति प्रबंधन का उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित प्रावधान किए गए हैं-

1. एक सहकारी समिति के निदेशकों की संख्या 21 से अधिक नहीं हो सकती है।
2. सहकारी समिति के बोर्ड के निर्वाचित सदस्यों और इसके पदाधिकारियों का कार्यकाल 5 वर्ष नियत किया गया है। पदाधिकारियों के चुनाव के संचालन करने हेतु एक प्राधिकारी या निकाय का प्रावधान किया गया है।
3. सहकारी समितियों के निदेशक मंडल को अधिकतम 6 माह की अवधि के लिए ही निलंबित किया जा सकेगा।
4. सहकारी समितियों का स्वतंत्र आडिट कराया जाएगा।
5. प्रत्येक सहकारी के बोर्ड में अनुसूचित जाति या जनजाति के लिए 1 स्थान तथा 2 स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे।
6. सहकारी समितियों के सन्दर्भ में सूचना का अधिकार अनुमन्य होगा।

नगरपालिकाएं (Municipalities)

संविधान के भाग 9-क में नगरीय-स्तर पर स्थानीय शासन की वृहद व्याख्या की गई है। इस भाग का समावेश 74वें संशोधन अधिनियम, 1992 द्वारा किया गया है। संविधान में अन्तःस्थापित इस भाग में दो प्रकार के निकायों का प्रावधान है, यथा, स्थानीय लोगों की सेवा के लिए संस्थाएं तथा नगरीय विकास की योजना के लिए संस्थाएं। अनुच्छेद 243 थ में नगरपालिकाओं के गठन का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार, किसी संक्रमणशील क्षेत्र के लिए नगर पंचायत, छोटे नगरों के लिए नगरपालिका परिषद तथा बड़े नगरों के लिए नगर निगम गठित करने का प्रावधान है।

नगर पंचायत का गठन उन क्षेत्रों के लिए किया जाता है जो गांव से नगर बनने की किसी अवस्था में हैं तथा जिनकी जनसंख्या सामान्यतः दस हजार से बीस हजार तक है। दूसरी ओर, नगरपालिका परिषद जिन छोटे नगरों के लिए गठित किये जाते हैं उनकी जनसंख्या बीस हजार से तीन लाख तक होती है तथा वृहद नगरों जिनके लिए नगर निगम गठित होते हैं, की जनसंख्या 3 लाख से अधिक होती है। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि यदि किसी औद्योगिक नगर में औद्योगिक स्थापना द्वारा नगरपालिका की सुविधा प्रदान की गई है तो वहां नगरपालिकाओं का गठन आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए जमशेदपुर (झारखंड) एवं भिलाई (छत्तीसगढ़)।

नगरपालिकाओं की संरचना का विस्तृत उल्लेख अनुच्छेद 243-द में किया गया है। इसके अनुसार, प्रत्येक नगरपालिका को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है जिन्हें वार्ड की संज्ञा दी जाती है। सदस्यगण ऐसे वार्डों से प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित होते हैं। अनुच्छेद के प्रावधानों के अनुरूप राज्य विधानमंडल निम्नलिखित व्यक्तियों को नगरपालिका के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने के लिए विधि द्वारा उपबंध कर सकता है :

1. नगरपालिका प्रशासन का विशेष ज्ञान या अनुभव रखने वाले व्यक्ति।
2. लोक सभा और उस राज्य की विधान सभा के सदस्य जिनके निर्वाचन क्षेत्र में नगरपालिका आती है।

3. राज्य सभा और राज्य की विधान सभा के ऐसे सदस्य जो नगरपालिका क्षेत्र के भीतर निर्वाचक के रूप में निबंधित हैं।
4. अनुच्छेद 243 ध के खंड 5 के अधीन गठित समितियों के अध्यक्ष।

आरक्षण के संबंध में नगरपालिकाओं के लिए भी वही प्रावधान किये गये हैं जो पंचायतों के संदर्भ में हैं। दूसरे शब्दों में, महिलाओं तथा पिछड़े वर्गों के लिए भी आरक्षण का प्रावधान है। संविधान के अनुच्छेद 243न के अनुसार, नगरपालिकाओं के लिए भी आरक्षण का प्रावधान 2026 तक प्रभावी होगा।

राज्य विधानमंडल विधि द्वारा नगरपालिकाओं को ऐसी शक्तियां प्रदान कर सकता है जो उन्हें स्वायत्त शासन की संस्थाओं के रूप में कार्य करने के लिए सक्षम बना सकें। नगरपालिकाओं द्वारा आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय से संबंधित योजनाएं बनाने तथा उन्हें प्रभावकारी रूप से क्रियान्वित करने का कार्य किया जाता है। इनके अतिरिक्त 12वीं अनुसूची में सूचीबद्ध विषयों के संबंध में भी नगरपालिकाओं को शक्तियां प्रदान की जा सकती हैं।

नगरपालिकाओं के राजस्व के स्रोत के लिए राज्य विधानमंडल को शक्तियां प्रदान की गई हैं। ऐसे कर, शुल्क आदि जिन्हें उदगृहीत और संगृहीत करने के लिए विधानमंडल द्वारा नगरपालिका को प्राधिकृत किया गया हो, ऐसे कर या शुल्क जो राज्य द्वारा उदगृहीत तथा संगृहीत किये जाते हैं तथा नगरपालिकाओं को विनियोजन के लिए प्रदान किये जाते हैं तथा राज्य की संचित निधि से अनुदान प्रदान कर नगरपालिकाओं के राजस्व के स्रोत की व्यवस्था की जाती है।

नगरपालिकाओं के संबंध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अनुच्छेद 243 घ में जिला योजना तथा महानगर योजना के लिए समितियों के गठन का प्रावधान किया गया है। राज्य विधानमंडल विधि द्वारा ऐसी समिति के गठन तथा उसके सदस्यों के संबंध में उपबंध कर सकती है। संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार, इस समिति के कुल सदस्यों में से 4/5 जिला स्तर की पंचायत और जिले की नगरपालिकाओं के सदस्यों में से ही निर्वाचित होते हैं। जिले के विकास से संबंधित योजनाएं बनाकर उन्हें क्रियान्वित करना समिति का प्रमुख कार्य है। इसी प्रकार, महानगरों के विकास के लिए महानगर योजना समिति के गठन का भी प्रावधान है। इस समिति के संबंध में भी विशिष्ट उपबंध करने का अधिकार राज्य विधानमंडल को प्राप्त है।

कमजोर वर्गों के कल्याण में पंचायतों की भूमिका

(Role of Panchayats in walfare of weaker section)

विगत वर्षों में पंचायती राज सस्थाएं भारत में औपचारिक संस्थाओं के रूप में कार्यरत रही हैं लेकिन वर्तमान में संविधान के 73वें तथा 74वें संशोधन अधिनियमों के क्रियान्वयन के बाद इन्हें संवैधानिक मान्यता प्राप्त हुई है। इन अधिनियमों ने पंचायती राज प्रणाली की एक नई व्यवस्था को राष्ट्रीय पटल पर रखा है। ग्राम पंचायतों के गठन का उद्देश्य न केवल ग्रामीण विकास बल्कि समाज में व्याप्त सामन्तवादी प्रवृत्तियों का उन्मूलन भी है। इस उद्देश्य की प्राप्ति से ग्राम पंचायतों ने नीति निर्धारण की प्रक्रिया में ग्रामीण समाज के कमजोर वर्गों तथा महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने की पहल की थी। यद्यपि सरकारी योजनाएं गांव के गरीबों और कमजोर वर्गों के विकास हेतु लागू की गई लेकिन योजनाओं के क्रियान्वयन में कमजोर वर्गों की सहभागिता नहीं होने के कारण इनका पर्याप्त लाभ प्राप्त नहीं हो पाया। इस समस्या के निराकरण के लिए 73वें संशोधन में पंचायती राज प्रणाली में कमजोर वर्गों के आरक्षण की व्यवस्था की गई जो इस दिशा में उठाया गया एक सकारात्मक कदम है।

पंचायती राज की नई प्रणाली से यह अपेक्षा की गई थी कि ग्राम पंचायतें स्वत: ग्रामीण विकास हेतु कार्यक्रम का निर्माण कर उनका प्रभावकारी क्रियान्वयन करेंगी लेकिन पंचायतों की कार्य प्रणाली में राजनीतिक हस्तक्षेप तथा राज्य सरकार पर अब भी उनकी अत्यधिक निर्भरता ने कमजोर वर्गों को मुख्य धारा से अलग रखा है। हांलाकि कमजोर वर्गों में हाल के वर्षों में पर्याप्त राजनीतिक जागरुकता उत्पन्न की जा सकी है लेकिन उनमें शिक्षा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार नहीं होने के कारण उन्हें समुचित लाभ प्राप्त नहीं हो पाया है। पंचायतों द्वारा क्रियान्वित कार्यक्रमों से ऐसे वर्गों को लाभान्वित करने की दिशा में सर्वप्रथम यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है कि उन्हें शिक्षा प्राप्त हो।

मूलत: पंचायतों को मानव संसाधन विकास की ओर उन्मुख बनाने के प्रयास किये जाने चाहिए। विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में कमजोर वर्गों, अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा महिलाओं को केवल आरक्षण प्रदान करना ही पर्याप्त नहीं है। ऐसा नहीं होने की स्थिति में पंचायतें ग्रामीण विकास के अपने महत्वपूर्ण लक्ष्य से विमुख होती जायेंगी जो कमजोर वर्गों के लिए हानिकारक होगी।

आरक्षण प्राप्त होने के बावजूद व्यावहारिकता में यह पाया गया है कि कमजोर वर्गों का प्रतिनिधित्व प्रभावकारी नहीं रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि कमजोर वर्गों के सदस्य प्राय: अशिक्षित होते हैं तथा निम्न आय के कारण उनमें आत्मबल की कमी होती है। इसके फलस्वरूप वे संगठन के महत्व को समझ पाने में असमर्थ होते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें लभान्वित करने में कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

हाल के वर्षों में किये गए कई सर्वेक्षणों से स्पष्ट होता है कि पंचायतों के माध्यम से ऐसे वर्गों के सदस्यों के सर्वांगीण विकास के लिए कार्य किया जा सकता है। जातीय सामंजस्य की स्थापना कर कमजोर वर्गों में राजनीतिक तथा सामाजार्थिक जागरूकता का विकास करने में पंचायती राज व्यवस्था की विशेष भूमिका है। साथ ही, पंचायतों के माध्यम से गरीबी उन्मूलन तथा प्राथमिक शिक्षा एवं प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के क्रियान्वयन पर भी विशेष बल दिया जाना आवश्यक है। कई राज्यों में संपूर्ण महिला पंचायतों के गठन से महिलाओं की भागीदारी में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण महिलाओं को नीति निर्धारण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से शामिल किया जा सका है। कमोबेश इसी प्रकार की व्यवस्था कमजोर वर्गों के सदस्यों के लिए भी न्यायोचित होगी जिससे उनका कल्याण सुनिश्चित किया जा सके।

पंचायती राज और विकेन्द्रीकृत नियोजन (Panchayati Raj and Decenterlized Planning)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आरंभ सन् 1952 में किया गया। जनपद स्तर पर विकेन्द्रीकृत नियोजन को महत्वपूर्ण माना गया ग्रामीण विकास के लिए। 1954 में योजना आयोग ने कृषि, लघु उद्योग के विकास के लिए जनपदों को विशेष निर्देश दिया।

बलवन्त राय मेहता समिति की रिपोर्ट के पश्चात विकेन्द्रीकृत नियोजन का प्रयोग व्यवहारिक रूप में किया गया।

सन् 1969 में योजना आयोग ने पुन: जिला नियोजन के लिए विशेष निर्देश जारी किये। 1977 में अशोक मेहता समिति ने भी विकेन्द्रित नियोजन को ग्रामीण विकास के लिए अपरिहार्य माना तथा विकेन्द्रित नियोजन को शक्तिशाली बनाने के लिए सुझाव दिया। 73 वें, 74वें संशोधन के पश्चात विकेन्द्रित नियोजन की मान्यता को संवैधानिक आधार प्रदान किया गया। 12वीं अनुसूची में जनपद नियोजन समिति का विशेष प्रावधान किया गया तथा महानगरों के लिए महानगर योजना समिति का निर्माण किया गया।

विकेन्द्रित नियोजन का मूलभूत ढांचा ग्राम पंचायत द्वारा तैयार किया जाता है। ग्राम पंचायत उपलब्ध वित्तीय संसाधनों के आधार पर योजना का निर्माण करती है। इसके पश्चात योजना खण्ड स्तर पर समिति या मध्य स्तर के निकाय को संप्रेषित किया जाता है। खण्ड पंचायत स्तर पर योजनाओं के निर्माण करने में जिला परिषद का मुख्य नियोजन अधिकारी उनकी सहायता करता है। खण्ड पंचायत के द्वारा अगले वित्तीय वर्ष के लिए संसाधनों की मांग की जाती है। खण्ड पंचायत द्वारा विभिन्न ग्राम पंचायतों की योजना को समन्वित किया जाता है। योजना निर्माण के पश्चात उसे प्रवर समिति के पास रखा जाता है। उसके पश्चात इसे खण्ड पंचायत की सामान्य समिति के समक्ष रखा जाता है। इसी बैठक में सदस्य योजना के प्रारूप पर विचार विमर्श करते है और योजना को अनुसंक्षिप्त करते है।

खण्ड स्तर के पश्चात योजना के प्रारूप की जांच और अनुमति के लिए जनपद पंचायत को भेजा जाता है तथा जनपद पंचायत की स्वीकृति के पश्चात इसे राज्य सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। जनपद पंचायत में योजना के प्रारूप पर विस्तार से चर्चा होती है तथा तीनों स्तरों की पंचायत योजना को अनुमति प्रदान की जाती है और उसी के पश्चात इसे राज्य नियोजन आयोग को भेजा जाता है। भारत में पंचायती राज लागू होने के पश्चात संघ स्तर के केन्द्रीकृत नियोजन के साथ विकेन्दित योजना का प्रयोग किया जा रहा है तथा यह ग्रामीण विकास की दिशा में अत्यन्त उल्लेखनीय कदम है। पंचायतों को 11वीं अनसूची में 29 विषयों पर योजना के निर्माण पर अधिकार प्राप्त हुआ है। भारत ने विकेन्द्रित नियोजन के द्वारा गरीबी निवारण और क्षेत्रीय विषमता को समाप्त करने के लिए सघन प्रयास किये जा रहे है। अनुसूचित जातियों / जनजातियों व महिलाओं के विकास के लिए विशेष बल दिया जा रहा है। इसलिए पंचायती राज के द्वारा आधारभूत लोकतंत्र की स्थापना के साथ सामाजिक-आर्थिक न्याय व लैंगिक सशक्तीकरण को व्यवहारिक रूप प्रदान किया जा रहा है। भारत में विकेन्दिकृत नियोजन का महत्व निम्न बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-

महत्व

1. भारत जैसे विशाल आकार का देश यूरोपीय देशों की तुलना में अत्यधिक बड़ा है इसलिए विकेन्द्रिकृत नियोजन देश के समस्त विकास का बेहतर विकल्प है।
2. भारत जैसे विशाल देश में संसाधनों का अभाव है इसलिए किसी व्यापक केन्द्रित योजना के बजाये विकेन्द्रित योजना पर आधारित विकास ज्यादा कारगर सिद्ध हो सकता है। जिसमें ग्रामीण जनता अपनी आवश्यकताओं के लिए स्थानीय उपलब्ध संसाधनों का प्रयोग कर सकती है।
3. देश की विशाल ग्रामीण जनता विकास की मुख्य धारा से अभी भी बाहर है। गांवों में अभी भी आधारभूत संरचनाओं का अभाव

है और लोगों को स्वास्थ्य और चिकित्सा की सुविधा भी उपलब्ध नहीं है।

4. भारत में अनेक क्षेत्रों का मौसम तथा कृषि के तरीके भी भिन्न-भिन्न है इसलिए विकेन्द्रित नियोजन ज्यादा कारगर है।

नौकरशाही और पंचायती राज (Bureaucracy and Panchayati Raj)

सामुदायिक विकास योजना की असफलता का मूल कारण जनसहभागिता का अभाव माना गया था। इसलिए पंचायतीराज का प्रयोग किया गया और पंचायती राज के द्वारा नौकरशाही के बजाए जनता के स्वयं के विकास का दायित्व सौपा गया। 73वें, 74 वें संशोधन से पंचायतों के प्रत्येक स्तर पर जनप्रतिनिधियों को प्राथमिकता प्रदान की गई है। ग्राम पंचायत स्तर ग्राम विकास अधिकारी और लेखपाल ग्राम पधान की सहायता करेंगे।

खण्ड स्तर पर पंचायती राज के कार्यक्रमों को लागू करने का मुख्य स्तर है और प्रत्येक जनपद कई खण्डों में विभाजित होता है तथा खण्ड का अधिकारी खण्ड विकास अधिकारी कहलाता है जो पंचायत समिति का सचिव होता है जबकि खण्ड स्तर के अध्यक्ष का निर्वाचन परोक्ष होता है और खण्ड स्तर के अध्यक्ष का निर्वाचन खण्ड स्तर के सदस्य करते है। खण्ड स्तर पर स्थानीय सांसद और विधायक भी पंचायत समिति के पदेन सदस्य होते है।

जिला ग्रामीण विकास ऐजेंसी (District Rural Development Agency)

ग्रामीण विकास के संदर्भ में (DRDA) जिला ग्रामीण विकास एजेंसी की भूमिका केन्द्रीय मानी जाती है जिसका चेयरमैन सामान्यत:जिलाधिकारी अथवा मुख्य विकास अधिकारी होता है। 73वें, 74 वें संशोधन के पश्चात **DRDA** के स्थान पर जिला नियोजन समिति **DPC** के गठन का प्रावधान किया गया। अब ग्रामीण विकास के संदर्भ में जिला नियोजन समिति की भूमिका प्राथमिक हो गई जिसका चैयरमैन जिला परिषद का अध्यक्ष होता है। अत: जिले के विकास का दायित्व प्रशासनिक अधिकारी जैसे जिलाधिकारी अथवा मण्डलायुक्त के बजाय जनप्रतिनिधियों को सौपा गया है।

X;kjgoha vuqlwph vuq- 343&N

संविधान तिहत्तरवां संशोधान अधिनियम, 1992

ch/kkjk 4 }kjk 24&4&1993 ls varLFkkfir

1- d`f'k] ftlds vUrxZr d`f'k fofLrkj gSA
2- Hkwfe fodkl] Hkwfe lq/kkj dk;kZUo;u] pdUrh vkSj Hkwfe laj{k.kA
3- y?kqflapkbZ] ty izca/k vkSj ty fcHkktd {ks=k dk fodklA
4- i'kqikyu] Ms;jh m|ksx vkSj eqhZikyuA
5- eRL; m|ksxA
6- lkekftd okfudh vkSj QkeZ okfudhA
7- y?kq ou mitA
8- y?kq m|ksx] ftuds vUrxZr [kk| izlaLdj.k m|ksx Hkh gSaA
9- [kkn] xzkeks|ksx vkSj dqVhj m|ksxA
10- xzkeh.k vkokluA
11- is; tyA
12- bZa/ku,oa pkjkgkA
13- lM+dsa] iqfy;k] iqy] Qsjh] tyekxZ vkSj vU; lapkj lk/kuA
14- xzkeh.k fo|qrhdj.k] ftlds vUrxZr fo|qr dk forj.k gSA
15- vkSjkaifjdÅtkZ lzksrA
16- xjhch mUewyu dk;Z Øe A
17- f'k{kk] ftlds vUrxZr izkFkfedvkSj ek/;fed fo|ky; Hkh gSaA
18- rduhdh izf'k{k.k vkSj O;kolkf;d f'k{kkA
19- izkS<+ vkSj vkSipkfjd f'k{kkA
20- iqLrdky;A
21- lkaLd`frd fØ;kdykiA
22- ckrkj vkSj esyaA
23- LokLF; vkSj LoPNrk] ftuds vUrxZr vLirky] izkFkfed LokLF; dsUnz vkSj vkS'k/kky; Hkh gSaA
24- ifjdkj dY;k.kA
25- efgyk vkSj cky fodklA
26- lekt dY;k.k] ftlds vUrxZr fodykaxksa vkSj ekufld :i ls ean O;fDr;ksa dk dY;k.k Hkh gSA
27- mpZ yksZa dk vkSj fof'k'V;k] vuqlwfpr tkfr;ksa vkSj vuqlwfpr tutkfr;ksa dk dY;k.kA
28- lkoZtfud forj.k iz.kkyhA
29- lkeqnkf;d vkfLr;ksa dk vuqj{k.kA

पंचायती राज में कमियां (Deficiencies in Panchayati Raj)

1. वित्त का अभाव है क्योंकि पंचायतें राज्यों द्वारा वित्त उपलब्ध कराये जाने पर निर्भर हैं।
2. 29 विषय होने के बावजूद भी ग्राम पंचायतों को ये सभी विषय प्रदान नहीं किये गये हैं।
3. पंचायतों के कार्य करने वाले पदाधिकारी आई.ए.एस. व पी.सी.एस. वर्ग के हैं। पंचायतो के पास स्वयं के पदाधिकारी नहीं हैं।
4. कमजोर वर्ग के प्रतिनिधियों को सीमित लाभ हुआ है।
5. अधिकतर राज्यों में स्थानीय सरकारी सेवकों व कर्मचारियों पर इन संस्थाओं का नियंत्रण अप्रभावी है।
6. राजनीतिक दलों का अप्रत्यक्ष प्रभाव रहता है।

73 वें संशोधन का प्रभाव

(Impacts of 73rd Amendment)

1. आम जनता की स्थानीय शासन में सीधी सहभागिता स्थापित हुई है।
2. नियमित चुनाव होने लगे हैं
3. पंचायतों को संवैधानिक आधार प्रदान हुआ है।
4. समाज के दलित, पिछड़े वर्गो की भी सहभागिता हुई है।
5. राज्य वित्त आयोग का प्रावधान किया गया है जिससे वित्त की समस्या का समाधान होता है।
6. पंचायतों के कार्यकरण में नौकरशाही की बजाय जनप्रतिनिधियों का प्रभाव बढ़ा।
7. संपूर्ण भारत में पंचायतों को समान स्तर पर लागू किया गया।
8. महिलाओं की भागीदारी स्थानीय शासन में हुई है जिससे महिलाओं का सशक्तिकरण हुआ है इसे अभी बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दिया गया है।

राज्य सरकारों द्वारा पंचायतों पर नियंत्रण (Control of State Governments on Panchayats)

1. **वित्तीय नियंत्रण**- इसमें राजस्व के स्त्रोत, अनुदान की राशि पर राज्य का नियंत्रण होता है लेखा परीक्षा भी राज्य के द्वारा की जाती है।
2. **संस्थात्मक नियंत्रण**- राज्य अधिनियमों द्वारा पंचायती राज संस्थाओं का आकार, कार्यक्षेत्र, गठन, चुनाव प्रक्रिया तथा कर्मचारियों पर नियंत्रण रखा जाता है।
3. **प्रशासनिक नियंत्रण**- राज्य के द्वारा पंचायतों के कार्यो का प्रति दिन नियंत्रित होता है। पंचायतों द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों का पुनरीक्षण और संशोधन किया जाता है तथा पंचायत सदस्यों को हटाने तथा पंचायत को भंग करने का भी अधिकार राज्य सरकार के हाथ में हैं।
4. **तकनीकी नियंत्रण**- पंचायती राज द्वारा निर्मित सभी नियम तथा योजनाएं राज्य सरकार द्वारा पारित होनी चाहिए। राज्य सरकार के अधिकारी इन संस्थाओं को तकनीक निर्देश तथा सहायता प्रदान करते है।

जनसंख्या नीति तथा पंचायत (Population Policy and Panchayat)

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में तीन मुख्य लक्ष्य निर्धारित हैं। तात्कालिक लक्ष्य के रूप में नीति में जन्म दर पर नियंत्रण रखने तथा संबंधित स्वास्थ्य सेवाओं की पूर्ति के साथ-साथ प्रजनन और बाल स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं की आपूर्ति सुनिश्चित करना निर्धारित किया गया है। मध्यकालिक लक्ष्य के रूप में कुल प्रजननता दर को सन् 2010 तक प्रतिस्थापना स्तर पर लाना तथा दीर्घकालिक लक्ष्य के रूप में सन् 2045 तक जनसंख्या स्थायित्व सुनिश्चित करना है। इन लक्ष्यों की प्राप्ति में पंचायती राज संस्थाओं का विशेष योगदान है।

ज्ञातव्य है कि 1992 के 73वें तथा 74वें संवैधानिक संशोधन अधिनियमों में यह सुनिश्चित किया गया है कि पंचायतों द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक विकास के कार्यक्रमों का निरूपण तथा उनका प्रभावकारी क्रियान्वयन किया जायेगा। इस दृष्टिकोण से इन संस्थाओं की भूमिका स्पष्ट होती है। सामाजिक क्षेत्र में

बारहवीं अनुसूची अनु. 243 - ब

संविधान चौहत्तरवां संशोधान अधिनियम, 1992
की धारा 4 द्वारा 1-6-1993 से अंतस्थापित

1- ukjh; ;kstuk ftlds vUrxZr ukj ;kstuk Hkhg SA
2- Hkwfemi;ksx dk fofu;eu vkSj Hkouksa dk fuekZ.kA
3- vkfFkZd vkSj lkekftd fodkl ;kstukA
4- lMdksa vkSj iqyA
5- ?kjsyw] vkS|ksfxd vkSj ckf.kfT;d iz;kstuksa ds fy, tyizn k;A
6- yksd LokLF;] LoPNrk] lqjk vkSj dwM+k&djdV izca/A
7- vfXu'keu lsok,aA
8- ukjh; ckfuch] i;kZoj.k dk laj{k.k vkSj ikfjfLFkfrdh vk;ksa ch vfHko`f~AA
9- lekt ds mpZ yksZa ds] ftuds vUrxZr fodykax vkSj ekufld :i ls eanO;fDr;ksa ds fgrksa dh j{kkA
10- xarh dh lq/kkj vkSj izks"ruA
11- ukjh; fu/kZurk mUewyuA
12- ukjh; lq[k lqfo/kkvksa vkSj lqfo/kkvksa] tSls ikdZ] m|ku] [ksyksa & Hkuksa ch O;oLFkkA
13- lkaLd`frd] 'kS{kf.kd vkSj lkaLd`frd Zijdvk;ksa ch vfHko`f~AA
14- 'kogkM+uk vkSj dfczLrku] 'konkgvkSj 'e'kkuvkSj fo|qr 'konkgx`gA
15- dkathgkÅl] i'kqvksa ds izfrØwjrk dk fuokj.kA
16- tUe&ej.k llaf[;dh] ftlds vUrxZr tUevkSj e`R;qjftLV~hdj.k Hkhg SA
17- lkoZtfud lq[k lqfo/kk,a] ftuds vUrxZr lM+dksa ij izdk'k] ikfdZax LFky] cl LVWaM vkSj tu lqfo/kk,a Hkhg SaA
18- o/k'kkyvksa vkSj pSZ'ks/ku'kkyvksa dk fofu;eaA

प्राथमिक शिक्षा, परिवार कल्याण तथा स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों के निरूपण में पंचायती राज संस्थाएं राज्य सरकारों को अप्रतिम सहायता प्रदान कर रही हैं। लोक संस्थाएं होने के कारण ये जनसंख्या के एक बड़े भाग को प्रभावित कर सकती हैं। साथ ही, जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण रखने की नीतियों के निर्धारण में भी सरकार को विशेष सहायता प्रदान करने में ये संस्थाएं समर्थ हैं। कुल प्रजननता दर को प्रतिस्थापना स्तर पर लाने के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि इसके लिए विशेषकर महिलाओं की मानसिकता में परिवर्तन आवश्यक है। इस दृष्टि से भी पंचायतों का विशेष महत्व है।

संविधान के 73वें संशोधन के उपरांत बड़ी संख्या में महिलाओं ने सभी स्तरों पर पंचायतों की सदस्यता ग्रहण की है। वर्ष 1997 तक ग्राम स्तर पर पंचायतों में 66562, प्रखंड स्तर पर 42509 तथा जिला स्तर पर 4163 महिलाएं सदस्य के रूप में कार्यरत थीं। पंचायतों की महिला सदस्यों द्वारा लैंगिक संवेदनशीलता का विकास संभव है। पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों पर भी निगरानी रखने का कार्य किया जा सकता है। गर्भ निरोधकों के प्रयोग के संदर्भ में पंचायत की महिला सदस्य विशेष भूमिका निभा सकती हैं।

कई राज्यों ने पंचायती राज संस्थाओं को जनसंख्या नीति के क्रियान्वयन के संदर्भ में सुदृढ़ बनाने के लिए कई स्थायी समितियों के गठन का प्रावधान किया है। इन समितियों में जन स्वास्थ्य एवं पर्यावरण तथा महिला एवं बाल विकास तथा समाज कल्याण से संबंधित समितियां प्रमुख हैं।

ऐसे प्रयास विशेष रूप से पश्चिम बंगाल, केरल तथा कर्नाटक में किये जा रहे हैं। इन राज्यों ने अपने पंचायती राज कानूनों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये हैं। इन समितियों के माध्यम से पंचायतें विशेष अभियान चलाकर जनता को जागरुक बनाने का कार्य कर सकती हैं जिसके फलस्वरूप विभिन्न विकासोन्मुखी कार्यक्रमों में जनभागीदारी में वृद्धि सुनिश्चित कर सकती हैं।

अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायत (Panchayats in Scheduled Areas)

भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या का लगभग 93 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है। ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन से संबंधित प्रावधान संविधान की 5वीं तथा छठी अनुसूची में किये गये हैं। इसी प्रकार, अनुच्छेद 244 (1) तथा (2) में अनुसूचित क्षेत्र एवं जनजातीय क्षेत्र की व्याख्या की गई है। सामान्यत: एक जनजातीय समुदाय को अनुसूचित जनजाति श्रेणी में रखने के लिए निम्नलिखित आधारों का प्रयोग किया जाता है:

1. भौगोलिक पृथक्कीकरण
2. वृहत समुदायों के संपर्क में आने में कठिनाई
3. विशिष्ट संस्कृति
4. सामान्य पिछड़ापन

संविधान की पांचवीं अनुसूची के तहत उल्लिखित क्षेत्रों के प्रशासन के लिए केन्द्र तथा राज्य सरकार के मध्य समन्वय की स्थापना का प्रावधान किया गया है। राज्य सरकार को यह दायित्व सौंपा गया है कि वह अनुसूचित क्षेत्रों में क्रियान्वित कानूनों की जांच करे तथा आवश्यकतानुसार नये कानूनों का निर्माण करे। इसी प्रकार, राज्य सरकार जनजातीय क्षेत्रों में विभिन्न कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए भी उत्तरदायी है। इस संबंध में केन्द्र सरकार द्वारा यथासंभव सहायता प्रदान की जाती है। दूसरी ओर, छठी अनुसूची में इन क्षेत्रों के लिए जिला परिषद तथा क्षेत्रीय परिषद के गठन का प्रावधान किया गया है। जिला परिषद में सदस्यों की अधिकतम संख्या 30 निर्धारित है। इसमें राज्यपाल द्वारा 4 सदस्यों का मनोनयन भी किया जा सकता है। परिषद को व्यापक स्वायत्तता प्रदान करने के उद्देश्य से इसके तीन अंग बनाये गये हैं, यथा, विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। क्षेत्रीय परिषदों का गठन राज्यपाल द्वारा जारी अधिसूचना के आधार पर ही किया जाता है।

सन् 1992 में 73वें तथा 74वें संविधान संशोधनों ने अनुसूचित क्षेत्रों के विकास के लिए नये मार्ग प्रशस्त किये। हांलाकि अनुच्छेद 243-ड. के तहत इस कानून के प्रावधानों को लागू नहीं करने की व्यवस्था की गई है लेकिन संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह इस कानून का विस्तार कतिपय शर्तों के साथ इन क्षेत्रों तक कर सकती है।

अनुसूचित क्षेत्रों में 73वें संशोधन से संबंधित विषयों के विभिन्न आयामों के अध्ययन के लिए सन् 1994 में एक उच्च स्तरीय समिति गठित की गई थी जिसे भूरिया समिति कहा गया था। समिति ने गहन अध्ययन के उपरांत यह सुझाव दिया कि अनुसूचित क्षेत्रों में जनजातीयों की संस्कृति को संरक्षित रखते हुए पारंपरिक तथा आधुनिक संस्थाओं के माध्यम से विकासोन्मुखी कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जाना चाहिए। साथ ही, ऐसे क्षेत्रों में प्रजातीय, क्षेत्रीय तथा अन्य संबद्ध विषयों को भी प्राथमिकता देते हुए कार्यों

का निष्पादन किया जाना चाहिए। समिति ने केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद के कार्यों का पुनरीक्षण किये जाने का महत्वपूर्ण सुझाव भी समिति द्वारा दिया गया था। अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायतों को स्वशासी जिला परिषद की संज्ञा दिये जाने का सुझाव देते हुए समिति ने कहा कि ऐसे परिषद को सरकार द्वारा वित्त उपलब्ध कराया जाना चाहिए ताकि वह संविधान की 11वीं अनुसूची में सूचीबद्ध विषयों के संबंध में योजनाओं का निरूपण कर उनका क्रियान्वयन कर सके।

भूरिया समिति की सिफारिशों के आधार पर दिसंबर 1996 में **पंचायत प्रावधान (अनुसूचित क्षेत्र तक विस्तार) कानून, 1996** पारित किया गया। साथ ही, यह भी स्पष्ट किया गया कि इसे अनुच्छेद 368 के तहत संविधान का संशोधन नहीं माना जायेगा। इस कानून के उद्देश्यों में निम्नांकित प्रमुख हैं :

1. संविधान के भाग 9 का कतिपय सुधारों के साथ अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार।
2. भागीदारीयुक्त लोकतंत्र की संकल्पना के तहत गांवों का प्रशासन तथा ग्राम सभा को सभी गतिविधियों के केन्द्र में रखने का प्रावधान।
3. जनजातियों की बड़ी जनसंख्या के लिए स्व-शासन की व्यवस्था।
4. जनजातियों की परंपरा के अनुरूप नये प्रशासनिक ढांचे का निर्माण।

राज्य वित्त आयोग

पंचयातों की वितीय स्थिति का पुनरावलोकन करने के लिए अनु. 243-I के तहत एक वित्त आयोग के गठन का प्रावधान है। राज्यपाल प्रत्येक पाँच वर्ष पर एक वित्त आयोग का गठन करता हैं।

वित्त आयोग की संरचना , सदस्यों की आयोग्यताएँ और उनके चयन की रीति राज्य का विधान मण्डल विधि द्वारा स्थापित करेगा। राज्यपाल आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश और उसके बारे में की गई कार्यवाही का स्पष्टीकरण ज्ञापन राज्य विधान मण्डल के समक्ष रखवाता हैं।

राज्य निर्वाचन आयोग

इसका गठन अनु. 243K के तहत एक राज्य निर्वाचन आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है। यह पंचायतों व नगरपालिकाओं के सभी निवाचनों के लिए निर्वाचक नामावाली तैयार करने तथा निर्वाचक के संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण की शक्ति प्रदान की गई हैं।

संरचना -राज्यपाल द्वारा नियुक्त निर्वाचन आयुक्त होता है जिसकी सेवा की शर्तें और पदावधि राज्यपाल द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

राज्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति के पश्चात सेवा शर्तों में कोई अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जाता। इसे उसी आधार पर और उसी प्रक्रिया से उके पद से हटाया जा सकता है। जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए विहित हैं।

निर्वाचन के दोरान अयोग के अनुरोध पर राज्यपाल उसे उतने कर्मचारी उपलब्ध करवाता हैं। जितने उसे अपने कर्तव्य निर्वाहन के लिए आवश्यक है।

राज्य विधान मण्डल पंचायतों के निर्वाचन के सम्बन्ध में सभी विषयों पर विधि बनाने का अधिकार रखता है। पंचायत चुनाव का निर्णय राज्य सरकार द्वारा किया जाता हैं।

भारत के निर्वाचन आयोग की तरह राज्य निर्वाचन आयोग भी एक स्वतंत्र संवैधानिक निकाय है।

16. साझा सरकार

परिचय (Introduction)

साझा सरकारें बहुलवादी प्रवृत्तियों की समुच्चय होती हैं। एक बहुलवादी समाज के साथ लोकतांत्रिक राज्य में निर्णय-निर्माण की गतिविधि और प्रक्रिया में प्रभावी रूप से भाग लेने के अवसर अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। ऐसे समाज में कई छोटे-बड़े हित समूहों का उदय होता है। इन परिस्थितियों में समाज के कमजोर वर्गो को भी यह प्ररेणा मिलती है कि वे अन्य हितों के साथ-साथ राजनीति में भी भाग लें। इस प्रकार हर छोटे-बड़े समूह का कुछ सीमा तक राजनीतिकरण हो जाता है। फलतः छोटे-छोटे गुटों के रूप में क्षेत्रीय दलों का क्षैतिज फैलाव स्वाभाविक है जो क्षेत्रवाद के उदय का कारण भी रहा है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि भारत में दलीय राजनीति, साझा राजनीति और साझा सरकारों के महत्व पर चर्चा की जाये।

दलीय राजनीति यद्यपि बहुदलीय व्यवस्था के रूप में रही है लेकिन इसके बावजूद विगत पांच दशकों में भारतीय राजनीति और शासन व्यवस्था में कुछ ऐसे आमूल परिवर्तन हुए हैं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विशेषकर 1967 के बाद से भारतीय राजनीति में कुछ नए मोड़ आए, जैसे देश में एक दलीय प्रभुत्व का अंत, उसकी पुनर्स्थापना तथा 1990 में उसका पुनः अंत, देश में गैर-कांग्रेसी तथा मिश्रित सरकारों की स्थापना, केन्द्र और राज्यों के बीच गंभीर विवाद, राज्यों में सांविधानिकतंत्र की विफलता और राष्ट्रपति शासन की बार-बार स्थापना, संविधान में बड़ी संख्या में मूलभूत संशोधन, संसद और न्यायपालिका के बीच सर्वोच्चता की समस्या, राजनीतिक दलों का विघटन और विलयन, क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का सशक्त रूप में विकास आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिन्होनें भारतीय राजनीतिक और शासन के मूल स्वरूप को बहुत अधिक प्रभावित किया है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में ये परिवर्तन अत्यधिक रोचक तथा गम्भीर अध्ययन के विषय हैं।

जहां तक साझा राजनीति और उसके प्रतिफल के रूप में साझा सरकारों के गठन का प्रश्न है, संघीय स्तर पर 1996 के उपरांत यह भारतीय राजनीतिक सरंचना में उसके एक अपरिहार्य अंग के रूप में उभरी है। अक्सर यह कहा जाता है कि साझा सरकारें भारत जैसे बहुवचनीय संस्कृति वाले देश में स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकती हैं। आरंभिक चरणों में ऐसे विचारों को काफी हद तक तार्किक कहा जा सकता था लेकिन क्षेत्रवाद के उदय तथा छोटे-छोटे गुटों के राजनीतिकरण के कारण तेजी से बढ़ने वाली जागरूकता के कारण धीरे-धीरे ऐसी सरकारों ने अस्थायित्व की समस्या पर कमोबेश काबू पा लिया। लास्की नामक एक लोकप्रिय विचारक का मत था कि साझा सरकारों के ऊपर अस्थिरता की जो तलवार लटकती है उससे वे अपेक्षाकृत अधिक उत्तरदायी होने का प्रयास करती हैं जिसके कारण अन्त में उन्हें स्थायित्व प्राप्त करने में समस्या नहीं होती। आज के परिप्रेक्ष्य में लास्की का यह कथन अत्यन्त तार्किक प्रतीत होता है।

यदि ऐसी परिस्थितियों का विस्तृत अवलोकन किया जाये तो यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि वही सरकारें विकास के प्रति उत्तरदायी होती हैं जिनमें राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के मार्ग में कहीं न कहीं असुरक्षा की भावना हो। क्योंकि यदि किसी भी राजनीतिक दल में इस भावना का विकास हो जाये कि जनता के समक्ष सरकार के गठन के लिए उस दल के अतिरिक्त और कोई विकाल्प ही उपलब्ध नहीं है तो उस दल में विपथगमन के अभिलक्षण दृष्टिगोचर हो जाते हैं। ऐसे में साझा सरकारें के इस दौर में एक ओर जहां विकास को गति प्रदान करने में सहायता मिली है वहीं दूसरी ओर, ऐसी सरकारें स्थायित्व प्राप्त करने में सफल भी हो रही हैं।

तकनीकी रूप से विरोधाभासी आकांक्षाये तथा उनके आधार पर सरकार के गठन तथा कार्य संचालन के लिए नीतियों का निर्धारण किसी भी साझा सरकार के अनिवार्य अवयवों में से एक है। व्यावहारिक रूप से ये सौहार्द बढ़ाने और राष्ट्र निर्माण के प्रभावी उपकरण माने जा सकते हैं।

भारत के संविधान में संघ को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। लेकिन संघ को शक्तिशाली बने रहने के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्यों के साथ संघ का व्यवहार सौहार्दपूर्ण हो। इसका एक कारण यह भी है कि भारत को एक कार्यात्मक परिसंघ भी कहा जाता है। ऐसे परिसंघ में क्षेत्रीय शक्तियां राज्यों को तथा वित्तीय शक्तियां केन्द्र को दी जाती हैं। जैसे ही क्षेत्रवाद के उदय से साझा राजनीति का क्षैतिज फैलाव होता है केन्द्र और राज्यों के बीच के संबंधों को बेहतर बनाना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टिकोण से भी यदि हम साझा सरकारें को देखें तो यह प्रतीत होता है कि ऐसी सरकारों केन्द्र-राज्य संबंधों को सुदृढ़ बनाने में सहायक हो सकती हैं। हांलाकि साझा सरकारों के गठन में दलगत राजनीति के कुप्रभाव भी व्यापक स्तर पर दिखाई देते हैं। कई अवसरों पर सांसदों या विधायकों की खरीद-फरोख़्त के मामले भी सामने आते रहे हैं लेकिन केवल इस आधार पर ऐसी सरकारों अथवा ऐसी राजनीति को

अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

एक संसदीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता का केन्द्र बिन्दु मंत्रिमंडल होता है जो अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमंडल का स्वरूप, उसका कार्य-संचालन और उसकी प्रभावशीलता विधानमंडल की दलीय स्थिति पर निर्भर करती है।

इंग्लैंड की संसदीय परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् विधानमंडल के निम्न सदन में जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है, सामान्यतया उसी दल के नेता को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। इस प्रकार, बहुमत प्राप्त दल द्वारा गठित मंत्रिमंडल को समदलीय (होमोजिनस) मंत्रिमंडल कहा जाता है, क्योंकि इसमें सारे सदस्य या मंत्री केवल एक ही दल (बहुमत प्राप्त दल) के होते हैं। कभी ऐसा भी होता है या हो सकता है कि विधानमंडल में किसी भी राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त न होने पाए। ऐसी स्थिति में दो या दो से अधिक राजनीतिक दल एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संगठित हो जाते हैं और इस तरह बहुमत का निर्माण, तथा फलस्वरूप मंत्रिमंडल का गठन करते हैं। एक से अधिक राजनीतिक दलों को मिलाकर जो मंत्रिमंडल या सरकार बनती है, उसे मिश्रित या मिला-जुला मंत्रिमंडल या साझा सरकार कहते हैं। ऐसे मंत्रिमंडल में सामान्यतया उन सभी राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है जो कुछ सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर संगठित हुए हैं।

यह स्मरणीय है कि साझा सरकार में जो घटक राजनीतिक दल होते हें, वे सरकार बनाने के उद्देश्य से संगठित होने के बाद भी अपना पृथक दलीय अस्तित्व बनाए रखते हैं। दूसरे शब्दों में, उन राजनीतिक दलों की पहचान बनी रहती है। इन अर्थों में साझा सरकार का गठन करने वाले राजनीतिक दलों का विलयन नहीं होता। वे किसी भी समय सरकार से अपना समर्थन वापस लेकर मंत्रिमंडल से अलग हो सकते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि कोई दल बिना किसी मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुए, सरकार को समर्थन देता रहता है।

साधारणतया मिश्रित मंत्रिमंडल का गठन उन देशों में होता है जहाँ अनेक छोटे-छोटे दल हों और कोई ऐसा प्रभावशाली राजनीतिक दल न हो जो सदन में स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सके। इसका अर्थ यह है कि मंत्रिमंडल का स्वरूप दल प्रणाली पर निर्भर करता है। बहुदलीय प्रणाली में मंत्रिमंडल स्वभाविक रूप से कई राजनीतिक दलों के पारस्परिक सहयोग से ही बन सकता है। इसके विपरीत, द्विदलीय प्रणाली में कोई एक राजनीतिक दल अवश्य 50 प्रतिशत से अधिक स्थान प्राप्त कर लेता है और वह अकेले मंत्रिमंडल का निर्माण करता है। इंग्लैंड इसका ज्वलंत उदाहरण है जहाँ सुसंगठित द्विदलीय व्यवस्था होने के कारण, कुछ अपवादों के अतिरिक्त सदैव समदलीय मंत्रिमंडल बनते रहे हैं।

साझा सरकारों के घटक (Components of Coalition Government)

1967 के चुनाव के पश्चात् पहली बार कांग्रेस की पराजय के पश्चात् अनेक राज्यों में विपक्षी दलों को सत्ता में आने का अवसर मिला, इसलिए वे इस स्थिति में हर कीमत पर लाभ उठाना चाहते थे और सरकार बनाने के लिए उत्सुक थे। परिणाम यह हुआ कि विपक्षी दल बगैर सिद्धान्तों का तालमेल देखे केवल राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से आपस में मिल गये। इन मिश्रित मंत्रिमंडलों में अधिकांशतः दो से अधिक राजनीतिक दल शामिल थे। पश्चिम बंगाल में अजय मुखर्जी के नेतृत्व में बनने वाले यूनाइटेड डेमोक्रिटिक फ्रन्ट मंत्रिमंडल में 14 राजनीतिक दल सम्मिलित थे।

यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न राष्ट्रीय दलों ने किसी ऐसी सामान्य नीति का भी प्रतिपादन नहीं किया कि वह किन राजनीतिक दलों के साथ मिल सकते हैं और किन दलों के साथ उनका मिलना संभव नहीं होगा। परिणामस्वरूप, एक राज्य में एक दल ने जिस राजनीतिक दलों के साथ मिलकर सरकार का गठन किया, दूसरे राज्यों में वही राजनीतिक दल उनमे से किसी दल के साथ मिलने के लिए तैयार नहीं हुआ।

यह भी उल्लेखनीय है कि सरकार-निर्माण के लिए राजनीतिक दलों के बीच जो एकता स्थापित हुई उसका कोई सैद्धान्तिक आधार भी नहीं था। उत्तर प्रदेश में निर्मित संविद सरकार के घटकों में साम्यवादी दल और जनसंघ (दो परस्पर विरोधी विचारधारा वाले दल) दोनों ही सम्मिलित थे। पंजाब में बनी साझा सरकारों में अकाली दल के साथ जनसंघ तथा साम्यवादी दल भी सम्मिलित थे। बिहार में महामाया प्रसाद सिन्हा मंत्रिमंडल 8 राजनीतिक दलों से निर्मित था जिसमें साम्यवादी दल, भारतीय जनसंघ तथा सोशलिस्ट दल सम्मिलित थे। दरोगा प्रसाद (कांग्रेस ई.) के साथ साम्यवादी दल, भारतीय क्रांतिदल आदि सम्मिलित थे। संसोपा, मंत्रिमंडल में, जो कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में 22 दिसम्बर 1970 को बिहार में गठित किया गया था, अन्य दलों के अतिरिक्त भारतीय क्रांति दल भी शामिल था। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग सभी राजनीतिक दल किसी भी दल के साथ मिलकर सरकार बनाने के लिए तैयार रहे और जब भी एक मंत्रिमंडल का विघटन होता था, उसके लगभग सभी घटक किसी दूसरे व्यक्ति सभी घटक किसी दूसरे व्यक्ति

के नेतृत्व में दूसरे मंत्रिमंडल का निर्माण कर लेते थे। मिली-जुली सरकारों के निर्माण में राजनीतिक नैतिकता का कोई स्थान नहीं था, केवल व्यक्तिगत स्वार्थ ही प्रेरक तत्व रहा।

साझा सरकारों के अन्य अवयव (Other Components of Coalition Government)

साझा सरकारों का मौलिक उद्देश्य विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा सामूहिक रूप से एक समान हितों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया जाता है। साझा सरकार की प्रकृति सकारात्मक होती है परन्तु भारतीय परिवेश में साझा सरकार के गठन के माध्यम से किसी विशिष्ट राजनीतिक दल अथवा दलों के समूह को सत्ता से बाहर रखने का प्रयास किया जाता है। अत: जहां विश्व के अधिकांश देशों जैसे इटली, जापान आदि देशों में साझा सरकार राजनीतिक स्थिरता का माध्यम मानी जाती है वहीं भारतीय परिवेश में कई आलोचकों ने राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देने वाली स्थिति कहा है।

साझा सरकार के लाभ (Benefits of Coalition Government)

1. साझा सरकार के माध्यम से एक वैकल्पिक सरकार का गठन किया जाना संभव हो पाता है ताकि देश को पुन: चुनाव का सामना न करना पड़े। इससे देश का अनावश्यक समय एवं खर्च से बचा जा सकता है।
2. सरकार की शासन प्रणाली में नीतिगत विषय-वस्तुओं पर अधिक व्यापकता प्राप्त की जा सकती है।
3. साझा सरकार भौगोलिक एवं प्रतिनिधित्व के दृष्टिकोण से अधिक लोकतांत्रिक है। अत: निर्णय प्रक्रिया में अधिक गुणात्मकता देखने को मिलती है।
4. भारतीय संदर्भ में साझा सरकारों का गठन क्षेत्रीय दलों के भागीदारी के आधार पर किया जाता है। अत: क्षेत्रीय हितों को प्रोत्साहित करने की दिशा में साझा सरकार का विशेष महत्व है। जैसे यू.पी.ए. सरकार में आर.जे.डी., एल.जे.एस.पी., डी.एम.के., टी.डी.सी. जे.एम.एम. आदि।
5. साझा सरकार की आन्तरिक कार्यपद्धति में अधिक सतुंलन एवं अवरोध के नियम को व्यावहारिकता देखने को मिलती है। अत: ऐसी स्थिति में प्रशासनिक शाक्तियों के दुरूपयोग की संभावनाएं कम हो जाती हैं।
6. साझा सरकार के अन्तर्गत अधिक सामूहिक नीति निर्णय को प्राथमिकता दी जाती है।

साझा सरकार के नकारात्मक प्रभाव (Negative impacts of Coalition Government)

1. क्षेत्रीय हितों के अधिक प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप कई अवसरों पर राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा होने की संभावनाएं बनी रहती हैं। जैसे- एन.डी.ए. सरकार में ममता बनर्जी तथा चन्द्रबाबू नायडू द्वारा अपने-अपने राज्यों के लिए विशेष मांग, यू.पी.ए. सरकार में लालू द्वारा बिहार के लिए विशेष पैकेज की मांग तेलंगाना राज्य की मांग।
2. राजनीतिक अस्थिरता के परिणामस्वरूप प्रशासनिक नीतियों के निरन्तरता का अभाव देखने को मिलता है।
3. कई राजनितिक दलों की भागीदारी के परिणामस्वरूप निर्णय प्रक्रिया में अनावश्यक विलम्ब हाने की सम्भावनाएं बनी रहती हैं।
4. साझा सरकार के अन्तर्गत मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व के सिद्धांत को प्रतिघात पहुँचता है क्योंकि अधिकांशत: निर्णय मंत्रिमंडल के व्यवहार समन्वय समितियों द्वारा लिया जाता है। जैसे वर्तमान यू.पी.ए. सरकार में सोनिया गांधी को साझा न्यूनतम कार्यक्रम परिषद् का अध्यक्ष होने के कारण अधिकांश निर्णयों पर उनका प्रभाव परिलक्षित हुआ है।
5. सरकार के लिए स्वत: आन्तरिक शासन प्रक्रिया में विभिन्न दलों के बीच समन्वय स्थापित करने में अनावश्यक समय नष्ट हो जाता है। अत: ऐसी स्थिति सरकार अपना अधिकतम ध्यान वास्तविक प्रशासनिक मुद्दों पर केन्द्रित करने में सक्षम नहीं हो पाती।
6. मंत्रिपरिषद् के गठन के संदर्भ में प्रधानमंत्री की स्थिति एवं अधिकार क्षेत्र सीमित होता है। जैसे मंत्रियों की नियुक्ति के संदर्भ में, स्तरों के निर्धारण के संदर्भ तथा विभागों के आवंटन के संदर्भ में विभिन्न दलों का दबाव देखने को मिलता है।
7. साझा सरकार के अन्तर्गत सामूहिक नीति निर्णय की विचारधारा का समर्थन किया जाता है परन्तु व्यावहारिकता में यह अधिक सामूहिक न होकर सौदेबाजी पर आधारित होता है जो शासन की उचित परंपरा नहीं है।
8. साझा सरकार के अन्तर्गत लोकसेवक न तो तटस्थ हो पाते हैं और न ही प्रतिबद्ध। अत: लोकसेवक के विशिष्ट कार्य दिशा निर्देश के दृष्टिकोण के स्थायित्व का अभाव देखने को मिलता है।

साझा सरकारों के दौर में राष्ट्रपति की बढ़ती हुई सक्रियता (Presidential Activism in Coalition era)

1990 के दशक से ही साझा सरकारों का दौर चल रहा है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति की सक्रियता स्पष्ट रूप से बढ़ी है जिसके कारणों में निम्नलिखित का उल्लेख समीचीन होगा:

1. आज अधिकांशत: ऐसा देखा जाता है कि जब किसी दल या गठबंधन को लोकसभा में बहुमत नहीं मिलता तो राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति के संदर्भ में अपने विवेकाधिकारों का पूर्ण उपयोग करता है।
2. आज की भारतीय राजनीतिक में मिली जुली मंत्रिपरिषद् अथवा काम चलाऊ मंत्रिपरिषद् देखने को मिलती है। ऐसी स्थिति में भी राष्ट्रपति की सक्रियता भी परिलक्षित होती है।
3. आरंभ में राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमंत्री का प्रभुत्व रहता था क्योंकि उसके दल का लोकसभा में 35% तथा राज्य सभा में 15% बहुमत होता है। लेकिन आज किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच आम सहमति बनाने का प्रयास किया जाता है। इस कारण राष्ट्रपति के कार्य व्यवहार पर प्रभाव पड़ा है।
4. आज मंत्रिपरिषद् एवं संसद के मध्य संबंधों में बदलाव दिखाई देता है। इस कारण मंत्रिपरिषद् को स्वयं यह विश्वास नहीं रहता कि उसके द्वारा लाये गये विधेयक पर संसद की स्वीकृत मिल जाएगी। इस कारण कई अवसरों पर मंत्रिपरिषद् अध्यादेश का सहारा लेती है। लेकिन इसके पहले राष्ट्रपति स्वयं को सतुंष्ट करने के लिए अध्यादेश के संबंध में प्रश्न उठाते हैं।
5. आज राष्ट्रपति का मंत्रिपरिषद् के कार्यों में हस्तक्षेप बढ़ने का कारण बढ़ती हुई न्यायिक सक्रियता से है। अनुच्छेद 356 कें संदर्भ में एस.आर. बोम्बई बनाम भारत संघ में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि मंत्रिपरिषद् इस संदर्भ में जो परामर्श देगी वह न्याय योग्य होगा तथा सरकारिया आयोग की सिफारिशों को देखते हुए राष्ट्रपति ने इस अनुच्छेद को पुनर्विचार करने के लिए कई बार वापस किया।

साझा सरकारों के दौर में प्रधानमंत्री की स्थिति (Position of Prime Minister in Coalition era)

ब्रिटिश प्रणाली पर आधारित प्रधानमंत्री सरकार की जो संकल्पना की गई इससे प्रधानमंत्री की भूमिका और शक्तियों में इतनी वृद्धि हुई कि अधिकांशत: महत्वपूर्ण निर्णय प्रधान मंत्री के द्वारा लिया जाने लगा। कभी-कभी तो मंत्रिमंडल के बहुमत एवं इच्छा के विरुद्ध लिया गया। इसी प्रवृति के कारण संसदीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत अध्यक्षीय शासन प्रणाली के गुण दिखाई देने लगे।

भारत में कांग्रेस पार्टी के शासन काल में विशेषकर इन्दिरा गांधी एवं राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व के दौरान इस तरह के गुण विकसित हुए। सरकार एवं दल दोनों में ही प्रधानमंत्री की शक्तियों का संकेन्द्रण था। कैबिनेट के सदस्यों की भूमिका लगभग नगण्य थी। 1975 का आपातकाल इसका ज्वलंत उदाहरण है। कांग्रेस के पश्चात तथा 1990 के दशक से प्रधानमंत्री की स्थिति में काफी बदलाव आया। यह परिवर्तन नरसिंह राव के शासन काल से शुरू हुआ। बाद में संयुक्त मोर्चा सरकार, एन.डी.ए. तथा यू.पी.ए. सरकार में और बदलाव दिखाई दिया। आज साझा सरकार के दौर में सरकार के बहुमत की स्थिति के बारे में अनिश्चितता बनी रहती है। सरकार में शामिल विभिन्न दलों के नेता मंत्रियों के रूप में अपने दलीय प्रतिनिधियों का चयन करते हैं। विभागों के वितरण में भी उनका दबाव बना रहता है। अक्सर देखा जाता है कि विभिन्न दलों के मंत्रियों की निष्ठा अपने दल के नेता के प्रति होती है न कि प्रधानमंत्री के प्रति तथा दलीय नेता की इच्छा को महत्व दिया जाता है। दलगत तथा क्षेत्रीय हितों के आधार पर मंत्री अक्सर सरकार की आलोचना करते हैं, जिससे मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व के सिद्धांत का हनन होता है।

नोट :-

2014 के लोकसभा के आम चुनाव के बाद प्रधानमंत्री पद की गरिमा पुन: स्थापित हुई है। और भारत में राज्य विधान मण्डलों के चुनाव को देखते हुए (जहाँ लगभग प्रत्येक राज्य में पूर्ण बहुमत की सरकारे स्थापित हो रही है। उदाहरण के लिए असम, पश्चिम बंगाल, उत्तराखण्ड, उत्तरप्रदेश आदि) साझा सरकारों का दौर खत्म होने की सम्भावना दिखाई दे रही है।

राज्यपाल की स्थिति (Position of Governor)

भारतीय संविधान ने भारत में एक ऐसी संघीय व्यवस्था स्थापित की है जिसके माध्यम से सहयोगी संघवाद की अवधारणा के द्वारा केन्द्र एवं राज्यों के बीच सद्भावपूर्ण संबंध स्थापित करने तथा प्रशासनिक एकरूपता एवं राष्ट्रीय एकता का लक्ष्य रखा गया है। इसी आधार पर भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल के कतव्यों का विभाजन दो आधार पर किया गया। वह राज्य सरकार के संवैधानिक प्रमुख के रूप में तथा केन्द्र सरकार के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में।

साझा सरकारों के दौर में राज्यपाल की स्थिति में बदलाव
(Changes in the Position of Governor in coalition era)

A. राज्यपाल की आज कमजोर होती स्थिति

1. आज राज्यपाल को एक अपने राज्य के अलावा अन्य राज्यों का अतिरिक्त कार्यभार सौंप दिया जाता है जिससे कई राज्यों का एक साथ कार्यभार राज्यपाल के द्वारा प्रभावी रूप से देखा जाना संभव नहीं लगता।
2. राज्यपाल को समय-समय पर अनावश्यक रूप से पद स्थानान्तरण किया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप राज्यपाल के कार्यभार पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
3. संविधान समीक्षा आयोग का भी मानता था कि बहुत से राज्यों के राज्यपाल न तो अपने पद की गरिमा को ही बनाए रखे एवं न ही पद ही गरिमा के अनुसार कार्यभार को सम्पन्न कर पाए।
4. यद्यपि कई परिस्थितियों में राज्यपाल के द्वारा स्वनिर्णय की शक्तियों का उपयोग किया गया लेकिन इसके अभ्यास के संदर्भ में संघ सरकार के हस्तक्षेप को भी देखा जाता है।
5. केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के बदलाव का प्रभाव राज्यपाल पद पर भी दिखाई देता है। या तो वह व्यक्ति निर्धारित कार्यकाल से पहले अपने पद से इस्तीफा देने की इच्छा करता है या उसे बर्खास्त कर दिया जाता है।

B. राज्यपाल की मजबूत होती स्थिति

1. कुछ ऐसे राज्य भी हैं जहां संघ एवं राज्य के स्तर पर अलग-अलग राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हैं वहां संघ सरकार के द्वारा राज्यपाल के माध्यम से राज्य प्रशासनिक गतिविधियों में अनावश्यक हस्तक्षेप देखा गया ।
2. कई राज्यों में कार्यवाहक मंत्रिपरिषद् की स्थिति एवं इस कार्यवाहक मंत्रिपरिषद् के दौर में राज्यपाल का महत्व बढ़ना स्वाभाविक है।
3. आज वर्तमान समय में विधानसभा में अब किसी भी राजनैतिक दल को बहुमत नहीं मिलता जिसे त्रिशंकु विधानसभा कहते हैं। ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री की नियुक्ति के संदर्भ में राज्यपाल के विवेकाधीन शक्तियों का महत्व बढ़ता जा रहा है।
4. राज्य प्रशासनिक तंत्र में जब कोई राजनैतिक सत्ताधारी भ्रष्टाचार में लिप्त होता है तो वहां भ्रष्टाचार की जांच के संदर्भ में अनुमति देने का अधिकार राज्यपाल को सौंपा गया है। ऐसी स्थिति में राज्यपाल की शक्तियों का महत्व बढ़ना स्वाभाविक है।

राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री के मध्य टकराव का कारण (Causes for clash between Governor and Chief Minister)

1. राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री के मध्य टकराव का सबसे बड़ा कारण मुख्यमंत्री की नियुक्ति को लेकर रहा। राज्यपाल मुख्यमंत्री के नियुक्ति के संदर्भ में या तो दलीय भावना को ध्यान में नहीं रखता है या फिर केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप में कार्य करता है। जैसे 1952 में चेन्नई विधान सभा में राज्यपाल ने सी.राजगोपालचारी को मुख्यमंत्री, 1998 में एम.एम. जैकब ने मरान को, मार्च 2000 में वी.सी. पान्डेय ने राबड़ी देवी के स्थान पर नितीश कुमार को, 2002 में विष्णुकांत शास्त्री ने मुलायम सिंह को सरकार बनाने का आमंत्रण देना। झारखंड के राज्यपाल मो. सिब्ते रजी ने अर्जुन मुन्डा के स्थान पर शिबु सोरेन को मुख्यमंत्री बनाया।
2. मुख्यमंत्री का दायित्व बनता है कि राज्य प्रशासनिक गतिविधियों/नीतियों एवं कार्यक्रम के बारे में वह राज्य पाल को सूचित किया जाय। लेकिन कई बार ऐसा देखा गया कि मुख्यमंत्री द्वारा राज्यपाल को तत्परता के साथ समयानुसार सूचित नहीं किया गया।
3. कई बार ऐसा भी देखा गया कि राज्यपाल द्वारा राज्य प्रशासनिक गतिविधियों से संबंधित जानकारी मुख्यमंत्री के बजाय राज्य के उच्चस्थ प्रशासनिक अधिकारियों से प्राप्त करता है।
4. राज्यपाल राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति होता है। ऐसी स्थिति में कुलपति की नियुक्ति के संदर्भ में राज्यपाल की स्वायत्ततापूर्ण कार्य करने की प्रवृति देखी गयी जिससे राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।
5. राज्यपाल के द्वारा राज्य प्रशासन की गतिविधियों से संबंधित केन्द्र सरकार द्वारा प्रतिवदेन की मांग की जाती है। लेकिन जब राज्य प्रशासन के विरुद्ध टिप्पणी की जाती है, तो ऐसी स्थिति में दोनों के मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है।

6. राज्यपाल राज्य विधायिका द्वारा पारित किये गए किसी विधेयक को संविधान के अनुच्छेद 200 के तहत राष्ट्रपति के लिए आरक्षित कर सकता है। यह कार्य भी दोनों के मध्य टकराव का कारण है। यू.पी. के मुख्यमंत्री कल्याण सिंह एवं राज्यपाल सूरजभान के मध्य का टकराव इसका उदाहरण था।
7. कामचलाऊ मंत्रिपरिषद् के मुख्यमंत्री को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई नीतिनिर्देश आदि अत्यन्त आवश्यक न हो तो अगली चुनी हुई सरकार के लिए छोड़ देना चाहिए। लेकिन जब इस बात को कामचलाऊ सरकार के द्वारा ध्यान में नहीं रखा जाता तो यह टकराव का एक कारण बनता है।
8. कई परिस्थितियों में राज्यपाल एवं मुख्यमंत्री के विचार या सोच को लेकर भी टकराव का कारण बनता है। यह विशेषकर उन राज्यों में देखा गया है जहां केन्द्र एवं राज्य में अलग-अलग राजनीतिक दल सत्तारूढ़ रहे हैं।

आज की बदलती हुई परिस्थिति का मुख्यमंत्री की स्थिति पर प्रभाव

(Impact of Changings scenario on the Position of Chief Minister)

A. आज मुख्यमंत्री की कमजोर होती स्थिति

1. राज्य स्तर पर राजनीतिक दलों की बहुलता के कारण विधान सभा में किसी दल को बहुमत न मिलने के कारण मिली जुली सरकारों/संयुक्त सरकारों का महत्व बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में मुख्यमंत्री की स्थिति कमजोर हुई है। विशेषकर स्तरों के निर्धारण, विभागों के आवंटन आदि विषयों पर यह स्थिति देखी जाती है।
2. आज कई छोटे राज्यों में आतंकवाद/अलगाववाद/ नक्सलवाद की समस्याएं हैं। जब इन समस्याओं के समाधान के संदर्भ में राज्य प्रशासनिक तंत्र तथा पुलिस तंत्र अपने आप में असमर्थ महसूस करता है तो ऐसे स्थिति में संघ की निर्भरता स्पष्ट रूप से सामने आती है।
3. राज्यों के मुख्यमंत्री के विरुद्ध कई प्रकार के विवाद एवं भ्रष्टाचार के कारण मुख्यमंत्री की स्थिति में बदलाव आया है।
4. केन्द्र सरकार के द्वारा स्थानीय प्रशासन को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने के लिए राज्य सरकार मध्यस्थ की भूमिका निभाती है। लेकिन आज अधिकांत: यह देखा गया है कि केन्द्र सरकार सीधे वित्तीय सहायता स्थानीय प्रशासन को उपलब्ध कराती है।
5. कई पर्यावरणीय विषय पर राज्य सरकार को केन्द्र सरकार से अनुमति/सहयोग की मांग करती है। दिल्ली में सी.एन.जी. को लागू करने के संदर्भ में यह उदाहरण देखा जा सकता है।

B. आज मुख्यमंत्री की मजबूत होती स्थिति

1. आज संघ के स्तर पर मिली-जुली/संयुक्त सरकारों को दौर चल रहा है। अधिकांश राज्यों के सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों का समर्थन केन्द्र सरकार को मिलता है, जिससे मुख्यमंत्री की स्थिति मजबूत हुई है।
2. आज **अनुच्छेद 356** को दुरूपयोग कम हो गया है। इसका कारण यह है कि सरकार एवं संसद के मध्य समीकरण का बदलाव दिखाई देता है। इसे पारित कराने के लिए संसद (राज्यसभा) में समर्थन उपलब्ध नहीं है। एस.आर. बोम्बई बनाम भारत संघ में सुप्रीम कोर्ट का निर्णय इसका उदाहरण है।
3. अधिकांश राज्यों में ऐसे क्षेत्रीय दल सत्तारूढ़ हैं जिसका कोई सदस्य अपने राज्य के मुख्यमंत्री के साथ पार्टी का प्रमुख भी है। इस कारण भी मुख्य मंत्री की स्थिति में बदलाव आया है।
4. पंचवर्षीय योजनाओं की स्वीकृति के संदर्भ में राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में मुख्यमंत्री की स्थिति में बदलाव दिखाई देता है।
5. जहां पहले राज्यपाल की नियुक्ति के संदर्भ में मुख्यमंत्री से परामर्श नहीं किया जाता है, वहीं आज स्थिति में बदलाव दिखाई देता है। आज राज्यपाल की नियुक्ति के संदर्भ में मुख्यमंत्री के परामर्श की व्यावहारिकरण पर बल दिया जाने लगा है जिससे मुख्यमंत्री की स्थिति मजबूत हुई है।

17. दबाव एवं हित समूह

एक ही प्रकार के हित रखने वाले व्यक्ति जब समूह में संगठित होकर अपने हितों के लिए सरकार पर दबाव का प्रयोग करते हैं, तो उसे दबाव समूह (Pressure Groups) कहा जाता हैं।

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में चाहे वे पाश्चात्य हों या गैर-पाश्चात्य दबाव और हित समूहों का प्रभावी महत्त्व है। इसीलिए उन्हें प्रभावक समूह की संज्ञा भी दी जाती है। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका अग्रणी है। भारत में भी दबाव समूहां की देश की राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने में अहम भूमिका है।

दबाव एवं हित-समूहः प्रकृति तथा अभिप्राय

(Pressure and Interest Groups: Nature and Meaning)

एक लोकतान्त्रिक समाज की राजनीति में राजनीतिक दलों के अतिरिक्त संगठनों और समूहों का भी कार्यभाग होता है। शासन की प्रक्रिया पर, विशेषतः नीति-निर्धारण और विधि-निर्माण पर समाज के विभिन्न समूह अपने विशेष हितों की पूर्ति के लिए दबाव डालते हैं जिन्हें राजनीतिक भाषा में दबाव समूह या प्रभावक-समूह की संज्ञा दी जाती हैं।

समाज में कृषि, मजदूर-समूह की संज्ञा दी जाती है समाज में कृषक, मजदूर, भू-स्वामी, मिल-मालिक, शिक्षक, व्यवसायी आदि विभिन्न प्रकार के हित पाए जाते हैं पर वृहत् श्रेणी के हितों में अनेक छोटे-छोटे हित सम्मिलित होते हैं। जब कोई छोटा अथवा बड़ा हित संगठित रूप धारण कर लेता है तो उसे 'हित-समूह' (Interest Groups) कहा जाता है जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों के विविध समाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक हितों की रक्षा करना होता है एक व्यक्ति के समाज में अनेक हित हो सकते हैं अतः वह एक ही साथ अनेक 'हित-समूहों' का सदस्य हो सकता है। जब जब हित-समूह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार से सहायता प्राप्त करने हेतु विधायकों को इस रूप में प्रभावित करने लगते हैं कि समान्य कानून में संशोधन अथवा उनका निर्माण करते समय उनके हितों का ध्यान रखना पड़ता है तब इन्हें 'दबाव समूह (Pressure Groups) कहते हैं।

दबाव-समूह राजनीतिक दलों की भाँति, किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते वरन् किन्हीं विशेष मामलों (Specific Issues) से सम्बन्धित होते हैं। वे राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं वे तो अपने समूह-विशेष के हित के लिए सरकारी नीतियों और राजनीतिक शक्ति के ढाँचे को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल न होते हुए भी वे दलों की भाँति शक्ति-संगठन हैं जिनकी निजी सदस्यता, उद्देश्य, संगठन, एकता, प्रतिष्ठा और साधन होते हैं।

सामान्यतः द्वि-दलीय व्यवस्था में ये अधिक जागरुक और शक्ति- सम्पन्न रहते हैं, बहुदलीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों का आकार इतना ग्राह्य और स्थानीय हो जाता है कि वे खुद दबाव, समूह से लगते हैं। आधुनिक दबाव-समूह वस्तुतः औद्योगिक युग की देन हैं। इनके सदस्य विशिष्ट हित-सम्पन्न फर्मों, संयुक्त कम्पनियों, विविध उद्योगों आदि के ऐसे अभिकर्त्ता होते हैं जो विविध तरीके अपनाकर विधायकों को अपने पक्ष में प्रभावित करते हैं। इसी कारण लोग बहुधा इन दबाव-समूहों को भ्रष्टाचार का केन्द्र कहते हैं। अमेरिका में दबाव समूहों के प्रतिनिधियों को 'लॉबिइस्ट' (Lobbyists) कहा जाता है।

प्रत्येक व्यवस्थापिका सदन के साथ लगे हुए कमरे अथवा बरामदे को 'लॉबी' (Lobby) अर्थात् 'प्रकोष्ठ' कहा जाता है जहाँ विधायक अवकाश के समय आकार बैठते हैं।

दबाव-समूह और चुनाव (Pressure Groups and Elections)

दबाव-समूह निर्वाचनों के माध्यम से अपने हितों के संरक्षण ओर सम्वर्द्धन का प्रयास करते हैं यह संख्यात्मक अथवा आर्थिक-शक्ति के बल पर राजनीतिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने की 'अप्रत्यक्ष दबाव नीति' (Indirect Pressure Policy) है। प्रभावशाली दबाव-समूह चुनाव के समय उन प्रत्याशियों के पक्ष में चुनाव प्रचार करके उन्हें सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं जिनसे उनको यह आशा होती है कि वे विधान-मण्डल अथवा सरकार में पहुँच कर उनके हितों को पोषण करेंगे। दबाव-समूहों का प्रयत्न रहता है कि वे अपने अनुकूल राजनीतिक दल को धन-जन से समर्थन प्रदान करें। विधान मण्डल में अपने अनुकूल सदस्यों को बहुमत में लाने का प्रयत्न करें ताकि राजनीतिक सत्ता उनके पक्ष में झुकी रहे या उनके हितों का ख्याल रखे।

दबाव-समूह और विचार-शैथिल्य तथा प्रतिनिधित्व की प्रक्रियं

(Pressure Groups and Indeological Inertia and the Procedure for Representation)

दबाव-समूह अथवा प्रभावक गुट एक 'गत्यात्मक' शक्ति (Dynamic Force) है। वे प्रजातन्त्र के हृदय में निरन्तर स्पन्दन बनाए

रखने में सहयोग देते हैं। दो सरकारों के अन्तराल में तथा निर्वाचनों की प्रविधि में विचार शैथिल्य को रोकते हैं। निर्वाचनों के पश्चात् अपने ज्ञान, अनुभव, विशेषज्ञता तथा सांख्यिकी इत्यादि की सहायता से प्रभावक गुट विधान-मण्डल एवं समितियों के कक्षों में अपनी गतिविधियों को केन्द्रित करके व्यवस्थापन को अपने हित में प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

दबाव समूहों की विशेषताएं

1. राजनीतिक दलों पर अस्तित्व निर्भर जैसे- INTUC- कांग्रेस,AITUC - साम्यवादी दल,
2. राजनीतिक दलों द्वारा विकसित NSUI - Congress, ABVP - BJP
3. पारिवारिक या जातीय स्वरूप - वैश्य महासभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, प्रमुख व्यापारिक ग्रुप
4. आंदोलनकारी नीति
5. साधारण व शिष्टजन के बीच कड़ी।
6. सामाजिक एकीकरण में सहायक
7. हिंसा का प्रयोग

कार्यविधियां

1. मनोरंजन व प्रलोभन
2. व्यापक प्रचार
3. निर्वाचन के समय सहायता
4. लॉबीइंग
5. आंदोलन और बल प्रयोग

दबाव समूहों का महत्व (Importance of Pressure Groups)

दबाव-समूह अपने हितों के विरुद्ध व्यवस्थापन का यथाशक्ति विरोध करते हैं इस प्रक्रिया में प्राय: ऐसे विधायकों का पुनर्मूल्याँकन हो पाता है जो जनता कि आकाँक्षाओं अथवा हितों के प्रतिकूल हैं। आज दलीय अनुशासन की कठोरता के फलस्वरूप विधायक का व्यक्तिगत महत्त्व घटता जा रहा है और ऐसे में दबाव-समूह का प्रभाव परोक्ष रूप से बढ़ रहा है।

दबाव-समूह के माध्यम से सार्वजनिक अधिकारियों पर आवश्यक अंकुश लगा रहता है। देश के सभी नागरिकों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे सार्वजनिक अधिकारियों के कार्यों पर निगाह रखें, लेकिन उनके कार्यों पर किसी-न-किसी हित-समूह की दृष्टि अवश्य रहती है। वे निरंकुशता की प्रवृत्ति से बचे रहते हैं। इससे प्रशासनिक निरंकुशता पर अंकुश स्थापित हो जाता है।

भारत में दबाव-समूह (Pressure Groups in India)

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव-समूहों का महत्त्व निर्विवाद रहा है। भारत में दबाव-समूह का निर्माण स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले आरम्भ हो चुका था। 1885 में काँग्रेस दल की स्थापना ऐसी संस्था के रूप में हुई थी जिसका उद्देश्य राजनीतिक तथा समाजिक क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार से अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त करना था।

कलकत्ता में इण्डियन लीग नामक संस्था की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से यह माँग करना था कि भारतीय लोक सेवा में भारतवासियों के लिए स्थानों की संख्या बढ़ाई जाएं तथा इस सेवा में भारतवासियों के लिए स्थानों की संख्या बढ़ाई जाए तथा इस सेवा में प्रवेश के लिए निर्धारित अधिकतम आयु-सीमा को भी बढ़ाया जाए। 1920 में भारतीय राजनीति में गाँधीजी ने प्रवेश कर कृषक तथा श्रमिक वर्ग को संगठित कर काँग्रेस के द्वारा चलाए जाने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप दिया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत में दबाव-समूहों की संख्या स्वाभाविक रूप से बढ़ी और उनके प्रभाव क्षेत्र में भी वृद्धि हुई। इसका कारण वयस्क मताधिकार, राजनीतिक समानता, सरकार के कार्य-क्षेत्र में विस्तार ओर संविधान द्वारा वाक् प्रेस तथा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता के अधिकारों को दिया जाना है।

भारतीय संविधान ने राजनीतिक सत्ता का अन्तिम स्रोत जनता को माना ओर सरकार के निर्माण का अधिकार जन-साधारण को प्रदान किया। प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली की स्थापना के परिणामस्वरूप राजनीतिक दल स्वाभाविक रूप से अधिक क्रियाशील हो गए

और व्यावहारिक राजनीति में जन-साधारण के भाग लेने के कारण स्वयं राजनीतिक दलों ने विभिन्न वर्गों को हितों के आधार पर संगठित करना आरम्भ कर दिया। फलस्वरूप भारत में व्यावसायिक, श्रमिक, व्यापारिक, जातीय तथा साम्प्रदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठनों का निर्माण हुआ।

भारत में दबाव-समूहों के विभिन्न प्रकार और उनका प्रभाव

(Types of effects of Pressure Groups in India)

1. **व्यावसायिक**- जैसे भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग मण्डल संघ। यह इस क्षेत्र में सबसे बड़ी संस्था है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग व्यवसायों और विभिन्न राज्यों में कई अन्य संस्थाएँ हैं जिनका व्यवसाय से सम्बन्ध है।
2. **श्रमिक**- जैसे अखिल भारतीय मजदूर काँगेस, भारतीय राष्ट्रीय मजदूर काँगेस आदि।
3. **कृषि सम्बन्धी**- जैसे भारतीय में कृषक समाज किसान, किसान पंचायत, संयुक्त किसान सभा, किसान मजदूर युनियन आदि।
4. **राज्य कर्मचारी संघ**- जैसे डॉक्टर, वकील, अध्यापक, सरकारी कर्मचारी आदि विभिन्न पेशों और कार्यों से सम्बद्ध जैसे-मेडिकल कॉन्सिल ऑफ इण्डियन लॉ इन्स्टीटयूट, अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ, अखिल भारतीय यूनिवर्सिटीज एण्ड कॉलेज, टीचर्स एसोसिएशन, युवा काँग्रेस, अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ, सिविल एसोसिएशन समूह प्राय: सभी क्षेत्रों में पाए जाते हैं। भारत में दो ओर विशेष प्रकार के समूहों का संगठन हुआ है जो अन्यत्र नहीं है -

   A. धर्म, जाति अथवा सम्प्रदाय सम्बन्धी, जैसे-अकाली दल, परिगणित जाति संघ, वैस्य महासभा आदि।

   B. गाँधीवादी और सर्वोदयी विचारों से प्रेरित संस्थाएँ, जैसे-गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान, सर्वसेवा संघ, अखिल भारतीय हरिजन सेवक-संघ, गाँधी स्मारक निधि, अखिल भारतीय चर्खा संघ आदि।

भारत में आधुनिक दबाव-समूहों (Modern Pressure Groups) में व्यावसायिक एवं औद्योगिक दबाव-समूह, श्रमिक संघ, किसान संगठन, शिक्षित वर्ग के संगठन आदि तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, गाँधीवादी संगठन भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भारत में ये दबाव-समूह व्यवस्थापन समितियों को प्रभावित करते हैं। ये दबाव-समूह मन्त्रिण्डलों के निर्णय तक बदल देने की क्षमता रखते हैं।

व्यापारिक दबाव-समूह (Trade Pressure Group)

भारत में अनेक व्यावसायिक समूह भी दबाव-समूहों का कार्य करते हैं। व्यावसायिक घरानों की भूमिका उल्लेखनीय है जिन्होंने देश के व्यापार और व्यवसाय को अपने हाथों में केन्द्रित कर रखा है। ये परिवार राजनीतिक दलों को चन्दा देकर, सार्वजनिक कोषों में दान देकर, औद्योगिक तथा शिक्षण संस्थाओं में उचित वेतन वाले पद देकर, अपने समर्थक प्रत्याशियों को निर्वाचन में विजयी बनाकर सार्वजनिक नीति को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। इन औद्योगिक समूहों अथवा घरानों के अतिरिक्त विभिन्न व्यापारिक जातियाँ सार्वजनिक नीति को प्रभावित करती हैं,

सामुदायिक संघ (Communal Associations)

सामुदायिक संघों (Communal Associations) ने धर्म, भाषा, जाति, कबीलों के विभाजन, संघर्षों आदि पर आधारित आरे इनसे प्रेरित दबाव एवं हित-समूहों को सम्मिलित किया है। क्षेत्रवाद और सम्प्रदायवाद भारतीय राजनीतिक समुदाय और लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए गंभीर चुनौती रहे हैं अत: इन पर आधारित और इनसे प्रेरित हित-समूहों के विकास को देश के लिए स्वस्थ नहीं माना जा सकता।

ट्रेड यूनियन (Trade Unions) या श्रमिक संघों की राजनीति

अधिकांश विकासशील देशों की भाँति भारत में भी श्रमिक संघ बहुत अधिक राजनीतिक रहे हैं। श्रमिक संघों में से अनेक किसी एक या दूसरे केन्द्रीय श्रमिक संगठनों के साथ सम्बद्ध हैं- सम्बद्ध संघों और उनके संगठनों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में ऐसी संस्थाएँ और परिसंघ भी हैं जो किसी भी केन्द्रीय मजदूर संगठन में शामिल नहीं हुए हैं।

इनमें से कुछ है-अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संगठन, श्रमिक आन्दोलन में एकता की कमी ने सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक नीतियों को प्रभावित करने की इनकी क्षमता को काफी सीमित किया है। साथ ही श्रमिक आन्दोलन का लक्ष्य केवल कुछ तात्कालिक आर्थिक तथा भौतिक लाभ प्राप्त करना मात्र रह जाता है। न कि लम्बे समय तक आने वाले समय के लिए श्रमिकों में चेतना तथा जागृति पैदा करना।

18. विविध

अनुच्छेद 370 (Article 370)

1. जम्मू कश्मीर राज्य का अपना पृथक संविधान है स्पष्ट है कि जम्मू कश्मीर में दोहरी नागरिकता के सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है।
2. राज्यों के संबंधों में संसद को विधान बनाने की अवशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त है। किन्तु जम्मू-कश्मीर की दशा में अवशिष्ट शक्ति राज्य के विधानमण्डल को प्राप्त है।
3. अनु.352 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा आंतरिक अशांति के आधार पर की गई आपात घोषणा जम्मू-कश्मीर राज्य सरकार की सहमति के बिना उस राज्य में प्रभावित नहीं होगी।
4. संसद को जम्मू-कश्मीर राज्य के विषय में अनु. 360 के अधीन वित्तीय आपात की उद्घोषणा की शक्ति नहीं होगी।
5. जम्मू-कश्मीर में राज्यपाल की नियुक्ति वहां के मुख्यमंत्री से सलाह के उपरांत ही होगी।
6. संसद 7वीं अनुसूचि में वर्णित राज्य सूची के विषयों पर जम्मू-कश्मीर के लिए नियमों का निर्माण किसी भी दशा में नही कर सकेगी।
7. संसद को जम्मू-कश्मीर राज्य के विधानमण्डल की सहमति के बिना उस राज्य के नाम, क्षेत्र या सीमाओं में कोई भी परिवर्तन का अधिकार नही है।
8. अनु.22 के अन्तर्गत बनाई गई निवारक निरोध विधि का विस्तार जम्मू-कश्मीर पर नहीं होगा।
9. संसद को यह शक्ति नही है कि वो अनु.365 के अधीन उसके द्वारा दिये गये निर्देशों के अनुपालन में असफल रहने पर राज्य के संविधान को निलंबित कर सके।
10. अनु. 356 का विस्तार संशोधन आदेश 1964 के द्वारा किया गया है किन्तु यहां संवैधानिक तंत्र की विफलता।
    1. जम्मू-कश्मीर में इस हेतु दो प्रकार की उद्घोषणाएं होती है।
    2. भारतीय संविधान की धारा 356 के अधीन राष्ट्रपति का शासन। ये दोनो उद्घोषणाएं एक साथ प्रवर्तित होती है।
11. नीति निदेशक तत्व के भाग-4 के उपबंध जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होते।
12. नियोजन, संपति के वर्जन और निवास के विशेष अधिकार राज्य के स्थायी निवासियों को प्रदान किये गये है।
13. अनु. 19(1)(क) और अनु. 31 (2)-जम्मू-कश्मीर राज्य में विरासत नहीं हुआ है अर्थात संपति का अधिकार इस राज्य में संविधान द्वारा प्रत्याभूत अधिकार।

भारत में नौकरशाही प्रशासन की प्रवृति एवं भूमिका (Nature & Trends of Bureaucratic Governance in India)

अर्थ -नौकरशाही एक कुशल, प्रशिक्षित तथा कर्तव्य परायण सरकारी कर्मचारियों का विशिष्ट संगठन है जिसमें पद्सोपान तथा आज्ञा की एकता के सिद्धान्तों का कडाई से पालन किया जाता है।

विशेषताएं -

1. स्थायित्व
2. राजनीति से तट्स्थता
3. व्यवसायिक
4. पदसोपान

लोकसेवकों के कार्य

1. नीति निर्माण।
2. सलाह देना- राजनीतिक कार्यपालिका को ।
3. नीति को कार्यान्वित करना।

4. विधि निर्माण कार्य- प्रदत्त व्यवस्थापन के अर्न्तगत बनने वाले समस्त नियमों, 34 नियमों का निर्माण।
5. अर्द्ध न्यायिक कार्य- प्रशासनिक कानून तथा प्रशासनिक निर्णय के फलस्वरूप।
6. विकास अभिकरण के रूप में।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका (Role of Caste in Indian Politics)

जाति व्यवस्था भारतीय समाज का परंपरागत और रूढ़ पक्ष जबकि लोकतंत्र, राजनीति और चुनाव भारतीय राजनीति के आधुनिक पक्ष। जहां सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वही राजनीति और प्रशासन में इसका स्वरूप निरंतर बढ़ रहा है।

नकारात्मक भूमिका

1. दलों के निर्माण व पहचान का आधार।
2. चुनावों में उम्मीदवारों व प्रत्याशियों के चयन का आधार।
3. चुनाव प्रचार का आधार जाति।
4. विधानमण्डलों में जाति के आधार पर आरक्षण।
5. मंत्रिमण्डल के निर्माण का आधार जाति।
6. दबाव समूह के रूप में कार्य।
7. क्षेत्रवाद और क्षेत्रीय दलों को बढ़ावा।
8. राजनीति में अपराधीकरण को बढ़ावा।
9. हिंसा व गुटबाजी को बढ़ावा।

सकारात्मक भूमिका

1. व्यक्ति संगठित होकर राजनीति में भाग लेते है जिससे अधिक से अधिक मतदान कर लोकतंत्र प्रक्रिया को बढ़ावा।
2. नेताओं को सत्ता प्राप्ति के लिए जाति एक बना बनाया संगठन मिल जाता है।
3. जातियों में राष्ट्रीय भावना का उदय जिससे पृथकता की भावना कम।
4. संगठित होकर निम्न वर्ग भी सत्ता में शामिल।
5. जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परंपरावादी व्यवस्था को आधुनिकता ढ़ालने के सांचे का कार्य करती है।
6. अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधिक लोकतंत्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता प्रदान करती है।

निष्कर्ष - जाति भारतीय राजनीति में सकारात्मक व नकारात्मक दोनों भूमिकाएं अदा करती है। जाति एक प्रमुख तत्व है परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि भारतीय राजनीति पूर्णतया जाति पर निर्भर है अन्य तत्व भी महत्वपूर्ण है जैसे-विकास का मुद्दा कार्यो का मुद्दा।

क्षेत्रवाद (Regionalism)

अर्थ- राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या आकर्षण दिखाना ही क्षेत्रवाद है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रवाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक है वस्तुतः यह राष्ट्रीयता की भावना का विलोम है जिसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थो की पूर्ति करना है।

क्षेत्रवाद का उदय स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात हुआ।

कारण

1. आर्थिक- तेंलगाना, विदर्भ,उत्तराखण्ड व झारखण्ड
2. भौगोलिक- क्षेत्रफल बड़ा।
3. सांस्कृतिक

4. भाषा- मिथलांचल, बुंदेलखण्ड
5. जाति- हरियाणा, महाराष्ट्र
6. राजनीतिक- राजनीतिज्ञों की स्वार्थी आकांक्षायें

दुष्परिणाम

1. एकता व अखण्डता के लिए घातक
2. केन्द्र राज्य संबंधों में संघर्ष
3. कानून व्यवस्था की बिगड़ती दशा।
4. राष्ट्र निर्माण व राज्य निर्माण की समस्या।
5. विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष व तनाव।
6. भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना।
7. स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास।

दूर करने के व्यावहारिक सुझाव

1. संतुलित विकास
2. राष्ट्रीय भावना का प्रसार
3. राज्यों के बीच सांस्कृतिक संपर्क
4. अलगाववाद के विरूद्ध कठोरता से कारवाई।
5. सभी क्षेत्रीय भाषाओं को समान मान्यता।
6. हिन्दी भाषा का प्रचार प्रसार इस तरह से कि सभी क्षेत्रीय समूह स्वत: ही इसे संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार कर ले।

निष्कर्ष-भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण और लोकतांत्रिक देश में क्षेत्रवाद स्वाभाविक उपधारणा है। यदि स्रोतो के बंटवारे, विकास की गति और विभिन्न समुदायों की आकांक्षाओं को कुछ सीमा तक नियंत्रित किया जाये तो क्षेत्रवाद हानिकारक न होकर एक सामान्य संघीय प्रक्रिया तक ही सीमित रहता है और विभिन्न अल्पसंख्यकों और क्षेत्रीय वर्गो को राजनीति में भागीदारी की संतुष्टि दिलाता है।

सांप्रदायिकता (Communalism)

भूमिका - संविधान द्वारा भारत को एक पंथनिरपेक्ष राज्य घोषित, फिर भी भारतीय राजनीति में धर्म की एक विशेष भूमिका है। हम धर्मनिपेक्ष राज्य की स्थापना तो कर पाये है लेकिन धर्मनिरपेक्ष समाज की नही। इसी संदर्भ में सांप्रदायिकता की समस्या उत्पन्न होती है।

अर्थ - यह धार्मिक नहीं, मूल रूप में राजनीतिक समस्या है। धार्मिक, भाषाई समूहों की वह प्रवृत्ति जिसके द्वारा वे दूसरे समूहों के हितों को नुकसान पहुंचाकर अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति का प्रयास करते है इस रूप में वो अपने हितों को अन्य समूहों से ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय हितों से ऊपर रखते है। यही सांप्रदायिकता है।

कारण

1. मुसलमानों में पृथक्करण की भावना।
2. मुसलमानों का सामाजिक, शैक्षिक पिछड़ापन।
3. संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद।
4. सरकार की उदासीनता।
5. वोट बैंक की राजनीति।
6. राजनीतिक दलों की भूमिका।
7. धार्मिक संगठन राजनीति को प्रभावित।
8. दोनों समुदायों के बीच भय, अविश्वास व संदेह की भावना।

9. समान आचार संहिता का लागू नहीं हो पाना।

दुष्परिणाम

1. विभिन्न वर्गो मे आपसी द्वैष।
2. राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिए घातक।
3. लोकतंत्र के विरूद्ध।
4. राष्ट्र निर्माण व राज्य निर्माण की समस्या।
5. विकास की गति को अवरूद्ध
6. राजनीतिक अस्थिरता
7. प्राण हानि, आर्थिक हानि
8. राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा।

दूर करने के सुझाव

1. अल्पसंख्यकों में विश्वास की भावना पैदा की जाये।
2. राष्ट्रीय भावना का प्रचार-प्रसार
3. सांप्रदायिक प्रचार करने वालों के विरूद्ध कठोर कारवाई।
4. शिक्षा के माध्यम से धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ावा।
5. राजनीति और सांप्रदायिकता में अलगाव।
6. समान आचार-संहिता को लागू करना।

राजनीति का अपराधीकरण (Criminalization of Politics)

अर्थ- आपराधियों का राजनीतिक दलों तथा संसद सहित सभी विधायी संस्थाओं में सीधे प्रवेश। राजनीतिक प्रक्रिया और काम काज को प्रभावित करने के लिए आपराधिक ढंग और तौर तरीकों का प्रयोग भी राजनीति के अपराधीकरण में आता है।

कारण

1. नैतिक मूल्यों का पतन।
2. गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी।
3. संपन्न वर्ग के युवाओं में असीमित लालसाएं और नैतिक पतन।
4. सत्ता प्राप्ति राजनीतिक दलों का एकमात्र लक्ष्य।
5. पुलिस और प्रशासन मे राजनीतिक हस्तक्षेप और निहीत स्वार्थो का बढ़ता हुआ दबाव।
6. अपराधी राजनीतिज्ञों की जनता मे स्वीकार्यता।
7. शासन की क्षमता और गुणवत्ता में भारी कमी।
8. आपराधिक न्याय व्यवस्था अत्यधिक दोषपूर्ण-क्योंकि इसमें संदेह का लाभ उठाकर अपराधी छूट जाते है।

प्रगति- इसका आरंभ औपनिवेशिक बल से जब अंग्रेजों ने फूट डाले और राज करो की नीति के तहत साप्रंदायिक विद्वैष फैलाने के लिए अपराधी तत्वों का प्रयोग किया। हालांकि उन्हें सत्ता के प्रयोग से दूर रखा।

स्वाधीनता के बाद इसमें तेजी आई लेकिन सीमित प्रयोग, 3-4 वें चुनाव में पहले की अपेक्ष अधिक प्रयोग। 14वीं लोकसभा में 541 सांसदों में से 1/4 आपराधिक प्रवृत्ति के थे।

परिणाम

1. आज राजनीति एक सर्वव्यापी गतिविधि बन गई है जिससे जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रह गया है।
2. ऐसे में राजनीति के अपराधीकरण का आशय है जीवन के सभी क्षेत्रों में आपराधिक गतिविधियों का प्रवेश।
3. हिंसा

4. भ्रष्टाचार

सुधार हेतु उपाय

1. आपराधिक गतिविधियों में संलग्न व्यक्तियों के चुनाव लड़ने पर कानूनी रोक की व्यवस्था।
2. आपराधिक कानूनी व्यवस्था और न्याय व्यवस्था में अत्यधिक महत्वपूर्ण सुधारों की आवश्यकता।
3. शासन की क्षमता और गुणवता में सुधार।
4. राजनीतिक दलों और राजनीतिक गतिविधियों में सुधार।
5. चुनाव व्यवस्था में सुधार और चुनावी राजनीति को व्यवस्थित करना।
6. प्रेस व मीडिया का दायित्व।
7. सामान्य अभिजन और मतदाताओं में अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूकता।

भारत में परिसंघ व्यवस्था को प्रभावित करने वाले गैर संवैधानिक तत्व (Extra-Constitutional Elements effecting Indian Federalism)

1. **योजना प्रक्रिया**- योजना के स्तर पर राज्य की योजना केन्द्रीय योजना के साथ एकीकृत रूप से सम्बद्ध होती थी जिससे राज्यों की स्वायत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। परिसंघ की मूल भावना के अनुरूप अब सांकेतिक योजनाओं का दौर है जिसमें विकेन्द्रिकृत योजना के महत्व पर बल प्रदान किया गया है जो परिसंघ में राज्यों की स्थिति को सुदृढ़ करता है।
2. **आर्थिक प्रबंधन**- भारत में स्वतंत्रता पश्चात आर्थिक संवृद्धि हेतु नीचे टपकन सिद्धान्त को अपनाया गया। इसमें राज्यों की भूमिका अत्यन्त सीमित थी लेकिन 90 दशक में नीति अपनाने के बाद राज्यों को आर्थिक प्रबंधन में महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये है जो परिसंघ को सकारात्मक रूप से प्रभावित करते है।
3. **राजनीतिक प्रक्रिया**- राजव्यवस्था का परिसंघ पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है भारत में लंबे समय तक केन्द्र राज्यों में एकदलीय शासन रहा जिससे शक्ति केन्द्रीकरण की प्रवृति को बल मिला तथा राज्यों की स्वायत्ता को अभिव्यक्ति नही मिल पाई। वर्तमान में क्षेत्रीय दलों की राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावकारी भूमिका स्थापित हुई है तथा साझा सरकारों का एक नया दौर देखने को मिला है। निश्चित ही इस घटनाक्रम से राज्यों की राजनीतिक शक्ति में वृद्धि है जो परिसंघ की भावना को मजबूत बनाती है।

राष्ट्रीय विकास परिषद (National Development Council)

6 अगस्त 1952 को केन्द्र सरकार के एक प्रस्ताव द्वारा इसका गठन किया गया है भारत का प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है राज्यों के मुख्यमंत्री एवं योजना आयोग के सभी सदस्य इसके भी सदस्य होते है। योजना आयोग का सचिव इसका भी सचिव होता है। 1967 से केन्द्रीय मंत्रिपरिषदों के सभी सदस्य एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासकों को भी इसकी बैठकों में बुलाया जाने लगा है।

कार्य

1. राष्ट्रीय योजना (पंचवर्षीय) पर विचार विमर्श करना एवं स्वीकृति देना।
2. राष्ट्रीय योजना के संचालन का समय-समय पर मूल्यांकन।
3. राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाले सामाजिक आर्थिक नीतियों की समीक्षा करना।
4. अविकसित एवं पिछड़े वर्गो तथा क्षेत्रों के विकास के लिए आवश्यक परियोजनाओं का सुझाव देना।
5. राष्ट्रीय योजना के लिए निर्देशित प्रारूप तैयार करना।
6. विभिन्न योजनाओं के सहायतार्थ राष्ट्रीय संसाधनों एवं प्रयासों को गतिशील एवं सुदृढ़ बनाना।
7. सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सामूहिक हितों वाली नीतियों को प्रोत्साहन देना।
8. राष्ट्रीय आयोजन में निर्धारित लक्ष्यों एवं त्रुटियों को पूरा करने के उपाय-सुझाना।

नोट :-

नीति आयोग के गठन के पश्चात योजना आयोग (समाप्ति की तिथि- 01/1/2015) व राष्ट्रीय विकास परिषद को समाप्त कर दिया गया हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission)

एक संसदीय अधिनियम द्वारा 1956 में इसका निर्माण हुआ। इसके प्रमुख कार्य निम्न है।

1. शिक्षा के उच्च गुणात्मक स्तरों को स्थापित करना व उसके विकास का प्रयास करना।
2. विश्व विद्यालयी शिक्षा में सामंजस्य को बढ़ावा देना।
3. विश्वविद्यालयों में अध्ययन, परीक्षा, शोध के लिए उच्च मानदण्डों का निर्धारण करना व उनकी स्थापना हेतु प्रयास करना।
4. विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय स्तर पर यथासंभव एकरूपता स्थापित करना।
5. शोध व संबंद्ध कार्यो हेतु वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना। विभिन्न राज्यों में शैक्षणिक एकरूपता लाने का तथा विश्वविद्यालय शिक्षा में उच्च गुणात्मकता लाना।

संसदीय व्यवस्था में विपथगमन (Aberrations in Parliamentary System)

निर्वाचन संबंधी- निर्वाचन प्रक्रिया पर धन, जाति, धर्म, हिंसा, बल का बढ़ता प्रभाव।

1. जो प्रक्रिया अपराधियों के राजनीतिकरण से शुरू हुई थी वह आज राजनीति के अपराधीकरण तक पहुंच चुकी है। लोकसभा में अपराधिक तत्वों की संख्या में लगातार वृद्धि हुई है।

   उदाहरण स्वरूप- 14 वीं लोकसभा में 129 सांसदों पर आपराधिक मामले दर्ज थे।
2. क्षेत्रीय दलों के प्रादुर्भाव के कारण त्रिशंकु संसद तथा अस्थिर सरकारों का दौर चल रहा है।
3. दलों मे आंतरिक लोकतंत्र का अभाव है। वंशवाद व भाई भतीजावाद है।

संसदीय काम-काज संबंधी

1. सदन के कार्य दिवसों में लगातार गिरावट आई है 1952 में संसद में 125-135 दिन तक सदन में कार्य होते थे। आज पिछले 4 वर्षो में यह कार्य दिवस संख्या 80 पर सीमित हो गई है।
2. संसद में विभिन्न दलों द्वारा सदन के काम-काज को बाधित करने, बैठकों से वहिर्गमन करने की परंपरा इधर काफी बढ़ गई है।
3. संसद में विवाद, विचार-विमर्श के स्तर में लगातार गिरावट आ रही है।
4. संसद का प्रमुख कार्य था विधायनों का निर्माण लेकिन प्रत्यायोजित विधानों की बढ़ती संख्या के कारण संसद सदस्यों में विध ायनों के निर्माण के संबंध में उदासीनता बढ़ती जा रही है। इसका प्रमाण है कि संसद के शीतकालीन सदन में 5 दिसम्बर 2004 को एक ही दिन में ऐतिहासिक रूप से 161 विधेयक पारित कर दिये गये।
5. गणपूर्ति का अभाव- संसदीय गतिविधियों के प्रति सदस्यों की उदासीनता इस बात से भी प्रमाणित होती है कि भारतीय संसद में मात्र 10 प्रतिशत सदस्यों से गणपूर्ति प्राप्त होती है किन्तु वह भी प्राय: पूर्ण नही हो पाता जबकि यू.एस.ए. में सदस्यों की गणपूर्ति 50 प्रतिशत सदस्यों की उपस्थिति है।

अन्य विपथगमन

1. दल-बदल की प्रवृत्ति से बार-बार सरकारों का गिरना।
2. विशाल आकार के मंत्रिपरिषद के कारण राजकोषीय स्थायित्व में समस्या।

प्रधानमंत्री कार्यालय बनाम कैबिनेट सचिवालय (PMO Verses Cabinet Secretariat)

यह प्रधानमंत्री को उनकी जिम्मेदारी व कृत्यों के संबंध में समर्थन करता है इसमें सिविल सेवकों के अलावा राजनीतिक आधार पर भी नियुक्तियां होती हैं इसके कार्य निम्न है-

1. मंत्रालयों, विभागों के बीच समन्वय।
2. प्रधानमंत्री के वक्तव्य, भाषण आदि तैयार करना।
3. संसदीय कार्यवाहियों के प्रति प्रधानमंत्री के प्रति उत्तर तैयार करना।
4. प्रधानमंत्री के मीडिया संबंधों की देख रेख करना।

प्रधानमंत्री के पास कोई वैधानिक शक्तियां नही है जबकि कैबिनेट सचिव के पास वैधानिक शक्तियों होती है प्रधानमंत्री औपचारिक

रूप से भारतीय प्रशासनिक ढांचे का हिस्सा नही हैं। प्रधानमंत्री की भूमिका, स्थिति, प्रधानमंत्री की राजनीतिक शक्ति पर निर्भर करती है। अतिशक्तिशाली प्रधानमंत्री के मामले में पी.एम.ओ. का भी प्रभुत्व स्थापित हो जाता है और यदि प्रधानमंत्री कमजोर है तो पी.एम. ओ. की शक्तियां भी कमजोर हो जाती है। विगत कुछ वर्षो से पी.एम.ओ. के आकार वृद्धि के साथ साथ उसमें कर्मचारियों की संख्या भी निरंतर बढ़ी है।

कैबिनेट सचिवालय

यह कैबिनेट सचिव की अध्यक्षता में गठित होता है यह कैबिनेट को सचिवालय सेवाएं प्रदान करता है। इसके कार्य निम्न है-

1. भारत सरकार (व्यापार कार्यान्वयन नियम, 1961) के प्रशासन हेतु यह पूर्ण रूप से उत्तरदायी है।
2. कैबिनेट को विभिन्न कार्यो हेतु यह समर्थन करता है जैसे- कार्यसूची तैयार, कैबिनेट निर्णयों के कार्यान्वयन की देख रेख करना, कैबिनेट के निर्णयों, काम-काज के संबंध में विभिन्न मंत्रालयों के बीच संबंध स्थापित करना।
3. विभिन्न मंत्रालयों के मध्य उत्पन्न गतिरोध को समाप्त करना तथा इस हेतु सचिवों की स्थायी तदर्थ समितियों के नियुक्ति करना।
4. कैबिनेट के महत्वपूर्ण निर्णयों को राष्ट्रपति तक संप्रेषित करना।
5. संकट, संक्रमण के समय में एक समन्वयकर्ता के रूप में कार्य करना तथा राष्ट्र में उत्पन्न प्रमुख संक्रमणकालीन समस्याओं को उचित प्रबंधन व निराकरण करना।
6. सरकारी पदाधिकारियों की प्रोन्नति, नियुक्ति में भी कैबिनेट सचिव की प्रमुख भूमिका होती है।

संसदीय प्रणाली में मुख्य भूमिका कैबिनेट सचिवालय की होनी चाहिए किन्तु यदि प्रधानमंत्री शासन की स्थिति आती है तो पी. एम.ओ. कैबिनेट सचिवालय पर वर्चस्व व्यावहारिक रूप से स्थापित हो जाता है। भारत सरकार के काम-काज संबंधी नियमों में यह प्रावधान है कि कैबिनेट के निर्णयों, अनुशंसाओं को ही संवैधानिक उद्देश्य के लिए मंत्रिपरिषद की अनुशंसा समझा जायेगा।

राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता (Financial Autonomy of States)

वित्त आयोग द्वारा राजस्व के कुल भाग में राज्यों को दिया जाने वाला हिस्सा परिवर्तनीय होता है राज्यों को लोक महत्व के कई कार्य संपादित करने होते है लेकिन उन्हें इस संदर्भ में वित्तीय स्वयत्तता प्रदान नहीं की गई है। राज्यों की इस हेतु कुछ मांगें है जो निम्न है-

1. कराधान के इस संदर्भ में अवशिष्ट शक्तियां या तो राज्य सूची में या समवर्ती सूची में शामिल की जाये। अंतर्राज्यीय परिषद की 2001 की बैठक में सिद्धान्त रूप में इस बात को स्वीकार कर लिया गया था।
2. राज्यों की मांग है कि सेवा कर को लगाने, वसूल करने प्रयोग करने का अधिकार एकान्तिक रूप से उन्हें दिया जाये। 95वें संशोध न विधेयक में इस संदर्भ में प्रावधान किया गया है।
3. उन्हें घरेलू बाजार से और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऋण प्राप्त करने के लिए अधिक स्वतंत्रता प्रदान की जाय। .4. ओवरड्राफ्ट आदि की सुविधाओं के लिए राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाय।
5. गाडगिल फार्मूले को परिवर्तित किया जाय जिससे कि ऋण के अंश को कम कर अनुदान का अंश 50 प्रतिशत तक बढ़ाया जाय।
6. ऋण का अंश ज्यादा होने के कारण अधिकांश ऋण जाल में फंस जाते है।
7. समस्त केन्द्र प्रायोजित योजनाओं का वित्तीय प्रबंधन करने की जिम्मेदारी उन्हें सौपी जाय।

निष्कर्ष - 1990 के बाद तथा 10वीं पंचवर्षीय योजना के Indicative प्रारूप को देखकर विकेन्द्रिकृत आयोजन के लक्ष्य में ये वित्तीय स्वायत्तता: राज्यों को देना सर्वथा उचित है। इस मामले में केन्द्र सरकारें भी सिद्धान्तत: सहमत है। यद्यपि अपनी स्वयं की वित्तीय स्थिति का ध्यान रखने के कारण अभी यह व्यवहार में नहीं आ सका है।

छोटे राज्यों का निर्माण (Constituting Smaller States)

समय-समय पर यह मांग निम्न कारणों से उठती रही है-

1. क्षेत्रीय असंतुलन।
2. कुछ बड़े राज्यों में किसी क्षेत्र विशेष के लोगों में आर्थिक वचन की भावना। जैसे-झारखण्ड से सारा राजस्व वसूल बिहार पर खर्च

होता था।

3. एक मत कि छोटे राज्यों से प्रशासनिक क्षमता बढ़ जाती है। क्योंकि प्रशासन का जन समस्याओं से अधिक प्रखर रूप में जुड़ाव हो पाता है।
4. सांस्कृतिक, नृजातीय भावनाओं के कारण पृथक राज्य की मांग। जैसे-North East esa ethnic specilities.

परिणाम

1. सकारात्मक भी हो सकते है। जैसे-पंजाब, हरियाणा, केरल में।
2. नकारात्मक भी हो सकते है। जैसे-सातों उत्तर-पूर्वी राज्यों में छोटे राज्यों में एक बड़ी समस्या राजनीतिक अस्थिरता रही है। दल-बदल सरकारें बनना-बिगड़ना। इस प्रक्रिया से विभिन्न पृथ्कतावादी आंदोलन जैसे-गोरखालैण्ड, बोडो लैण्ड, हरित प्रदेश आदि को बल मिलेगा। इससे भारत की क्षेत्रीय एकता तथा अखण्डता को क्षति पहुँच सकती है। इसके अतिरिक्त छोटे राज्यों के गठन स्थूल। विस्तृत स्तर पर आयोजन स्थूल स्तर आयोजन में परस्पर समस्या आ सकती है। इससे अंतर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य में भी तकनीक जटिलता बढेंगी। अत: राज्यों के निर्माण में ''प्रशासनिक सुविधा तथा उत्तर जीविता'' को ही छोटे राज्यों के गठन का मुख्य आधार माना जाना चाहिए।

राज्यों के गठन में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि एक सांस्कृतिक समूहों को ही राज्य में रखा जाये। उन्हें दो या अधिक राज्यों में विभाजित न किया जाये। नागा समस्या मणिपुर में इस बात पर टिकी है। चार नागा बहुल्य जिलों को मणिपुर से पृथक कर नागालैण्ड में शामिल करना। उत्तरांचल ने हाइड्रोपावर, पर्यटन बागवानी के बल पर उत्तरजीविता का दावा किया था परन्तु आज वहाँ की अर्थव्यवस्था अपने राजस्व से चलने में असमर्थ है वरन योजना आयोग के कड़े, निर्देशों पर जीवित है। यद्यपि ये समस्याऐं हरित प्रदेश की माँग में नहीं हैं।

19. संविधान में संशोधन

भारतीय संविधान नम्यता और अनम्यता का अनोखा मिश्रण है। इसका तात्पर्य है कि इसके संशोधन की प्रक्रिया न तो इंग्लैण्ड की भांति अत्यन्त लचीली है और न ही अमेरिका की भाँति अत्यन्त कठोर है।

संविधान संशोधन की यह प्रक्रिया दक्षिण अफ्रीका के संविधान से ली गई हैं।

संवैधानिक संशोधन का औचित्य (Rationality of Constitutional Amendments)

विश्व के प्रत्येक राष्ट्र का संविधान उस देश की जनता द्वारा स्वीकृत विश्वासों और मौलिक आदर्शों का परिचायक होता है। संविधान शासनतंत्र को उपबंधित करता है और सामाजिक अस्तित्व के लिए एक आधारभूत ढांचा प्रस्तुत करता है। किसी भी देश का संविधान से उस देश की आंकांक्षाओं तथा प्रवृत्तियों का अनुमान लगाया जा सकता है। चूंकि संविधान से देश की आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है। अत: समयानुकूल बदलती हुई परिस्थितियों में ढलने की क्षमता उसमें आवश्यक है।

परिस्थितियों के अनुरूप बदलने की प्रक्रिया को ही संवैधानिक संशोधन कहते हैं। भारत का संविधान संघात्मक शासन व्यवस्था की नींव डालता है। इस कारण वह ठोस, लिखित, स्थायी तथा अपरिवर्तनशील है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें संशोधन नहीं किया जा सकता। चूंकि भारत का संविधान संघात्मक और एकात्मक प्रवृत्तियों में महत्वपूर्ण सामंजस्य की स्थापना करता है अत: उसमें संशोधन आवश्यक है। संविधान में संशोधन की आवश्यकता के संदर्भ में निम्नांकित तथ्यों का उल्लेख समीचीन है:

1. **सामाजिक और राजनीतिक प्रगति :-** संविधान में संशोधन इसलिए आवश्यक है कि इससें राष्ट्र का सामाजिक और राजनीतिक विकास होता रहता है। बदलती हुई परिस्थितियां सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन को भी प्रभावित करती हैं। यदि संविधान में संशोधन का प्रावधान नहीं रहे तो इससे मूलत: राजनीतिक विकास के अवरूद्ध हो जाने की आशंका होती है।
2. **आर्थिक प्रगति :-** संवैधानिक संशोधन का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम देश की आर्थिक प्रगति का सुनिश्चितीकरण है। सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के साथ-साथ देश की आर्थिक प्रगति का सुनिश्चितीकरण भी बदलती परिस्थितियों के अनुरूप संविधान में संशोधन करने से संभव है।
3. **आंदोलनों तथा क्रांतियों पर अंकुश:-** सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के कारण कई अवसरों पर देश के विभिन्न भागों में निवास करने वाले लोगों द्वारा आंदोलन तथा क्रांति किये जाने की आशंका भी होती है। लेकिन संविधान में आवश्यकतानुसार संशोधन होने के फलस्वरूप ऐसे आंदोलनों को उत्पन्न होने से बचाया जा सकता है।
4. **संविधान की मौलिकता का संरक्षण:-** संवैधानिक संशोधन उसकी मौलिकता के संरक्षण में भी सहायक होता है। मौलिकता के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि संशोधनों के कारण ही संविधान की प्रासंगिकता बनी रहती है। साथ ही, नई पीढ़ी की संविधान के प्रति आस्था भी बनी रहती है। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में संविधान संशोधन से संबंधित उपबंध अत्यन्त प्रसांगिक हैं।

संशोधन की प्रक्रिया (Procedure of Amendment)

संशोधन की प्रक्रिया दृश्य अथवा अदृश्य हो सकती है। अदृश्य अथवा अनौपचारिक प्रक्रिया की भूमिका सीमित होती है तथा इसके तहत न्यायालय द्वारा निर्वचन, विधायन द्वारा संविधान की अनुपूर्ति अथवा अभिसमय और सांविधानिक परंपराओं में परिवर्तन किया जाता है। न्यायिक निर्वचन द्वारा किये गये परिवर्तन संविधान के पाठ को बिना बदले एक नया परिवर्तन या परिवर्तित अर्थ प्रदान करते हैं। न्यायिक निर्वचन एक धीमी प्रक्रिया है। इससे संविधान अदृश्य रूप से एक प्रकरण से दूसरे प्रकरण तक विकसित होता है और एक लंबी अवधि के बाद उसका स्वरूप बदला हुआ प्रतीत होता है।

न्यायिक निर्वचन की भूमिका उन संविधानों में संशोधन करने के लिए महत्वपूर्ण होती है जो अत्यन्त कठोर प्रकृति के हैं। भारत के संदर्भ में यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने कई अवसरों पर संविधान के विभिन्न प्रावधानों का विस्तृत निर्वचन किया है तथा उनके अर्थ की व्याख्या की है लेकिन भारतीय संविधान में संशोधन किये जाने के संबंध में न्यायिक निर्वचन की प्रक्रिया की भूमिका अत्यन्त सीमित कही जा सकती है। दूसरी ओर, दृश्य अथवा औपचारिक प्रक्रिया के तहत विधेयकों के माध्यम से संविधान में संशोधन किया जाता है। भारत में ऐसी ही प्रक्रिया प्रचलित है।

संविधान संशोधन के प्रकार (Types of Contitution at Amendments)

1. साधारण बहुमत द्वारा संशोधन (Amendment by Simple Majority)

सैद्धांतिक रूप से यह प्रक्रिया ब्रिटिश संविधान में संशोधन की प्रक्रिया के समान है। इस प्रक्रिया के अनुसार, संसद स्वप्रेरणा या राज्य विधानमंडलों तथा अन्य अभिकरणों के निवेदन पर अपने साधारण बहुमत द्वारा संविधान के कुछ उपबंधों में संशोधन कर सकती है। दूसरे शब्दों में, ऐसे संशोधन विधेयकों को पारित करने के लिए दोनों सदनों के साधारण बहुमत की आवश्यकता है। संविधान के निम्नलिखित विषयों से संबद्ध अनुच्छेदों में इस प्रक्रिया द्वारा संशोधन किया जा सकता है:

A. भारत संघ की विभिन्न इकाइयों के नाम, आकार तथा क्षेत्रफल में परिवर्तन।

B. विभिन्न राज्यों में विधान परिषद की स्थापना अथवा विघटन।

C. संसद में गणपूर्ति, सदस्यों के विशेषाधिकार तथा उनके वेतन और भत्ते।

D. उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का वेतन।

E. भारतीय नागरिकता से संबद्ध पक्ष।

F. भारत में चुनाव संबंधी व्यवस्था।

G. केन्द्र शासित क्षेत्रों का प्रबंध।

H. अनुसूचित जातियों तथा वर्गों के हितों का संरक्षण।

I. नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के कार्य तथा वेतन।

साधारण बहुमत द्वारा संशोधन की प्रक्रिया में साधारण विधि तथा संवैधानिक विधि में कोई विभेद नहीं किया जाता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार संसद किसी साधारण विधेयक को पारित करती है उसी प्रकार वह ऐसे संशोधन विधेयक को भी पारित करती है।

2. विशेष बहुमत द्वारा संशोधन (Amendment by Special Majority)

जो विषय संविधान की परिसंघीय संरचना से संबंधित हैं उन्हें कठोर बनाने की अनिवार्यता है। उन्हें परिवर्तित करने वाले विधेयक को सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित किया जाना चाहिए। साथ ही, ऐसा बहुमत उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से अधिक होना चाहिए। एक सदन द्वारा इस रूप में पारित किये जाने के उपरांत विधेयक को दूसरे सदन में प्रेषित किया जाता है। यदि दूसरा सदन भी इसी प्रक्रिया द्वारा विधेयक को पारित कर देता है तो उसे अनुच्छेद 111 के तहत राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के उपरांत ही विधेयक को अधिनियम का दर्जा प्राप्त होता है।

3. राज्य विधानमंडलों की स्वीकृति से संशोधन (Amendment by the Consent of State Ligislatures)

भारतीय संविधान की यह संशोधन प्रक्रिया अमेरिकी संविधान की संशोधन प्रक्रिया के समान है। ऐसे संशोधन विधेयक को संसद के किसी भी सदन में पुर:स्थापित किया जा सकता है। यदि विधेयक उस सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो उसे दूसरे सदन में प्रेषित किया जाता है। दूसरे सदन द्वारा भी इसी प्रक्रिया द्वारा विधेयक को पारित किये जाने के बाद उसे राज्य विधानमंडलों में भेजा जाता है। कुल राज्यों में से कम से कम आधे राज्यों का अनुसमर्थन विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए अनिवार्य है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के उपरांत उसे अधिनियम का दर्जा प्राप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया द्वारा मुख्यत: निम्नांकित प्रावधानों में संशोधन किया जा सकता है :

A. राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति।

B. संघ तथा राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार।

C. उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों से संबद्ध अनुच्छेद।

D. संघ तथा राज्यों के मध्य विधायी शक्तियों का विभाजन।

E. संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व में।

F. सातवीं अनुसूची में सूचीबद्ध कोई विषय।

G. अनु. 368 के उपबंधों में परिवर्तन

अनुच्छेद 368 (Article 368)

संविधान के अनुच्छेद 368 के तहत संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है।

अनुच्छेद 368 (1) : इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संसद अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए इस संविधान के किसी उपबंध का परिवर्धन या निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार कर सकेगी।

अनुच्छेद 368 (2) : इस संविधान के संशोधन का आरंभ संसद के किसी भी सदन में इस प्रयोजन के लिए विधेयक पुर:स्थापित करके ही किया जा सकेगा और जब वह विधेयक प्रत्येक सदन में उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन में उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर दिया जाता है तब वह राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा, जो विधेयक को अनुमति देगा और तब संविधान उस विधेयक के निर्बन्धनों के अनुसार संशोधित हो जायेगा:

परन्तु यदि ऐसा संशोधन –

क. अनुच्छेद 54, अनुच्छेद 55, अनुच्छेद 73, अनुच्छेद 162 या अनुच्छेद 241 में या,

ख. भाग 5 के अध्याय 4, भाग 6 के अध्याय 5 या भाग 11 के अध्याय 1 में या,

ग. सातवीं अनुसूची की किसी सूची में, या,

घ. संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, या,

ड.. इस अनुच्छेद के उपबंधों में,

कोई परिवर्तन करने के लिए है तो ऐसे संशोधन के लिए उपबंध करने वाला विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत किये जाने से पहले उस संशोधन के लिए कम से कम आधे राज्यों के विधानमंडलों द्वारा पारित इस आशय के संकल्पों द्वारा उन विधानमंडलों का अनुसमर्थन भी अपेक्षित होगा।

अनुच्छेद 368 (3) **:** अनुच्छेद 13 की कोई बात इस अनुच्छेद के अधीन किये गये किसी संशोधन को लागू नहीं होगी।

अनुच्छेद 368 (4) **:** इस संविधान का जिसके अन्तर्गत भाग 3 के उपबंध हैं, इस अनुच्छेद के अधीन (संविधान 42वां संशोधन अधिनियम, 1976) की धारा 55 के प्रारंभ से पहले या उसके पश्चात किया गया या किया गया तात्पर्यित कोई संशोधन किसी न्यायालय में किसी आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद 368 (5) **:** शंकाओं को दूर करने के लिए यह घोषित किया जाता है कि इस अनुच्छेद के अधीन इस संविधान के उपबंधों का, परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन करने के लिए संसद की संविधायी शक्ति पर किसी प्रकार का निर्बंधन नहीं होगा।

संशोधन विधेयक पर स्वीकृति देने के लिए राष्ट्रपति बाध्य है तथा दोनों सदनों के मध्य असहमति होने की स्थिति में संयुक्त बैठक का प्रावधान नहीं किया गया है।

संशोधन प्रक्रिया के साधारण लक्षण

1. अनुच्छेद 368 में अधिकथित संशोधन प्रक्रिया के तहत संविधान में संशोधन करने की शक्ति केवल संघीय विधानमंडल अर्थात् संसद को प्राप्त है।
2. राज्य विधानमंडल संशोधन हेतु कोई प्रस्ताव या विधेयक प्रारंभ नहीं कर सकते। संशोधन के लिए प्रस्ताव प्रारंभ करने का एकमात्र तरीका संसद के किसी भी सदन में ऐसा विधेयक या प्रस्ताव पुर: स्थापित करना है।
3. संविधान संशोधन विधेयक सामान्य विधेयक की भाँति किसी भी सदन में पुर:स्थापित किए जा सकते हैं।
4. अनु. 108 में वर्णित संयुक्त बैठक का प्रावधान संविधान संशोधन विधेयकों पर लागू नहीं होता।
5. संविधान के संशोधन के लिए किसी विधेयक को संसद में प्रारंभ करने के लिए राष्ट्रपति की मंजूरी आवश्यक नहीं।
6. संविधान संशोधन विधेयक पर राष्ट्रपति अनुमति देने के लिए बाध्य है।

मूल अधिकारों में संशोधन (Amendment in Fundamental Rights)

शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ तथा सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया था कि अनु. 368 में अधिकथित प्रक्रिया के तहत संसद संविधान के किसी भी भाग का संशोधन कर सकती है। मूल अधिकारों के भाग-3 एवं स्वयं अनु. 368 का भी।

किन्तु गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से पूर्व के निर्णयों को उलट दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि संसद को भाग-3 में संशोधन करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। उसके अनुसार मूल अधिकारों की तो प्रकृति ही ऐसी है कि वे अनु. 368 में उपबंधित संशोधन प्रक्रिया के अधीन नहीं हो सकते। निर्णयानुसार-

1. संविधान के संशोधन की शक्ति संविधान के अनु. 368 में नहीं है, अपितु अनु. 368 में तो संशोधन की प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है। संविधान संशोधन की शक्ति भी संविधान के अनुच्छेद 245 द्वारा प्रदत्त विधायी शक्ति है।
2. अतएव संविधान संशोधन अनु. 13 के अन्तर्गत प्रयुक्त विधि के अर्थान्तर्गत विधि है।

इस प्रकार गोलकनाथ वाद में न्यायालय ने साधारण विधि एवं संशोधन विधि में अन्तर समाप्त कर दिया।

गोलकनाथ के निर्णय के पश्चात् संविधान 24 वां संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा अनु. 13 (2) में संशोधन किया गया। और इसमें खण्ड (4) जोड़ा गया। जो यह उपबंधित करता है कि संसद द्वारा अनु. 368 के अन्तर्गत पारित कोई विधि अनु. 13(2) में प्रयुक्त विधि शब्द के अन्तर्गत शामिल नहीं होगी, अनु. 368 केवल संशोधन प्रक्रिया का ही उपबन्ध नहीं करता रवन् उसमें संविध ान संशोधन की शक्ति भी निहित हैं

24वां संविधान संशोधन न केवल यह उद्घोषित करता है कि संविधान के संशोधन की शक्ति अनु. 368 में निहित है वरन् अनु. 368 में ''परिवर्तन, परिवर्द्धन या निरसन के रूप में संविधान के किसी उपबन्ध में संशोधन करने की शक्ति होगी। केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के ऐतिहासिक मामले में 24 वें संविधान संशोधन की विधिमान्यता को चुनौती दी गई। इस मामले में उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारणीय प्रश्न यह था कि-संविधान के अनु. 368 में संसद को जो संशोधन की शक्ति प्राप्त है, उसकी सीमा क्या है। उच्चतम न्यायालय ने सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है। अनु. 13 प्रयुक्त विधि शब्द में, अनु. 368 के अधीन पारित सांविधानिक संशोधन उसमें सम्मिलित नहीं है। इस प्रकार न्यायालय ने बहुमत से गोलकनाथ में दिए निर्णय को उलट दिया। न्यायालय ने कहा अनु. 368 में संशोधन करने की प्रक्रिया एवं शक्ति दोनों निहित हैं। न्यायालय ने न्यायिक पुनर्विलोकन को संविधान के आधारभूत ढ़ाँचे का भाग माना।

42वां संविधान संशोधन द्वारा अनु. 368 में दो नए खण्ड (4) एवं (5) जोड़े गए। खंड (4) यह उपबंधित करता है कि अनु. 368 के अधीन किए गए संविधान के संशोधन को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। खण्ड (5) यह उपबंध करता है कि संसद की संविधायी शक्ति पर कोई भी परिसीमा नहीं होगी।

उपर्युक्त संशोधनों द्वारा न्यायालय के पूर्व के निर्णयों को अविधिमान्य कर दिया गया। किन्तु मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से निर्णय दिया कि 42 वें संशोधन द्वारा अनु. 368 में जोड़े गए खण्ड (4) एवं (5) असंवैध ानिक हैं क्योंकि वे संसद को असीमित संशोधन की शक्ति प्रदान करते हैं और इस प्रकार संविधान के आधारभूत ढ़ाँचें को नष्ट करते हैं। इस प्रकार न्यायालय ने केशवानन्द भारती मामले की विधिमान्यता को बनाए रखा।

संविधान के आधारभूत ढाँचे का सिद्धान्त

(The Doctrine of the Basic Structure of the Constitution)

- संविधान के किसी भाग में आधारभूत ढाँचे की व्याख्या नहीं की गई है।
- यह सिद्धान्त वस्तुतः भारत में न्यायिक प्रक्रिया की देन है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन **केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, ए.आई.आर. 1973, एस.सी. 1461** मामले में किया गया था जिसके तहत यह स्पष्ट किया गया कि अनु. 368 के तहत संविधान के बुनियादी ढाँचे को विनिष्ट नहीं किया जा सकता है। न्यायालय के अनुसार, संविधान की सर्वोच्चता, भारत में जनतंत्रात्मक शासन पद्धति, संघवाद, संविधान की धर्मनिरपेक्षता की प्रकृति, कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका के शक्तियों में विभेद, न्यायिक पुनर्विलोकन तथा राष्ट्र की अखंडता को संविधान के बुनियादी ढाँचे के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।
- संपत्ति के अधिकार को बुनियादी ढांचे में सम्मिलित नहीं किया गया है।
- इंदिरा गांधी बनाम राजनारायण, ए.आई.आर. 1975 एस सी. 2299 मामले में आधारभूत ढांचे के सिद्धान्त के संदर्भ में एक सांविधानिक संशोधन को अवैध घोषित कर दिया था। इस मामले में न्यायालय ने उल्लेख किया है कि विधि शासन, न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति तथा स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव पर आधारित लोकतंत्र संविधान के बुनियादी ढांचे के अन्तर्गत समावेशित हैं।
- इसी प्रकार, **न्यायाधीशों के स्थानान्तरण, ए.आई.आर. 1982, एस.सी. 149** मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि

अनु. 32 के तहत उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान का आधारभूत ढांचा है।

- **मिनर्वा मिल, ए.आई.आर. 1980, एस.सी. 1789** मामले में निम्नांकित को संविधान के आधारभूत तत्वों के रूप में मान्यता प्रदान की है :
  - संसद की संविधान संशोधन की सीमित शक्ति।
  - कुछ अधिकारों एवं राज्य के नीति निदेशक तत्वों में सामंजस्य।
  - कुछ मामलों में मूल अधिकार।
  - कुछ मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति।
- सन् 1976 में 42वें संशोधन के द्वारा अनु. 368 में दो नये खंड, 4 एवं 5 समावेशित किये गये थे। खंड 4 के अनुसार, अनु. 368 के तहत किसी भी सांविधानिक संशोधन को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है। खंड 5 के तहत यह उपबंध किया गया था कि संविधान के संशोधन सहित सांविधानिक उपबंधों में परिवर्तन अथवा निरसन करने के लिए संसद की विधायी शक्ति पर परिसीमा नहीं लगाई जा सकती है।

मिनर्वा मिल मामले में न्यायालय ने 42वें संशोधन से समावेशित किये गये इन दोनों खंडों को असंवैधानिक घोषित कर दिया है।

प्रमुख सांविधानिक संशोधन (Important Contitutional Amendments)

1. संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम,1951

- इस अधिनियम के द्वारा संविधान में नवीं अनुसूची का समावेश।
- अनु. 19 (2) में युक्तियुक्त निर्बंधन हेतु लोक व्यवस्था, विदेशी राज्य से मैत्री संबंध तथा अपराध करने हेतु उत्पेरित करने को संविधान में समावेशित किया गया।
- भूमि सुधार विधियों सांविधानिक संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से **मोतीलाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** मामले के तहत यह स्पष्ट किया गया कि इस संशोधन द्वारा अनु. 31 में दो नये अनु. 31(अ) तथा 31(ब) को सम्मिलित किया गया है।
- अनु. 15 में खंड 1 जोडकर राज्य को सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए विशेष उपबंध बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है।

2. संविधान (द्वितीय संशोधन) अधिनियम, 1952

- संसद में राज्य के प्रतिनिधित्व के निर्धारण हेतु अनु. 18(1)(ख) में संशोधन।

3. संविधान (तृतीय संशोधन) अधिनियम, 1954

- समवर्ती सूची की 33वीं प्रविष्टि में संशोधन।
- मूलत: 33वीं प्रविष्टि में आवश्यक खाद्य पदार्थों के पूर्ण नियंत्रण रखने की शक्ति राज्य सरकारों को प्राप्त थी। देश में खाद्य आपूर्ति को बेहतर बनाने के उद्देश्य से संशोधन कर नियंत्रण की शक्ति केन्द्र सरकार को सौंप दी गई।

4. संविधान (चतुर्थ संशोधन) अधिनियम, 1955

- प्रतिकर केवल संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के मामले में ही देय।
- राज्य द्वारा संपत्ति का स्वामित्व ग्रहण करने पर ही अनिवार्य अर्जन संभव।
- अनु. 305 के तहत राज्य को किसी भी व्यापार के राष्ट्रीयकरण का अधिकार।
- अनु. 31(अ) का विस्तार।

5. संविधान (पंचम संशोधन) अधिनियम, 1955

- राज्यों के पुनर्गठन से संबंधित अनु. 3 में संशोधन कर राज्यों से एक निश्चित अवधि में उनका मत प्राप्त करने का अधिकार राज्यों को प्रदान किया गया है।

6. संविधान (छठा संशोधन) अधिनियम, 1956

- संघ सूची की में नई प्रविष्ट 92 (अ) का समावेश तथा राज्य सूची में प्रविष्टि 54 में संशोधन किया गया।
- न्यायालय द्वारा भी यह अभिनिर्धारित किया गया है कि राज्यों को आन्तरिक विक्रय कर आरोपित करने की शक्ति प्राप्त है।

7. संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956

- राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1953 को कार्यन्वित करने हेतु संविधान में संशोधन।
- प्रथम अनुसूची, चतुर्थ अनुसूची तथा अनु. 1, 80, 81, 82, 153, 158, 171, 239, 240 एवं 241 में संशोधन।
- उच्चतम न्यायालय की मौलिक अधिकारिता में संशोधन।
- उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या नियत।
- नये अनु. 222 के तहत उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को उच्चतम न्यायालय में वकालत करने का अधिकार।
- अनु. 224 के तहत उच्च न्यायालयों में अतिरिक्त एवं कार्यवाहक न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रावधान एवं अनु. 230 तथा 231 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार का विस्तार कर संघ राज्य क्षेत्रों तक करने का प्रावधान।

8. संविधान (आठवां संशोधन) अधिनियम, 1960

- अनु. 334 में '10 वर्ष' शब्दावली के स्थान पर '20 वर्ष' शब्दावली का प्रयोग।
- अनु.जातियों, जनजातियों तथा आंग्ल- भारतीय समुदाय के लिए आरक्षण की अवधि का 10 वर्षों के लिए विस्तार।

9. संविधान (नवां संशोधन) अधिनियम, 1960

- संशोधन अधिनियम पारित करने का उद्देश्य वस्तुतः **बेरुबारी, ए.आई.आर. 1960, एस.सी. 855** मामले में न्यायालय के आदेश को कार्यान्वित करना था।
- इस मामले में न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया था कि भारत के भू-भाग को किसी विदेशी राज्य के अध्यपर्ण के लिए संविधान में संशोधन आवश्यक है।
- इस आधार पर प्रथम अनुसूची में संशोधन कर बेरुबारी क्षेत्र को पाकिस्तान को सौंप दिया गया था।

10. संविधान (दसवां संशोधन) अधिनियम, 1961

- प्रथम अनुसूची में संशोधन कर दादर और नागर हवेली क्षेत्र को संघ राज्यक्षेत्र का दर्जा प्रदान किया गया।

11. संविधान (ग्यारहवां संशोधन) अधिनियम, 1961

- अनु. 71 में एक नये खंड 71(4) का समावेश। अनु. 71 (4) के अनुसार, अनु. 54 एवं 55 के अन्तर्गत निर्वाचक मंडल के पूर्ण नहीं होने की स्थिति में राष्ट्रपति तथा उप राष्ट्रपति के निर्वाचन को न्यायालय में चुनौती दिये जाने का प्रावधान है।

12. संविधान (बारहवां संशोधन) अधिनियम, 1966

- प्रथम अनुसूची में संशोधन कर गोवा, दमन एवं दीव को भारत के संघ राज्य क्षेत्र का दर्जा।

13. संविधान (तेरहवां संशोधन) अधिनियम, 1962

- संविधान में एक नये अनु. 371(अ) का समावेश।
- इस अनुच्छेद के तहत नागालैंड राज्य के संबंध में उपबंध किये गये हैं। इस अनुच्छेद में कोहिमा, मोकोकचुंग तथा त्युएनसांग जिलों का वही अर्थ है जो नागालैंड राज्य अधिनियम, 1962 में है।

14. संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम, 1966

- प्रथम अनुसूची में संशोधन कर पांडिचेरी को संघ राज्यक्षेत्र का दर्जा प्रदान किया गया।

15. संविधान (पन्द्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1968

- अनु. 271 एवं 124 में संशोधन कर उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवा निवृत्ति की आयु 62 वर्ष कर दी गई।
- अनु. 222 में संशोधन के उपरांत उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के अन्य उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण को सांविधानिक बनाया गया।
- उच्च न्यायालय की अधिकारिता में वृद्धि।
- **निर्वाचन आयोग बनाम वेंकटराव, ए.आईआर. 1953, एस.सी. 210** के आदेशों के अनुरुप अनु. 226 में एक नये खंड 1-क समावेशित किया गया है जिसके अन्तर्गत उच्च न्यायालय किसी सरकार, प्राधिकारी या व्यक्ति के विरूद्ध निदेश या रिट जारी कर सकता है।
- अनु. 297 के तहत 'महाद्वीपीय मग्नतट भूमि' (Continental Shelf) का समावेश।

16. संविधान (सोलहवां संशोधन) अधिनियम, 1963

- अनु. 19 के खंड 2, 3 एवं 4 में युक्तियुक्त निर्बंधन तथा भारत की प्रभुता एवं बखंडता के हित में एक नये अध्याय का समावेश किया गया है।
- अनु. 84 तथा 173 एवं अनुसूची 3 में विहित शपथ के स्वरूप में भी संशोधन।

17. संविधान (सत्रहवां संशोधन) अधिनियम, 1964

- केरल एवं तमिलनाडु राज्यों द्वारा पारित भूमि सुधार अधिनियमों को सांविधानिक संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से अनु. 31(क) तथा नवम अनुसूची में संशोधन किये गये।

18. संविधान (अठारहवां संशोधन) अधिनियम, 1966

- अनु. 3 में संशोधन कर 'राज्य' की परिभाषा के अन्तर्गत संघ राज्य क्षेत्रों को भी सम्मिलित किया गया है।

19. संविधान (उन्नीसवां संशोधन) अधिनियम, 1966

- संविधान के अनुच्छेद 324 में संशोधन कर संसद एवं विधान मंडलों के सदस्यों के निर्वाचन से संबंधित विवादों का निपटारा करने का अधिकार निर्वाचन आयोग के स्थान पर उच्च न्यायालयों को सौंप दिया गया।

20. संविधान (बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1966

- संविधान में एक नये अनुच्छेद 233(क) का समावेश। इसके तहत कतिपय जिला न्यायाधीशों की नियुक्तियों तथा उनके द्वारा किये गये निर्णयों के विधिमान्यकरण का प्रावधान किया गया है।

21. संविधान (इक्कीसवां संशोधन) अधिनियम, 1967

- सिंधी भाषा का आठवीं अनुसूची में समावेश।

22. संविधान (बाईसवां संशोधन) अधिनियम, 1969

- दो नये अनुच्छेदों 244(क) एवं 341(क) का समावेश।
- अनु. 244(क) के तहत असम राज्य अधिनियम के संबंध में विशेष उपबंध तथा मेघालय राज्य की स्थापना का प्रावधान है।
- अनु. 341 (क) के अन्तर्गत संसद को नागालैंड राज्य से संबंधित कतिपय विशेष उपबंध करनो की शक्ति प्रदान की गई है।

23. संविधान (तेईसवां संशोधन) अधिनियम, 1970

- अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षण को 10 वर्षों की अवधि के लिए बढ़ा दिया गया।

24. संविधान (चौबीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971

- अनु. 13 एवं 368 में संशोधन कर संसद को मौलिक अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने का अधिकार प्रदान किया गया।

25. संविधान (पच्चीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971

- बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मामले से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से 'प्रतिकर' शब्द के स्थान पर 'राशि' शब्द का प्रयोग किया गया है।
- केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, 1973 मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस संशोधन को विधिमान्य घोषित किया है।

26. संविधान (छब्बीसवां संशोधन) अधिनियम, 1971

- इस संशोधन का उद्देश्य माधव राव सिंधिया बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1971, एस.सी. 560 मामले से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करना था।
- न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रिवीपर्स संपत्ति है तथा उसे कार्यपालिका के आदेश द्वारा उससे किसी को वंचित नहीं किया जा सकता है।
- अनु. 291 तथा अनु. 362 को संविधान से बाहर कर दिया गया तथा एक नये अनु. 363(क) का समावेश कर भूतपूर्व राजाओं के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया गया।

27. संविधान (सत्ताइसवां संशोधन) अधिनियम, 1971

- इस संशोधन का उद्देश्य उत्तर-पूर्वी क्षेत्र पुनर्गठन योजना का क्रियान्वयन करना था।

- दो नये अनु. 239(ख) तथा 371(ग) समावेशित किये गये तथा अनु. 239(क) एवं 240 में संशोधन किये गये।

28. संविधान (अठ्ठाइसवां संशोधन) अधिनियम, 1972

- एक नये अनु. 312(क) का समावेश कर भारतीय सिविल सेवा के अधिकारियों के विशेषाधिकारों की समाप्ति।
- अनु. 314 जिसके तहत ऐसे विशेषाधिकार प्रदान किये गये थे, को संविधान से बाहर कर दिया गया है।
- इस संशोधन के तहत यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अनु. 312(क) के प्रावधानों का प्रभाव उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक तथा संघ लोक सेवा आयोग एवं राज्य लोक सेवा आयोगों के सदस्यों पर नहीं होगा।

29. संविधान (उन्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972

- नवीं अनुसूची में केरल भूमि सुधार अधिनियम, 1919 तथा केरल भूमि सुधार (संशोधन) अधिनियम, 1971 को समावेशित किया गया है।
- संशोधन में यह भी अभिनिर्धारित है कि इन अधिनियमों की वैधता को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

30. संविधान (तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1972

- अनु. 133 में संशोधन किये जाने के उपरांत दीवानी मामलों में उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, अंतिम आदेश आदि के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील करने के लिए मामले में कोई सार्वजनिक महत्व का सारवान प्रश्न का अन्तरनिहित होना पर्याप्त है।
- इस संशोधन की अनुशंसा विधि आयोग द्वारा की गई थी।

31. संविधान (इकत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1973

- अनु. 81 के तहत लोक सभा के सदस्यों की संख्या में परिवर्तन कर उसे 525 से 545 कर दिया गया।

32. संविधान (बत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1973

- नये अनु. 371(ख) के समावेश से आंध्र प्रदेश राज्य के लिए कतिपय उपबंधों का प्रावधान किया गया है।

33. संविधान (तैंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974

- सांसदों के त्यागपत्र के संबंध में पीठासीन अधिकारी द्वारा मानने की बाध्यता समाप्त।
- अनु. 101 तथा 190 में संशोधन।

34. संविधान (चौंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974

- नवीं अनुसूची में विभिन्न राज्यों द्वारा पारित भूमि सुधार अधिनियमों का समावेश।

35. संविधान (पैंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974

- दसवीं अनुसूची का संविधान में समावेश।
- सिक्किम का सह-राज्य के रूप में भारत संघ में समावेश।

36. संविधान (छत्तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1974

- सिक्किम को पूर्ण राज्य का दर्जा।
- चतुर्थ अनुसूची में संशोधन कर सिक्किम को राज्य सभा में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है।
- एक नये अनु. 241(छ) का समावेश कर सिक्किम से संबंधित विशेष प्रावधान किये गये हैं जिनमें राज्यपाल के विशेष उत्तरदायित्व से संबंधित प्रावधान प्रमुख हैं।

37. संविधान (सैंतीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975

- अनु. 239(क) एवं 240 में संशोधन कर अरूणाचल प्रदेश के लिए विधानसभा और मंत्रिपरिषद की स्थापना का प्रावधान किया गया है।

38. संविधान (अड़तीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975

- इस संशोधन का उद्देश्य अनु. 352 के तहत आपातकालीन स्थिति की घोषणा करने में राष्ट्रपति के समाधान के प्रश्न को अवाद योग्य बनाना था।

39. संविधान (उन्तालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1975

- राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं लोकसभा अध्यक्ष के निर्वाचन संबंधी विवादों को न्यायालय की अधिकारिता से बाहर कर दिया गया है।
- नवीं अनुसूची में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, लोक प्रतिनिधित्व संशोधन अधिनियम, 1974, निर्वाचन विधि (संशोधन) अधिनियम, 1975 आदि का समावेश।

40. संविधान (चालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976

- अनु. 297 में संशोधन कर संसद को समय-समय पर विधान की सहायता से भारत के राज्य-क्षेत्रीय सागर खंड (Territorial Waters), महाद्वीपीय मग्नतट (Continental Shelf) तथा आर्थिक क्षेत्र (Economic zone) की सीमाओं के निर्धारण का अधिकार प्रदान किया गया है।

41. संविधान (इक्तालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976

- पांचवीं अनुसूची में आदिम जातियों के विकास हेतु उपबंध।
- लोक सेवा आयोग के सदस्यों की सेवा निवृत्ति की आयु 60 वर्ष से बढ़ाकर 62 वर्ष कर दी गई है।

42. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1976

- संविधान की उद्देशिका में संशोधन कर पंथनिरपेक्ष, समाजवादी तथा राष्ट्र की अखंडता शब्दों का समावेश।
- सभी नीति निदेशक तत्वों को मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान की गई है।
- तीन नये नीति निदेशक तत्वों, यथा- अनु. 39(क) - समान न्याय एवं निःशुल्क विधिक सहायता, अनु. 43(क) - उद्योगों के प्रबंधन में कर्मकारों की भागीदारी तथा अनु. 48(क) - पर्यावरण की रक्षा एवं सुधार और वन तथा वन्य जीवों का संरक्षण समावेशित किया गया है।
- संविधान के भाग 4 में एक नये अध्याय के रूप में अनु. 51(क) के तहत मूल कर्तव्यों का समावेश किया गया है।
- न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का परिसीमन।
- लोक सभा तथा राज्य विधान सभाओं की सीटों का 2000 तक 1971 की जनसंख्या का आधार बने रहना।
- अनु. 74 में संशोधन कर राष्ट्रपति पर मंत्रिपरिषद के परामर्श पर कार्य करने की बाध्यता।
- नये अनु. 139(क) के तहत उच्चतम न्यायालय को महत्वपूर्ण मामलों को उच्च न्यायालयों से वापस मंगाने का अधिकार।
- राज्य विधानों की वैधता की जांच करने के उच्चतम न्यायालय के अधिकार की अनु. 32(क) के तहत विषयों पर समाप्ति।
- एक नये अनु. 257(क) के तहत किसी राज्य में विकट परिस्थितियों में केन्द्र द्वारा सेना या सशस्त्र बल भेजने की शक्ति।
- राष्ट्रपति को अनु. 352 के तहत देश के साथ-साथ देश किसी भाग में आपात स्थिति की घोषणा का अधिकार।
- अनु. 356 के तहत 'छः महीने' शब्दों के स्थान पर 'एक वर्ष' शब्दों का प्रयोग।

43. संविधान (तैंतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1977

- 42वें संशोधन द्वारा समावेशित किये गये अनुच्छेदों 31(ग), 32(क), 131(क) तथा 228(क) को संविधान से बाहर कर दिया गया है।
- उच्चतम एंव उच्च न्यायालयों को उनकी अधिकारिता वापस कर दी गई। इसके लिए अनु. 145, 228 एवं 336 में यथोचित संशोधन किये गये।

44. संविधान (चौवालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1978

- अनु. 83, 172 एवं 317(च) में संशोधन कर लोक सभा के कार्यकाल को पुनः पांच वर्षों का कर दिया गया।
- नये अनु. 371(क) के तहत संसद की कार्यवाहियों के प्रकाशन को सांविधानिक संरक्षण।
- अनु. 71 के तहत राष्ट्रपति एवं उप राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित विवादों पर उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को पुनः लागू किया गया है।
- अनु. 74 के नये परन्तुक के तहत राष्ट्रपति को किसी विधेयक को पुनर्विचार हेतु वापस करने का अधिकार।

- न्यायिक पुनर्विलोकन के परिसीमन की समाप्ति।
- सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में आपात घोषणा मंत्रिमंडल की लिखित सलाह पर की जायेगी।
- जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा प्रेस की स्वतंत्रता का सुनिश्चितीकरण।
- अनु. 227 में 'न्यायाधिकरण' शब्द का पुन: समावेश कर न्यायाधिकरणों पर उच्च न्यायालयों को नियंत्रण का अधिकार।
- अनु. 356 में 'एक वर्ष' के स्थान पर पुन: 'छ: महीने' शब्दों को शामिल किया गया है।
- इस संशोधन द्वारा अनु. 22 में परिवर्तन कर निवारक निरोध विधियों को और सशक्त बनाया गया है।
- इस संशोधन द्वारा संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की रेणी से बाहर कर दिया गया है। इस अधिकार को अब एक सांविधानिक अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त है जिसका विनियमन साधारण विधियों द्वारा किया जा सकता है।

45. संविधान (पैंतालीसवां संशोधन) अधिनियम, 1980

- अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षण की अवधि में 10 वर्षों की औा वृद्धि।

46. संविधान (46वां संशोधन) अधिनियम, 1982

- अनु. 269 में संशोधन किया गया ताकि अन्तर्राज्यीय व्यापार के दौरान प्रषित उत्पादों पद लगाये गये कर को राज्यों को सौंप दिया जाय।

47. संविधान (47वां संशोधन) अधिनियम, 1984

- भूमि सुधार के कई अधिनियमों का संविधान में समावेश।

अन्य प्रमुख संशोधन

संविधान (52वां संशोधन) अधिनियम, 1985

- इस संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई संसद सदस्य या विधान सभा सदस्य दल-बदल करता है या दल द्वारा निकाल दिया जाता है जिसने उसे चुनाव में खड़ा किया था, या कोई निर्दलीय उम्मीदवार जो चुने जाने के 6 महीने के अन्दर किसी राजनीतिक दल का सदस्य बन जाता है, वह सदन का सदस्य होने के अयोग्य करार दिया जाएगा। अनु. 101, 102, 190 एवं 191 में संशोधन।

संविधान (73वां संशोधन) अधिनियम, 1992

- पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।
- संविधान में पंचायत से संबंधित एक नया पैरा-9 जोड़ा गया है। इसका उद्देश्य अन्य चीजों के अलावा, एक गांव में अथवा गांवों के समूह में ग्रामसभा स्थापित करना, गांव के स्तर पर तथा अन्य स्तरों पर पंचायतों का गठन करना, गांव और उसके बीच के स्तर पर पंचायतों की सभी सीटों के लिए सीधे चुनाव करना, ऐसे स्तरों पर पंचायतों के यदि सरपंच हैं तो उनका चुनाव करना, पंचायतों में सदस्यता के लिए और सभी स्तरों पर पंचायत के पदाधिकारियों के चुनाव के लिए जनसंख्या के आधार पर अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए सीटों का आरक्षण, महिलाओं के लिए कम-से-कम एक-तिहाई सीटों का आरक्षण, पंचायतों के लिए पांच साल की कार्यावधि तय करना और यदि कोई पंचायत भंग हो जाती है तो छह महीने के भीतर उसका चुनाव कराने की व्यवस्था करना है।

संविधान (74वां संशोधन) अधिनियम, 1992

- नगरपालिकाओं की संरचना, गठन, सदस्यों की योग्यता, निर्वाचन आदि उपबंधों का समावेश।
- संविधान में पालिकाओं के संबंध में एक नया भाग 9ए शामिल किया गया है, ताकि अन्य चीजों के अलावा निम्नलिखित प्रावधान किया जा सकें: तीन तरह की पालिकाओं का गठन, जैसे कि ग्रामीण से शहरी क्षेत्र में परिवर्तित हो रहे क्षेत्रों के लिए नगर पंचायतें, छोटे शहरी क्षेत्रों के लिए नगर परिषदें और बड़े शहरी क्षेत्रों के लिए नगर निगम।

संविधान (80वां संशोधन) अधिनियम, 2000

- संघ एवं राज्यों के मध्य करों के वितरण में परिवर्तन किया गया।
- इस के अनुसार आयकर, उत्पादन शुल्कों, विशेषत: उत्पादन शुल्कों तथा रेल यात्री किरायों पर कर के बदले अनुदानों के लिए अब तक राज्य सरकारों को केंद्रीय करों तथा शुल्कों से एकत्र कुल राजस्व का जितना हिस्सा मिलता था अब उसका 26 प्रतिशत भाग राज्यों को दिया जाएगा।

संविधान (82वां संशोधन) अधिनियम, 2000

- अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के उम्मीदवारों को सरकारी नौकरियों के न्यूनतम योग्यता संबंधी प्रावधानों से छूट।

संविधान (83वां संशोधन) अधिनियम, 2000

- अनु. 243 डी में संशोधन कर अरुणाचल प्रदेश राज्य में अनु. जाति एवं जनजाति के लोगों को आरक्षण प्रदान नहीं करने की छूट।

संविधान (84वां संशोधन) अधिनियम, 2001

- इस कानून द्वारा संविधान के अनुच्छेद 82 और 170(3) की शर्तों में संशोधन किया गया है ताकि वर्ष 1991 की जनगणना के दौरान सुनिश्चित की गई आबादी के आधार पर प्रत्येक राज्य के लिए आवंटित लोकसभा सीटों और राज्यों की विधानसभा सीटों की संख्या में कोई परिवर्तन किये बगैर राज्यों के निर्वाचन क्षेत्रों को परिवर्तित तथा पुनर्गठित किया जा सके।

संविधान (85वां संशोधन) अधिनियम, 2001

- इस संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 4(क) में संशोधन किया गया है ताकि अनुसूचित जाति और जनजाति के सरकारी कर्मचारियों को आरक्षण नियमों के तहत पदोन्नति के मामले में आनुषंगिक वरीयता प्रदान की जा सके।

(86वां) संशोधन, 2002

- अनु. 21ए में शिक्षा के अधिकार का दर्जा
- अनु. 45 में संशोधन कर 0-6 वर्ष के बालकों की बाल्यावसीा की देखभाल के लिए राज्य का उत्तरदायित्व
- अनु. 51।(ज्ञ) में 6-14 वर्ष के बालकों की शिक्षा के लिए अभिभावकों का दायित्व

संविधान (88 वां संशोधन) अधिनियम, 2003

- इसके अन्तर्गत अनुसूचित जाति एवं जनजाति वर्ग के लोगों के लिए पदोन्नति में आरक्षण की व्यवस्था पुनः बहाली का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त, उक्त वर्गों के लिए परीक्षा में पास होने के लिए न्यूनतम अंकों की छूट का प्रावधान भी है।

संविधान (89वां संशोधन) अधिनियम, 2003

- अनुच्छेद 338 क का समावेश कर राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग की स्थापना का प्रावधान।

संविधान (91वां संशोधन) अधिनियम, 2003

- अनुच्छेद 75, 164 तथा 10वीं अनुसूची में संशोधन कर मंत्रिपरिषद आकार निश्चित किया गया।

संविधान (92वां संशोधन) अधिनियम, 2003

- बोडो, डोगरी, मैथिली और संथाली भाषाओं का अनुसूची 8 में समावेश।

संविधान (93 वें संशोधन अधिनियम 2006

- अनु **15 (5)** के समावेश से शिक्षण संस्थानों में प्रवेश संबंधी प्रावधान किया गया।
- बड़ी संख्या में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के छात्रों और सामाजिक तथा शिक्षा के स्तर पर पिछड़े हुए अन्य वर्गों के नागरिकों के लिए व्यावसायिक शिक्षा सहित उच्च शिक्षा प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण समस्या है। शिक्षा संस्थानों में, अनुसूचित जाति, अनुसुचित जनताति और अन्य पिछड़े वर्गों के नागरिकों के दाखिले के लिए सीटों के आरक्षण की व्यवस्था, संविधान के अनुच्छेद 15 की धारा (4) के प्रावधानों के तहत की गई है। इस समय सहायता प्राप्त अथवा प्रशासन द्वारा संचालित संस्थानों में विशेष तौर पर व्यावसायिक शिक्षा के लिए जो सीटें उपलब्ध हैं वे गैर सहायता प्राप्त निजी संस्थानों की तुलना में सीमित हैं। संविध ान के अनुच्छेद 30 की धारा (1) के प्रावधानों के तहत सभी अल्पसंख्यकों को अपनी इच्छानुसार शिक्षण संस्थान स्थापित करने और उसे संचालित करने का अधिकार है। अल्पसंख्यक वर्गों को संस्थानों की स्थापना और उसके संचालन के बारे में जो अधि कार मिले हुए हैं, उनकी रक्षा करना आवश्यक है। इसके फलस्वरूप जिन संस्थानों को सरकार ने अनुच्छेद 30 की धारा (1) के तहत अल्पसंख्यक घोषित कर रखा है, उन्हें इस कानून के दायरे से बाहर रखा गया है। सामाजिक और शिक्षा के स्तर पर पिछड़े हुए वर्गों के नागरिकों, अर्थात अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछडें वर्गों के छात्रों को, अनुच्छेद 30 की धारा (1) के तहत आने वाले अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों को छोड़कर बाकी गैर सहायताप्राप्त शिक्षण संस्थानों में दखिला देने के मामले में अनुच्छेद 15 के प्रावधानों का विस्तार किया गया है। अनुच्छेद 15 की नयी धारा (5) के तहत संसद तथा राज्यों की विधायिकाएं ऊपर दिए गए उद्देश्य के लिए समुचित कानून बना सकती हैं।

संविधान (94 वाँ संशोधन) अधिनियम, 2006

- अनु. 164 में संशोधन कर बिहार से झारखंड अलग कर दिया गया।

संविधान (97 वाँ संशोधन) अधिनियम, 2011

- इस संविधान संशोधन द्वारा सहकारी समितियों की स्थापना को मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी गई है।

98वां संशोधन–इस संशोधन (2 जनवरी 2013) के द्वारा **अनुच्छेद 371 (जे)** को जोड़कर कर्नाटक के राज्यपाल की शक्तियों में विस्तार कर कर्नाटक-आंध्र प्रदेश के क्षेत्र के विकास का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

संविधान का 99वाँ संशोधन (2014)– इस संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों में **न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा स्थानान्तरण** के लिए 1993 से चली आ रही कॉलेजियम प्रणाली के स्थान पर नए **राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग** (National Judicial Appointments Commission–NJAC) का प्रावधान किया गया था। इसके द्वारा संविधान में **तीन नए अनुच्छेद 124A, 124B** तथा **124C** का समावेश किया गया था; साथ ही संविधान के अनुच्छेद 127, 128, 217, 222, 224, 224A और 231 में संशोधन किया गया था।

किन्तु **14 अक्टूबर, 2015** को न्यायमूर्ति **जे0 एस0 केहर** की अध्यक्षता वाली पांच सदस्यीय संविधान पीठ ने 4 : 1 के बहुमत से **'राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग' अधिनियम** और **99वें संविधान संशोधन** को रद्द कर कॉलेजियम प्रणाली को पुनः बहाल कर दिया।

➢ **100वाँ संविधान संशोधन अधि (2015)**– इस संशोधन अधिनियम द्वारा भारत और बांग्लादेश के मध्य **1974** में हस्ताक्षरित **'भू-सीमा समझौता (Land Boundary Agreement)'** और तत्सम्बन्धी प्रोटोकॉल का अनुमोदन किया गया है। इस संशोधन के अनुसार भारत के बांग्लादेश में स्थित 111 एनक्लेव बांग्लादेश को प्राप्त हुए हैं तथा बांग्लादेश के भारत में स्थित 51 एनक्लेव भारत में शामिल किए गए हैं। इन एनक्लेवों को 31 जुलाई, 2015 की मध्य रात्रि से हस्तांतरित मान लिया गया है तथा सीमांकन का कार्य दोनों देशों के सर्वेक्षण विभागों द्वारा 30 जून, 2016 तक पूर्ण कर लिया जाएगा। भूक्षेत्र के आधार पर भारत की जहां 17,160.63 एकड़ भूमि बांग्लादेश को हस्तांरति हुई है, वहीं बांग्लादेश की 7,110.02 एकड़ भूमि भारत को हस्तांरित हुई है।

उल्लेखनीय है कि इस अधिनियम के माध्यम से भारत के **प0 बंगाल, असोम, त्रिपुरा** एवं **मेघालय** राज्यों के क्षेत्रों से संबंधित संविधान की प्रथम अनुसूची के उपबन्धों में संशोधन में संशोधन किया गया है।*

20. अधिकरण एवं आयोग

प्रशासनिक अधिकरण (Administrative Tribunal)

संसद कानून द्वारा प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना कर सकती है। अधिकरण द्वारा न्यायनिर्णयन या विचारण के लिए सौंपे जाने वाले प्रमुख मुद्दे निम्नलिखित हैं:-

संघ या किसी राज्य के, या भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर, या भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन किसी स्थानीय, या अन्य प्राधिकारी के अथवा सरकार के स्वामित्व, या नियंत्रण के अधीन किसी निगम के कार्यकलाप से संबंधित लोक सेवाओं और पदों के लिए भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों के संबंध में विवादों और परिवादों के प्रशासनिक अधिकरणों द्वारा न्याय निर्णयन या विचारण के लिए उपबंध कर सकेगी।

अनु. 323 (क) में संसद द्वारा इस संबंध में निम्नलिखित विधि बनाई जा सकती है :-

1. संघ, राज्य, अथवा दो या अधिक राज्यों के लिए पृथक प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना।
2. अधिकरणों द्वारा प्रयोग की जाने वाले अधिकारिता, शक्तियाँ और प्राधिकार विनिर्दिष्ट कर सकेगी।
3. अधिकरणों की प्रक्रिया के लिए उपबंध बना सकेगी।
4. प्रत्येक ऐसे अधिकरणों को उन मामलों के अंतरण के लिए उपबंध कर सकेगी जो ऐसे अधिकरण की स्थापना से ठीक पहले किसी न्यायालय या अन्य प्राधिकारी के समक्ष लंबित हैं और जो ऐसे वाद हेतु जिन पर ऐसे वाद या कार्यवाहियाँ आधारित हैं, अधिकरण की स्थापना के पश्चात् उत्पन्न होते तो ऐसे बाद अधिकरण की अधिकारिता के भीतर होगे।
5. राष्ट्रपति द्वारा अनु० 371(घ)(3) के अंतर्गत किए गए आदेश का निरसन या संशोधन कर सकेगी।
6. ऐसे अनुपूरक, अनुषांगिक, पारिणामिक उपबंध (फीस शामिल है) अंतर्विष्ट कर सकेगी जो संसद ऐसे अधिकरणों के प्रभावी कार्यकरण के लिए और उनके द्वारा मामलों को शीघ्र निपटाने के लिए और उनके आदेशों के प्रवर्तन के लिए आवश्यक समझे।
7 अनु. 323-क के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए संसद ने प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 पारित किया हैं, जिसके अधीन केन्द्रीय सरकार को प्रशासनिक अधिकारणों की स्थापना करने की शक्ति दी गई है। इस अधिनियम का विस्तार सिवाय जम्मू-कश्मीर के सम्पूर्ण भारत में है। यह अधिनियम केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों पर लागू होता है।

अपवाद

1. थल सेना, नौसेना, वायु सेना या संघ के अन्य सशस्त्र बल के सदस्य,
2. उच्चतम या उच्च न्यायालय के कोई अधिकारी या कर्मचारी
3. संसद के किसी सदन के सचिवालय के कर्मचारी।

अनु० 323 (ख) अन्य विषयों के लिए अधिकरण

विधान मंडल कानून द्वारा अधिकरण को उन मुद्दों पर न्यायनिर्णयन या विचारण के लिए शक्ति दे सकता है जिसमें उसे स्वयं कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है। विधान मंडल को निम्नलिखित मुद्दों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है :-

क. किसी कर का उद्ग्रहण, निर्धारण, संग्रहण एवं प्रवर्तन,

ख. विदेशी मुद्रा, सीमाशुल्क सीमांतों के आर-पार आयात एवं निर्यात,

ग. औद्योगिक एवं श्रम विवाद,

घ. अनु० 31(क) में यथा परिभाषित किसी संपदा या उसमें किन्हीं अधिकारों के राज्य द्वारा अर्जन या ऐसे किन्ही अधिकारों के या उपांतरण द्वारा या कृषि भूमि की अधिकतर सीमा द्वारा या अन्य किसी प्रकार से भूमि सुधार

ड़. नगर संपत्ति की अधिकतम सीमा,

च. संसद के प्रत्येक सदन या राज्य विधान मंडल के लिए चुनाव, किन्तु अनु० 329, 329(क) के विषय छोड़ कर,

छ. खाद्य पदार्थों का (जिनके अंतर्गत खाद्य तिलहन यंत्र तेल है) और अन्य ऐसे माल का उत्पादन, उपापन, प्रदाय एवं वितरण जिन्हें राष्ट्रपति लोक अधिसूचना द्वारा, इस अनुच्छेद के लिए विशेष माल घोषित करें।

ज. किरायदारी संबंधी विवाद तथा इन मुद्दों से संबंधित अनुषांगिक विषय।

अधिकरण का गठन (Constitution of Tribunals)

प्रत्येक अधिकारण में एक अध्यक्ष और इतने उपाध्यक्ष और न्यायिक तथा प्रशासनिक सदस्य होंगे जितना कि समुचित सरकार उचित समझे। अतिरिक्त पीठों में एक न्यायिक एवं प्रशासनिक सदस्य अवश्य होंगे।

सदस्यों की अर्हता पदावधि और पदच्युति (Qualifications, Term and Removal of Members)

कोई व्यक्ति अध्यक्ष नहीं नियुक्त किया जाएगा जब तक कि वह (क) किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा है या है (ख) दो वर्ष तक उपाध्यक्ष के पद को धारण किए हो या केन्द्रीय सरकार का सचिव रहा हो या सचिव के बराबर वेतन पाने वाले पद पर रहा हो। उपाध्यक्ष के पद पर नियुक्ति उसी व्यक्ति की हो सकती है जो (क) किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा हो या (ग) 5 तर्ष तक केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त सचिव के पद पर रहा हो।

न्यायिक सदस्य के पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्ति किया जा सकता है जो (क) किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा हो या है (ख) केन्द्रीय विधि सेवा में वर्ग 1 के पद पर कम से कम 3 वर्ष तक रहा हो। प्रशासनिक सदस्य के पद पर उसी व्यक्ति की नियुक्ति हो सकती है जो (क) केन्द्रीय सरकार के सचिव या उसके समकक्ष किसी पद पर कम से कम 2 वर्ष तक कार्यरत रहा हो या (ख) केन्द्रीय सरकार में संयुक्त सचिव या दूसरे समकक्ष किसी पद पर रहा हो (ग) पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव वाला व्यक्ति हो।

नियुक्ति

अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। न्यायिक सदस्य की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाध धीश के परामर्श से करेगा। राज्यों के अधिकारण के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति संबंधित राज्यों के राज्यपाल के परामर्श से की जाएगी।

पदावधि

अधिकरण के सदस्य 5 वर्ष तक अपना पद धारण करेंगे या जब तक कि वह (क) अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के मामले में 65 वर्ष और (ख) अन्य सदस्यों के मामलें में 62 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता है। अधिकरण के सदस्य अपने पद से राष्ट्रपाति को लिखित त्यागपत्र दे सकते हैं। उन्हें उनके पद से राष्ट्रपति के आदेश द्वारा सिद्ध कदाचार और अक्षमता के आधार पर उच्चमत न्यायालय के न्यायाधीश के परीक्षण के बाद हटाया जाएगा। उन्हें उनके ऊपर लगे आरोपो से संसूचित किया जाएगा और सुनवाई का युक्तियुक्ति अवसर दिया जाएगा। केन्द्रीय सरकार उनके विरूद्ध आरोपों की जाँच की प्रक्रिया को नियम बनाकर विहित करेगी।

अधिकरण की अधिकारिता:- केन्द्रीय अधिकरण केन्द्रीय सरकार के सेवकों की सेवा शर्तो से संबांधित सभी मामलों में सभी न्यायालयों अधिकारिता, शक्तियों और प्राधिकार, सिवाय उच्चतम न्यायालय का प्रयोग करेगा।

लोक सेवा आयोग (Public Service Commission)

किसी भी देश का प्रशासन वहाँ के कुशल लोकसेवकों पर निर्भर करता है। संघात्मक संविधान में इनका विशेष महत्व है। इस प्रणाली में प्रशासन संबंधी नीतियों का निर्धारण तो मन्त्रिमण्डल करता है, किन्तु उनका कार्यान्वयन लोकसेवक ही करते हैं। अतएव लोकसेवकों को राजनीतिक एवं वैयक्तिक दबावों से मुक्त रखना नितान्त आवश्यक है जिससे वे सरकारी नीतियों को निष्पक्षता एवं स्वतन्त्रता से कार्यानिवत कर सके। इसलिए संविधान के भाग-14 में अनुच्छेद 308 से 323 तक में लोक सेवकों के कार्यकाल, सेवा की शर्ते और सांविधानिक संरक्षण से संबंधित समुचित उपबन्ध किए गए हैं।

अखिल भारतीय सेवा (अनु. 312) :- अनु. 312 संसद को विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन करने की शक्ति प्रदान करता है। इसके अनुसार यदि राज्यसभा राष्ट्रहित में आवश्यक समझती है तो सदन के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से संकल्प पारित करके ऐसी सेवाओं का सृजन कर सकती है। इस अध्याय के अन्य उपबंधोां के अधीन रहते हुए संसद किसी ऐसी सेवाओं की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा-शर्तो को विनियमित कर सकती है।

yksd lsok vk;ksx dh vko';drk

(The Need of Public Service Commission)

देश में संघ राज्यों के लोक सेवा आयोगों को लोकतंत्र का संरक्षक माना जाता है। ये लोक प्रशासन को निष्पक्ष उपकरण प्रदान कर उसे राजनीतिक संस्थाओं के संभावित दबावों से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

लोक सेवा आयोग की आवश्यकता के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं –

1. सेवा विषयों के बारे में स्वतंत्र विचार रखने के कारण लोक सेवा आयोग कार्यपलिका को राजनीति एवं प्रशासन तंत्र के बीच आवश्यक संतुलन स्थापित करने में मदद करता है।
2. लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए यह योग्यतम प्रत्याशियों का चयन करता है।
3. यह लोक सेवाओं को भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार से दूर रखता है।
4. यह लोक सेवाओं के विषय पर सरकार को तकनीकी परामर्श देता है।

संघ या राज्य सेवा में नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती और सेवा शर्तों का विनियमन (अनु. 309)

अनु. 309 संघ और राज्य विधानमंडल को उनकी सेवा में नियुक्ति लोक सेवकों की भर्ती और सेवा की शर्तों के विनियम की शक्ति प्रदान करता है। किन्तु जब तक समुचित विधानमण्डल के अधिनियम द्वारा उक्त प्रयोजन के लिए उपबंध नहीं किए जाते तब तक ऐसी सेवाओं के लिए भर्ती और नियुक्त व्यक्तियों की शर्तों का विनियमन करने वाले नियमों को राष्ट्रपति व राज्यपाल बनाएगें। इस प्रकार बनाए गए नियम समुचित विधानमंडल द्वारा बनाए गए अधिनियम के अधीन होंगे। संविधान में लोक सेवकों की भर्ती में सहायता देने के लिए लोकसेवा आयोग की स्थापना का उपबंध किया गया है।

उच्चतम न्यायालय ने अपने महत्वपूर्ण निर्णय टी.के रंगराजन बनाम तमिलनाडु सरकार में अभिनिर्धारित किया कि सरकारी कर्मचारियों को हड़ताल करने का अधिकार नहीं है, न मूल अधिकार, न विधिक अधिकार और न नैतिक अधिकार।

लोक-सेवकों की पदावधिः प्रसाद पर्यन्त का सिद्धान्त (अनु. 310)

संविधान का अनु. 310 यह उपबंधित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो संघ की प्रतिरक्षा, सेवा या असैनिक सेवा या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है अथवा संघ के अधीन प्रतिरक्षा से संबंधित किसी पद को अथवा किसी असैनिक पद को धारण करता है, राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त यह पद धारण करेगा और प्रत्येक व्यक्ति जो किसी राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है वह राज्य के राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है। यही प्रसाद पर्यन्त का सिद्धान्त कहलाता है।

प्रसाद पर्यन्त के सिद्धान्त पर निर्बन्धन

1. प्रसाद के सिद्धान्त का प्रयोग अनु. 311 में विहित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जाएगा।
2. यह नियम उच्चतम न्यायालय, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, भारत के नियंत्रक एवं महालेखापरीक्ष्ज्ञक मुख्य चुनाव आयुक्त, लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य, के पद पर लागू नहीं होता।
3. यह सिद्धान्त मूल अधिकारों के अधीन है।

लोक सेवकों को सांविधानिक संरक्षण (अनु. 311)

अनु. 311 के अन्तर्गत लोकसेवकों को अपने पद से मनमाने ढ़ंग से पदच्युत किए जाने के विरूद्ध निम्नांकित संवैधानिक संरक्षण प्रदान किए गए हैं-

1. कोई भी लोकसेवक अपने नियुक्ति कर्ता से नीचे के किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जाएगा अनु. 311(1)
2. कोई भी व्यक्ति तब तक पदच्युत नहीं किया जाएगा जब तक कि उसे अपने दोषों से अवगत न करा दिया हो और उसके संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो। (अनु. 311 (2))

वेतन तथा सेवा शर्तें

आयोग के सदस्यों के वेतन तथा भत्ते एवं अन्य शर्तों का निर्धारण राष्ट्रपति करता है। किसी सदस्य के वेतन, भत्ते सेवा की अन्य शर्तों में उसकी पदावधि में अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

आयोग के सदस्यों को हटाना

संविधान के अनुच्छेद 317 के अनुसार आयोग के सदस्यों को दुराचार के लिए राष्ट्रपति के आदेश द्वारा पद्च्युत किया जा सकता है। दुराचार को प्रमाणित करने की प्रक्रिया संविधान में वर्णित है। लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष अथवा किसी सदस्य को इन कारणों के आधार पर भी राष्ट्रपति अपदस्थ कर सकता है –

क. उसके दिवालिया होने पर, या

ख. उसके द्वारा अपने कार्यकाल में कोई अन्य संवैधानिक कार्य स्वीकार कर लेने पर, या

ग. उसके मानसिक या शारीरिक रूप से दुर्बल होने पर या

घ. अनुच्छेद 217(1)(ख) के अनुसार।

लोक सेवा आयोग के कार्य (Functions of the Public Service Commission)

भारत के संविधान के अनुच्छेद 320 के अनुसार इनके कार्य निम्नांकित हैं –

1. संघ तथा राज्यों की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना।
2. यदि दो अधिक राज्य संघ लोक सेवा आयोग को संयुक्त नियोजन अथवा भर्ती हेतु आग्रह करे तो इस प्रकार की योजना बनाने में सहायता करना।
3. संघ तथा राज्य सरकारों को निम्नांकित मामलों में परामर्श देना –

क. लोक सेवाओं में भर्ती के तरीकों के बारे में सभी मामलों पर,

ख. लोक सेवाओं में नियुक्ति और पदोन्नति के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों पर तथा एक सेवा से दूसरी सेवा में स्थानान्तरण और पदोन्नति के मामलों पर, सेवा से दूसरी सेवा में स्थानान्तरण और पदोन्नति के मामलों पर,

ग. अनुशासनात्मक मामलों पर

घ. कानूनी खर्चे की प्रतिपूर्ति पर एवं

ड. शासकीय सेवा में रहते हुए घायल हो जाने के कारण पेंशन देने के मामलों पर पर।

लोक सेवा आयोग की स्वतंत्रता (Independence of Public Service Commission)

भारत के संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतंत्रता के लिए निम्नांकित प्रावधान हैं –

1. **पदच्युति निर्धारित प्रक्रियानुसार**– लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को संविधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार ही पदच्युत किया जा सकता है।
2. **कार्यकाल में हानिकारक परिवर्तन न करना**– सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की पद से सम्बन्धित शर्तों को उसक कार्यकाल में हानि के रूप में नहीं बदला जा सकता है।
3. **वेतन एवं भत्ते संचित निधि से**– लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों के वेतन, भत्ते एवं प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि पर भारित हैं। अतः संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों के वेतन और भतों के बारे में संसद तथा राज्य विधान मण्डलों में मतदान नहीं किया जा सकता है।
4. **सरकारी पद पर नियुक्ति पर रोक**– संघ और राज्यों के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को कुछ अपवादों को छोड़कर पुनः उसी पर या सरकारी पर पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की अनुपयुक्तता की प्रकृति महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह भारत सरकार अथवा राज्य प्रकार के अधीन कोई नियुक्ति नहीं पा सकता। प्रकार की पाबंदी तो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर भी नहीं लगाई गई है।

लोक सेवा आयोग की सलाहकारी भूमिका (Advisory Role of Public Service Commi ssion)

भारत के संविधान में लोक सेवा आयोगों का कार्य केवल मात्र सलाह देना रखा गया है। सरकार आयोग के द्वारा चुने हुए प्रत्याशियों को नियुक्ति देने के लिए बाध्य नहीं है, परन्तु सामान्यतया सरकार ने आयोग की सलाह को स्वीकार ही किया है।

राज्य लोक सेवा आयोग (State Public Service Commission)

अनु॰ 315 (1) में प्रत्येक राज्य मे ंएक लोक सेवा आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है। हांलाकि अनु॰ 315 (2) के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक संयुक्त लोक सेवा आयोग का भी गठन किया जा सकता है। ऐसे प्रावधान का कारण यह है कि यद्यपि संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग का प्रावधान है लेकिन उन अवसरों पर जब किसी राज्य में प्रशासकीय अथवा वित्तीय समस्याएं विद्यमान हैं तब संयुक्त आयोग की स्थापना की जा सकती है। ऐसे आयोग के गठन के लिए विधि निर्माण की शक्ति संसद को प्राप्त है लेकिन इस विषय पर राज्य विधानमंडल द्वारा एक प्रस्ताव का पारित होना अनिवार्य है।

ख अनु. 315(2) तथा (3),

अनु. 315 (4) के तहत किसी राज्य के राज्यपाल के अनुरोध पर संघ लोक सेवा आयोग भी राज्य की समस्त अथवा किसी ऐसी आवश्यकता की पूर्ति में सहयोग कर सकता है। राज्य लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा राज्यपाल द्वारा नियुक्त सदस्य होते हैं लेकिन सदस्यों में से आधे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए कम से कम दस वर्षों तक सरकारी सेवा में रहे हों ख अनु॰ 316 (I), आयोग के सदस्य की सेवा निवृत्ति की आयु 62 वर्ष हैं, वह अपना त्यागपत्र राज्य के राज्यपाल को सौंप सकता है। इसी प्रकार किसी संयुक्त आयोग का सदस्य अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को सौंपता है। राज्य लोक सेवा आयोग के व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित होतें हैं।

आयोग के संबंध में एक विशिष्ट तथ्य यह है कि हांलाकि आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार राज्य के ाज्यपाल का है लेकिन उन्हें पद से हटाने के लिए राष्ट्रपति को अधिकृत किया गया है। इसके लिए राष्ट्रपति द्वारा अनु. 317 (I) के तहत उच्चतम न्यायालय को एक प्रतिवेदन भेजा जाता है। आयोग के अध्यक्ष अथवा सदस्य पद पर कार्य कर चुके व्यक्ति को संघ लोक सेवा आयोग अथवा किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष अथवा सदस्य नियुक्त किया जा सकता है। लेकिन वह केन्द्र अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई पद धारण नहीं कर सकता। ख अनु. 319(b),

अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ (Scheduled castes and scheduled Tribes)

- यद्यपि संविधान में इसकी परिभाषा नहीं दी गई है कि वे कौन से व्यक्ति हैं जो उक्त जातियों की श्रेणी में आते हैं। अनु. 341 और 342 राष्ट्रपति को इन जातियों को विनिर्दिष्ट करने की शाक्ति प्रदान करता है। राष्ट्रपति लोक सूचना द्वारा उन जातियों को उल्लिखित करेगा जो उस प्रयोजन हेतु अनुसूचित जातियाँ या अनुसूचित जनजातियाँ समझी जाएंगी। यदि ऐसी कोई अधिसूचना किसी राज्य से संबंधित है तो राष्ट्रपति संबंधित राज्यपाल से परामर्श करेगा।

ykksdlHkk rFkk jkT; & foèkkulHkkvksa esa LFkkuksa dk vkj{k.k (Reservation of Seats in Lok Sabha & State Assemblies)

अनु 330 और 332 के अन्तर्गत क्रमशः लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों हेतु उपबंध किए हैं। अनु. 330 यह उपबंध करता है कि लोकसभा में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों सिवाय असम के स्वशासी जिलों की अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर स्थान आरक्षित रहेंगे।

अनु. 332 यह उपबंध करता है कि प्रत्येक राज्य की विधानसभा में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए (असम के स्वशासी जिलों की अनुसूचित जनजातियों को छोड़कर) स्थान आरक्षित रहेंगे तथा असम राज्य की विधानसभा में स्वशासी जिलों के लिए भी स्थान आरक्षित रहेंगे। स्थानों का आरक्षण जनसंख्या के आधार पर किया जाएगा।

संविधान के 85 संशोधन अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जनसंख्या से तात्पर्य सन् 1991 में की गई जनगणना पर आध ारित जनसंख्या है, और वह सन् 2026 तक वैसी ही बनी रहेगी। लेकिन 87 वे संशोधन अधिनियम, 2003 द्वारा 2001 की जनगणना को आधार बनाया गया है।

आरक्षण प्रशासन में दक्षता को नष्ट करने वाला नहीं होना चाहिए (Reservation Should not destroyment in Governance)

अनु. 335 के अनुसार संघ या राज्यों से संबद्ध सेंवाओं और पदों के लिए नियुक्तियों में प्रशासन में दक्षता बनाए रखने की संगति के अनुसार अनुसूचित जातियों और जनजातियों के दावों को ध्यान में रखा जाएगा। इसी प्रयोजन हेतु अनु. 16 में इन वर्गों के लिए पदों के आरक्षित करने का उपबंध भी किया गया है।

82वें संशोधन द्वारा अनु. 335 में उपबंध किया गया कि कोई बात राज्य को अनुसूचित जातियों और जनजातियों संदर्भों के लिए ऐसी उपबन्ध करने से नहीं रोकेगा को संघ या राज्य से संबंधित किसी वर्ग या सेवा के वर्गों या पदों पर प्रोन्नति के संबंध में आरक्षित है।

81 वें संशोधन द्वारा अनु. 16 में एक नया खंड 4(ख) जोड़कर यह उपबंध किया गया है कि अनुसूचित जातियों एवं जनजातिया की बकाया रिक्तियों को जो योग्य अभ्यार्थियों के अभाव में भरी नहीं जा सकी थी उन्हें अगले वर्षों में भरा जाएगा।

➢ नीति निदेशक तत्वों में उल्लिखित प्रावधान अनु. 46 इस बात का आह्वान करता है कि राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के, विशेष तथा अनुसूचित जातियों और जनजातियों की शिक्षा तथा अर्थसंबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

इसके अतिरिक्त संविधान के भाग-3 में उल्लिखित मूल अधिकारों के अन्तर्गत भी इन्हें संरक्षण प्रदान किया गया है। अनु. 19(1) (घ) एवं 19 (5) द्वारा प्रदत्त अबाध संचरण एवं भारत के किसी भी भाग में निवास करने व बस जाने की स्वतन्त्रता पर राज्य अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचिति जनजातियों के हितों के संरक्षण की दृष्टि युक्तियुक्त निर्बन्धत लगा सकता है। अनु. 15 के खण्ड 4 द्वारा भी यह उपबंध किया गया है कि राज्य अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए कोई भी विशेष प्रावधान कर सकता है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग (National Commission for Minorities)

आयोग की स्थापना (Establishment of the Commission)

1978 में अल्पसंख्याकें के हितों की रक्षा के लिए भारत सरकार ने एक कार्यकारी प्रस्ताव के माध्यम से एक अल्पसंख्यक आयोग का गठन किया। इस प्रस्ताव में अल्पसंख्यक आयोग के गठन हेतु उत्तरदायी कारणों की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई थीं-

''संविधान एवं कानूनों में उपलब्ध कराये गये सुरक्षोपायों के बावजूद अल्पसंख्यकों के बीच असमानता और भेदभाव की एक भावना मौजूद है।

पंथ निरपेक्ष परम्पराओं को बनाये रखने तथा राष्ट्रीय एकीकरण को संवर्द्धित करने के लिए भारत सरकार ने अल्पसंख्यकों के लिए उपलब्ध सुरक्षोपायों के क्रियान्वयन को उच्चतम महत्व दिया है और उसका दृढ़ मत है कि संविधान, केन्द्र एवं राज्य कानूनों, सरकारी नीतियों एवं समय-समय पर तैयार की जाने वाली प्रशासनिक योजनाओं में अल्पसंख्यकों के लिए उपलब्ध कराये गये सभी सुरक्षोपायों के क्रियान्वयन के लिए प्रभावी संस्थात्मक व्यवस्थापनों की अतिशीघ्र आवश्यकता हैं''

बाद में यह अनुभव किया गया कि अल्पसंख्यक आयोग को वैधानिक दर्जा प्रदान किया जाये ताकि यह आयोग के कार्यचालन एवं प्रभावशीलता के बारे में अल्पसंख्यकों के बीच विश्वास को बढ़ा सके। इससे यह आयोग राज्य सरकारों, संघशासित प्रशासनों एवं मंत्रालयों, केन्द्र सरकार के विभागों एवं अन्य संगठनों के साथ मिलकर कार्य कर सकेगा।

अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग अधिनियम (1992) के पारित होने के साथ ही अल्पसंख्यक आयोग एक वैधानिक निकाय बन गया और इसे अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग का नाम दिया गया। पहले वैधानिक आयोग का गठन 1993 में हुआ।

यह अधिनियम ''अल्पसंख्यक'' शब्द को परिभाषित नहीं करता है किन्तु यह अधिनियम के उद्देश्यों के लिए केन्द्र सरकार को यह शक्ति देता है कि वह ''अल्पसंख्यकों'' को अधिसूचित कर सके। तदनुसार केन्द्र ने 1993 में 5 धार्मिक समुदायों-मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध और पारसी-को अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में अधिसूचित किया था।

आयोग का संघटन (Compostion of the Commission)

आयोग एक बहुसदस्यीय निकाय है, जिसमें एक अध्यक्ष, एक उपाध्यक्ष और पांच सदस्य शामिल होते हैं। केन्द्र सरकार द्वारा श्रेष्ठ गुणों, योग्यता और सत्यनिष्ठा के आधार पर सदस्यों का नामांकन किया जाता है। फिर भी अध्यक्ष सहित पांच सदस्यों का अल्पसंख्यक समुदायों के बीच से होना आवश्यक है।

अध्यक्ष और सदस्यों के वेतन, भत्ते और सेवा-शर्तें केन्द्र सरकार (अल्पंसख्यक मामलों का मंत्रालय) द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। उल्लेखनीय है कि सदस्यों में उपाध्यक्ष भी शामिल है।

अध्यक्ष और सदस्य तीन वर्ष के लिए पद धारण करते हैं। फिर भी केन्द्र सरकार को सम्बोधित अपने त्याग-पत्र द्वारा वे किसी भी समय अपना पद छोड़ सकते हैं।

सदस्यों की पदच्युति (Removal of the Meblers)

केन्द्र सरकार निम्नलिखित परिस्थितियों में अध्यक्ष या किसी सदस्य को उसका कार्यकाल पूरा होने से पहले ही पद से हटा सकती है-

1. यदि वह दिवालिया हो जाता है।
2. यदि वह किसी ऐसे अपराध के दोषी सिद्ध या दंडित होता है जो केन्द्र सरकारा की दृष्टि में नैतिक भ्रष्टाचार के अन्तर्गत आता

है।

3. यदि उसे एक सक्षम न्यायालय द्वारा मानसिक रूप से अस्वस्थ घोषित किया जाता है।
4. यदि वह कार्य करने से इंकार करता है या कार्य करने में अक्षम हो जाता है।
5. यदि वह आयोग की लगातार तीन बैठकों में अनुपस्थित रहता है।
6. यदि वह अपने पद का इस प्रकार दुरुपयोग करता है कि केन्द्र सरकार की दृष्टि में उसका पद पर बने रहना अल्पसंख्यकों के हितों या सार्वजनिक हित के लिए हानिकार माना जाता है।

फिर भी किसी अध्यक्ष या सदस्य को तब तक उसके पद से नहीं हटाया जा सकता जब तक कि उसे सुनवाई का एक उचित अवसर प्रदान न किया जाये।

आयोग के कार्य (Function of the Commission)

1. संघ एवं राज्यों में अल्पसंख्यकों के विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना।
2. संसद एवं राज्य विधानमंडलों द्वारा निर्मित कानूनों और संविधान में अल्पसंख्यकों के लिए उपलब्ध कराये गये सुरक्षोपायों के कार्यचालन की निगरानी करना।
3. केन्द्र सरकार या राज्य सरकारों द्वारा अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण हेतु सुरक्षोपायों के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु अपनी सिफारिशें देना।
4. अल्पसंख्यकों के अधिकारों और सुरक्षोपायों के वंयन से जुड़ी शिकायतें देखना तथा ऐसे मामलों को उपयुक्त प्राधिकारियों के समक्ष रखना।
5. अल्पसंख्यकों के विरुद्ध किसी भी प्रकार के भेदभाव से पैदा होने वाली समस्याओं का अध्ययन करना तथा उनके समाधान हेतु उपायों की अनुशंसा करना।
6. अल्पसंख्यकों के सामाजिक-आर्थिक एवं शैक्षिक विकास से जुड़े मुद्दों पर अध्ययनों, शोध और विश्लेषण कार्यों का संचालन करना।
7. केन्द्र सरकार या राज्य सरकारों के अन्तर्गत आने वाले किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय के सम्बन्ध में उपयुक्त उपाय सुझावित करना।
8. अल्पसंख्यकों से जुड़े किसी भी मामले या उनके समक्ष आने वाली कठिनाइयों के बारे में केछ सरकार को आवधिक या विशेष रिपोर्टें सौंपना।
9. केन्द्र सरकार द्वारा आयोग का सौंपे गये किसी अन्य मामले को देखना

आयोग की शक्तियां (Powers of the Commission)

किसी भी शिकायत की जांच-पड़ताल या किसी मामले की निगरानी, मूल्यांकन करते समय आयोग के पास एक सिविल अदालत की सभी शक्तियां होती हैं, जो विशेष रूप से निम्नलिखित मामलों में प्रभावी होती हैं-

1. भारत के किसी भी भाग से किसी भी व्यक्ति को अपने समक्ष उपस्थित होने के लिए सम्मन जारी करना तथा उसका शपथ परीक्षण करना।
2. किसी दस्तावेज की खोज या उत्पादन की मांग करना।
3. शपथ-पत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करना।
4. किसी अदालत या कार्यालय से सार्वजनिक अभिलेख मांगना।
5. गवाहों और दस्तावेजों के परीक्षण हेतु सम्मन जारी करना।
6. केन्द्र सरकार द्वारा इसे सौंपा गया कोई अन्य मामला।

आयोग की रिपोर्ट (Report of the Commission)

आयोग केन्द्र सरकार को एक वार्षिक रिपोर्ट भेजता है। यह आवश्यकता पड़ने पर अन्य विशेष रिपोर्टें भी प्रेषित कर सकता है। केन्द्र सरकार ऐसी सभी रिपोर्टों को आयोग द्वारा की गयी सिफारिशों पर होने वाली कार्यवाही के विस्तृत स्मरण-पत्र के साथ संसद

के प्रत्येक सदन के समक्ष रखती है। इस स्मरण- पत्र में ऐसी किसी भी सिफारिश को अस्वीकार करने के कारणों का उल्लेख भी होता है। यदि ऐसी किसी भी रिपोर्ट का सम्बन्ध राज्य सरकार से जुड़े किसी मामले से होता है तो आयोग ऐसी रिपोर्ट की एक प्रतिलिपि उस राज्य सरकार को भी अग्रसारित करता है। वह राज्य सरकार उस रिपोर्ट को आयोग की सिफारिशों पर की गयी कार्यवाही के स्मरण-पत्र के साथ विधानमंडल के समक्ष रखती हे। इस स्मरण-पत्र में ऐसी किसी भी सिफारिश को अस्वीकार करने के कारणों का उल्लेख किया जाना भी आवश्यक होता है।

विकलांग व्यक्तियों के लिए केन्द्रीय आयुक्त

(Central Commissioner for Disabled Persons)

वैधानि दर्जा (Statutory Status)

विकलांग व्यक्तियों के लिए केन्द्रीय आयुक्त (अथवा आधिकारिक रूप से, विकलांग व्यक्तियों के लिए मुख्य आयुक्त) का पद विकलांग व्यक्ति (समान अवसर, अधिकार संरक्षण व पूर्ण भागीदारी) अधिनियम (1995) के अन्तर्गत गठित किया गया था और इसे विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा हेतु कदम उठाने के लिए अधिदेशित किया गया है।

विकलांग व्यक्ति अधिनियम मूल रूप से उन सुविधाओं को सूचीबद्ध करता है जो विभिन्न प्रकार के विकलांग व्यक्तियों को उपलब्ध कराई जानी है तथा यह उन जिम्मेदारियों एवं प्रतिबद्धताओं को भी निर्धारित करता है जो केन्द्र सरकार, राज्य सरकारों, स्थानीय निकायों और अन्य संगठनों पर लागू होती हैं। इसमं विकलांगता की शुरूआती पहचान और रोकथाम, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा, शोध और मानव शक्ति विकास, बाधारहित पहुंच इत्यादि से जुड़े उपायों को शामिल किया गया है। इसमें उन प्राथमिकताओं और सुविधाओं के सम्बन्ध में किये जाने वाले उपायों को शामिल किया गया है जो विकलांग व्यक्तियों को उपलब्ध हैं। अधिनियम विकलांग व्यक्तियों के विरुद्ध होने वाले किसी भी भेदभाव को रोकने के लिए आवश्यक कार्यवाहियों के लिए भी अनुशंसाएं करने का प्रावधान करता है। अधिनियम के अनुसार भारत सरकार के स्तर पर एक मुख्य आयुक्त और प्रत्येक राज्य में एक आयुक्त की व्यवस्था की गयी है।

नियुक्ति (Appointment)

1. केन्द्र सरकार अधिसूचना के द्वारा अधिनियम के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विकलांग व्यक्तियों के लिए एक मुख्य आयुक्त नियुक्त कर सकती है।
2. पुनर्वास से जुड़े मामलों में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखने वाले व्यक्ति को ही मुख्य आयुक्त के रूप में नियुक्ति का पात्र समझा जायेगा।
3. मुख्य आयुक्त का वेतन, भत्ते व अन्य सेवा-शर्तें (पेंशन, ग्रेच्युटी एवं अन्य सेवानिवृत्ति लाभों सहित) केन्द्र सरकार द्वारा निधारित की जायेंगी।
4. केन्द्र सरकार मुख्य आयुक्त को उसके कार्यों के निष्पादन में सहायता देने के लिए आवश्यक अधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों की प्रकृतियों एवं श्रेणियों का निर्धारण करेगी और इस प्रकार के उपयुक्त अधिकारी एवं कर्मचारी मुख्य आयुक्त के लिए उपलब्ध करायेगी।
5. मुख्य आयुक्त के लिए उपलब्ध कराये गये कर्मचारी एवं अधिकारी मुख्य आयुक्त के सामान्य अधिवीक्षण के अन्तर्गत अपने कार्य निष्पादित करेंगे।
6. मुख्य आयुक्त को उपलबध कराये गये अधिकारियों एवं कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और अन्य सेवा-शर्तों का निर्धारण केन्द्र सरकार द्वारा किया जायेगा।

कार्य (Functions)

1. मुख्य आयुक्त राज्य आयुक्तों के कार्य के साथ समन्वय स्थापित करेगा।
2. वह केन्द्र सरकार द्वारा वितरित निधियों के उपयोग की निगरानी करेगा।
3. वह विकलांग व्यक्तियों को उपलब्ध अधिकारों एवं सुविधाओं की रक्षा हेतु कदम उठायेगा।
4. वह केन्द्र सरकार को निश्चित समयांतराल पर या सरकार द्वारा निर्धारित अवधि में अधिनियम के क्रियान्वयन से जुड़ी रिपोर्ट प्रेषित करेगा।

इसके अलावा मुख्य आयुक्त अपनी खुद की पहल पर या किसी शिकायतकर्ता के आवेदन पर निम्नलिखित मामलों से जुड़ी शिकायतें सुनेगा-

1. विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों का वंचन।
2. विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों के सरंक्षण एवं उनके कल्याण हेतु सरकारों या स्थानीय प्राधिकारियों द्वारा निर्मित या जारी कानूनों, नियमों, उप-नियमों, विनियमों, कार्यकारी आदेशों, दिशा-निर्देशों या निर्देशों का गैर-क्रियान्वयन।

शक्तियां (Powers)

अधिनियम के अधीन अपने कार्यों का निष्पादन करने के उद्देश्य से मुख्य आयुक्त को निम्नलिखित मामलों में सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के अन्तर्गत एक अदालत की शक्तियां प्राप्त होंगी-

1. गवाहों की उपस्थिति के लिए सम्मन जारी करना।
2. किसी दस्तावेज की खोज या उत्पादन की मांग करना।
3. किसी अदालत या कार्यालय से सार्वजनिक अभिलेख की मांग करना।
4. शपथ-पत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करना।
5. गावाहों या दस्तावेजों के परीक्षण हेतु विशेष आदेश जारी करना

मुख्य आयुक्त के समक्ष होने वाली कोई भी प्रक्रिया या कार्यवाही भारतीय दंड संहिता 1860 के अधीन एक न्यायिक प्रक्रिया या कार्यवाही होगी। मुख्य आयुक्त को अपराध प्रक्रिया संहिता 1973 के उद्देश्य के लिए भी एक सिविल अदालत के रूप में देखा जायेगा।

वार्षिक रिपोर्ट (Annual Report)

मुख्य आयुक्त पिछले वर्ष की अपनी गतिविधियों के पूर्ण विवरण सहित एक वार्षिक रिपोर्ट केन्द्र सरकार को प्रेषित करेगा। वार्षिक रिपोर्ट में निम्नलिखित मामलों से जुड़ी सूचनायें शामिल होंगी-

1. अधिकारियों के नाम, कार्यालय का स्टाफ और संगठनात्मक संरचना को दर्शाने वाला एक चार्ट।
2. अधिनियम के अधीन मुख्य आयुक्त द्वारा निष्पादित किये गये कार्य और इस सम्बन्ध में उसके कार्य निष्पादन की जानकारी।
3. मुख्य आयुक्त द्वारा की गयी मुख्य अनुशंसाएं।
4. अधिनियम के क्रियान्वयन में होने वाली राज्वार प्रगति।
5. समय-समय पर केन्द्र सरकार द्वारा निर्दिष्ट अथवा मुख्य आयुक्त द्वारा उपयुक्त समझा गया कोई अन्य विषय।

केन्द्र सरकार मुख्य आयुक्त द्वारा की गयी सिफारिशों पर होने वाली कार्यवाही के एक स्मरण-पत्र के साथ उसकी रिपोर्ट को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखती है। इस स्मरण-पत्र में ऐसी किसी भी सिफारिश को अस्वीकार करने के कारणों का उल्लेख होना भी आवश्यक होता है।

राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद समाधान आयोग

(National Consumer Disputes Redressal Commission)

स्थापना (Establishment)

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 का पारित होना देश में उपभोक्ता संरक्षण/उपभोक्ता आन्दोलन के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण मील के पत्थरों में से एक रहा है। यह अधिनियम उपभोक्ताओं के लिए विशेष रूप से एक वैकल्पिक विवाद समाधान तंत्र की रचना के द्वारा उपभोक्ता हितों के बेहतर संरक्षण हेतु बनाया गया था।

यह अधिनियम उपभोक्ता विवादों के समाधान हेतु एक त्रिस्तरीय उपागम कराता है। उपभोक्ता अदालत के इन तीन स्तरों को क्रमशः जिला उपभोक्ता विवाद समाधान फोरम (जिला फोरम), राज्य उपभोक्ता विवाद समाधान आयोग (राज्य आयोग) तथा राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद समाधान आयोग (राष्ट्रीय आयोग) कहा जाता है।

जिला फोरम और राज्य आयोग केन्द्र सरकार की अनुमति के बाद राज्यों द्वारा गठित किये जाते हैं जबकि राष्ट्रीय आयोग केन्द्र सरकार द्वारा गठित होता है। इन अदालतों ने सिविल अदालतों के क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण नहीं किया है किन्तु ये एक वैकल्पिक

उपचार उपलब्ध कराती हैं। वर्तमान में, देश में 627 जिला फोरम, 35 राज्य आयोग और 1 राष्ट्रीय आयोग का गठन किया जा चुका है।

उपभोक्ता अदालतों के त्रिस्तरीय पदानुक्रम में सबसे शीर्ष पर राष्ट्रीय आयोग होता है। इसका गठन 1988 में किया गया था।

संरचना (Composition)

राष्ट्रीय आयोग में एक अध्यक्ष और कम से कम 4 सदस्य (जिनमें एक सदस्य का महिला होना आवश्यक है) शामिल होते हैं। अध्यक्ष के पद पर ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है, जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश हो रहा हो। सदस्यों का चुनाव ऐसे लोगों में से किया जाता है जो योग्यता, सत्यनिष्ठा के अलावा अर्थशास्त्रा, कानून, वाणिज्य, लेखा, उद्योग, लोक मामले या प्रशासन से जुड़ी समस्याओं से निपटने में कम से कम 10 वर्ष का अनुभव और पर्याप्त ज्ञान रखते हों।

अध्यक्ष की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करने के बाद केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। आयोग के अन्य सदस्यों की नियुक्ति एक चयन समिति की सिफारिश पर केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है। इस चयन समिति में निम्न व्यक्ति शामिल होते हैं–

1. एक व्यक्ति जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश हो और जिसे मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित किया जाये (अध्यक्ष)।
2. भारत सरकार के कानूनी मामलों के विभाग में सचिव (सदस्य)।
3. भारत सरकार के उपभोक्ता मामलों के विभाग का सचिव (सदस्य)।

राष्ट्रीय आयोग का प्रत्येक सदस्य 5 वर्ष की समयावधि या 70 वर्ष की आयु पूरा होने तक (जो भी पहले हो) पद धारण करता है। अध्यक्ष या एक सदस्य के पद में होने वाली रिक्ति को उसके कार्यकाल पूरा करने, उसकी मृत्यु होने, त्याग–पत्र या पदच्युति के बाद ही भरा जा सकता है।

पदच्युति (Removal)

केन्द्र सरकार निम्नलिखित आधारों पर अध्यक्ष या किसी सदस्य को उसके पद से हटा सकती है, जो–

1. दिवालिया घोषित किया गया हो।
2. किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी सिद्ध किया गया हो जो केन्द्र सरकार की दृष्टि में नैतिक भ्रष्टाचार की अन्तर्गत आता है।
3. अध्यक्ष या सदस्य के रूप में कार्य करने के लिए शारीरिक या मानसिक रूप से अक्षम हो।
4. ऐसे वित्तीय या अन्य हितों की पूर्ति करे जो अध्यक्ष या सदस्य के रूप में उसके कार्यों को गलत तरीके से प्रभावित कर सकते हैं।
5. अपने पद का इस प्रकार दुरुपयोग करे कि उसका पद पर बने रहना लोकहित के लिए हानिकर हो।
6. अपने नियंत्रण से बाहर के कारणों को छोड़कर आयोग की लगातार तीन बैठकों में अनुपस्थित रहा हो।

अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction)

1. **आर्थिक अधिकार क्षेत्रः** चूंकि राष्ट्रीय आयोग उपभोक्ता अदालतों का उच्चतम स्तर है इसलिए यह उन सभी मामलों की सुनवाई कर सकता है जहां दावे का मूल्य 1 करोड़ रुपये से अधिक हो।
2. **प्रादेशिक क्षेत्राधिकारः** राष्ट्रीय आयोग का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में व्याप्त है। फिर भी अधिनियम तब लागू होता है जब कार्यवाही का कारण भारत में पैदा हुआ हो। यदि कार्यवाही का कारण भारत से बाहर उत्पन्न होना है तो उसे मामले में राष्ट्रीय आयोग के पास सुनवाई का कोई अधिकार नहीं होगा।
3. **अपीलीय अधिकार क्षेत्रः** राष्ट्रीय आयोग किसी भी राज्य आयोग के विरुद्ध अपीलें सुनता है। राय आयोग के आदेश की तारीख से 30 दिनों से भीतर ऐसी अपील की जा सकती है फिर भी राज्य आयोग 30 दिनों की अवधि के बाद भी दाखिल की गयी किसी अपील को सुन सकता है यदि वह इस बात से संतुष्ट हो कि दिये गये समय के भीतर अपील दाखिल न करने का कोई पर्याप्त कराण मौजूद था।
4. **पुनरीक्षणात्मक क्षेत्राधिकारः** राष्ट्रीय आयोग किसी भी राज्य आयोग द्वारा निर्णीत या उसके समक्ष लम्बित किसी उपभोक्ता विवाद के सम्बन्ध में अभिलेख मांग सकता है और उपयुक्त आदेश जारी कर सकता है। किन्तु ऐसे मामले में राष्ट्रीय आयोग को यह लगना चाहिए कि राज्य आयोग ने,

(i) अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण किया है।

(ii) अपने क्षेत्राधिकार का उपयोग नहीं किया है।

(iii) अपने क्षेत्राधिकार का अवैधानिक या भौतिक अनियमितता के साथ उपयोग किया है।

राष्ट्रीय आयोग के विरुद्ध 30 दिनों के भीतर या उच्चतम न्यायालय द्वारा निर्धारित समयावधि में उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील की जा सकती है।

प्रशासनिक नियंत्रण (Administrative Control)

राष्ट्रीय आयोग निम्नलिखित मामलों में सभी राज्य आयोगों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखता है-

1. वादों के संस्थापन, लम्बन और निपटान के सम्बन्ध में आवधिक ब्यौरे की मांग करना।
2. मामलों की सुनवाई में एकरूप प्रक्रिया के अंगीकरण, एक पक्ष द्वारा प्रतिपक्षियों के लिए उत्पादित दस्तावेजों की प्रतियों की अग्रिम सेवा, किसी भी भाषा में लिखित निर्णयों के अंग्रेजी अनुसवाद की पूर्ति, दस्तावेजों की प्रतियों की त्वरित मूंजरी आदि के बारे में निर्देश जारी करना।
3. राज्य आयोगों या जिला फोरमों के कार्यचालन पर सामान्य निगरानी रखना ताकि उनकी अर्द्ध-न्यायिक स्वतंत्रता में अस्तक्षेप किये बिना अधिनियम के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति को सुनिश्चित किया जा सके।

केन्द्रीय सूचना आयोग (Central Information Commissioon)

केन्द्रीय सूचना आयोग का गठन केन्द्र सरकार द्वारा 2005 में किया गया। इसका गठन सूचना अधिकार अधिनियम (2005) के प्रावधानों के अन्तग्रत एक आधिकारिक राजपत्र अधिसूचना के माध्यम से किया गया था इसलिए यह एक संवैधानिक निकाय नहीं है।

केन्द्रीय सूचना आयोग एक उच्च शक्ति प्रापत स्वतंत्र निकाय है जो अन्य विषयों से जुड़ी शिकायतें सुनता है और अपीलों पर निर्णय करता है। यह केन्द्र सरकार तथा संघशासित प्रदेशों के अधीन आने वाले कार्यालयों, वित्तीय संस्थानों और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों से जुड़ी शिकायतें और अपीलें सुनता है।

संरचना (Compostion)

आयोग में एक मुख्य सूचना आयुक्त तथा अधिकतम 10 सूचना आयुक्त शामिल होते हैं। इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री की अध्यक्षता वाली एक चयन समिति की सिफारिश के आधार पर की जाती है। इस समिति में प्रधानमंत्री के अलावा लोकसभा में विपक्ष के नेता तथा प्रधानमंत्री द्वारा नामित एक कैबिनेट मंत्री सदस्य के रूप में शामिल होते हैं। आयुक्तों की नियुक्ति ऐसे व्यक्तियों में से की जाती है। जो लोक जीवन में श्रेष्ठता के अलावा कानून, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, समाज सेवा, प्रबंधन, पत्रकारिता, जनसंखर या प्रशासन एवं शासन के क्षेत्र में व्यापक ज्ञान और अनुभव रखते हैं। उन्हें संसद या किसी राज्य या संघशासित प्रदेश के विधानमंडल का सदस्य नहीं होना चाहिए। किसी लाभ के पद पर नियुक्त या किसी राजनीतिक दल से जुड़े व्यक्ति या कोई भी व्यवसाय या व्यापार संचालित करने वाले व्यक्ति को सूचना आयुक्त के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता।

कार्यकाल और सेवा शर्तें (Tenure and Service Conditions)

मुख्य सुचना आयुक्त और सूचना आयुक्त 5 वर्ष की समयावधि या 65 वर्ष की आयु पूरा होने तक (जो भी पहले हो) अपना पद धारण करते हैं। वे पुनर्नियुक्ति के पात्र नहीं होते हैं।

राष्ट्रपति निम्नलिखित परिस्थितियों में मूख्य सूचना आयुक्त या किसी सूचना आयुक्त को उसके पद से हटा सकता है-

1. यदि उसे दिवालिया घोषित किया गया हो
2. उसे किसी ऐसे अपराध के लिए दोषी सिद्ध किया गया हो जो राष्ट्रपति के मत में नैतिक भ्रष्टाचार के अन्तर्गत आता है।
3. यदि वह अपने कार्यकाल के दौरान अपने पद-दायित्वों के बाहर किसी भुगतान योग्य रोजगार में संलग्न हो।
4. यदि वह राष्ट्रपति के मतानुसार शारीरिक या मानसिक अक्षमता के कारण कार्य करने में असमर्थ हो।
5. यदि उसने किसी ऐसे व्यक्ति या अन्य हित की पूर्ति की हो जो उसके पद से जुड़े कार्यों को गलत तरीके से प्रभावित कर सकते हैं।

इनके अलावा राष्ट्रपति मुख्य सूचना आयुक्त या किसी भी सूचना आयुक्त को कदाचार या अक्षमता के आधार पर भी पद से हटा सकता है। फिर भी, इन मामलों में राष्ट्रपति जांच का कार्य उच्चतम न्यायालय को सौंपता है। यदि उच्चतम न्यायालय जांच के बाद पदच्युति के कारण को सही मानता है और इस सम्बन्ध में अपना परामर्श देता है तो राष्ट्रपति उसे पद से हटा सकता है।

मुख्य सूचना आयुक्त का वेतन, भत्ते और सेवा-शर्तें मुख्य चुनाव आयुक्त के समकक्ष होते हैं और इसी प्रकार सूचना आयुक्तों के वेतन, भत्ते और सेवा-शर्तें चुनाव आयुक्त के समकक्ष होते हैं। किन्तु उनके सेवाकाल के दौरान उन्हें मिलने वाले वाले लाभों में कटौती नहीं की जा सकती है।

शक्तियां और कार्य (Powes and Functions)

केन्द्रीय सूचना आयुक्त की शक्तियां और कार्य इस प्रकार हैं-

1. आयोग किसी भी ऐसे व्यक्ति से शिकायतें प्राप्त कर सकता है और उनकी जाचं कर सकता है-

(i) जो एक जन-सूचना अधिकारी की नियुक्ति न होने के कारण एक सूचना आवेदन प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा हो।

(ii) जिसे आवेदित सूचना देने से मना किया गया हो।

(iii) जिसे निर्दिष्ट समयावधि के भीतर अपने सूचना आवेदन के बारे में काई प्रत्युत्तर प्राप्त न हुआ हो।

(iv) जो यह सोचता हो कि उससे वसूल की गयी फीस अनुचित है।

(v) जो यह सोचना हो कि उसे दी गई सूचना अपूर्ण, असत्य और मिथ्याजनक है।

(vi) सूचनाएं प्राप्त करने के अन्य किसी मामले के सम्बन्ध में।

2. आयोग समुचित आधार पर किसी भी मामले में अपनी पहल पर जांच करने का आदेश दे सकता है।

3. जांच करते समय आयोग के पास निम्नलिखित मामलों में एक सिविल अदालत की शक्तियां होती हैं-

(i) व्यक्तियों को उपस्थित होने के लिए बाध्यकारी सम्मन जारी करना तथा उन्हें शपथ के आधार पर मौखिक या लिखित साक्ष्य देने तथ दस्तावेजों या चीजों को उत्पादित करने के लिए बाध्य करना।

(ii) दस्तावेजों की खोज और निरीक्षण की मांग करना।

(iii) शपथ-पत्र पर साक्ष्य प्राप्त करना।

(iv) किसी भी अदालत या कार्यालय से सार्वजनिक अभिलेख की मांग करना।

(v) गवाहों या दस्तावेजों के परीक्षण हेतु सम्मन जारी करना।

(vi) अन्य कोई मामलों जो उसे सौंपा जा सके।

4. एक शिकायत की जांच के दौरान आयोग किसी भी ऐसे अभिलेख का परीक्षण कर सकता है, जो सार्वजनिक प्राधिकारी के नियंत्रण के अधीन है। किसी भी ऐसे अभिलेख को किसी भी आधार पर आयोग को देने से इंकार नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, जांच परीक्षण के दौरान आयोग को सभी सार्वजनिक अभिलेख अनिवार्य रूप से दिये जाने चाहिए।

5. आयोग के पास यह शक्ति है कि वह लोक प्राधिकारीयों द्वारा अपने निर्णयों का आज्ञापालन सुनिश्चित कर सके। इसके तहत शामिल है-

(i) एक विशिष्ट रूप में सूचना तक पहुंच उपलब्ध कराना।

(ii) एक लोक सूचना अधिकारी न होने की दशा में उसकी नियुक्ति के लिए लोक प्राधिकारी को निर्देशित करना।

(iii) सूचना या सूचना की श्रेणियों का प्रकाशन करना।

(iv) अभिलेखों के प्रबंधन, रख-रखाव और भंजन से जुड़े व्यवहारों में आवश्यक परिवर्तन लाना।

(v) सूचना के अधिकार पर अधिकारियों हेतु प्रशिक्षण प्रावधान को बढ़ावा देना।

(vi) इस अधिनियम के अनुपालन पर लोक प्राधिकारियों की एक वार्षिक रिपोर्ट मांगना।

(vii) आवेदक द्वसरा अठायी गयी किसी भी हानि के सम्बन्ध में लोक प्राधिकारी से क्षतिपूर्ति की मांग करना।

(viii) इस अधिनियम के तहत आर्थिक जुर्माना आरोपित करना।

(ix) आवेदन को अस्वीकार करना।

6. आयोग इस अधिनिमय के प्रावधानों के क्रियान्वयन पर केन्द्र सरकार को एक वार्षिक रिपोर्ट भेजता है। केन्द्र सरकार इस रिपोर्ट को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखती है।
7. जब एक लोक प्राधिकारी इस अधिनियम के अनुरूप नहीं होता है तो आयोग ऐसी अनुरूपता को प्रोत्साहित करने के लिए कदम उठाने हेतु प्राधिकारी को अपनी अनुशंसाएं भेज सकता है।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अधिकार (Rights of SCs and STs)

संवैधानिक अधिकार (Constitutional Rights)

संविधान में ऐसे कई उपबंध शामिल हैं जो अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कई अधिकार और सुरक्षोपाय उपलब्ध कराते हैं। जहां इनमें से कई प्रावधान अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों दोनों के लिए सामान्य रूप से लागू होते हैं। वहीं कुछ प्रावधान इन दोनों में से किसी एक के लिए विशिष्ट रूप से लागू होते हैं। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए संवैधानिक अधिकारों एवं सुरक्षोपायों को निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. सामाजिक अधिकार और सुरक्षोपाय
2. शौक्षिक/आर्थिक अधिकार और सुरक्षोपाय
3. सेवा अधिकार और सुरक्षोपाय
4. राजनीतिक अधिकार और सुरक्षोपाय
5. प्रशासनिक अधिकार और सुरक्षोपाय

सामाजिक अधिकार और सुरक्षोपाय

1. छूआछूत को समाप्त किया गया है और किसी भी रूप में इसका व्यवहार निषेघ्ति है।
2. मानव दुर्व्यापार और बलात् श्रम का प्रतिषेध किया गया हैं
3. राज्य को यह शक्ति दी गयी है कि वह हिन्दूओं के सभी वर्गो और जातियों के लिए सार्वजनिक चरित्र के हिन्दू धार्मिक संस्थानों का खुला रहना सुनिश्चित करे।
4. भारत के किसी भी भू-भाग में मुक्त रूप से संचरण करने तथा किसी भी भू-भाग में बसने और निवास करने का अधिकार अनुसूचित जनजातियों के संरक्षण के आधार पर प्रतिबंधित किया जा सकता

शैक्षिक/आर्थिक अधिकार और सुरक्षोपाय

1. राज्य अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों का विशेष रूप से संवर्द्धन करेगा और उन्हें सभी प्रकार के शोषण और सामाजिक अन्याय से बचायेगा।
2. राज्य को अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की उन्नति के लिए विशेष प्रावधान बनाने की शक्ति दी गयी है।
3. राज्य सरकारी सहायता प्राप्त या गैर-सरकारी सहायता प्राप्त निजी शैक्षिक संस्थाओं (अल्पसंख्य शैक्षिक संस्थाओं को छोड़कर) सहित किसी भी शैक्षिक संस्था में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के प्रवेश के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान बना सकता है।

सेवा अधिकार और सुरक्षोपाय

1. राज्य को अनुसूचित जाति एवं जनजाति के पक्ष में राज्य के अधीन किसी भी सेवा में प्रोन्नतियों (परिणामी वरिष्ठता के साथ) में आरक्षण हेतु प्रावधान करने की शक्ति दी गयी है।
2. केन्द्र और राज्यों की लोक सेवाओं में नियुक्ति करते समय अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के दावों को विचारणीय (प्रशासन की प्रभावशीलता के रख-रखाव के अनुरूप) माना जायेगा।
3. केन्द्र और राज्यों की लोक सेवाओं में नियुक्तियां करते समय अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के दावों पर विचार करते समय संघ लोक सेवा आयोग या संबंधित राज्य लोक सेवा आयोगों के साथ परामर्श की आवश्यकता नहीं होगी।

राजनीतिक अधिकार एवं सुरक्षोपाय

1. लोकसभा में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सीटें आरक्षित होंगी।

2. राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सीटें आरक्षित होंगी।
3. लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सीटों का आरक्षण संविधान के आरम्भ से 70 वर्षों के बाद समाप्त होगा।
4. प्रत्येक पंचायत (सभी तीन स्तरों पर) में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए सीटें आरक्षित होंगी।
5. ग्राम और अन्य किसी स्तर पर पंचायतों में अध्यक्ष के पद अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षित होंगे।
6. पंचायतों में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के लिए अध्यक्ष पदों और सीटों का आरक्षण संविधान के आरम्भ की तिथि से 70 वर्षो के बाद समाप्त होगा।
7. प्रत्येक नगर निकाय में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए अध्यक्ष के पद आरक्षित होंगे।
8. नगर निकायों में अनुसचिूत जातियों एव जनजातियों के लिए अध्यक्ष के पद आरक्षित होंगे।
9. नगर निकायों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए अध्यक्ष पदों और सीटों का आरक्षण संविधान के आरम्भ से 70 वर्षों के बाद रुक जायेगा।

प्रशासनिक अधिकार और सुरक्षोपाय

1. असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों को छोड़कर किसी भी राज्य में अनुसूचित क्षेत्रों एवं अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण हेतु पांचवीं अनुसूची के उपबंध लागू होंगे।
2. असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम राज्यों में जनजातिय क्षेत्रों के प्रशासन हेतु छठी अनुसूची के प्रावधान लागू होंगे।
3. अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और राज्यों में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के सम्बंध में रिपोर्ट देने के लिए राष्ट्रपति द्वारा एक आयोग नियुक्त करने की अपेक्षा की जाती है। वह किसी भी समय किन्तु संविधान की आरम्भ की तिथि से 10 वर्षों के बाद अनिवार्य रूप से इस प्रकार के आयोग की नियुक्त कर सकता है।
4. केन्द्र अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन के स्तर को ऊपर उठाने और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की योजनाओं का खर्च वहन करने के लिए राज्यों को सहायता अनुदान देगा।
5. छत्तीसगढ़, झारखंड, मध्य प्रदेश और ओडीशा राज्यों में जनजातीय कल्याण के लिए एक मंत्री की नियुक्ति की जानी चाहिए। उस पर अनुसूचित जातियों के कल्याण का अतिरिक्त कार्यभार भी हो सकता है।
6. राष्ट्रपति को अनुसूचित जातियों के संवैधानिक व वैधानिक अधिकारों तथा सुरक्षोपायों से जुड़े सभी मामलों की जांच एवं निगरानी के सम्बन्ध में उसे रिपोर्ट करने के लिए अनुसूचित जातियों के लिए एक राष्ट्रीय आयोग का गठन करना चाहिए।
7. राष्ट्रपति को अनुसूचति जनजातियों के संवैधानिक व वैधानिक अधिकारों तथा सुरक्षोपायों से जुड़े सभी मामलों की जांच एवं निगरानी के सम्बन्ध में उसे रिपोर्ट करने के लिए अनुसूचित जनजातियों के लिए एक राष्ट्रीय आयोग का गठन करना चाहिए।

वैधानिक अधिकार (Legal Rights)

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के वैधानिक अधिकारों एवं सुरक्षोपायों से संबंधित कुछ कानून निम्नलिखित हैं–

1. नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम (1955) छूआछूत के व्यवहार और उपदेशात्मक प्रचार के लिए तथा इससे पैदा होने वाली किसी भी आयोग्यता को लागू करने के लिए दंड का उल्लेख करता है। यह छूआछूत के आधार पर किसी व्यक्ति को उसके नागरिक अधिकारों के उपभोग से रोकने पर दंड की व्यवस्था उपलब्ध कराता है।
2. अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम (1989) अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विरुद्ध गैर अनुसूचित जाति एवं जनजाति से जुड़े व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले अत्याचार के अपराधों को रोकता है। यह इस प्रकार के अपराधों की त्वरित सुनवाई के लिए विशेष अदालतों के गठन का प्रावधान भी करता है। इसके अलावा यह ऐसे अपराधों के शिकार लोगों के पुनर्वास एवं राहत के लिए प्रावधान करता है।
3. बंधुआ श्रम तंत्र (उन्मूलन) अधिनियम (1976) सभी बंधुआ श्रमिकों को उनके ऋणों के साथ एक रूप मुक्ति प्रदान करता है। यह बंधुआ श्रमिकों की मुक्ति और पहचान तथा मुक्त किये गये बंधुआ श्रमिकों के पुनर्वास के लिए प्रावधान करता है।
4. न्युनतम मजदूरी अधिनियम (1948) अधिसूचित रोजगारों के सम्बन्ध में न्यूनतम मजदूरी के स्थिरीकरण, समीक्षा, पुनरीक्षण और लागूकरण के लिए प्रावधान करता है।

5. विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम (1987) अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए नि'शुल्क कानूनी सेवाएं उपलब्ध कराता है।
6. हाथ से मैला ढोने का रोजगार और शुष्क शौचालय निर्माण (निषेध) अधिनियम (1993) के अनुसार कोई भी व्यक्ति हाथ से मानव मल ढोने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को नियोजित नहीं करेगा और किसी शुष्क शौचालय का निर्माण या रख-रखाव नहीं करेगा।
7. केन्द्रीय शौक्षिक संस्थान (प्रवेश में आरक्षण) अधिनियम 2006 केन्द्रीय शैक्षिक संस्थानों (अधिनियम के अधीन छूट प्राप्त संस्थानों को छोड़कर) में अनुसूचित जातियों के छात्रों के लिए 15% और अनुसूचित जनजातियों के छात्रों के लिए 7.5% के आरक्षण का प्रावधान करता है।
8. अनुसूचित जनजाति एवं अन्य परम्परागत वन निवासी (वन अधिकारों की मान्यता) अधिनियम (2006) ऐसी वन निवासी अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य परम्रागत वनवासियों के वन अधिकारों तथा व्यवसाय को पहचान एवं मान्तयता देता है जो पीढ़ियों से इस प्रकार के वनों में निवास कर रहे हैं। किन्तु जिनके अधिकारों को अभिलेखित नहीं किया जा सका था।
9. पंचायतों के लिए प्रावधान (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम (1996) (पेसा) का लक्ष्य अनुसूचित जनजातियों के संसाधनों, प्रथाओं और कार्य व्यहवहारों का परिक्षण करना है। वह पंचायतों में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान करता है।
10. निम्नलिखित अन्य कानूनों में भी अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ अधिकार और सुरक्षोपाय शामिल किये गये हैं-
    (i) भारतीय वन अधिनियम (1927)
    (ii) वन सरंक्षण अधिनियम (1980)
    (iii) अनुसूचित जातियों से जुड़ी भूमि के स्वत्व अन्तरण एवं प्रत्यावर्तन को रोकने के लिए राज्यों के कानून कुछ राज्यों में भू-राजस्व संहित के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रावधान शामिल किये गये हैं।
    (iv) अनुसूचित जनजातियों के सम्बन्ध में सूदखोरी को विनियमित करने वाले राज्यों के कानून।

वृद्ध व्यक्तियों के अधिकार (Rights of Older Persons)

संवैधानिक अधिकार (Constitutional Rights)

संविधान वृद्ध व्यक्तियों (या वरिष्ठ नागरिकों) सहित सभी व्यक्तियों के लिए समानता, स्वतंत्रता, न्याय और गरिमा सुनिश्चित करता है।

भाग 4 का अनुच्छेद 41 वृद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में विशेष प्रांसगिकता रखता है। इसके अनुसार राज्य अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमा के भीतर रहकर बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी और विकलांगता और अपात्र मांग के अन्य मामलों के काम, शिक्षा और लोक सहायता के अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए प्रभावी उपबंध करेगा।

वैधानिक अधिकार (Legal Rights)

माता-पिता और वरिष्ठ नागरिकों की देखभाल एवं कल्याण अधिनियम (2007) माता-पिता और वरिष्ठ नागरिकों की जरूरत आधारित देखभाल और उनके कल्याण को सुनिश्चित करने के लिए बनाया गया था। यह अधिनियम निम्नलिखित प्रावधान करता है-

1. बच्चों/संबंधियों द्वारा माता-पिता एवं वरिष्ठ नागरिकों की देखभाल जो कि अधिकरणों के माध्यम से बाध्यकारी और न्याय सिद्ध है।
2. सगे-संबंधियों द्वारा उपेक्षा की स्थिति में वरिष्ठ नागरिकों द्वारा सम्पत्ति के स्थानान्तरण का निरसन।
3. वरिष्ठ नागरिकों की परित्यक्तता के दंडात्मक प्रावधान।
4. गरीब वरिष्ठ नागरिकों के लिए वृद्धालयों की स्थापना।
5. वरिष्ठ नागरिकों के लिए पर्याप्त चिकित्सकीय सुविधाएं।
6. वरिष्ठ नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा।

इस अधिनियम को अधिसूचित करने वाले राज्यों/संघशासित प्रदेशों से यह अपेक्षा की गयी है कि वे अधिनियम के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए निम्नलिखित उपायों को लागू करें-

1. अधिनियम के अधीन नियमों का निर्माण।
2. देखभाल अधिकारी की नियुक्ति।
3. देखभाल अधिकरण का गठन।
4. अपीलीय अधिकरण का गठन।

कल्याण योजनाएं (Welfare Schemes)

1. 1992 से वृद्ध लोगों के लिए एक एकीकृत कार्यक्रम चलाया जा रहा है, जिसका उद्देश्य आश्रय, भोजन, चिकित्सकीय देखभाल और मनोरंजन अवसर जैसी मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराकर वरिष्ठ नागरिकों के जीवन की गुणवत्ता को सुधारना है। इस योजना के अन्तर्गत वृद्धाश्रमों, दैनिक देखभाल केन्द्रों और सचल चिकित्सा देखभाल इकाइयों की स्थापना एवं रखा-रखाव के लिए गैर-सरकारी संगठनों को परियोजना लागत के 90% तक की वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जाती है।
2. गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों से जुड़े 35 वर्ष से अधिक वायु से अधिक आयु के व्यक्तियों के लिए 2007 से नवीन राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना चलायी जा रही है। इस पेंशन में 200 रुपये प्रति माह की साहयता केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है और राज्यों के समान योगदान को जोड़कर प्रत्येक लाभार्थी को पेंशन के रूप में 400 रुपये प्रति माह प्राप्त होते है।
3. रेल किराये में पुरुष और महिला वरिष्ठ नागरिकों को क्रमशः 30% और 50% की छूट प्राप्त होती है।
4. 65 वर्ष और उससे अधिक आयु के वरिष्ठ नागरिकों के लिए 2.40 लाख रुपये प्रतिवर्ष तक की आये पर आयकर से छूट दी गयी है।
5. कोई व्यक्ति यदि अपने पर निर्भर 65 वर्ष या उससे अधिक आयु के वरिष्ठ नागरिक के इलाज पर (आयाकर नियमों के नियम 11 डी डी में निर्दिष्ट बीमरियों के सम्बन्ध में) 60,00 रुपये या कोई राशि (जो भी कम हो) खर्च करता है तो वह कर छूट का पात्र होगा।
6. वरिष्ठ नागरिकों के लिए एक पेंशन पोर्टल बनाया गया है, जिसके द्वारा वे अपने आवेदनों, पेंशन राशि, आवश्यक दस्तावेजों इत्यादि के बारे में सूचनाएं प्राप्त कर सकते हैं। इस पोर्टल पर शिकायतें भी दर्ज की जा सकती हैं।
7. एयर इंडिया द्वारा विमान किराये में 65 वर्ष या उससे अधिक आयु के पुरुष वरिष्ठ नागरिकों तथा 63 वर्ष या उससे अधिक आयु की महिला वरिष्ठ नागरिकों के लिए 50% तक की छूट दी जाती है।

शिक्षा का अधिकार (Right to Education)

संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provisions)

अनुच्छेद 21-A यह घोषित करता है कि राज्य 6 से 14 वर्ष तक की आयु की सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करायेगा। इस प्रकार यह प्रावधान न केवल प्राथमिक शिक्षा के अधिकार को बल्कि उच्चतर या पेशेवर शिक्षा के अधिकार को भी एक मूल अधिकार बनाता है।

यह उपबंध 86वें संविधान अधिनियम 2002 द्वारा जोड़ा गया था। यह संशोधन सभी के लिए शिक्षा के राष्ट्रीय लक्ष्य में एक प्रमुख मील का पत्थर है। सरकार ने इस कदम को नागरिकों के अधिकारों के अध्याय में दूसरी क्रांति के उदय के रूप में वर्णित किया है।

इस संशोधन से पहले भी संविधान के भाग-4 अनुच्छेद 45 के अधीन बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधोन शामिल था। फिर भी एक निदेशक सिद्धान्त होने के कारण यह अदालतों द्वारा लागू नहीं किया जा सकता था। अब इस सम्बन्ध में न्यायिक हस्तक्षेप के लिए स्थान मौजूद हैं।

इस संशोधन ने निदेशक सिद्धान्तों में अनुच्छेद 45 की विषय-वस्तु को बदल दिया है। अब इसे इस प्रकार पढ़ा जाता है- राज्य 6 वर्ष की आयु पूरा होने तक सभी बच्चों के लिए आरम्भिक बाल्यकालीन देखभाल और शिक्षा उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा। इसके द्वारा अनुच्छेद 51क के अधीन एक नया मूल कर्तव्य भी जोड़ा गया है, जिसके अनुसार भारत का प्रत्येक नागरिक, जो एक अभिभावक या माता-पिता है, का कर्तव्य होगा कि वह 6 से 14 वर्ष के बीच की आयु वाले अपने बच्चे या आश्रित के लिए शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराये।

1993 में उच्चतम न्यायालय द्वारा भी अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत जीवन के अधिकार के तहत प्राथमिक शिक्षा को एक मूलभूत

अधिकार के रूप में मान्यता दी गयी। इसके अनुसार इस देश के प्रत्येक बच्चे या नागरिक को 14 वर्ष की आयु पूरा होने तक नि:शुल्क शिक्षा का अधिकार प्राप्त है। इसके बाद शिक्षा का उसका अधिकार राज्य की आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं द्वारा सीमित हो सकता है। इस निर्णय द्वारा अदालत ने अपने 1992 के पूर्वपर्ती निर्णय को रद्द कर दिया, जिसमें यह घोषित किया गया था कि शिक्षा का मूलभूत अधिकार चिकित्सा और अभिशंत्रिकी जैसी पेशेवर शिक्षा के स्तर तक लागू होता है।

शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009) (Right to Education Act, 2009)

नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का बच्चों का अधिकार (आरटीई) अधिनियम 2009 संविधान के अनुच्छेद 21क के प्रावधानों की लागू करने के लिए पारित किया गया था। यह अधिनियम 6 से 14 वर्ष की आयु के सभी बच्चों के लिए नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करता है। केन्द्र सरकार ने अधिनियम के लागू होने की तिथि 1 अप्रैल, 2010 तय की थी।

यह अधिनियम 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का वैधानिक अधिकार उपलब्ध कराता है। यह प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण हेतु एक कानूनी ढांचा उपलब्ध कराता है।

इस अधिनियम की मुख्य सार्वभौमीकरण हेतु एक कानूनी ढांचा उपलब्ध कराता है।

1. यह किसी निकटवर्ती विद्यालय में प्राथमिक शिक्षा पूरी होने तक बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार उपलब्ध कराता है।
2. यह स्पष्ट करता है कि अनिवार्य शिक्षा का आशय उपयुक्त सरकार द्वारा नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने की प्रतिबद्धता और 6 से 14 वर्ष के आयु समूह में प्रत्येक बच्चे के अनिवार्य प्रवेश, उपस्थिति और प्राथमिक शिक्षा की पूर्णता को सुनिश्चित करने से है। नि:शुल्क का अर्थ यह है कि, कोई भी बच्चा ऐसे किसी भी शुल्क, अधिभार या व्यय का भुगतान करने के लिए उत्तरदायी नहीं होगा जो उसे प्राथमिक शिक्षा पूरी करने से रोकता हो।
3. यह एक गैर-प्रवेशित बच्चे को उसकी आयु के अनुसार उपयुक्त कक्षा में प्रवेश देने का प्रावधान करता है। और अध्यापकों की जिम्मेदारियों और कर्तव्यों को निर्दिष्ट करता है।
5. यह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय एवं अन्य उत्तरदायित्वों की भागीदारी को विनिर्दिष्ट करता है।
6. यह छात्र-शिक्षक अनुपात (पीटीआर), इमारत और आधार संरचना, स्कूल कार्यदिवस, अध्यापक कार्य घंटे जैसे अन्य मामलों में मानदंड और मानक तय करता है।
7. यह अध्यापकों के तार्किक विस्तार का प्रावधान करता है ताकि प्रत्येक विद्यालय में निर्दिष्ट छात्र-अध्यापक अनुपात कायम रखा जा सके। इस प्रकार यह अध्यापकों की नियुक्ति में शहरी-ग्रामीण असंतुलन को बनने से रोकता है।
8. यह गैर-शैक्षिक कार्य में अध्यापकों की तैनाती को प्रतिबंधित करता है। दशकीय जनगणना, स्थानीय निकाय, राज्य विधानमंडल एवं संसदीय चुनाव एवं आपदा राहत जैसे कार्यों को अपवाद माना गया है।
9. यह उपयुक्त रूप से प्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति का प्रावधान करता है।
10. यह शारीरिक दंड और मानसिक निरोत्साहन, बच्चों के प्रवेश हेतु स्क्रीनिंग प्रक्रियाओं, कैपीटेशन फीस, शिक्षकों के निजी ट्यूशन और मान्यताहीन विद्यालयापें के संचालन को प्रतिबंधित करता है।
11. यह निम्नलिखित आर्थिक दंड आरोपित करता है-
    (i) कैपीटेशन शुल्क वसूलने के संबंध में वसूली गयी कैपीटेशन शुल्क का 10 गुना तक का जुर्माना।
    (ii) प्रवेश के दौरान स्क्रीनिंग प्रक्रिया के सम्बन्ध में पहली बार के लिए 25,000 और बाद में प्रत्येक उल्लंघन के लिए 50,000 रुपये तक काय जुर्माना।
    (iii) बिना मान्यता के विद्यालय संचालित करने के संबंध में 1,00,000 रुपये तक का जुर्माना और लगातार उल्लंघन करने पर 10,000 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से जुर्माना।
12. यह गैर-सहायता प्राप्त स्कूलों को छोड़कर सभी स्कूलों में एक विद्यालय प्रबंधन समिति के गठन का प्रावधान करता है। इस समिति में स्थानीय निकाय के निर्वाचित प्रतिनिधि, स्कूल में दाखिल बच्चों के माता-पिता या अभिभावक और अध्यापक शामिल होने चाहिए। यह समिति निम्नलितखत कार्य करेगी-
    (i) विद्यालय के कार्यचालन की निगरानी

(ii) विद्यालय की विकास योजना की तैयारी एवं अनुमोदन

(iii) सरकार या स्थानीय निकाय या किसी अन्य स्त्रोत से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता के उपयोग की निगरानी।

(iv) अन्य कोई भी सौंपा गया कार्य

13. यह एक ऐसे पाठ्यक्रम के विकास हेतु प्रावधान करता है जो संविधान में निहित मूल्यों के संगत हो और जो बच्चों के सर्वांगीण विकास तथा उनमें ज्ञान, क्षमता और प्रतिभा के निर्माण को सुनिश्चित कर सके और एक बाल अनुकूल एवं बाल केन्द्रित शिक्षण प्रणाली के माध्यम से बच्चों को भय, तनाव और मानसिक आघात से मुक्त बना सके।

14. यह बच्चों के नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार की सुरक्षा एवं निगरानी के लिए प्रावधान करता है और बाल अधिकारों की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय और राज्य आयोगों द्वारा शिकायतों के उपचार की व्यवस्था करता है। इन आयोगों के पास एक लोक अदालत की शक्तियां होंगी।

15. यह अधिनियम के प्रावधानों को प्रभावी तरीके से लागू करने के लिए संबंधित सरकारों को परामर्श देने हेतु एक राष्ट्रीय परामर्श परिसर और प्रत्येक राज्य में राज्य परामर्श परिषद के गठन का प्रावधान करता है।

स्वायत्त निकाय (AUTONOMOUS BODIES)

भारत का परिसीमन आयोग (Delimitation Commission of India)

परिसीमन (डिलिमिटेशन) शब्द का आशय एक विधायी निकाय वाले किसी देश या प्रांत में प्रादेशिक चुनाव क्षेत्रों की सीमाओं को सुनिश्चित करने की प्रक्रिया या कार्यवाही से है। परिसीमन का कार्य एक उच्च शक्ति प्राप्त निकाय को सौंपा जाता है। इस प्रकार के निकाय को परिसीमन आयोग या सीमा आयोग के नाम से जाना जाता है।

भारत का परिसीमन आयोग एक वैधानिक (न कि संवेधानिक) निकाय है। इसकी स्थापना संसद द्वारा बनाये गये कानून के उपबंधों के अधीन केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती है। इसका कार्य देश में संसदीय एवं विधानसभा क्षेत्रों की सीमाओं को विभाजित करना है।

आयोग एक शक्तिशाली निकाय है। इसके आदेशों को कानूनी शक्ति प्राप्त होती है और इन्हें किसी भी अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती। इसके आदेश राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट एक तारीख को लागू होते हैं। इन्हें लोक सभा और संबंधित राज्य विधानसभा के समक्ष रखा जाता है किन्तु इसमें संशोधन नहीं किया जा सकता है।

संवैधानिक उपबंध (Constitutional Provision)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 81, 82, 170, 330 और 332 का संबंध संसदीय एवं विधानसभा क्षेत्रों के परिसीमन से है। इन अनुच्छेदों को 84वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2001 और 87वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2003 के द्वारा संशोधित किया गया था। इन दो संवैधानिक संशोधनों का संचयी प्रभाव इस प्रकार हैं–

(i) 1971 की जनगणना के आधार पर लोक सभा में विभिन्न राज्यों के लिए आवंटित वर्तमान सीटों की कुल संख्या वर्ष 2026 के बाद की जाने वाली पहली जनगणना तक अपरिवर्तित बनी रहेगी।

(ii) 1971 की जनगणना के आधार पर सभी राज्यों में विधानसभा सीटों की मौजूदा कुल संख्या 2026 के बाद होने वाली पहली जनगणना तक अपरिवर्तित बनी रहेगी।

(iii) लोक सभा और राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित सीटों की संख्या 2001 की जनगणना के आधार पर पुन: निश्चित की जायेगी।

(iv) प्रत्येक राजय में 2001 की जनगणना के आधार पर संसदीय एवं विधानसभा क्षेत्रों का पुन: परिसीमन किया जायेगा और अब परिसीमित होने वाले ऐसे चुनाव क्षेत्रों का विस्तार वर्ष 2026 के बाद होने वाली पहली जनगणना तक यथावत् बना रहेगा।

(v) चुनाव क्षेत्रों का इस प्रकार से पुन: परिसीमन किया जायेगा कि एक राज्य में प्रत्येक संसदीय और विधानसभा क्षेत्र की जनसंख्या (2001 की जनगणना के आधार पर), जहां तक व्यवहारिक हो सके, पूरे राज्य में समान होगी।

चौथा परिसीमन आयोग (Fourth Delimitation Commission)

संविधान के उपरोक्त उल्लिखित उपबंधों के अनुसरण में संसद ने परिसीमन अधिनियम 2002 पारित किया और तद्नुरूप एक

परिसीमन आयोग का गठन किया गया। इस आयोग का कार्य संविधान और परिसीमन अधिनियम, 2002 के अन्तर्गत भारत के सभी राज्यों में (जम्मू और कश्मीर को छोड़कर) 2001 की जनगणना के आधार पर संसदीय एवं विधानसभा क्षेत्रों का पुनः व्यवस्थापन करना था। चौथा परिसीमन आयोग एक 3 सदस्यीय निकाय था। इसमें निम्नलिखित शामिल थें-

(i) अध्यक्ष, जो उच्चतम न्यायालय का सेवारत् या सेनानिवृत्त न्यायाधीश था।

(ii) मुख्य चुनाव आयुक्त या मुख्य चुनाव आयुक्त द्वारा नामित एक चुनाव आयुक्त जो कि पदेन सदस्य था।

(iii) संबंधित राज्य या संघशासित प्रदेश का राज्य चुनाव आयुक्त जापे कि दूसर पदेन सदस्य था।

इनके अलावा आयोग में प्रत्येक राज्य के सम्बन्ध में 10 सहायक सदरू भी शामिल थे। इनमें से 5 सदस्य उस राज्य से चुने गये लोक सभा सदस्य थे और अन्य 5 सदस्य राजय विधानसभा के सदस्य थे। जहां एक राज्य में लोक सभा सदस्यों की संख्या 5 से कम थी वहां सभी लोक सभा सदस्य उस राज्य के संबंध में सहायक सदस्य थे। ये सहायक सदस्य लोक सभा अध्यक्ष तथा संबंधि त राज्य विधानसभा अध्यक्ष द्वारा नामित किये गये थे। फिर भी इन सहायक सदस्यों को मतदान करने या आयोग के किसी भी देश आदेश पर हस्ताक्षर करने का अधिकार नहीं था।

सिफारिशों का क्रियान्वयन (Implementation of the Recommendation)

आयोग की सिफारिशों 2007 में सरकार को प्रस्तुत की गयीं। भारत के राष्ट्रपति ने 2008 में आयोग की सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिए आधिसूचना पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार संसदीय एवं विधानसभा क्षेत्रों का पुनः परिसीमन लागू हुआ।

आयोग की सिफारिशें 5 राज्यों-असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, नागालैंड और झारखंड पर लागू नहीं होती हैं। भारत सरकार ने चार उत्तर-पूर्वी राज्यों में परिसीमन की कार्यवाही को स्थगित कर दिया था और झारखंड राज्य के संबंध में आयोग के अन्तिम आदेश को रद्द कर दिया था। सभी राज्यों, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली तथा पुडुचेरी (असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, नागालैंड, झारखंड और जम्मू-कश्मीर को छोड़कर) में 2009 के आम चुनाव 543 में से 499 संसदीय चुनाव क्षेत्रों में नये परिसीमित चुनाव क्षेत्रों के आधार पर सम्पन्न हुए थे।

भारत का विधि आयोग (Law Commission of India)

भारत का विधि आयोग एक गैर-वैधानिक परामर्शी निकाय है। इसका गठन समय-समय पर केन्द्र सरकार के एक आदेश द्वारा एक निश्चित कार्यकाल के लिए किया जाता है। इसका कार्य कानूनों के समेकन और संहिताकरण के उद्देश्य से विधायी उपायों की अनुशंसा करना है। फिर भी इसकी सिफारिशें सरकार पर बाध्यकारी नहीं होती हैं।

21. सुशासन

अच्छे अभिशासन का उद्भव समकालीन समय में 1989 के बाद माना जाता है व वर्तमान संदर्भ में इस संकल्पना का विकास विश्व बैंक द्वारा किया गया है विश्व बैंक ने यह संकल्पना तृतीय विश्व के देशों के संदर्भ में दी क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इन देशों को लगातार विकासात्मक सहायतायें दी गई लेकिन सिद्धान्ततः इन देशों ने लोकतंत्र तो स्वीकार कर लिया परन्तु वास्तव में इनकी मानसिकता अधिनायकवादी बनी रही जिससें ये विकास सहायता का बेहतर उपयोग नहीं कर पायें इसलिए इन्होंने विश्व बैंक से ऋण माफी की बात कहीं व यह प्रक्रिया तीन बार दोहराई गई विश्व बैंक ने इन देशों के ऋण तीन बार माफ किये लेकिन जब चौथी बार इन देशों ने ऋण माफी की गुहार लगायी तो विश्व बैंक ने अपना रूख सख्त कर लिया।

इस बार विश्व बैंक के प्रमुख अर्थशास्त्री ''विलियम ईस्टरली'' ने इन देशों को दिशा निर्देश दिये व सुधारों के लिए प्रेरित किया तथा ऋण को सशर्त प्रदान किया गया संक्षेप में अच्छे अभिशासन पर बल दिया गया व इन सुधारों को विश्व बैंक ने अपनी 1989 की रिपोर्ट में पेश किया जो इस प्रकार है–

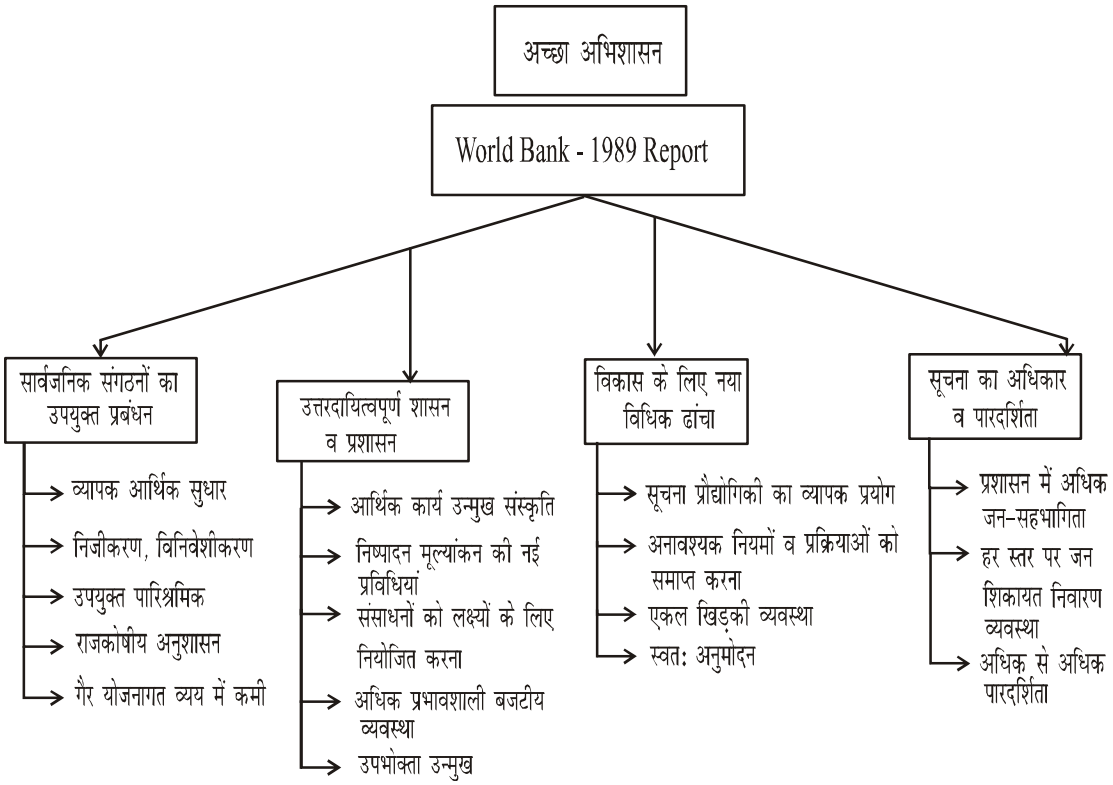

विश्व बैंक ने अपनी पहली रिपोर्ट में अच्छे अभिशासन के बार तत्व बताये व चरमराती अर्थव्यवस्थाओं के पुर्नगठन पर बल दिया व जबकि दूसरी बार 1992 में अपनी रिपोर्ट 'Governance & Developement' में अच्छे अभिशासन के तीन अन्य आयाम बताये जिसे इस प्रकार देखा जा सकता है–

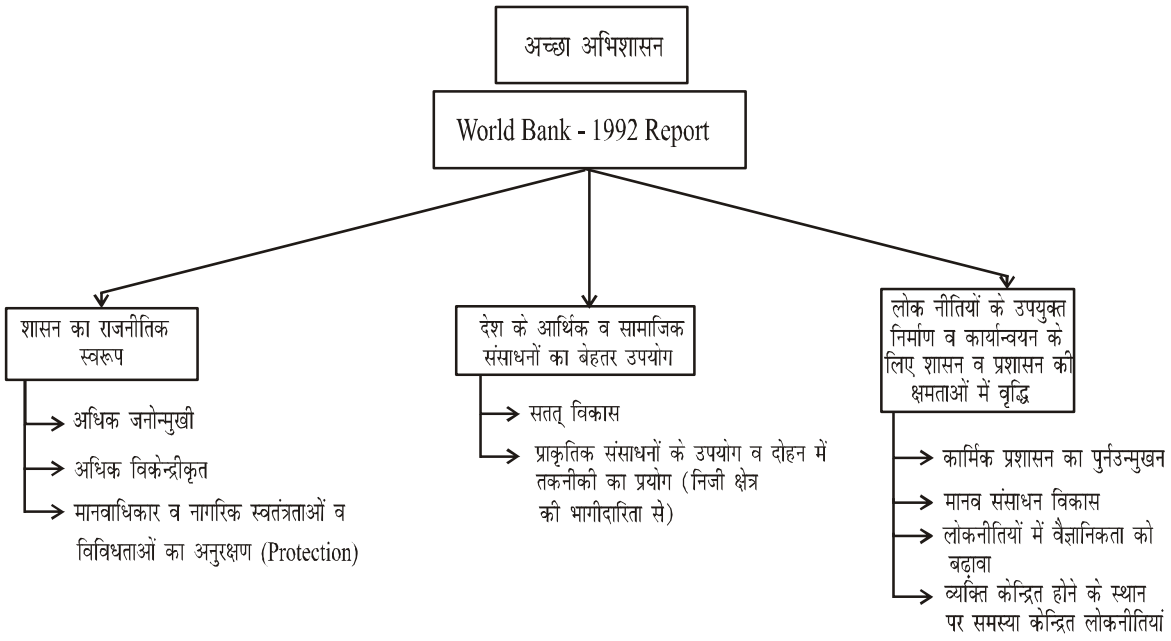

अच्छा अभिशासन के पहलू

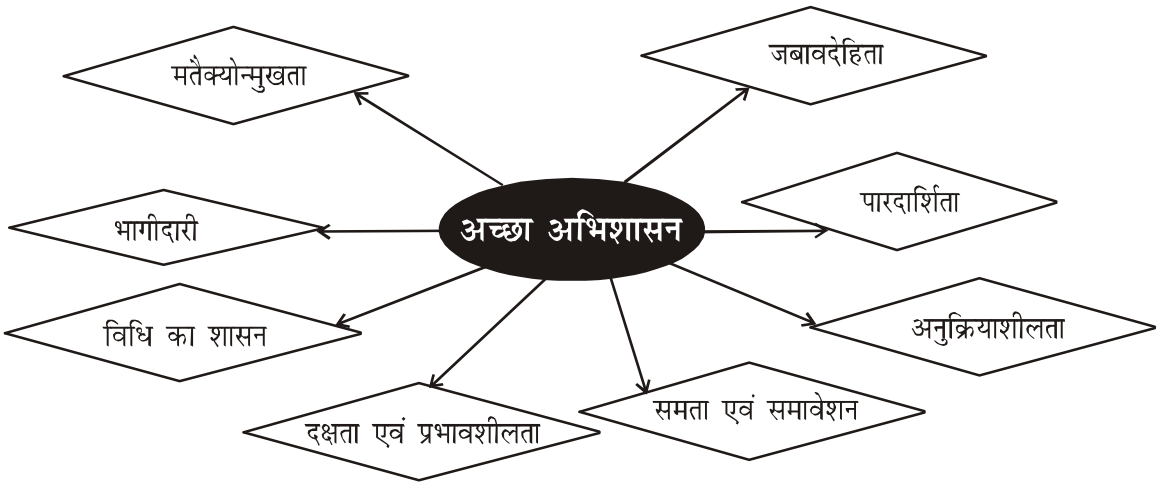

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व बैंक ने अच्छे अभिशासन की जो संकल्पना दी वह प्रशासन को सुधारनें पर बल देती हे क्योंकि उसमें अनेक ऐसे पहलू है जो कल्याणकारी भावना के साथ विकास को महत्व देते है। इस दृष्टि से अच्छे अभिशासन के विविध आयामों को देखा जा सकता है–

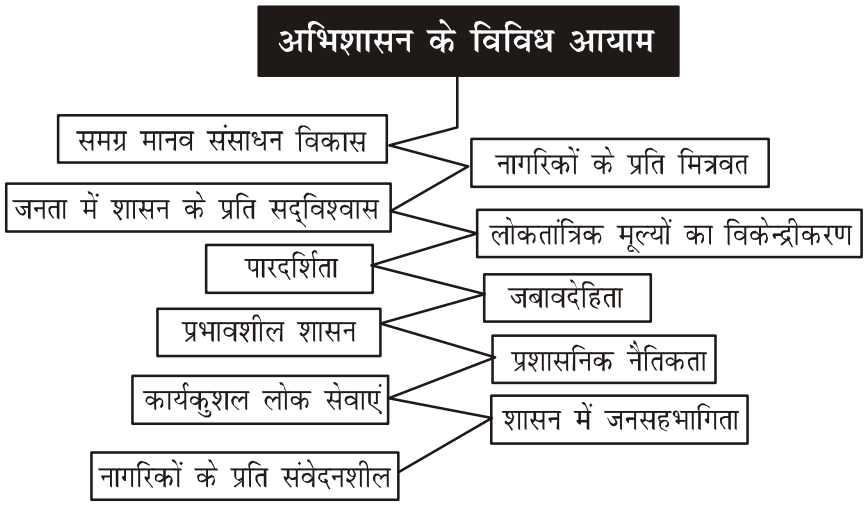

अत: यह कहा जा सकता है कि इतिहास के किसी भी काल में जो प्रशासन जनकेन्द्रित रहा है उसे अच्छा अभिशासन कहा जा सकता है और वर्तमान समय में अनेक विद्धान अलग-अलग परिभाषाएं करते है इस संदर्भ में 1999 में एक मनीला घोषणा पत्र जारी हुआ इसमें बताया गया कि अच्छे अभिशासन के लिए अनेक संस्थाओं की भागीदारी आवश्यक है जिसे इस रूप में देखा सकते है-

इसी प्रकार मनीला अभिघोषणा में अच्छे अभिशासन के अनेक तत्व बताये गये **जैसे**-

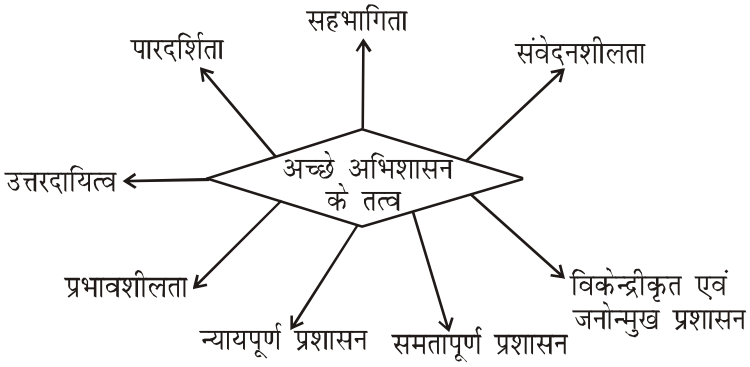

अच्छा अभिशासन बनाम लोकतंत्र

जब से विश्व बैंक ने अच्छे अभिशासन की संकल्पना दी तब से कई विकासशील देशों में इस संकल्पना की प्रासंगिकता को लेकर प्रश्न उठा व प्रथम दृष्टतया अच्छे अभिशासन व लोकतंत्र में कोई द्वन्द नही दिखता क्योंकि अच्छे अभिशासन की संकल्पना को सार्वभौमिक माना गया है इसलिए अच्छे अभिशासन व लोकतंत्र में कोई द्वन्द नही है।

द्वन्द तब सामने आता है जब IMF व World Bank जैसी संस्थायें पाश्चात्य लोकतंत्र के मूल्यों को सभी देशों पर लादती है व कई नेताओं ने अच्छे अभिशासन का विरोध इसलिए किया है क्योंकि विश्व बैंक पाश्चात्य लोकतंत्रों को दूसरे देशों पर लादती है जबकि तृतीय विश्व के देशों की आवश्यकतायें सामाजार्थिक विकास की है व यहां व्यक्तिगत स्वतंत्रता के स्थान पर सामूहिक उद्देश्य महत्वपूर्ण है इसलिए तृतीय विश्व के देशों में व्यक्तिगत अधिकारों को स्वतंत्रता नही दी जा सकती क्योंकि यहां सामूहिक अधिकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण हें

उपरोक्त चर्चा अच्छे अभिशासन की सार्वभौमिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाती है व अग्रलिखित दो कारणों से भी यह लोकतंत्र का विरोध करती है-

अच्छे अभिशासन की संकल्पना World Bank ने तब दी जब दूसरे देशों को ऋण चाहिए था अर्थात इसे एक शर्त माना गया है लेकिन लोकतंत्र से तात्पर्य है स्वशासन अर्थात स्वयं का शासन लेकिन यदि किसी देश को अपना शासन चलाने के लिए दूसरे देश से मिले निर्देश का पालन करना पड़े कि शासन कैसे चलाना है तो इससे लोकतंत्र पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

द्वितीयत: अच्छे अभिशासन से तात्पर्य है- एकीकृत शासन जिसमें सभी को सहभागी बनाया जाता है व अच्छे अभिशासन की संकल्पना बाजार व नागरिक समाज को सहभागी बनाती है लेकिन यह नही बताती कि बाजार व नागरिक समाज को उत्तरदायी कैसे बनाया जाये।

साराशंत अच्छे अभिशासन को विश्व बैंक ने एक शर्त के रूप में रखा है इसलिये कई विचारक इसे लोकतंत्र के प्रतिकूल मानते है विगत दो दशकों का अनुभव बताता है कि प्रारंभिक विरोधों के बावजूद अच्छे अभिशासन की संकल्पना का प्रभाव अच्छा पड़ा है व लोगों की इसके प्रति जागरूकता बड़ी है **जैसे**- भारत में NHRC (National Human Right Commision), RTI, पंचायत व नगरपालिकाओं को संवैधानिक दर्जा, रोजगार के लिए मनरेगा, Mid Day Meal इत्यादि। इस प्रकार अच्छे अभिशासन में कई नये विचारों को जन्म दिया गया है जो स्वागत योग्य है।

साराशंत: मौलिक रूप में अच्छे अभिशासन का लोकतंत्र से शायद ही विरोध हो लेकिन इसे लागू करने का तरीका अवश्य ही लोकतंत्र से विरोध रखता है व यदि प्रत्येक देश को स्वयं के अनुसार इसे लागू करने की छूट दी जाये, क्षेत्रीय विविधता को ध्यान में रखा जाये तो ये संकल्पना मानवता व सामाजिक लोकतांत्रिक समाजों के लिए वरदान हो सकती है व इस संदर्भ में भारत के कार्मिक मंत्रालय ने भी स्पष्ट कर दिया है।

अत: स्पष्ट है कि वर्तमान समय में अच्छे अभिशासन की संकल्पना महत्वपूर्ण हो गयी है व विश्व बैंक का यह प्रयास सकारात्मक कहा जा सकता है।

सूचना अभिशासन (E-GOVERNANCE)

सूचना अभिशासन की संकल्पना 21वीं सदी में प्रशासन की प्रक्रियाओं को सरल बनाने से संबधित है तथा इसमें सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाता है। व इसे इस प्रकार से देखा जा सकता है-

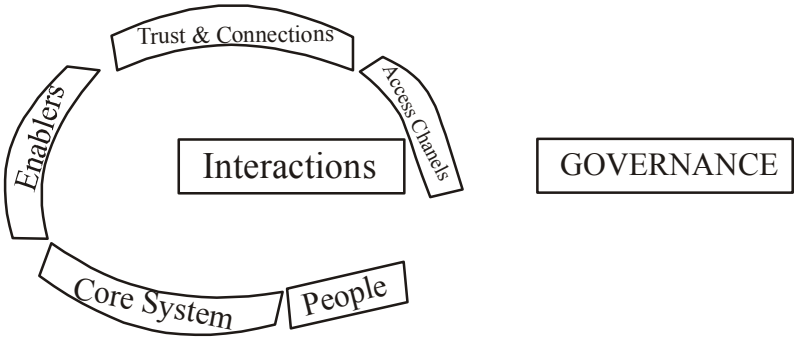

अभिशासन नागरिकों व सरकार के मध्य एक संविदा होता है जिसमें प्रक्रियाओं का एक समुच्चय होता है व जिससे सरकार लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है व यह संविदा लोगों द्वारा निर्धारित की जाती है व सरकार द्वारा लागू की जाती है व जितने अच्छे तरीके से सरकार व नागरिक इसमें भागीदारी करते है इसी से अभिशासन निर्धारित होता है व इसी उद्देश्य से Good Governance को महत्वपूर्ण माना गया है ताकि आम जनता व सरकार के मध्य दूरी कम हो इसी उद्देश्य से सूचना प्रौद्योगिकी एक महत्वपूर्ण नवाचार है क्योंकि इससे जनता की सहभागिता बढती है व यह एक विशेष प्रक्रिया होती है व उसी प्रक्रिया के माध्यम से सरकार व नागरिक एक दूसरे से जुड़े होते है व एक दूसरे के साथ अर्न्तक्रिया करते है।

सूचना तकनीकों के आने से अभिशासन का एक नया स्वरूप सामने आया है जिसे E-Governance कहा जाता है व इस संदर्भ में कर्नाटक सरकार की 'भूमि परियोजना' महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि E-governance के माध्यम से सरकार प्रत्येक वर्ग की आकांक्षाओं को पूरा करती है **जैसे**-

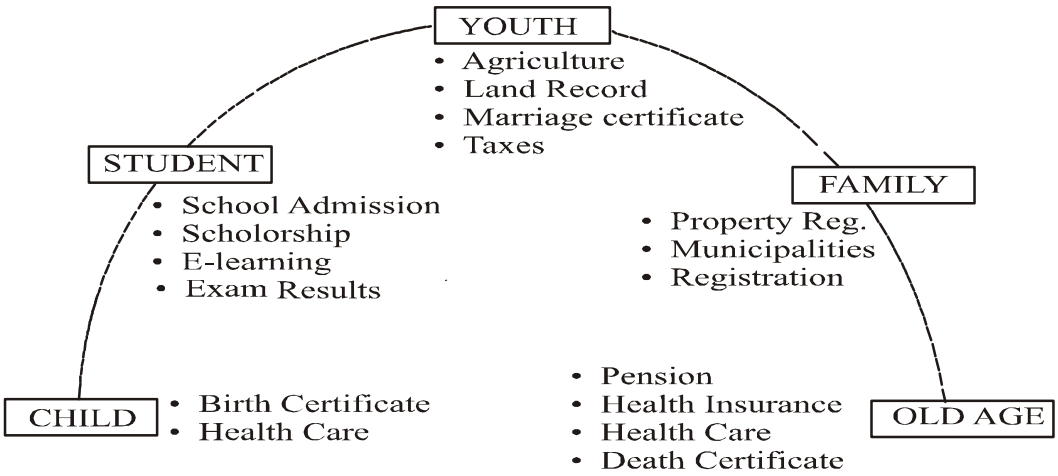

अत: कहा जा सकता है कि E-governance वह संकल्पना है जिसके माध्यम से प्रशासन में पारदर्शिता लायी जाती है व प्रशासन लोकतांत्रिक समाजों के प्रति उत्तरदायी हो जाता है व E-Governance के माध्यम से सरकार व नागरिकों तथा सिविल समाजों के मध्य बेहतर संबध स्थापित होते ह इन्हें क्रमश: G2G , G2C व G2B कहते हैं **जैसे**-

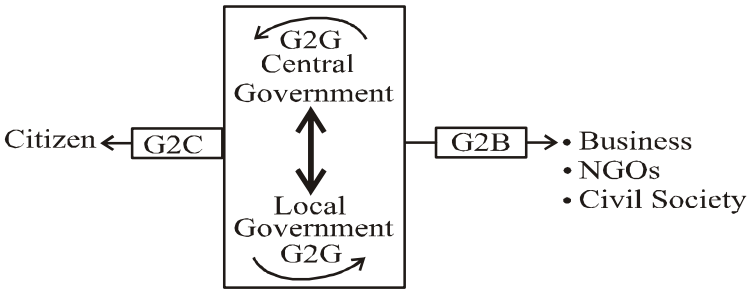

21वीं शताब्दी में E-Governance की आवश्यकता क्यों ?

सरकार व समाज के बीच अन्तक्रिया हर युग में होती है व सरकार एक अविराम प्रयास होता है जो लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अस्तित्व में आता है व यह उद्देश्य तभी पूरा होता है जब सरकार को लोगों की इच्छाओं का पता हो कि किस वर्ग की क्या आवश्यकता है व यदि सरकार को इन आवश्यकताओं का पता होता है तो सरकार उनकी बेहतर पूर्ति कर सकती है व इस दृष्टि से समाज व सरकार में अर्न्तक्रिया आवश्यक है व E-Governance इसी आवश्यकता को पूरा करता है इसके अतिरिक्त E-Governance निम्न कारणों से भी आवश्यक है-

1. **सामाजिक दृष्टि** से भी E-Governance आवश्यक है क्योंकि समाज में तेजी से साक्षरता बढ़ रही है व सरल समाजों से समाज,

ज्ञानवान समाज की ओर बढ़ रहे है व नये समाजों की पूर्ति के लिए E-Governance समाधान व विकल्प दोनों है **जैसे**-

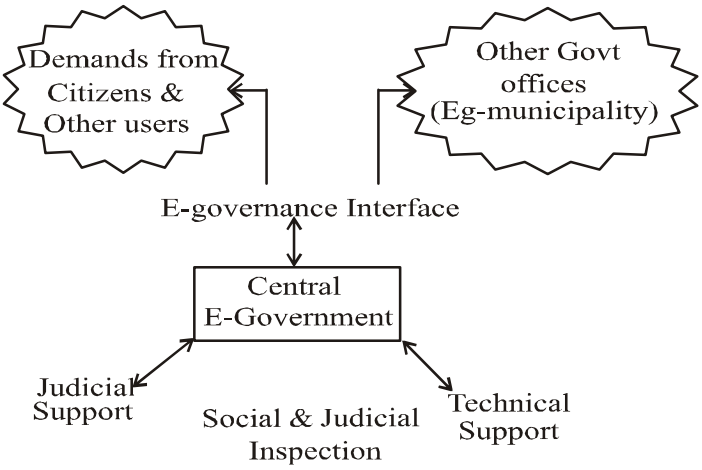

आर्थिक दृष्टि से भी E-governance आवश्यक है क्योंकि वर्तमान समय में कृषि विकास से जैव प्रौद्योगिकी तक E-governance उपयोगी है **जैसे**- कृषि विकास में E- चौपाल कार्यक्रम, अंतरिक्ष के क्षेत्र में EDUSAT इत्यादि।

राजनीतिक दृष्टि से भी E-governance आवश्यक है क्योंकि ये लोकतंत्र की मांग को पूरा करता है लेकिन भारत में अभी यह अवधारणात्मक स्तर पर है **जैसे**- 2009 के लोकसभा चुनावों में 3G Mobile का प्रयोग व आशा की जा रही है कि आने वाले समय में मतदाना अपने प्रतिनिधियों से Online वार्ता कर सकेंगे व उनके दायित्व एवं वादों की उन्हें याद दिला सकेंगे।

राष्ट्रीय दृष्टि से भी E-governance आवश्यक है क्योंकि 21वीं शताब्दी में सबसे बड़ा खतरा आतंकवाद से है व यदि आंतकवाद को समाप्त करना है तो खंडित रणनीति की नही बल्कि एकीकृत रणनीति की आवश्यकता है इस संदर्भ में आन्ध्र प्रदेश पुलिस का अपराध गजट महत्वपूर्ण है जिसमें सभी खतरनाक आतंकवादियों व अपराधियों की सूची वेब साइड पर डाल दी गयी है ताकि किसी भी राज्य की पुलिस इन्हें पकड़ सके व आतंकवाद पर नियंत्रण किया जा सके।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी E-governance आवश्यक है क्योंकि वर्तमान में वही सरकारें सफल हो सकती है जो E-governance का प्रयोग करने में सक्षम हो व सूचनाओं को अत्यधिक महत्व देती है विशेषकर आर्थिक व सामरिक सूचनायें और वर्तमान में भूमण्डलीय तापन तथा विश्व गांव की संकल्पना को यदि साकार करना है तो E-governance एक महत्वपूर्ण नवाचार है।

अत: कहा जा सकता है कि यदि E-governance का विस्तार किया जाता है तो विश्व गांव की संकल्पना को स्वीकार किया जा सकता है।

22. सामाजिक न्याय

एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सरकारें अपने सामाजिक कल्याण की नीति को क्रियान्वित करने के लिए विभिन्न योजनाओं के माध्यम से अपना औचित्य सिद्धी करती हैं। हमारे संविधान के नीति निदेशक तत्व में आर्थिक कल्याण के साथ-साथ सामाजिक क्रांति का भी भाव निहित हैं।

सामाजिक न्याय का अर्थ : सामाजिक योजनाओं के निर्माण या विवादों के समाधान का वह तरीका जिसमें विभिन्न पक्षों के परस्पर-विरोधी दावों का निर्णय करते समय निर्बल और निर्धन पक्ष को विशेष सहायता और संरक्षण प्रदान करने की नीति अपनाई जाती है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक न्याय भी अपरिहार्य है। सामाजिक न्याय की प्राप्ति ऐसी सामाजिक व्यवस्था में ही संभव है जो अवसर की समानता तथा व्यक्ति को अधिकतम सुख-सुविधा प्रदान करने में सक्षम हो। सामाजिक न्याय यह मांग करता है कि समाज में रंग, जाति, धर्म, वंश, भाषा, संस्कृति, सम्पत्ति आदि अनेक आधारों पर उत्पन्न असमानता अथवा भेदभाव की प्रवृत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में अवरोध उत्पन्न न कर दे।

सामाजिक न्याय केवल उस समाज में ही प्राप्त हो सकता है। जहां आर्थिक तथा सामाजिक शोषण न हो; उत्पादन के साधनों पर एक वर्ग का आधिपत्य न हो तथा निर्धन वर्ग को आजीविका के न्यूनतम साधन अवश्य उपलब्ध हों।

व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक न्याय की आवश्यकता होती है। परंतु न्याय की स्थापना उदारवादी-लोकतांत्रिक राज्यों में ही संभव है क्योंकि वहां प्रत्येक नागरिक को संवैधानिक तथा कानूनी रूप से ये अधिकार प्राप्त होते है।

यदि व्यक्ति को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं तो उसे सामाजिक तथा आर्थिक न्याय स्वत: ही प्राप्त हो जाते हैं परंतु आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था में न्यायिक प्रक्रियाओं में अनेक प्रकार की जटिललाएं उत्पन्न हो जाने के कारण एक साधारण व्यक्ति के लिए न्याय प्राप्त करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य प्रतीत होता है। उदारवादी तथा सामाजवादी दोनों प्रकार के विचाराकों का यही मत है कि व्यक्ति को न्याय मिलना चाहिए चाहे वर्तमान समाज के रूप को ही क्यों न परिवर्तित करना पड़े।

सामाजिक न्याय को परिभाषति करते हुए **के.पी.के.शेट्टी** ने कहा है, ''सामाजिक न्याय का सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि बिना किसी भेदभाव-धर्म, जाति, मूल, रंग तथा वंश-के समाज में रहने वाले व्यक्ति बराबर हैं। इसका तात्पर्य समाज से किसी विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग की अनुपस्थिति में भी है।'' दूसरे शब्दों में, सामाजिक न्याय का तात्पर्य मुख्य रूप से सामाजिक समानता से है, जो कि सिद्धांत तथा व्यवहार दोनों में होनी चाहिए।

सामाजिक न्याय की स्थिति व्यक्ति तथा व्यक्ति के मध्य किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं करती है। राज्य द्वारा निर्मित कानून के समझ सभी व्यक्ति समान होती है। सामाजिक न्याय की भावना को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से कानून के शासन की स्थापना की जाती है। कानून के शासन में प्रत्येक नागरिक को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकार बिना किसी भेदभाव के प्राप्त होते हैं। सामाजिक न्याय का सिद्धांत सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही रूपों में प्रयुक्त किया जाता है। नकारात्मक रूप में यह राज्य से यह अपेक्षा करता है कि राज्य कानून के द्वारा समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के साथ कोई भेदभाव नहीं करेगा तथा सकारात्मक रूप से राज्य से यह भी आशा की जाती है कि राज्य ऐसे कानूनों का निर्माण करेगा जिससे समाज में समानता की स्थिति को सुदृढ़ किया जा सके।

सामाजिक न्याय भारतीय संविधान की नींव हैं। मध्य बीसवीं सदी में निर्मित होने वाले इस संविधान के निर्माता न्याय के विभिन्न सिद्धान्तों के प्रयोगों और न्यूनताओं से पूर्णत: अवगत थे वे न्याय के ऐसे प्रारूप की खोज में थे जो समग्र-क्रान्ति की अपेक्षाओं को पूरा कर सके।

पण्डित नेहरू ने संविधान सभा के समक्ष बोलते हुए विचार व्यक्त किया कि ''इस सभी का प्रथम कार्य यह है कि एक नवीन संविधान द्वारा भारत को स्वाधीनता दिलाई जाय जिससे कि भूख से बिलख रही जनता को भरपेट रोटी मिल सके तथा नग्न लोगों को आवश्यक वस्त्र दिए जा सकें, तथा प्रत्येक भारतीय को इस बात का सर्वोत्तम अवसर दिया जाय कि वह अपनी हैसियत के अनुसार अपना विकास कर सकें'' अपने उदार और लचीले रूप में सामाजिक न्याय सर्वोपयोगी पाया गया। यद्यपि संविधान में कहीं भी सामाजिक न्याय की परिभाषा नहीं की गई है। फिर भी अनुभूति एक आदर्श तत्व की है फिर भी अनुभूति एक आदर्श तत्व की है जो संविधान का लक्ष्य है।

सामाजिक न्याय की अनुभूति एक सापेक्ष अवधारणा के रूप में है जो समय और परिस्थितियों तथा लोगों की संस्कृति एवं महत्वाकांक्षओं के अनुसार परिवर्तनशील है। भारतीय समाज की विशेष परिस्थितियों में आर्थिक विषमताओं के साथ-साथ जातिगत और सामुदायिक उत्कृष्टता और निकृष्टता पर आधारित सामाजिक विषमताएं समान रूप से समाधान की अपेक्षा करती है।

संविधान के अन्तर्गत सामाजिक न्याय का प्रयोग विस्तृत अर्थ में माना गया है जिसमें सामाजिक न्याय और आर्थिक न्याय दोनों का समावेश है। मुख्य न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर के अनुसार ''इस प्रकार सामाजिक न्याय के विस्तार के अन्तर्गत सभी विषमताओं को दूर करने और सभी नागरिकों को सामाजिक प्रयोजनों के साथ-साथ आर्थिक कार्य-कलापों में समान अवसर प्रदान करने का उद्देश्य सम्मिलित है।'' भारत का संविधान न्याय की किसी एक पारम्परिक विचारधारा-समतामूलक, उपयोगितावादी, समझौतावादी या हकवादी से पूर्णतः प्रतिबद्ध नहीं है। संविधान की प्रतिबद्धता सामाजिक न्याय की प्रगतिशील अवधारणा से है और न्याय के विभिन्न नियम-गुणवत्ता, संव्यवहार, आवश्यकता, विकल्प आदि इसके सहायक अंग है दरअसल संविधान की प्रतिबद्धता ऐसे सामाजिक न्याय से है जो भारतीय परिवेश में कल्याणकारी राज्य की अपेक्षाओं को सार्थक रूप से पूरा कर सके। इसीलिए एक तरफ समता को मूल्य की बात की गई है, जो अरस्तू के समानों के साथ समान व्यवहार का उद्घोष करते हुए राज्य को निदेशित करती है कि वह ''भारत के राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता और विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा''जो वितरणात्मक न्याय है। दूसरी सरफ समाज के पिछड़े वर्गो-अनुसूचित जाति, लिंग आदि के आधार पर असमान व्यवहार को निषिद्ध किया गया है।

समाज का पिछले वर्गों के लोगों के लिए विशेष उपबन्ध की व्यवस्था कर समता के सिद्धान्त को ज्यादा अर्थपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है अनुच्छेद 15(4) में राज्य को समाज के सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गो की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए विशेष उपबन्ध करने के लिए इसी प्रकार अनुच्छेद 16(1) में राज्याधीन नियोजनों में सभी नागरिकों के अवसर की समता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए अनुच्छेद 16(4) में समताकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यदि राज्य की राय में राज्याधीन सेवाओं में नागरिकों के किसी वर्ग का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए उपबन्ध कर सकती है।

अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों के, विशिष्टतया अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी सुरक्षा करेगा। इन संरक्षात्मक विभेदीकरण की आवश्यकता हमारे समाज में व्याप्त मूलभूत विषमता पर आधारित है जो पूर्ववर्तियों की गिरी हुई स्थिति को अच्छी बनाने के अपेक्षा करती है। क्रियाशील प्रजातंत्र में जनता के सभी वर्गो की हिस्सेदारी की परिकल्पना की गई है।

भारत में सामाजिक न्याय की स्थिति

(Position of Social justice in India)

भारत में सामाजिक न्याय के सिद्धांत में स्थान दिया गया है। संविधान को प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ''हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय प्रदान करने.....इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्म-समर्पित करते हैं'' संविधान के तीसरे भाग (मौलिक अधिकार) व चौथे भांग (राज्य के नीति-निदेशक तत्व में सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 में भारत के सभी नागरिकों को कानून के समक्ष समानता व कानून के समान संरक्षण की व्यवस्था की गई है **अनुच्छेद** 15 में धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग व जन्म के आधार पर भेदभव को समाप्त किया गया है।

अनुच्छेद 17 में छुआछूत तथा **अनुच्छेद 23 व 24** के द्वारा बेगार तथा शोषण का अंत कर दिया गया है। आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान के नीति-निदेशक तत्वों के अनुसार सरकार को विविध कार्य करने का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 16(4), 330, 338 तथा 340 में सामाजिक न्याय के सिद्धांत को मान्यता प्रदान की गई है। सामाजिक न्याय के सिद्धांत को संविधान में स्थान देने का उद्देश्य गांधी जी के विचारों को व्यावहारिक रूप प्रदान करना था। उन्होंने करोड़ों भारतीय को सामाजिक अन्याय की भावना से पीड़ित होते देखा था। उन्होंने पहले दक्षिण अफ्रीका में तथा बाद में सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए पूर्ण संघर्ष किया तथा उसमें उनको सफलता भी प्राप्त हुई।

गांधी जी भारतीय सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष करते रहे परिणामस्वरूप हमारे संविधान में जाति, धर्म, भाषा कुल रंग तथा वंश के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता है तथा विशेषाधिकारों का अंत करके समस्त नागरिकों को अवसर की समानता का अधिकार प्रदान किया गया है। अस्पृश्यता को अपराध घोषित किया गया है

जो भी व्यक्ति छुआछूत की भावना को अपने दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त करेगा उस दण्ड दिया जाएगा। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्ण भारत में ऊंच-नीच का काफी भेदभाव था तथा जातिगत विषमताओं में निम्न जाति के व्यक्तियों के जीवन को दूभर बना दिया था। उनको समाज में एक तिरस्कृत व्यक्ति के रूप में देखा जाता था। अब संविधान के द्वारा सभी व्यक्तियों को समान अधिकार प्रदान किया गया है। यह सामाजिक क्रांति गांधी जी के विचारों के द्वारा हुई थी। जब गांधी जी विचारों के द्वारा हुई थी। जब गांधी जी से यह पूछा गया कि आप किस प्रकार के संविधान को स्वीकार करेंगे, तो उन्होंने कहा था कि ''में भारत के लिए ऐसा संविधान लाने का प्रयास करूंगा जो भारत को दासता और संरक्षण के बंधनों से मुक्त कर सके। जो उस सब अधिकार दे। आवश्यकता पड़ने पर आप कर्म करने का अधिकार दें। मैं ऐसे भारत का निर्माण करना चाहता हूं जहां ऊंच-नीच का कोई भेद न हो, जहां सम्प्रदाय मिल-जुलकर रहें। ऐसे भारत में छुआछूत के लिए कोई स्थान नहीं होगा। स्त्रियों तथा पुरूषों को समान अधिकार प्राप्त होंगे।'' प. जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय संविधान के मूल उद्देश्यों में आस्था व्यक्त करते हुए सामाजिक न्याय के सिद्धांत को अपनाने पर बल दिया।

संविधान निर्माताओं ने ऐसे संविधान का निर्माण करने का प्रयास किया था जो। सामाजिक न्याय की अवधारणा पर आधारित हो। संविधान सभी के सभी सदस्यों ने दृढ़ निश्चत से यह घोषणा की थी कि यह संविधान सभा भारत के लिए (अ) सभी नागरिकों को सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक न्याय प्रदान करेगी, कानून के समक्ष समानता की स्थिति को लागू करेगी। (ब) अल्पसंख्यकों, पिछड़े वर्गों, तथा शोषित एवं पीड़ित जन समुदाय को सामाजिक न्याय प्रदान करने का भरसक प्रयास करेगी।

राजनीतिक न्याय भी सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण भाग है। अत: व्यक्ति को सामाजिक न्याय के लिए राजनीतिक न्याय पर भी निर्भर होना पड़ता है। सामाज को पूर्ण न्याय युक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि वह औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही रूपों में न्यायशील हो। आर्थिक न्याय भी सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण भाग है। सामज में पूर्ण आर्थिक समानता लागू करना तो असंभव कार्य है। सामाजिक न्याय के लिए आंशिक समानता को लागू किया जा सकता है।

आर्थिक न्याय का तात्पर्य यह है कि समाज में बहुत अधिक आर्थिक विषमताएं न हों और एक वर्ग अतुल सम्पदा के आधार पर अन्य वर्गों के श्रम का शोषण न करें। समाज के सभी व्यक्तियों के जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी होनी चाहिए। अत: सामाजिक न्याय का तात्पर्य समानता के सिद्धांत पर आधारित सामाजिक तथा आर्थिक ढांचा है। जातिगत राजनीति में सामाजिक न्याय को प्राप्त करना विषय स्थिति है, क्योंकि जातिगत राजनीतिक सामाजिक विषमता को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त समाज से आर्थिक विषमताओं को भी समाप्त किया जाना चाहिए, क्योंकि आर्थिक विषमताएं राजनीतिक विषमताओं को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त समाज से आर्थिक विषमताओं को भी समाप्त किया जाना चाहिए क्योंकि आर्थिक विषमताएं राजनीतिक विषमताओं को जन्म देती है। राजनीतिक विषमताओं की स्थिति में सामाजिक न्याय को प्राप्त करना जटिल है। आवश्यकता इस बात की है कि इस विषमता को समाप्त किया जाए। यह आर्थिक विषमता समाज को दो श्रेणियों में विभजित कर देती है। एक वह वर्ग-जो राजनीतिक तथा आर्थिक स्त्रोतों का अत्यधिक प्रयोग उच्चे सामाजिक स्तर के कारण करता है। और दूसरा वह वर्ग-जिसका इन अधिकारों के प्रयोग से वंचित कर दिया जाता है। इन दो श्रेणियों की खाई सामाजिक तथा आर्थिक असमानता को बल प्रदान करती है।

यह स्थिति सामाजिक न्याय की भावना के प्रतिकूल है। सामाजिक न्याय, सामाजिक सामजस्य की मांग करता है और सामाजिक सामंजस्य की स्थिति तब उत्पन्न होगी जब अवसर की समानता के आधार पर समाज के प्रत्येक वर्ग को राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के साधन उपलब्ध हों।

वर्तमान समय में भारत की नहीं वरन् विश्व के अधिकांश देशों ने लोकतंत्रात्मक व्यवस्था को अपनाया है जहां राजनीतिक समानता के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है। वंश परम्परा पर आधारित शासन को समाप्त कर दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार तथा चुनाव में खड़े होने का अधिकार प्रदान किया गया है। परंतु हम इन अधिकारों को वास्तविक रूप में तब तक प्राप्त नहीं कर सकते है जब तक कि समाज में सामाजिक तथा आर्थिक समानता स्थापित नहीं कर दी जाती है। लोकतंत्र के सही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के भेदभाव के बिना सभी व्यक्ति समान समझे जाते है। तथा समान अधिकार तथा अवसर की समानता का उपभोग करते हैं। जी.डी.एच. कोल ने उचित ही कहा है कि ''आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता एक भ्रम मात्र है।''

सामाजिक न्याय के आवश्यक तत्व

(Essential Elements of Social Justice)

सामाजिक न्याय के महत्वपूर्ण तत्व निम्नलिखित है

1. **समानता की सुदृढ़ :** सामाजिक व्यवस्था के समस्त पहलुओं में समानता की भावना निहित होनी चाहिए। यह समानता केवल

व्यवहार में ही नहीं अपितु सिद्धांत में भी होनी चाहिए। पूर्ण रूप से तो समानता नहीं लाई जा सकती परंतु फिर भी ऐसी सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न की जाएं जिनसे कोई भी नागरिक अपने को व्यवस्था से अलग न समझे। उसको वे अधिकार प्राप्त हों जो दूसरे को प्राप्त हैं अर्थात् समाज में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समानता होनी चाहिए। जिन व्यक्तियों को वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त होते है। उनको समाप्त किया जाए। भारतीय संविधान में **अनुच्छेद 14** के अनुसार कानून के समक्ष समानता तथा कानून के समान संरक्षण का प्रावधान किया गया है। **अनुच्छेद 15** के अनुसार ''राज्य के द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग जन्म आदि के आधार पर नागरिकों से जीवन के किसी भी क्षेत्र में भेदभाव नहीं किया जाएगा। सभी नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों यथा-कुओं, तालाबों, स्नानगृहों, आदि के प्रयोग के संबंध में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

2. **जातिगत विषमताओं की समाप्ति :** सामाजिक न्याय के लिए सामाजिक सामंजस्य तथा सामाजिक सुरक्षा की भावना का होना अति आवश्यक है। सामाजिक सामंजस्य तभी हो सकता है। जबकि समाज के जातिगत विषमताओं को समाप्त कर दिया जाए। ऊंच-नीच के भेद को समाप्त किया जाए। सभी को सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग का समान अधिकार होना चाहिए। सामाजिक न्याय की स्थिति के अंतर्गत राज्य ऐसे कार्य करता है जिसमें बूढ़े बीमार, अपंगों, स्त्रियों, अनाथ बच्चों को प्रत्येक प्रकार की सहायता मिले तथा अन्य प्राकृतिक आपदाओं जैसे अकाल, बाढ़ तथा सूखा जैसी अवस्थाओं में राज्य अपने नागरिकों की सहायता करता है।

3. **आर्थिक विषमताओं की समाप्ति :** समाज में आर्थिक विषमताएं नहीं होनी चाहिए। समाज में व्याप्त विषमता समाज को दो वर्गों में विभाजित कर देती है एक साधन सम्पन्न वर्ग तथा दूसरा साधन विहीन वर्ग। साधन सम्पन्न वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता है। इस तरह घोषित वर्ग एक दास सा जीवन व्यतीत करता है। अत: सामाजिक न्याय के लिए आर्थिक समानता के सिद्धांत पर आधारित समाजवादी व्यवस्था का है। आवश्यक है। भारत में आर्थिक समानता लाने के लिए समाजवादी ढांचे को अपनाया गया।

4. **राजनीतिक स्वतंत्रता की सुदृढ़ स्थिति :** समाज के व्यक्तियों को नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। जहां पर लोकतांत्रिक व्यवस्था होती है वहां पर सामाजिक न्याय व्यक्तियों को प्राप्त होता है। साम्यवादी व्यवस्था नागरिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रताओं के मूल्य पर व्यक्तियों को सामाजिक, आर्थिक न्याय प्रदान करती है। लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में आर्थिक समानता के साथ राजनीतिक समानता तथा स्वतंत्रता प्रदान की जाती है जिससे व्यक्ति अपना चहुंमुखी विकास कर सके। राजनीतिक असमानता के रहते हुए वह केवल आजीवन शासित रहकर अपनी विलक्षण प्रतिभाओं का सही दिशा में प्रयोग नहीं कर सकता है।

5. **संरक्षणात्मक भेदभाव की स्थिति को सुदृढ़ करना :** संरक्षणात्मक भेदभाव की स्थिति की सामाजिक न्याय प्रदान करने में अपनी प्रमुख भूमिका का निर्वाह करती है। यह स्थिति सकारात्मक है। जो कि समाज के पिछड़े तथा शोषित वर्गों के उत्थान का प्रयास करती है। यदि इसको अन्य अवस्था में रहने` लिए मजबूर हो जाएंगे। इसलिए इन वर्गों के उत्थान का दायित्व भी राज्य के पास है। अत: राज्य इन वर्गों के उत्थान के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करता है। सिद्धांत रूप में यह समानता के सिद्धांत का उल्लंघन है परंतु व्यवहार में यह अति आवश्यक है। भारतीय संविधान में संरक्षणात्मक भेदभाव की स्थिति को अपनाया गया है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक न्याय की भावना लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर निर्भर है और इसको लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में ही सामान्यतया प्राप्त किया जा सकता है। इस व्यवस्था में नागरिक का सर्वांगीण विकास किया जाता है तथ राज्य ऐसी परिस्थितियों का सृजन करता है जहां व्यक्ति एक नागरिक होने के नाते बिना किसी भेदभाव के उन समस्त अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं का उपभोग कर सके जो कि दूसरे व्यक्ति को प्राप्त होते है। सामाजिक न्याय के अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य का अधिकार होना चाहिए। सामान्य शिक्षा नि: शुल्क तथा अनिवार्य होनी चाहिए। गरीब बच्चों के लिए छात्रवृत्तियों का प्रावधान होना चाहिए। रोगों के नियंत्रण और स्वास्थ्य की देखभाल के लिए उचित प्रबंध होना चाहिए तथा राज्य द्वारा ऐसे प्रबंध किए जाने चाहिए जिससे कि किसी व्यक्ति का शोषण न हो तथा उसे आजीविका चलाने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हों। समान कार्य के लिए स्त्री तथी पुरुषों को समान वेतन मिले।

सामाजिक न्याय से संबंधित मामले

संविधान में आवश्यकता के अनुसार न्याय की वृहद् योजना है। यह सामाजिक लाभों को आवश्यकतानुसार वितरित करने की

अपेक्षा करता है जिससे ज्यादा जरूरतमंद लोगों को लाभ मिल सके। राज्य से अपेक्षा की गई है कि बालकों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के और बेकारी, बीमारी, और नि: शक्तता तथा अन्य अभाव की दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए और प्रसूति सहायता के लिए उपलबन्ध करने की अपेक्षा की गई है।

राज्य द्वारा निर्वाह वेतन के निर्धारण की अपेक्षा की गई है। आवश्यकता का मूल्यांकन वास्तुपरक होगा। मजदूरी के अलग-अलग स्तर के अनुसार राज्य वितरण सुनिश्चित करेगा। न्यूनतम मजदूरी अवश्य देय होगी। उसकी अदायगी न करना मानव गरिमा का उल्लंघन एवं शोषण माना गया है। सामान्य-हित-सम्बन्धी न्याय की अवधारणा भारतीय संविधान का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु है। इसके माध्यम से राज्य की सक्रिय भूमिका अपेक्षित है।

अनुच्छेद 38 का स्पष्ट निर्देश है कि ''राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करें, भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि करेगा।'' इसके साथ ही राज्य आय की असमानता और प्रतिष्ठा सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा।

अनुच्छेद 39 में अपेक्षा की गयी है कि राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से (1) पुरूष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो (2) समुदाय की भौतिक सम्पदा का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बंटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो (3) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संकेन्द्रण न हो, इत्यादि। सामूहिक हित के लिए राज्य की प्रतिबद्धता है। इस हेतु वह भौतिक सम्पदा अधिगृहित कर सकता है।

सामाजिक न्याय का वितरणात्मक तत्व भूमि सुधार कानूनों एवं जोत हद अधिनियमों के माध्यम से साकार हुआ है। बचत भूमि को भूमिहीनरों एवं ज्यादा जरूरतमन्द लोगों के बीच वितरित किया जाता है। कमजोर वर्गों को विशेष बर्ताव का हकदार मानकर सामाजिक लाभों में वितरण का दावेदार माना गया है। अस्तु बंधुआ मजदूरों की पहचान कर उन्हें मुक्त कराना तथा उनके पुनर्वास की व्यवस्था करना राज्य का दायित्व माना गया है। बन्धित-श्रम-पद्धति (उत्सादन) अधिनियम, 1976 के द्वारा बन्धुआ श्रम को निषिद्ध कर दिया गया है **नीरजा चौधरी** ब. (Vs) **मध्य प्रदेश राज्य** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि उक्त अधिनियम के अन्तर्गत मात्र यह पर्याप्त नहीं है कि बंधुआ श्रमिकों की पहचान कर उन्हें मुक्त कराया जाय बल्कि उससे भी ज्यादा आवश्यकता इस बात की है कि उनके पुनर्वास की उचित व्यवस्था की जाय। यह इसलिए जरूरी है कि पुनर्वास के अभाव में वे पुन: गरीबी और शोषण के शिकार हो सकते हैं।

इसी तरह का निर्णय **बन्धुआ मुक्ति मोर्चा** ब. (Vs) **भारत संघ** के मामले में दिया गया। वितरणात्मक न्याय को सुनिश्चित करने में समतावादी और स्वतन्त्रतावादी दोनों तत्वों का युग्म स्वीकार किया गया है। **ओल्गा तेलिस** ब. **बम्बई म्यूनिसिपल कारपोरेशन** के मामले में जीविकोपार्जन के अधिकार को मूल अधिकार तथा **दिल्ली ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन** ब. **दिल्ली ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन मजदूर कांग्रेस** के मामले में नियोजन में बने रहने के अधिकार को स्वीकार करते हुए बिना जांच किए सेवामुक्त करने को अन्यायपूर्ण कृत्य माना गया। **सी.ई. एस.सी. लि.** ब. (Vs) **सुभाषचन्द्र बोस** के मामले में सामाजिक न्याय का अधिकार मूल अधिकार मानते हुए कर्मकारों का स्वास्थ्य रक्षण आवश्यक घोषित किया गया। सार्वजनिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखना, प्रदूषण रहित हवा ओर स्वास्थप्रद वातावरण कायम रखना कल्याणकारी राज्य का दायित्व माना गया है। वितरणात्मक न्याय केवल सामाजिक लाभों के वितरण तक ही सीमित नहीं है बल्कि हानियों के वितरण को भी ध्यान में रखता है। अत: यदि किसी अपराध के लिए अनुपातातीय निष्पादन का आदेश है तो उसे अन्यायपूर्ण माना गया है। **भारत के महान्यायवादी** ब. (Vs) **लछमा देवी** में सबके सामने मृत्युदण्ड को निष्पादित करने के आदेश को अमानवीय और मानव गरिमा के विरुद्ध माना गया। वितरणात्मक न्याय की उदार व्याख्या के सथ सुधारात्मक या प्रतिकरात्मक न्याय को भी सजीव रूप देने काप्रयास किया गया है। राज्य के विरुद्ध पीड़ित व्यक्ति के बारे में न्यायालय मात्र आदेश जारी करने के लिए की सक्षम नहीं है बल्कि प्रतिकरात्मक न्याय सुनिश्चित करने के लिए प्रतिकर का आदेश भी देता है। अस्तु. **खत्री** ब. (Vs) **स्टेट ऑफ बिहार** के मामले में भागलपुर जेल में कैदियों को पुलिस द्वारा जबरन अन्धा बनाये जाने के मामले में पीड़ित लोगों को सरकार द्वारा प्रतिकार देने का आदेश दिया गया। **रूदल शाह** ब. (Vs) **बिहार राज्य** में रूदल शाह को 1968 में ही दोषमुक्त घोषित कर दिया गया था, परन्तु राज्य प्राधिकारियों के अनुत्तरदायित्वपूर्ण आचरण के कारण उसे लोकहितवाद लाये जाने पर 16 जून, 1982 को उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप पर रिहा किया गया। उच्चतम न्यायालय ने बिहार राज्य को निर्देश दिया के वह रूदल शाह

की पैंतीस हजार रूपये प्रतिकर देकर क्षतिपूर्ति करे। **सेबस्टियन एम.हांग्रे** ब. (Vs) **भारत संघ** के मामले में दो औरतों द्वारा अपने पतियों के लिए बन्दी-प्रत्यक्षीकरण याचिका दायर की गयी। सरकार गिरफ्तारी के बाद उन्हें न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं कर पायी, उच्चतम न्यायालय ने प्रत्येक औरत को एक-एक लाख का हर्जाना दिये जाने का आदेश दिया। **भीमसिंह** ब. (Vs) **जम्मू और कश्मीर राज्य** के मामले में पिटीशनगर को विधान सभा के सत्र में भाग लेने से वंचित करने की नीयत से गिरफ्तार कर लिया गया। उच्चतम न्यायालय ने अवैध गिरफ्तारी के लिए पचास हजार रूपया प्रतिकर के रूप में दिलाया। अबोध लोगों के साथ पुलिस ज्यादती के कारण किये गये अन्याय और पुलिस संरक्षण में मौत के लिए भी पीड़ित पक्षकारों को प्रतिकार दिलाया गया है। अस्तु **पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स** ब. (Vs) **बिहार राज्य** के मामले में बिहार के गया क्षेत्र के अरवल नामक स्थान पर अप्रैल 1986 में ही गयी पुलिस फायरिंग के मृतकों के परिवारों के लिए बीस-बीस हजार रुपये तथा आहत लोगों को पांच-पांच हजार रूपये का प्रतिकर देने का आदेश दिया गया। इसी तरह **पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स** ब. (Vs) **पुलिस कमिश्नर,दिल्ली हेड क्वार्टर** के मामले में पुलिस स्टेशन में काम करने वाले मजदूर की मजदूरी मांगने पर पीटने के कारण हुई मौत के लिए उच्चतम न्यायालय ने पुलिस संरक्षण में पुलिस की मार से 9 वर्ष के बालक की मृत्यु के लिए उसकी मां को पचहत्तर हजार रूपया उदाहरणात्मक प्रतिकर के रूप में देने का निर्देश दिया। इसी तरह का आदेश **शीला** ब. **पुलिस आयुक्त, दिल्ली** और **नीलाबती बेहेरा** ब. (Vs) **उड़ीसा राज्य में** दिया गया। **चरनजीत कौर** ब. (Vs) **भारत संघ** में आर्मी ऑफिसर की रहस्यम मृत्यु के बारे में छह लाख रूपये का प्रतिकर देय माना गया। भारत में सामाजिक न्याय को सफल बनाने में न्यायालयों ने प्रमुख भूमिका अदा की है। वितरणात्मक न्याय के क्षेत्र में विध ायिका और न्यायपालिका दोनों की प्रमुख भूमिका रही है परन्तु प्रतिकरात्मक या सुधारात्मक न्याय प्रदान करने में न्यायालय अग्रणी रहा है।

महिलाओं को मिले अधिकार

घरेलू हिसा के खिलाफ

घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण विधेयक, 2005 (2005 का 43) की धारा 1 की उपधारा (3) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए केंद्रीय सरकार ने 26 अक्तूबर 2006 को यह अधिनियम लागू किया।

दहेज विरोध कानून

दहेज प्रतिषेध अधिनियम 1961 के अंतर्गत दहेज लेना और देना दोनों ही अपराध माना गया है। 20 मई 1961 को इसे लागू किया गया। इसके तहत दहेज देना या लेना दोनों ही अपराध हैं और इसके लिए कानूनी सजा और जुर्माना हो सकते हैं।

प्लांटेशन लेबर एक्ट

प्लांटेशन लेबर एक्ट, 1951 के तहत किसी भी महिला कर्मचारी की तबियत खराब होने या मातृत्व की स्थिति में मालिक को छुट्टी देनी होगी और इसके साथ ही उसकी मैटरनिटी का खर्च भी उठाना होगा। प्लांटेशन लेबर एक्ट के तहत महिलाओं को काम करने के लिए बेहतर माहौल और मेहनतान देने की जिम्मेदारी भी नियोक्ता की ही है। इसे 2 नवंबर 1951 को लागू किया गया।

संपत्ति में बराबर का अधिकार

हिंदू सक्सेशन (अमेंडमेंट) एक्ट 2005 के तहत प्रत्येक पुत्री को अपने पिता की संपत्ति में अपने भाइयों के सामान्तर हिस्सा पाने का अरधिकार है। इसे 9 सिंतबर 2005 में लागू किया गया। इसके तहत पुत्री (विवाहित या अविवाहिता) अपने अधिकारों की मांग करती है। तो उसे समानता का अधिकार पाने का हक है।

वेतन में बराबरी कार अधिकार

भारतीय कानून के तहत महिलाओं को पुरुषों के बराबर वेतन दिए जाने का प्रावधान है। इसके तहत किसी महिला को पुरुषों के समान कार्य के लिए उतना ही वेतन मिलना चाहिए जितना कि पुरुषों को मिल रहा है यानी एकसमान काम के लिए एक समान वेतन।

मातृत्व लाभ कानून

मात्त्व लाभ कानून 1961 के तहत महिला के मां बनने की स्थिति में एक निश्चित समयावधि तक उसे छूटटी मिलनी चाहिए। इस अवधि के दौरान उसकी नौकरी जारी रहेगी और उसे वेतन भी प्राप्त होगा। कानून के तहत महिला के मातृत्व लाभ भी मिलेगा यानी एक निश्चित सीमा तक जन्म पर हुआ खर्च भी कार्यालय उठाएगा।

स्पेशल मैरिज एक्ट

स्पेशल मैरिज एक्ट 1954 के तहत किसी भी धर्म का व्यक्ति किसी दूसरे धर्म के व्यक्ति से शादी कर सकता है। जम्मू-कश्मीर को छोड़कर देश के सभी राज्यों पर यह नियम लागू होता है। इसके लिए लड़के की उम्र 21 व लड़की उम्र 18 वर्ष कम से कम होनी चाहिए।

सती विरोध कानून

कमिशन ऑफ सती (प्रीवेंशन) एक्ट, 1987 के तहत यदि कोई महिला अपनी मर्जी से या किसी दबाव में सती होने का प्रयास करती है तो उसे एक साल की सजा और जुर्माना को सकता है। इसके अलावा सती होने के लिए दबाव डालने वाले व्यक्ति पर मृत्यु दंड आजीवन कारावास और जुर्माने की सजा हो सकती है। सती विरोध कानून के तहत सती बनने या बनाने के लिए दबाव डालना जुर्म है।

गर्भपात कानून

गर्भपात कानून 1971 के तहत किसी भी वजह से महिला का गर्भ गिराना कानून जुर्म माना गया है। लेकिन इस कानून में कई कमियां होने की वजह से एक अप्रैल 1972 को कुछ बदलाव के साथ इसे दोबारा मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट 1972 के नाम से लागू किया गया। इसके तहत गर्भ की वजह से महिला के मानसिक और शारीरिक सेहत को खतरा होने की स्थिति में डॉक्टर गर्भपात कर सकता है। इसके अलावा बच्चा यदि संभावित रूप से विकलांग है। महिला का बालात्कार हुआ है। 18 वर्ष से कम उम्र की अविवाहित लड़की को गर्भ हो, आदि। इन स्थितियों में डॉक्टर महिला का गर्भपात कर सकता है। लेकिन इसके अलावा किसी दबाव में आकर या किसी लालच की वजह से गर्भपात करने पर डॉक्टर को सजा हो सकती है। इसके अलावा परिवार को भी सजा भोगनी पड़ सकती है।

महिलाओं के लिए योजनाएं

राजीव गांधी नेशनल क्रेच स्कीम फॉर दि चिल्ड्रेन ऑफ वर्किंग मदर

12 हजार रुपये से कम मासिक आय वाली महिलाओं के लिए कार्य स्थल पर क्रेच की सुविधा उपलब्ध कराई जाती है। 14 लाख महिलाओं के इससे फायदा हुआ है।

सेंट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड

इसमें हादसों की शिकार, बेसहारा महिलाओं की काउंसलिंग के साथ रोजगार के लिए प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा दी जाती है।

वर्किंग वीमेंस हॉस्टल

इस योजना के तहत एकल कामकाजी महिलाओं को शहरों में हॉस्टल की सुविधा प्रदान की जारी है। जो सुरक्षित एवं किफायती होते है।

उज्जवला :

यह योजना महिलाओं की तस्करी को रोकने एवं उन्हें पुर्नवासित करने के लिए है। गैर सरकारी संगठनों के जरिये यह योजना चलाई जा रही है।

वीमेंस इंपावरमंट एंड लाअवलीहुड प्रोग्राम

उत्तर प्रदेश के पांच और बिहार के दो जिलों में शुरू इस योजना में महिलाओं को कृषि विकास का प्रशिक्षण दिया जाता है। 2009 की योजना से 10 हजार महिलाओं ने उठाया लाभ।

इंदिरा गांधी मातृत्व सहयोग योजना गरीब महिलाओं को गर्भावस्था के दौरान खुद और बच्चे की देखभाल के लिए चार हजार रुपये की नकद राशि प्रदान की जाती है। 13 करोड़ 40 लाख महिलाएं लाभान्वित हुई है।

स्वाधार गृह स्कीम

फुटपाथ पर रहने वाली एवं बेघर महिलाओं के लिए यह योजना है। ऐसी महिलाओं को योजना के तहत अस्थाई आवास सुविध ा मुहैया कराई जाती है।

जननी सुरक्षा योजना

यह योजना केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रलय द्वारा चलाई जाती है। इसका मकसद महिलाओं को प्रसव के लिए अस्पताल में आने के

लिए प्रेरित करना है। 10 करोड़ महिलाआं को फायदा हुआ।

राष्ट्रीय महिला कोष

महिलाएं छोटे-छोटे ग्रुप बनाकर इस कोष से आर्थिक सहायता लेकर अपना काम शुरू कर सकती हैं और कर्ज ली गई राशि को किश्तों में लौटा सकती है।

सर्पोट टू ट्रेनिंग एंड इंप्लॉयमेंट प्रोग्राम फॉर वीमेन

गरीब महिलाओं को अपने परंपरागत पेशेवर कौशल को बढ़ाने का मौका दिया जाता है। इससे उन्हें वही करते हुए भी बेहतर मजदूरी मिलने लगती है।

महिलाओं से संबंधित विभिन्न कानून

- दहेज निषेध अधिनियम, 1961 दहेज प्रतिबंध
- महिला अभ्रद प्रदर्शन (निषेध) अधिनियम, 1986-महिलाओं की गरिमा की रक्षा करना।
- घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम, 2005 घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण
- गर्भादान पूर्व और प्रसव पूर्व लिंग निदान तकनीक अधिनियम, 1994 (पीसीपीएनडीटी) बालिका के जन्म के अधिकार की रक्षा करना
- मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 मातृत्व और रोजगार के अधिकार की रक्षा करना।
- शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 महिलाओं के लिए शिक्षा सुलभ बनाना, सुनिश्चित करना
- बाल विवाह निषेध अधिनियम, 2006 कम आयु में बालिका के विवाह को रोकना
- अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम, 1996 महिलाओं के लिए सुरक्षोपाय करना
- कार्य स्थल पर महिलाओं का यौन शोषण (निवारण, निषेध और परितोष) विधेयक, 2013
- समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976-समान कार्य के लिए समान वेतन

नारी को मिले कानूनी हथियार

- **दिसंबर, 1983** दहेज के मामले के खिलाफ 198ए अधिनियम पारित। इसने दहेज के लिए महिलाओं को सताने वाले लोगों के खिलाफ सशक्त हथियार का काम किया।
- **अगस्त, 1997** विशाखा बनाम राजस्थान स्टेट मामले में सुप्रीम कोर्ट को फैसला कि दफ्तर में होने वाला यौन उत्पीड़न मानवाधिकारों का उल्लंघन माना जाएगा।
- **सितंबर, 2005** सुप्रीम कोर्ट ने व्यवस्था दी कि हिंदू सक्सेशन (अमेंडमेंट एक्ट) के तहत बेटियों को जायदाद में बराबर हिस्सेदारी दी जाए।
- **अगस्त, 2005** संसद में घेरलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा के लिए बिल पारित किया।
- सितंबर, 2008 महिलाओं के लिए 180 दिन का मातृत्व अवकाश। पहले 120 दिन की छुट्टी थी।
- मार्च 2010 दिल्ली हाई कोर्ट ने वायु सेना को निर्देश दिया कि वह महिलाओं को स्थायी कमीशन दे।
- मई, 2012 यूपीए सरकार ने तलाक बिल पर मुहर लगाई। कानून बना तो पत्नी को भी पति की संपत्ति में आधा हिस्सा मिलेगा।
- फरवरी, 2013 जेंडर बजट के लिए 1971 अरब रुपए का प्रावधान। महिला सुरक्षा के लिए 1,000 करोड़ का निर्भया फंड और एक महिला बैंक बनाने की पेशकश।

जेंडर एजेंडा

सुप्रीमकोर्ट ने कन्या भ्रूण हत्या रोकने के लिए ऐसे मौके पर राज्यों को निर्देश जारी किए हैं जब आधी आबादी की बराबरी की मांग बढ़ रही है। आम बजट में भी **निर्भया कोष** स्थापित करने के साथ देश में पहला **महिला बैंक** खोलने की घोषणा की गई है।

- आठ मार्च को आयोजित होने वाले अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस की इस साल की थीम भी **'द जेंडर एजेंडा : गेनिग मोमेंटम'** है। यानी कि वैश्विक स्तर पर जेंडर का मुद्दा रफ्तार पकड़ रहा है और आधुनिक प्रगतिशील दुनिया के लिए महिलाओं को बराबरी का दर्जा दिए जाने की जरूरत है।
- महिला आंदोलन का नारा भी यही है कि उनका संघर्ष किसी व्यक्ति या संगठन का नहीं बल्कि मानव अधिकारों में विश्वास रखने वालों के सामूहिक प्रयास का नतीजा है।

23. मुख्य परीक्षा हेतु अभ्यास प्रश्न

प्र. न्यायिक सक्रियतावद का आलोचनात्मक परीक्षण करते हुये यह बतायें कि यह भारतीय लोकतंत्र के सुदृढ़ीकरण में किस प्रकार सहायक है?

अथवा

न्यायिक सक्रियता से आप क्या समझते हैं? न्यायिक सक्रियता द्वारा स्थापित प्रतिमानों का उल्लेख करते हुये बतायें कि कुछ न्यायाधीश इसे भ्रांतिपूर्ण शब्दावली क्यों कहते हैं?

अथवा

''एक नैसर्गिक प्रक्रिया है कि जब एक अंग कमजोर पड़ता है तो दूसरा उसका स्थान ले लेता हैं।'' इस कथन के आलोक में न्यायिक सक्रियता का परीक्षण करें।

अथवा

''न्यायपालिका सक्रिय जहां हुई है, विधायिका निष्क्रिय पड़ गयी है, इतना ही नहीं भारतीय लोकतंत्र कमजोर भी पड़ा है।'' इस कथन की समीक्षा कीजिये?

अथवा

न्यायिक सक्रियता एक प्रकार से न्यायपालिका में सक्रिय संकेन्द्रण का मुद्दा माना जा सकता है। स्पष्ट करें।

अथवा

भारतीय न्याय व्यवस्था के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों और संकट का उल्लेख करें।

विगत वर्षों में सिविल सेवा मुख्य परीक्षा में पूछे गये प्रश्न :

1. अधोलिखित में से कोई एक खण्ड कीजिये :
   (i) भारतीय संविधान की समीक्षा की आवश्यकता का परीक्षण कीजिये।

   अथवा

   (ii) राज्यों की और अधिक स्वायत्ता की मांग तथा भारतीय राजव्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन पर इसके प्रभाव का परीक्षण कीजिये।

   (250 शब्द)

2. किसी एक खण्ड का उत्तर लिखिये :
   (i) संघीय कार्यपालिका पर संसद किस प्रकार नियंत्रण रखती है यह नियंत्रण कितना प्रभावी होता हैं?
   (ii) न्यायपालिका द्वारा दिया गया भारतीय संविधान के आधारभूत अभिलक्षण का क्या सिद्धांत है?(250 शब्द, 30 अंक)

3. अधोलिखित में से किन्हीं दो खण्डों का उत्तर दीजियें:(250 शब्द, 15 अंक)
   (i) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में आवश्यक निर्वाचन संबंधी सुधारों को इंगित कीजिये।
   (ii) प्राक्कलन समिति की भूमिका का परीक्षण कीजिये।
   (iii) भारत में संघीय राजव्यवस्था को प्रभावित करने वाले प्रमुख गैर संविधानिक कारकों की विवेचना करिये।

4. अधोलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये :

   (250 शब्द, 5 अंक)

   (i) लेखानुदान क्या है?
   (ii) कामचलाऊ सरकार।
   (iii) क्या आप राज्यसभा के माध्यम से प्रधानमंत्री के संसद में प्रवेश को उचित मानते हैं?
   (iv) विशेषाधिकार प्रस्ताव।
   (v) संसद अवमान।

5. विधि का शासन क्या है? भारतीय संविधान में यह अवधारणा कहां तक व्याप्त हैं?
6. भारतीय संविधान में मूल ढ़ांचे की अवधारणा का क्या आशय है? इस संदर्भ में उच्चतम न्यायालय के पक्ष स्पष्ट करें?

प्र. भारतीय संविधान की प्रकृति व विशेषतायें स्पष्ट करते हुये आज के संदर्भ में विवेचना करिये।

उ. भारतीय संविधान अनेक दृष्टियों से अनोखा है इसकी अनेक विशेषतायें उसे विश्व के अन्य संविधानो से इतर करती हैं। भौतिक दृष्टि से यह विश्व का सबसे लंबा संविधान है इसकी प्रकृति में संघात्मक तथा एकात्मक दोनों ही संविधानों के लक्षण हैं।

संघात्मक लक्षण निम्नवत् हैं :

1. प्रान्त तथा केन्द्र के मध्य शक्तियों का विभाजन।
2. संविधान की सर्वोपरिता।
3. लिखित संविधान।
4. संविधान संशोधन की जटिल प्रक्रिया।
5. न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा उसका कार्यपालिका पर अधिकार।

संविधान के ऐकिक लक्षण निम्नवत् हैं :

1. राज्यपालों की नियुक्ति के संबंध में राष्ट्रपति का विशेषाधिकार।
2. आपातकाल में राज्य सूची के विषयों में केन्द्र राज्य का कानून बनाने का अधिकार।
3. नये राज्यों के निर्माण तथा विद्यमान राज्यों के नामों क्षेत्रों तथा सीमाओं में परिवर्तन करने की संसदीय शक्ति।
4. आपातकाल के प्रवर्तन के संदर्भ हैं कि भारतीय संविधान में संघात्मक एवं एकात्मक दोनों व्यवस्थाओं के तत्व अंतर्विष्ट हैं। इसलिये भारतीय संविधान को न तो एकात्मक कहा जा सकता है न ही संघात्मक, उच्चतम न्यायालय के कई निर्णय भी यही तथ्य स्वीकारते आये हैं। राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ विवाद में उच्चतम न्यायालय ने भारतीय संघ का उल्लेख परिसंघीय (federal), अर्द्ध परिसंघीय (quasi federal) या द्विस्वाभी रूप में किया है। कभी तो यह परिसंघीय रहता है कभी एकात्मक। स्वीयर इसे अर्द्ध परिसंघीय कहते हैं। जेनिंग्स की दृष्टि में यह केन्द्रीकृत है। अस्टिन इसे सहकारी परिसंघ कहते हैं। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर के अनुसार यह समय व परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होने वाला संविधान है। सामान्य परिस्थितियों में यह संघीय रूप धारण किये होता है लेकिन खास परिस्थिति में एकीकरण की ओर बढ़ चलता है।

भारतीय संविधान की अधोलिखित विशेषतायें हैं :

1. लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान।
2. विशालकाय लिखित संविधान।
3. सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य।
4. समाजवादी राज्य।
5. धर्मनिरपेक्ष राज्य।
6. संसदात्मक शासन व्यवस्थां
7. एकात्मक लक्षणों सहित संघात्मक शासन।
8. संसदीय प्रभुता व न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय।
9. मूल अधिकार व कर्त्तव्य।
10. राज्य के नीति निर्देशक तत्व।
11. एक राष्ट्रभाषा की व्यवस्था।

निरपेक्ष अध्ययक्ष स्पष्ट करता है कि भारत का संविधान परिसंघीय है किन्तु उसमें प्रबल केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है। हमारे संविधान के पिछले 59 वर्षो के वास्तविक कार्यकरण का सर्वेक्षण करने पर यह बात स्पष्ट होती है कि हमारा परिसंघीय लक्षण बना हुआ है। यद्यपि यह काफी हद तक सत्य है कि इस दौरान एकिक बन्धन और मजबूत हुये हैं।

उपरोक्त तथ्य करते हैं कि भारतीय संविधान में एकीकरण व केन्द्रीकरण पर खास बल दिया गया है। संवैधानिक प्रावधानों के अतिरिक्त भारतीय संविधान के कार्यकरण से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसकी प्रगति निरन्तर केन्द्रीयकरण की ओर उन्मुख

रही है दिन प्रतिदिन बढ़ती केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के अन्य कारण हैं:

1. एकीकृत आर्थिक नियोजन।
2. राज्य सरकारों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता।
3. वाह्य सुरक्षा का दायित्व केन्द्र का।
4. नागरिक सुरक्षा व शांति व्यवस्था।
5. संकटकालीन शक्ति केन्द्र में निहित है। (अनु. 352-360)

फिर भी यह कहना उचित ही होगा कि सामान्य परिस्थितियों में भारतीय संविधान ने संघात्मक प्रणाली के रूप में ही कार्य किया। इस संदर्भ में जेनिंग्स उचित हैं- ''भारतीय संघ संघात्मक व्यवस्था है जिसमें प्रबल केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है।

इधर कुछ नयी प्रवृत्तियां पनपी है जिससे नयी बहस की शुरूआत हुई वर्ष 1998 में पश्चिम बंगाल की कानून व्यवस्था का जायता लेने के लिये केंद्रीय दल गया तो राज्य सरकार ने यह कहते हुये कोई सहयोग व सूचना देने से मना कर दिया कि यह विशुद्ध रूप से प्रान्तीय सरकार का मसला है। तथा केन्द को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं। यह एक संवैधानिक प्रश्न हैं। कारण अनुच्छेद-355 केन्द्र को प्रान्तीय कानून व्यवस्था का जायजा लेने तथा निगरानी समिति भेजने का अधिकार देता है। उपरोक्त प्रश्न का मूल रूप तो यही है कि राज्यों के मामले में खासकर कानून व्यवस्था (जो राज्य सूची का विषय है) के मामले में केन्द्र सरकार को हस्तक्षेप का अधिकार है या नहीं और यदि ऐसा है तो किस सीमा तक। यह तो स्पष्ट है कि राज्यों के पास भी प्रभुसत्ता होती है और अपने राज्य की जनता के हितों के संरक्षण सुनिश्चित करने वाले कानूनों के निर्माण में वे सक्षम भी हैं। कानून तथा उसके क्रियान्वयन द्वारा जनकल्याणकारी व्यवस्था का मामला राज्य के क्षेत्राधिकार में भी आता है। इस तथ्य को भारतीय संविधान में स्वीकारा भी गया। जनहित से संबंधित अनेक मामलों पर कानून बनाने का अधिकार राज्यों को दिया गया है तथा इन्हें राज्य व समवर्ती सूची में रखा गया है मोटे तौर पर यह जिम्मेदारी राज्यों की है कि वे देखें कि उनके भीतर कानून के अनुसार शासन व्यवस्था चल रही है या नहीं। लेकिन राज्यों की इस जिम्मेदारी का यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाना चाहिये कि राज्य में कानून के अनुसार शासन निर्देश देने की बात कही गयी है उपरोक्त की विफलता पर 356 का प्रभाव स्वाभाविकतया उठ खड़ा होता है।

संघ की यह जिम्मेवारी है कि वह सुनिश्चित करे कि कुछ मामलों में राज्य अपनी जिम्मेवरियां बखूबी निभा रहे हैं या नहीं और केन्द्र यह कार्य तभी कर सकता है जब उसे राज्य हित के सभी संदर्भ स्पष्ट हों अत: ऐसा करने के लिये उसे राज्यों में अपने द्वारा नियुक्त जांच दल भेजने का पूरा अधिकार प्राप्त है। अत: किसी भी राज्य सरकार का यह दावा खोखला ही माना जायेगा कि केन्द्र को राज्य की कानून व्यवस्था का जायजा लेने के लिये अपनी टीमें भेजने का अधिकार नहीं है। प्रशासनिक वित्तीय व न्यायिक व्यवस्थायें भी भारत में भी इसी रूप में स्थापित हैं कि वहां संघीय वर्चस्व सुनिश्चित हो।

कानून व्यवस्था के नाम पर राज्यों पर अनुच्छेद-356 की मार अतिरेक की तरह ही मानी जायेगी। दो राय नहीं कि सम्पूर्ण भारत की सुरक्षा और प्रगति की जिम्मेदारी केन्द्र की है लेकिन जिस तरह से संघीय सरकार के कर्त्तव्य है ठीक उसी तरह से राज्य सरकार के पास भी अपने कुछ अधिकार व कर्त्तव्य हैं। राज्य सरकारों की इन जिम्मेदारियों का उल्लेख भारत के संविधान में किया गया है। राज्य व समवर्ती सूची कहती है कि राज्यों की भी व्यापक जिम्मेवारियां हैं और इस क्रम में वे अपनी जिम्मेदारियां निभायेंगी। यदि एक दो अपवाहों को छोड़ दिया जाये तो राज्यों में 356 का प्रयोग अतिरेक के रूप में ही हुआ है। केन्द्र सरकार द्वारा इसका प्रयोग जनजित नहीं स्वहित में ही किया गया है। अत: एक ऐसी व्यवस्था व्यवस्था न चल पाने की स्थिति में इसकी छानबीन का अधि कार किसी को है ही नहीं। वस्तुत: यही तो वे अधिकार हैं जो केन्द्रीय सत्ता को प्रतिबिंबित करते हैं यदि राज्यों के ऊपर केन्द्र सरकार अपनी पकड़ नहीं बना पाती तो फिर अराजकता से कैसे बचा जा सकेगा।

भारतीय संविधान संघीय ढांचे पर आधारित होते हुये भी एकात्मकता की ओर ज्यादा झुका हुआ नजर आता है विदित होता है कि संघ अपने राज्य क्षेत्र में रहने वाली जनता के हितों के लिये अंतिम तौर पर उत्तरदायी है। भारतीय संविधान में भी इसे संघ राज्य के रूप में परिभाषित नहीं किया गया है बल्कि इसे राज्यों का संघ कहा गया है। अत: भारत में घटने वाली प्रत्येक राजनीतिक व प्रशासनिक घटना के लिये केन्द्र स्वत: व अंतिम तौर पर उत्तरदायी है। संविधान द्वारा तो यह भावना व्यक्त होती ही है साथ ही साथ भारत राज्य क्षेत्र के किसी भी भाग में अधिवासिक जनता अंतिम उपचारक की भूमिका में दिल्ली की ओर ही रूख करती है। और जिन मसलों में स्थानीय प्रशासन शिथिल पड़ता है जनता की यह आवाज मुखर हो उठती है। संविधान में ऐसे कई उपबंध हैं जिनसे केन्द्र की अंतिम जिम्मेदारी की भावना व्यक्त होती है आपात स्थितियों में संघ की विधायी शक्ति का विस्तार राज्य सूची के विषय तक हो जाती है साथ ही संघ को इस बात का भी अधिकार है कि सामान्य स्थिति में भी राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर राज्य

सूची के विषय पर कानून बना सके। (अनुच्छेद-249) इसी तरह अनुच्छेद-256 व 257 में संघ कानून के अनुपालन के लिये केन्द्र को जारी होनी चाहिये जिसे संघ सरकारें अपने दायित्व का दुरूपयोग न कर सकें।

इस क्रम में सरकारिया आयोग की ओर ध्यान जाता है। जिसका मानना है कि संविधान में भारतीय राज्य की एकता, अखण्डता तथा जनकल्याण को सुनिश्चित करने के लिये केन्द्र को व्यापक अधिकार दिये हैं लेकिन इस क्रम में राज्यों की महत्ता कम नहीं होती। सिद्धांतत: यह केन्द्र सकरार का दायित्व नहीं है कि वह इस मुद्दे व इससे जुड़े मुद्दे व कानूनी व्यवस्थापन से प्रत्यक्षत: जुड़े। उसका कार्य वस्तुत: निगरानी व सहयोग परकता का होना चाहिये यही भारत को राज्यों का संघ कहने का उचित अर्थ हो सकता है। यदि सारा कुछ केन्द्र को ही करना होता तो ब्रिटेन की तरह भारतीय शासन व्यवस्था भी पूर्णत: एकात्मक बनायी जानी चाहिये थी किन्तु ध्यान रहे भारत की अर्न्तभूत विविधता एकात्मक भारतीय संविधान को नितांत अव्यवहारिक बना देगी। इस विविधता के मद्देनजर भारत को स्वायत्तशासी इकाईयों में बांटा जाना अतिव्यवहारिक होगा। लेकिन यह विविधताजन्य विभाजन किसी महत्वाकांक्षी व सिरफिरे राजनेता को अलगाववादी रास्ते पर ले जाने का मौका प्रदान न करने का संविधान में एक मजबूत संघ की जरूरत महसूस की गयी। भारतीय संविधान भारत की यथार्थ विविधता तथा संभावित विखण्डन को ध्यान में रखकर बनाया गया है जिसमें एक संघीय व एकात्मक संविधान की समन्वित अभिव्यक्ति हो सकती है।

प्र. भारतीय संविधान में मूल ढांचे की अवधारणा का क्या अर्थ है? इस संदर्भ में लिये गये न्याय निर्णयों का संक्षिप्त परिचय दीजियें।

संविधान के मूल ढांचे की अवधारणा का आशय है कि संविधान की कुछ व्यवस्थायें अन्यों की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। जो संविधान के मूल ढांचे के समान है और संविधान की समस्त व्यवस्था उन्हीं पर आधारित है। सर्वप्रथम इस अवधारणा का प्रतिपादन सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा केशवानंद भारतीय बनाम केरल राज्य विवाद में हुआ। इस धारणा में सहमति रखने वाले लोग मानते हैं कि संविधान का मूल ढांचा निम्नलिखित को अवश्य समाहित किये हुये हो :

1. संविधान का धर्म निरपेक्ष व लोकतांत्रिक रूप।
2. संविधान के भाग-3 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार।
3. स्वतंत्र न्यायपालिका।
4. विधि का शासन।
5. भारत की सम्प्रभुता।
6. संविधान की सर्वोच्चता।
7. संघात्मक शासन।
8. राष्ट्र की एकता व अखण्डता।
9. लोकसभाओं तथा राज्य की विधानसभाओं में वयस्क मताधिकार का प्रयोग।
10. सरकार का प्रजातंत्रात्मक गणतांत्रिक रूप।
11. शक्तियों का पृथक्करण।
12. संविधान की उद्देश्यिका में लिखे उद्देश्य।
13. कल्याणकारी राज्य की स्थापना का निर्देश।
14. संविधान संशोधन की संसद की सीमित शक्ति।
15. न्यायिक पुनर्विलोकन।

संविधवान के बुनियादी ढांचे को बदलने से संबंधित विषय हमेशा से ही विवादित रहे हैं लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इस विवाद का निपटारा 1973 में 'केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य' तथा 1980 में 'मिनर्वा मिल्स बनाम भारत राज्य' के मामले में किया। निर्णय दिया गया कि जरूरत पड़ने पर देश की संसद नागरिक अधिकारों में न्यूनीकरण कर सकती है या छीन सकती है शर्त है मूल ढ़ांचा न बिगड़ने पाये।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के अनुसार संविधान की सर्वोच्चता, सरकार का लोकतांत्रिक, रूप, धर्म निरपेक्ष विचारधारा, संघीय व्यवस्था, कार्यपालिका, विधायिका व न्यायापालिका में शक्ति का स्पष्टत: विभाजन व्यक्ति की स्वतंत्रता व मूल अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के बीच संतुलन ही संविधान के मूल ढ़ांचे के बुनियादी तत्व हैं।

44वें संविधान संशोधन द्वारा निष्पक्ष चुनाव वयस्य मताधिकार तथा न्यापालिका की स्वतंत्रता को भी मूल ढ़ांचे का घटक माना गया। लेकिन अभी भी यह मुद्दा अस्पष्टता की मांग पर है। विवाद व बहस जारी है।

प्र. विधि के शासन से आप क्या समझते हैं? भारतीय संविधान प्रशासन में यह अवधारणा कहां तक व्याप्त है?

विधि के शासन का अर्थ ऐसी शासन प्रणाली से है जिसके अंतर्गत सरकार केवल उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकती है जो उसे व्यवस्थापित द्वारा स्वीकृत कानूनों के अंतर्गत मिले हुये हैं। इसी आधार पर सरकार के किसी निर्णय या कार्यों को सामान्य विधि न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है। डायसी द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार इसका अर्थ यह है कि प्रथम रूप में नियमित विधि की निरपेक्ष सर्वोच्चता या प्रमुखता जो मनमानी शक्ति के प्रभाव की विरोधी हो इसका सीधा सा अर्थ यह भी है कि कार्य पालिका को किसी व्यक्ति के ऊपर मनमानी शक्ति प्राप्त नहीं होती। सरकार विधायिका द्वारा स्वीकृत अथवा अन्य प्रकार से प्रचलित कानूनों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकते। विधि के शासन के अनुसार किसी भी शक्ति को उसके जीवन, स्वतंत्रता, संपत्ति आदि से वंचित नहीं किया जा सकता तथा किसी को भी अनिश्चित काल तक बिना कोई कारण बताये गिरफ्तार करके जेल में नहीं रखा जा सकता। सिवाय उस स्थिति में जबकि विधि द्वारा स्थापित न्यायालय में कानून का उल्लंघन करने के दोष में व्यक्ति विशेष के लिये ऐसा कहा हो इसका अर्थ कानून की दृष्टि में सभी को समानता में निहत है।

भारत का संविधान भारत में विधि के शासन की स्थापना निम्नलिखित प्रकार से करता है :

1. संविधान के अनुच्छेद-14, 15 व 16 में देश के सभी नागरिकों को समता का अधिकार प्रदान किया गया है जिसके अनुसार राज्य की दृष्टि में सभी नागरिक समान हैं। राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक के आधार पर कोई भेदभाव नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक नागरिक को विधि के समझा तथा विधियों के समान संरक्षण का अधिकार प्राप्त है।
2. भारत के सभी नागरिकों को वाक् स्वातंत्र व अभिव्यक्ति स्वातंत्र, शांतिपूर्ण व निरायुध सम्मेलन संगम या संघ बनाने तथा भारत राज्य क्षेत्र में अबाध संचरण का अधिकार अनुच्छेद-19 के धरातल पर मिला हुआ है।
3. अनुच्छेद-20 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को तब तक अपराध के लिये दोषसिद्ध नहीं माना जायेगा जब तक कि ऐसा कार्य करने के समय उसने किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण नहीं किया है।
4. अनुच्छेद-21 में किसी व्यक्ति को उसके प्राण व दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा ही वंचित किया जायेगा अन्यथा नहीं।
5. संविधान के अनुच्छेद-32 तथा 33 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय के विधायिका द्वारा पारित कानूनों की समीक्षा का अधिकार मिला हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संविधान में विधि के शासन की अवधारणा व्यापकत्व और पूर्णत्व के साथ विद्यमान है।

प्र. 'विधि के समक्ष समता' एक नकारात्मक अवधारण है फिर भी इसे भारतीय संविधान की आधार विधि घोषित किया गया है। विवेचना कीजिये।

यह एक नकरात्मक अवधारणा है परन्तु सकारात्मक बोध है। नकारात्मक इस अर्थ में जब प्रकृति के दो अस्तित्व समान नहीं हैं तो इस कथन का औचित्य ही क्या है? सकारात्मक इस अर्थ में कि हर कोई समान होना चाहिये या हो सकता है, के उच्चतम भाव यहीं से निःसृत होते हैं।

यह ब्रितानी राजनीतिविद् डायसी विधि के शासन की अवधारणा पर अवलंबित है। जो समता के सिद्धान्त का पोषण करता है लेकिन समाज में विभिन्न वर्ग अलग-अलग परिस्थितियों और आवश्यकताओं के वशीभूत निवास करते है उनकी समस्याऐ अलग-अलग है। गरीब व धनवान की परिस्थितियां विलग है। जाति व धर्म का विभेद है उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति भिन्न-भिन्न है फिर भिन्न परिस्थितियों में समान व्यवहार की अपेक्षा असंभव लगती है अतः यह सिद्धान्त नकारात्मक हैं अतः शासन से अपेक्षा है कि पद, पंक्ति व प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर अपने व्यवहार में परिवर्तन लाये अन्यथा सबके साथ न्याय संभव नहीं होगा।

नकारात्मक क्यों?

1. निसगति : कुछ समान नही है, फिर
2. परिस्थितियों आवश्यकता के भेद फिर कैसी समानता
3. मार्क्स वाद के धर्मतल पर स्पष्टीकरण

4. कार्य-संस्कृति पर तुषारापात
5. विकास की धारणा अवरूद्ध

मार्क्स का साम्यवाद भी समानता की बात करता है किन्तु वह अंतत फेल हो गया फिर समता के प्रत्यय गलत ठहरते हैं इस अवधारणा से तो विकास की गति ही अवरूद्ध हो जायेगी। विदित है कि विभिन्नतायें विकास का कच्चा माल तैयार करती है जबकि यह सिद्धात्त भिन्नता को ही नकार देता है फिर सामाजिक विकास कैसे होगा?

इससे तो कार्य संस्कृति पर ही तुषारापात हो जायेगा। लोग समझेगे कि जब विशिष्ट कार्य का कोई विशेष मतलब ही नहीं है तो फिर उसे किया ही क्यों जाय। इस प्रकार हम कह सकते है कि विधि के समझ समता एक नकारात्मक अवधारणा है।

लेकिन उल्लेखनीय है कि इसके बाद भी हमारे संविधान की आधार विधि के समझ समता है जिसका उल्लेख संविधान के भाग-3 में वर्णित मूल अधिकारों, समता का अधिकार अनु. 14-18 में किया गया है यह अधिकार संविधानत: समानता लाने के प्रयत्न है परन्तु इनके अपवाद भी है जिससे भिन्न-भिन्न वर्गों जातियों धर्मों आदि जिनकी स्थिति समाज में संतोषजनक नहीं है के बारे में राज्य अलग से उपबंध कर सकता है आशय यह है कि राज्य पिछड़े वर्गों को सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक न्याय उपलब्ध कराकर समता लाने का प्रयास करेगा। इस क्रम में हम कह सकते हैं कि नकारात्मक चरित्र का होने के बावजूद भातरीय संविधान में आध ार विधि घोषित किये जाने के कतिपय कारण है।

1. इससे लोगों में इस भावना का विकास होगा कि कानून के समझ हर कोई बराबर है जो उनके उत्तरोत्तर विकास में सहायक होगा।
2. विधि को लागू करना सरल होगा क्योंकि लोगों को पता होगा कि कानून के समझ सभी को समान न्याय उपलब्ध हो।
3. शासन की नीतियों का सफल संचालन संभव होगा क्योंकि लोगों को पता होगा कि ये विधियां सभी लोगों पर समान रूप से लागू होगी?
4. शासन का सुचारू रूप से संचालन होगा क्योंकि लोगों को लगेगा कि शासन में सबकी समान भागेदारी है।
5. सबके बाद लोकतन्त्र मजबूत होगा क्योंकि सबको लगेगा कि सभी के मतों का मूल्य समान है जिसके कारण उनकी अन्यों की तरह लोकतंत्र में समान भागीदारी है।

इस प्रकार हम देखते है कि नकारात्म्क चरित्र होने के बावजूद इसे संविधान में क्यों अपनाया गया है। उल्लेखनीय यह है कि संविधान इन कारणों के आलोक में निरन्तर विकसित व समृद्ध होता जा रहा है जो हमारी संविधान की गतिशीलता का प्रतीक है।

प्र. **मूल अधिकारों के संदर्भ में युक्ति युक्त निर्बन्धन शब्द की व्याख्या कीजिये। प्रेस की स्वतन्त्रता के संदर्भ में अलग से कोई उल्लेख न किया जाना किस प्रकार विवादित रहा है? विवादों के माध्यम से यह बतायें कि प्रेस की स्वतन्त्रता किस प्रकार भारतीय संविधान में गतिशीलता का परिचय देता है?**

उ. संविधान के भाग-3 में वर्णित मूल अधिकारों के अनु. 19 (वाक्र स्वातंत्रता आदि विषयक अधिकारों का संरक्षण) में युक्ति युक्त निर्बन्धन (Reasonabie restriction) शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अभिप्राय है कि किसी घटना, कार्य या वस्तु पर तार्किक रोक किस प्रकार लगायी जाये। यह सर्वथा सत्य बात है कि राज्य कितना ही आधुनिक प्रभु और लोकतांत्रिक क्यों न हो परन्तु व्यक्ति के अधिकारों को आत्यन्तीकरण में प्रत्याभूत नहीं कर सकता। हमारें संविधान निर्माताओं ने उपरोक्त अधिकारों पर कुछ परिसीमायें अधिरोपित की हैं। संविधानत: राज्य को यह शक्ति है कि वह समुदाय के व्यापक हित के दृष्टिकोण से युक्ति युक्त निर्बन्धन लगा सकता है उद्देश्यत: यह संविधान की व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामाजिक नियंत्रण के बीच संतुलन साधने की प्रक्रिया है।

हमारी सांविधिक प्रणाली का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना है इसलिये हमारे संविधान निर्भाता व्यक्ति के अनियंत्रित अधिकारों का प्रकाशन करके ही नहीं रूक गये वे सुनिश्चित करना चाहते थे कि जहां सामूहिक हितों का प्रश्न होगा वहां व्यक्तिगत हितों को झुकना होगा। यहां पर उल्लेखनीय यह है कि हमारे संविधान ने यह न्यायालय पर नहीं छोड़ा कि वे बताये कि राज्य किस आधार व सीमा तक व्यक्ति के अधिकारों को नियंत्रित कर सकता है। इसलिये युक्ति युक्त निर्बन्धन शब्द प्रयोग में आया लेकिन उच्चतम न्यायालय ने विभिन्न विवादों में यह विचार दिया कि निर्बन्धन दो पहलुओं से युक्त होना चाहिये।

(i) पूर्वगामी या अधिष्ठायी पहलू : न्यायालय ने चिंतामन राव बनाम म. प्र. राज्य मामले में अभिनिर्धारित किया कि सम्पूर्ण बीड़ी उद्योग जिससे अरबों का निवेश तथा लाखों लोगों के रोजगार जुड़े हुये है किसी एक व्यक्ति के कारण बाधित नहीं

किया जा सकता।

(ii) प्रक्रियात्मक पहलू : इसका शाब्दिक अर्थ यह है कि निर्बन्धन की रीति विवाद 1954 में माननीय न्यायालय का निर्णय था कि नागरिको को सुनवाई का अधिकार दिये बिना बनाने से रोका नहीं जा सकता।

यद्यपि 19(1) क के तहत् वाक् स्वातंन्त्र आदि विषयक अधिकारों की प्रत्याभूति मिली है किन्तु इस स्वतन्त्रता के संदर्भ में विभिन्न मामलों के संदर्भ में राज्य द्वारा युक्ति युक्त निर्बन्धन लगाये जाने की बात कही गयी है।

1. मानहानि
2. न्यायालय अवमान
3. शिष्टाचार या कदाचार
4. राज्य की सुरक्षा
5. विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबध
6. अपराध उद्दीपन,
7. लोक व्यवस्था,
8. भारत की प्रभुता व अखण्डता।

जहां तक प्रेस की स्वतन्त्रता को संविधान में अनुबन्धित न किये जाने का प्रश्न है तो सत्य यह है कि यह लोकतन्त्र का चौथा खम्भा है और लोकतात्रिक देशों में इसकी भूमिका निर्विवाद है इसी कारण इसके उपबंधित न किये जाने के प्रश्न पर संविधान सभा के बाहर भीतर काफी आलोचना हुई थी। किन्तु विरोध के संदर्भ में प्रारूप समिति की ओर से बोलते हुये डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि जो अधिकार व्यक्तिगत रूप से एक नागरिक को प्राप्त नही है वह प्रेस को नहीं दिये जा सकते प्रेस का मालिक (संपादक) भी नागरिक है जब वह अपने विचारों को छापता है तो इन्हीं अधिकारों का प्रयोग करता है मुझे नहीं लगता कि प्रेस की स्वतन्त्रता को अलग से उपबंधित किये जाने की कोई जरूरत है। अनु. 19(1)क में वाक् स्वातन्त्र के साथ अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधि कार इतना व्यापक है कि प्रेस की स्वतन्त्रता भी उसमें शामिल हो जाती है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि संविधान एक गतिशील अवधारणा है अर्थात् विभिन्न विवादों व संशोधनों के माध्यम से संविध ान की व्यापक व्याख्या करके उसे उत्तरोत्तर विकसित करने का प्रयत्न किया गया है यहां प्रेस की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में कुछ ऐसे विवादों का उल्लेख जरूरी है जो प्रेस की स्वतंन्त्रता को नया आयाम देते हैं

1. **साकल पेपर्स लि. VS भारत संघ :** प्रेस की स्वतन्त्रता व सामान्य नागरिक के लिये समान मापदण्ड।
2. प्रभुदत्ता बनाम भारत संघ विवाद (1982)(रंगा-बिरला से साक्षात्कार) अपने विचारों की अभिव्यक्ति की ही नहीं दूसरे के विचारों को जानने की भी स्वतन्त्रता।
3. **इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स VS भारत संघ (1958) :** न्याय निर्णय या आभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के चार हेतु:

   आन्मोन्नति

   सत्य की खोज

   निर्णय लेने की क्षमता

   सामाजिक परिवर्तन में सामंजस्य।
4. **राष्ट्रगान (इमैनुअल बनाम केरल राज्य) विवाद (1986) :** इसमें चुप रहने का अधिकार समाहित।

प्र. अनु. 21 किस सीमा तक प्राण व दैहिक स्वतंन्त्रता के अधिकार की प्रत्याभूति देता है। यह अनु. मानवीय गरिमा के संपोषण में किस प्रकार सहायक है? वाद विवाद की प्रकृति के आधार पर बताये कि अनु. 21 स्वंय में मरने का अधि कार समाहित करता है कि नहीं?

उ. अनु. 21 ''किसी भी व्यक्ति को उसके प्राण और दैहित स्वतन्त्रता के अधिकार से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया द्वारा ही वंचित किया जायेगा अन्यथा नहीं''

अनु. की परिसीमा के अनुसार एक निश्चित सीमा तक ही प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता के अधिकार की प्रत्याभूति देता है अर्थात् मानव जीवन विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (जो संसद विनिर्धारित करे) के द्वारा छीना जा सकता है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि व्यक्ति

के जीवन सामाजिक लोक व्यवस्था तथा देश की एकता व अखण्डता के विरुद्ध पड़ता है तो जीवन छीना भी जा सकता है। यहां पर न्यायालय भी केवल इतनी ही जांच परख कर सकता है कि संसद ने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण तो नहीं किया है। न्यायालय इस आधार पर कोई विचार नहीं कर सकता कि नागरिक अधिकार न्यून या क्षीण हो रहे हैं।

अनु. 21 एक सकारात्मक अवधारणा है जिसका उद्देश्य ही मानव जीवन को गरिमापूर्ण बनाना है। इस सन्दर्भ में मेनका गांधी मामले को प्रसंग बनाया जा सकता है जहां पर न्यायालय का निर्णय था कि जीवन भौतिक अस्तित्व मात्र नहीं है बल्कि गरिमा के साथ जीने का नाम भी है। इसी विवाद में कुछ अन्य उद्घटित तथ्य जैसे अनु. 19 तथा 21 को साथ-साथ पढ़ा व समझा जाना तथा प्राप्त होना और इन अधिकारों का क्षीण करने वाली बिधियों की उल्लंघनीयता मानव गरिमा को और परिपुष्ट करती है। निः शुल्क विधिक सहायता, शिक्षा, मानव गरिमा के साथ जीने का अधिकार कुछ ऐसे प्रत्रूय है जो अनु. 21 में समाहित माने गये हैं अन्ततः इनकी गति मनुष्य में गरिमा के पोषण की ओर है।

भारतीय संविधान मरने के अधिकार की प्रत्याभूति नहीं देता यद्यपि प्रसंग एवं परिस्थिति वश कुछ विवादों (श्रीपद् दुवल VS महाराष्ट्र राज्य तथापी. रतलाभ मुकदमा) में मरने के अधिकार के लिये अनु. 21 को आधार बनाया गया था किन्तु इस क्रम में मरने का अधिकार भारतीय संविधान में समाहित नहीं हो जाता। सरला अग्रवाल विवाद में न्यायालय का स्पष्ट निर्णय था कि आत्महत्या धर्म-नीति नैतिकता के विरूद्ध है, जघन्य अपराध है भारत का संविधान इसकी अनुमति नहीं देता। भारत का संविधान इच्छा-मृत्यु व सुख-मृत्यु को भी वैधानिकता नहीं देता।

प्र. निवारक निरोध से आप क्या समझते हैं? भारत में निवारक निरोध अधिनियम का इतिहास स्पष्ट करते हुये इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को उल्लेख करें?

उ. निवारक निरोध शब्द को कठोरतः परिभाषित नहीं किया जा सकता। निवारक निरोध का उद्देश्य किसी व्यक्ति को केवल सन्देह के आधार पर ही समाज या राष्ट्रविरोधी कृतय करने से पूर्व निवारक कार्यवाही के रूप में (By the way of cumulative measuse) निरूद्ध कर लेने से

निवारक निरुद्ध विषयक विधि का उद्देश्य राष्ट्र एवं समाज के व्यापक हितों में ऐ व्यक्तियों को नियंत्रित करना जिनके संभाव्य कृतय से राष्ट्रीय कल्याण, लोक व्यवस्था तथा आवश्यक वस्तुओं के प्रदाय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। स्पष्ट है कि निवारक निरोध का उद्देश्य किसी व्यक्ति को दंडित करना नहीं है जबकि इसका उद्देश्य **राष्ट्र व जन विरोधी कृत्य को टालना है।**

निवारक निरोध विधियों लोकतांत्रिक व्यवस्था के लोकतांत्रिक भावना तथा संविधान के प्रतिकूल समझी जाती है। विश्व के किसी भी लोकतांत्रिक राष्ट्र में ऐसी विधि नहीं है। किसी भी राष्ट्र में निवारक निरोध विधियों को संविधान के अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है USA में निवारक निरोध संबधी कोई विधि नहीं है। इंग्लैंड में पहली बार प्रथम विश्व युद्ध के दौरान Ditt of realm act (डिफेंस ऑफ रल्म एक्ट) के अंतगर्त कुछ विनियम बनाये गये थे जिनके अंतर्गत निवारक निरोध किया जा सकता था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भी इंग्लैण्ड में ऐसे विनियम बनाये गये थे जिनका नीतिगत आधार यह था कि युद्ध में राष्ट्र की सफलता हेतु निजी स्वतंत्रता का बलिदान राष्ट्रीय कर्तव्य है। ऐसे विनियम शत्रुता के समापन के साथ ही प्रवर्तन में नहीं रहते थे।

भारतीय संविधान (अनुच्छेद-22) निवारक निरोध को संविधान के एक भाग के रूप में स्वीकार करता है। भारत का संविधान शांतिकाल में भी निवारक निरोध की अनुमति देता है। संविधान सभा में निवारक निरोध लागू करने के प्रश्न पर काफी बवाल मचा था कि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिये घातक होगा किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं था। वस्तुतः निवारक निरोध व्यवस्था का उद्देश्य असामाजिक तथा विध्वांसकारी तत्वों द्वारा स्वतंत्रता के दुरूपयोग का निवारण कर राष्ट्र व समुदाय को संकट से बचाना होता। ए.के. गोपालन Vs मद्रास राज्य विवाद में न्यायमूर्ति पांतजलि शास्त्री निवारक निरोध के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं, ''निवारक निरोध विधियों का उद्देश्यों असामाजिक तथा तोड़-फोड़ करने वाले तत्वों द्वारा स्वतंत्रता के दुरूपयोग को रोकना है अन्यथा नवोदित लोकतंत्र और राष्ट्र कल्याण खतरे में पड़ सकता है।''

भारत में स्वतंत्रता के उपरांत निवारक निरोध के लिये अनुच्छेद-22 (3-7) तक अधिनियमित किये गये। प्रमुख पक्ष हैं-

(i) निवारक निरोध विधि के अंतर्गत गिरफ्तार किये गये तथा किसी सामान्य विधि के अधीन गिरफ्तार किये गये व्यक्ति की स्थितियां भिन्न होती है अन्य शब्दों में निवारक निरोध विधि के अंतर्गत पकड़े गये व्यक्ति को वे सामान्य प्राधिकार व सुविधायें उपलब्ध नहीं होंगी जो सामान्य विधि के अधीन पकड़े गये व्यक्ति को प्राप्त होती हैं।

(ii) निवारक निरोध आदेशित करने वाले प्राधिकारी से यह अपेक्षित है कि वह गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को तत्काल गिरफ्तारी के आधार की सूचना दे।

(iii) निवारक निरोध विधि के अंतर्गत गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को अपनी गिरफ्तारी के विरूद्ध न्यायालय का शरण लेने का अधिकार है।

(iv) निवारक निरोध विधि के अंतर्गत यदि पर्याप्त कारण उपलब्ध हों तो 3 माह तक निरूद्ध की जा सकती है। निरूद्ध का कारण पर्याप्त है या नहीं इस संबंध में सलाहकार परिषद उचित सुझाव दे सकता है।

(v) सलाहकार परिषद् का गठन उच्च न्यायालय के वर्तमान न्यायाधीश या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किये जाने हेतु सुपात्र व्यक्तियों से होगा।

(vi) संसद निवारक निरोध के संबंध में अनुच्छेद-22 के प्रयोजनों हेतु आवश्यक विधायन कर सकेगी।

भारत के संविधान के अनुच्छेद-22 में प्रदत्त शक्तियों के प्रयोग में भारत की संसद ने 26 जनवरी 1950 को पहला निवारक निरोध अधिनियम पारित किया था। इसका उद्देश्य राष्ट्र विरोधी तत्वों को भारत की प्रतिरक्षा के प्रतिकूल कार्य करने से रोकना था यह अधिनियम एक नितांत अस्थायी कदम था इसे 1 अप्रैल 1951 को समाप्त हो जाना था। अंततः यह 31 दिसम्बर 1969 को समाप्त हुआ।

प्रथम निवारक निरोध अधिनियम 1950 के समापन के 2 वर्ष पश्चात् ही आंतरिक सुरक्षा का अनुरक्षण अधिनियम 1971 (The maintainance of internal Secusity act MISA) के रूप में नजबंदी कानून पुर्नजीवित हो गया। यह अधिनियम 1977 तक बना रहा। MISA के समापन के 2 साल के भीतर ही पुनः एक नयी निवारक निरोध विधि निर्मित की गयी इस बार इसका नाम था आवश्यक वस्तुओं की कालाबाजारी रोकना तथा उनकी आपूर्ति का संरक्षण अधिनियम (The prevention of balck marketing and maintainance of essential commadities act) पारित किया गया।

1980 में भारत के राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय सुरक्षा आदेश जारी किया इसके अतंगर्त उन व्यक्तियों को निरुद्ध किया जा सकता था जो साम्प्रदायिक या जातिगत बलवा या राष्ट्र की सुरक्षा के विरुद्ध क्षतिकारी गति विधियों में लिप्त थे। अब यह अध्यादेश (रासुका) का रूप ले चुका है। 1984 में एक अध्यादेश के द्वारा इसमें परिवर्तन किया गया है। संशोधन का उद्देश्य इसे और प्रभावपरक बनाना है। इस संशोधन के द्वारा इसका न्यायिक समीक्षा क्षेत्र और संकीर्ण हो गया। रासुका पूर्ववर्ती निवारक विधियों से एक मामले में बिलकुल भिन्न है

यह कानून अपने संरक्षण के विरुद्ध न्यायालय में शरण लेने का अधिकार देता है:

ए. के. राय बनाम भारत संघ विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने राष्ट्रीय सुरक्षा अध्यादेश तथा रासुका को संवैधानिक घोषित किया साथ ही साथ निरुद्ध व्यक्तियों के हितों के संरक्षण के लिये कुछ सुझाव भी दिये प्रमुख सुझाव निम्नलिखित है

1. निरूद्ध के यथाशीघ्र पश्चात् विरूद्ध व्यक्ति के संबधियों को उसकी निरुद्धि तथा स्थल के बारे में लिखित सुचना दी जायेगी।
2. निरुद्ध व्यक्ति को सामान्यतः उसी स्थान पर निरुद्ध किया जायेगा जहां वह सामान्यतः निवास करता हो
3. निरुद्ध व्यक्ति को अपनी पुस्तक तथा लेखन सामग्री रखने का अधिकार होगा उसे भोजन का भी अधिकार होगा सगे संबधी मिल सकेंगे।
4. निरुद्ध व्यक्ति दोषसिद्ध व्यक्तियों से अलग रखा जायेगा।
5. निरुद्ध व्यक्ति के साथ दाण्डिक प्रकृति का कोई व्यवहार नहीं किया जायेगा उसके साथ मानवीय गरिमा के साथ-साथ सभ्य मापदंडों का प्रयोग होगा।

इसी संदर्भ में आतंकवाद से निपटने की बात सामने आती है। विवित है कि आतंकवाद आज एक गंभीर विश्वव्यापी चुनौती बन चुका है भारत इससे गहरे तक प्रभावित है। इसी अर्थ में सरकार ने इससे निपटने के लिये कुछ कठोर कानून बनाये 'टाडा' व 'पोटा' ऐसे ही कानून है। टाडा का पूरा नाम-आतंकवादी तथा विहवंसकारी गतिविधियां निवारक अधिनियम 1987 (The tessorist and disruptive activities act 1987) प्रथमतः TADA 1985 में (केलव वर्ष हेतु) बनाया गया था क्रमशः इसके जीवनकाल में वृद्धि की जाती रही। टाडा का घोर दुरूपयोग हुआ क्रमशा इर्सो जीवन काल में वृद्धि की जाती रही तमाम राजनीतिक दलों तथा बुद्धिजीवियों के विरोध स्वरूप टाडा अंततः 1995 में समाप्त हो गया। इसमें पुलिस तथा सुरक्षा बलों को काफी सशक्त किया गया था जिससे इनकी निरंकुशता बहुत बढ़ गयी थी। टाडा के अंतर्गत 76 हजार लोग गिरफ्तार किये गये केवल 1 प्रतिशत ही दोषी पाये गये। 76 प्रतिशत मामलों में तो पुलिस आरोपपत्र ही प्रस्तुत नहीं कर पायी।

करतार सिंह Vs पंजाब राज्य विवाद में SC का निर्णय था कि इस कानून का प्रयोग बहुत सोच समझकर ही किया जाये। इस निर्णय के बाद टाडा की शक्ति काफी सीमित हो गयी फिर भी देश की एक ऐसे कानून की जरूरत थी जिससे मानव स्वतंत्रता नियंत्रण में रहे और उसका दुरूपयोग न हो इसी अर्थ में पोटा का अभ्युदय हुआ। अंततः 1997 में टाडा समाप्त कर दिया गया किन्तु विभिन्न राज्यों के पुलिस महानिदेशक मंत्रिमण्डल के सदस्य तथा गृहसचिव बार-बार यह मांग करते रहे कि एक ऐसे कानून की जरूरत तो है ही जिसे आंतकी अनियंत्रित गतिविधियों पर नियंत्रण पाया जा सके। अतः समुचित विधायक की आवश्यकता महसूस की गयी इस प्रकार टाडा के समापन के पश्चात् उसके विकल्प की तलाश न जारी है फलतः अपराध सुधार संशोधन विधेयक लगाया गया किन्तु यह पास नहीं हो सका तत्पश्चात् गृह मंत्रालय ने विधि आयोग को आतंकवाद विरोधक विधेयक प्रारूप बनाने को कहा, आयोग ने एक प्रारूप तैयार भी किया। राज्यों की राय मांगी गयी चार राज्यों को छोड़कर सभी ने सहमति दी मानवाधिकार आयोग को भी प्रारुप दिखाया गया अंततः केन्द्र शासन ने आतंकवाद निरोधक अध्यादेश 2001 (पोटो-1) जारी कराया। 25 अक्टूबर 2001 से प्रभावी यह कानून 30 दिसम्बर 2001 को समाप्त हो गया। पोटो के भारी विरोध को देखते हुये केन्द्र सरकार इसे संसद में प्रस्तुत न कर सकी। अतः केन्द्र शासन के पास एक नया अध्यादेश जारी करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं था। परिणामतः पोटो-2 का नया संस्करण दिसम्बर 2001 में लाया गया।

जम्मू-कश्मीर सहित यह विधान पूरे भारत गणराज्य में प्रभावी रहा। यह अधिसूचित तथा जनजातीय क्षेत्रों पर भी लागू है। विदेश में निवास कर रहे भारतीय नागरिक भी इसकी परिधि में रहे। यह एक विवादस्पद अध्यादेश रहा है। अनेक राजनीतिक दल, पत्रकार, बुद्धि जीवी तथा समाजसेवी इस का यह कहकर विरोध करते रहे कि यह तो टाडा से भी अधिक निरंकुश व अत्याचारी कानून है।

जहां तक पोटो की आवश्यकता का प्रश्न है तो यह विवादस्पद विषय है इसके पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। चलिये पक्ष के तर्क की बात करें।

(i) आतंकवाद एक विश्वव्यापी संकट है इससे कठोरता से निपटना न केवल हमारी आवश्यकता है बल्कि राष्ट्रीय कर्तव्य भी है।

(ii) राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा के लिये कठोरता संभव विधि भी न्यायोचित ही होगी।

(iii) आतंकवाद के वर्तमान स्वरूप के परिप्रेक्ष्यस में विशेष विधि ही एक मात्र विकल्प होगी। राष्ट्र की सामान्य विधि में इससे निपटने के सक्षम उपाय नहीं है। बेहतर अन्वेषण आतंकवादियों की कारगर पहचान आतंकवादियों के सम्पर्क सूत्र, उनके वित्तीय संसाधन, हथियार भण्डार एवं समापित कार्यप्रणाली को देखते हुये विशेष विधि तथा विशेष न्यायालय दोनों ही अपरिहार्य है

(iv) किसी भी कठोर विधि का दुरूपयोग संभव है। टाडा का दुरुपयोग हुआ भी है पोटो का भी हो सकता है अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस कानून की समीक्षा करके संशोधनोपरांत इसके दुरुपयोग की संभावना को न्यूनतम स्तर पर लाया जायें। किन्तु ध्यान रहे ऐसे प्रयास उसे धारहीन या कुंछ न कर दें।

(v) हो सकता है कि पोटो आतंकवाद के निवारण में सफल न हो किन्तु इसके परिणाम निश्चित रूप से उत्साहवर्धक होंगे।

(vi) अमेरिका, आस्ट्रेलिया, मलेशिया, चीन, इण्डोनेशिया और यूरोपीय देशों में आतंकवाद से निपटने की विधियां बनायी जा चुकी हैं अथवा ऐसे प्रयास चल रहे हैं अतः हमें भी ऐसे कठोर कानून बनाने चाहिये।

(vii) भारत में अनेक पड़ोसी देशों यथा पाकिस्तान, अफगानिस्तान, तिब्बत बांग्लादेश, श्रीलंका नेपाल तथा मध्य-पूर्व के राष्ट्रों से भारी संख्या में लोग आते जाते हैं ऐसी स्थिति में अतिरिक्त सावधानी बरतना उचित रहेगा पोटो यहां लाभदायक हो सकता है।

(viii) संशोधन के बाद इस कानून की कठोरता में कमी आयी है दुरुपयोग की संभावनाये भी घटी है। यह पुलिस बल के व्यापक अधिकारों को सीमित करते हुये न्यायलय की शक्ति में वृद्धि करता है फिर इसे लागू करने में क्या दिक्कत है।

(ix) यह एक अस्थायी कानून है इसे केलव 3 वर्ष की अवधि के लिये ही लागू किया गया है। उद्देश्य की पूर्ति के बाद यह स्वतः समाप्त हो जायेगा। राजनीतिक स्वार्थों के लिये राष्ट्रहित का बलिदान उचित नहीं है अतः पोटो जरूरी है।

जब हम विपक्ष की बात करते हैं तो

(i) राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग कहता है आतंकवाद से निपटने के लिये पहले से ही बनायी गयी विधियॉ कम नही है जरुरत है उनके प्रभावी उपयोग की फिर पोटो की जरुरत ही कहां रहेगी। एक बात और राज्यों में आतंकवाद से ग्रासित प्रत्येक राज्य में आतंकवाद से निपटने के लिये कारगर कानून मौजूद है, जम्मू कश्मीर और उ.प्र. के राज्यों के पास 'अशांत क्षेत्र

अधिनियम है। रोजर्मरा की जरूरते बाधित न हो इसके लिये आवश्यक सेवा अधिनियम (Esma) है इसके अलावा भारतीय दंड संहिता तथा अपराध संहिता की अनेक धाराये है जो अपराध नियंत्रण में काफी कारगर है। पुन: कुछ राज्यों के पास संगठित अपराध से निपटने के लिये कुछ कानून है फिर पोटो की क्या जरूरत हैं

(ii) पोटो एक काला कानून है जो मानवाधिकारों का लगभग हनन कर देता है यह टाडा का ही अवतार है अत: टाडा की ही भांति इसका भी दुरूपयोग किया जायेगा। एक बात और केवल कानून बनाने से ही बात थोड़ी बन जायेगी कानून का कठोरता से लागू किया जाना जरूरी है। यहां पर खास ध्यान देना पड़ेगा अत: आतंकवाद से राष्ट्रीय स्तर पर निपटने के लिये अलग से कानून की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

(iii) पोटो UNO द्वारा स्वीकृत मानवाधिकारों का उल्लंघन करता है आतंकवाद के नाम पर बनाये जाने वाले कठोर कानून गैर नागरिको तथा शरणार्थियों के लिये विश्वव्यापी समस्या खड़ी कर देगा।

(iv) यदि वास्तव में केन्द्र सरकार को आतंकवाद से निपटने की चिंता है तो वह उन कारकों पर विचार करे जिसके कारण आतंकवाद में वृद्धि हो रही है पोटो क्या कर सकता है।

(v) विभिन्न राज्यों में आतंकवाद का स्वरूप भिन्न-भिन्न है अत: इसके विरुद्ध कोई समरूप विधि नहीं बनायी जा सकती। पोटो वास्तव में एक राजनैतिक हथकंडा है इसके पीछे राजनैतिक दलों का राष्ट्रवाद का शोर मचा कर हित साधने का लक्ष्य है। सरकार ने पहले ही यह घोषित कर रखा है कि जो लोग पोटो का विरोध कर रहे है वे राष्ट्रविरोधी है।

(vi) हमें व्यवस्थागत सुधार पर खास ध्यान देना होगा। चुस्त खुफिया तंत्र, त्वरित जांच तथा दक्ष कमांडो के बिना हम आतंकवाद के विरुद्ध प्रभावी नहीं हो सकते। अपराधियों के प्रत्यर्पण के लिये अंतर्राष्ट्रीय कानून काफी लचर है इनमें काफी सुधार की गुंजाइश है यदि से सुधार हो जाये तो पोटो की जरूरत नहीं पड़ेगी।

पोटो को काला कानून क्यों कहा जा सकता हैं इस पक्ष में अधोलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं

1. पोटो में आतंकवाद की परिभाषा बहुत व्यापक होते हुये भी अस्पष्ट है अत: इसके दुरूपयोग की काफी संभावनाये हैं। अनेक ऐसी गतिविधियॉ जो वास्तव में आतंकवादी नहीं है इसकी परिधि में लायी जा सकती है।
2. धारा 48(7) के अंतगर्त जमानत पाना बहुत ही कठिन है। पोटो की धारा 48(5) अग्रिम जमानत का भी प्रतिषेध करती है। गिरफ्तार किया गया व्यक्ति तब तक जमानत पर नहीं छूट सकता जब तक कि न्यायालय को यह विश्वास करने का कारण नहीं हो कि अभियुक्त आरोपित अपराध का दोषी नहीं है। यह सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों की अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा धारा 9(3) के भी विरुद्ध हैं
3. धारा 3(8) तथा धारा 14 आतंकवादी सुचना न देने के आधार पर किसी व्यक्ति को 3 वर्ष तक के कारावास तथा असीमित अर्थदण्ड से दंडित किया जा सकता है, पत्रकार भी इस परिधि में आते है।
4. धारा 32 के अंतर्गत पुलिस को दी गयी संस्वीकृति साक्ष्य में ग्रहण की जा सकेगी, इस प्रकार पुलिस बर्बरता एवं यातना में वृद्धि होगी। निष्ठापूर्वक अन्वेषण करके वास्तविक अपराधी को पकड़ने के बजाय पुलिस शार्टकट अपनाते हुये किसी भी व्यक्ति से बलात् संस्वीकृति प्राप्त कर सकती है।
5. पोटो के अंतर्गत किसी भी संगठन को आसानी से आतंकवादी संगठन कहते हुये उसे प्रतिबन्धित किया जा सकेगा। केवल अधिसूचना जारी करके ही किसी संगठन या व्यक्ति की संपत्ति जब्त करना संभव हो जायेगा। पोटो के अंतर्गत इस प्रकार 23 संगठन प्रतिबंधित घोषित किये गये और भी हो सकते हैं।
6. धारा 4 के अंतर्गत अभियुक्त के विरुद्ध अनेक प्रकल्पनायें की जा सकेंगी इस प्रकार अभियोजन के लिये कार्यवाही सरल हो जायेगी किन्तु अभियुक्त के लिये यह बहुत कठोर दण्ड होगा।
7. धारा 25(3) और भी गंभीर है, यह गवाहों की पहचान तथा उनके पते को गुप्त रखने की स्वतंन्त्रता देती है इसका परिणाम यह होगा कि अभियुक्त जिरह करने के परिणाम से वंचित हो जायेगा।
8. पोटो राज्य आतंकवाद स्थापित करता है। आतंकवाद के समापन के लिये राज्य आतंकवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रो. ब्राइस डिक्सन ने उ. आयरलैंड के आतंकवाद विरोधी कानून के बारे में कहा था कि जब तक यह और अच्छी तरह नहीं दिखाया जाता कि साधारण आपराधिक कानून आतंकवाद के खिलाफ क्यों नहीं लागू किया जा सकता तब तक सरकार के ऐसे कानून लागू करने के दावे खोखले ही माने जायेगे। इस प्रकार कह सकते हैं कि पोटो एक काला कानून है। पोटो-1 की समय सीमा

30 दिसम्बर 2001 को समाप्त हो चुकी है। विपक्षी दलों के भारी विरोध के कारण इसे संसद में पारित नहीं कराया जा सका। अब सरकार के पास ऐसा ही दूसरा कानून लाने के सिवा कोई दूसरा विकल्प नहीं था। परिणामत: कुछ लचीले रूख के साथ पोटो-II लाया गया। मार्च 2002 में उसका भी आस्तित्व समाप्त हो गया फिर भी सरकार की आतंकवाद विरोधी नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया हैं इस अर्थ में 'उल्फा' प्रवर्तन में है।

प्र. **अल्पसंख्यक कौन है? भारतीय संविधान में इनके संबंध में कौन-कौन से उपबंध हैं? संविधान के अंतर्गत इन्हें कौन-कौन से अधिकार दिये गये हैं उदा. सहित स्पष्ट करें?**

अथवा

भारतीय संविधान के अनु. 30 का विवेचन करें। इस प्रावधान को लेकर प्राय: विवाद उठ खड़े होते हैं, क्यों? कभी-कभी कुछ समुदाय स्वयं को अल्पसंख्यक घोषित करने की भांग क्यों करते हैं।

उ. भारतीय संविधान 'अल्पसंख्यक' शब्द का जिक्र तो जरुर करता हैं परन्तु परिभाषित अर्थों में इसे कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है। इसलिये न्यायामूति एम.एम. पूंछी की अध्यक्षता में गठित न्यायालय की खण्डपीठ ने अल्पसंख्यकों के व्यवसायिक मामलों (शिक्षा संस्थाओं) में सुनवाई करते हुये अल्पसंख्यक की परिभाषा देते हुये 11 सदस्यी खण्डपीठ के गठन का सुझाव दिया था।

भारतीय संविधान के अनु. 25, 29 व 30 में अल्पसंख्यकों की चर्चा की गयी है। अनु. 25 के अनुसार सभी वर्गों को अत: करण की स्वतंत्रता और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने व प्रचार करने का हक होगा लेकिन धार्मिक स्वतन्त्रता का यह अधिकार लोक व्यवस्था, सदाचार व स्वाथ्य के अनुकूल होगा। इस अनु. के तहत् राज्य को यह छूट है कि वह धार्मिक आचरण से जुड़ी किसी लौकिक गतिविधि को विधि द्वारा विनियमित करे और हिन्दु मंदिरों को सभी वर्गों के लिये खोलने का उपबंध करे। इस अनु. में सिख, जैन व बौद्ध भी हिन्दुओं में रहेगे।

अनु. 29 के तहत् अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण से संबधित है अर्थात् इसका आशय अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करना है। इसके अनुसार राज्य के प्रत्येक नागरिक उनकी जो भी भाषा, लिपि व संस्कृति हैं, बनाये रखने की गारंटी दी गयी है। किसी भी नागरिक को राज्य-पोषित या उससे सहायता प्राप्त किसी शिक्षा संस्था में धर्म मूलवंश जाति या भाषा के आधार पर प्रवेश अधि कार से वंचित नहीं किया जायेगा।

अनु. 30 पूर्णत: अल्पसंख्यकों के अधिकारों से संबधित है। यह अनु. 23 की भांति मात्र भाषा, लिपि व संस्कृति के संरक्षण तक ही सीमित नहीं है बल्कि व्यापक है। इसके अधीन अपनी रूचि के अनुसार शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा प्रबन्धन के अल्पसंख्यकों के अधिकार में शिक्षा का माध्यम पाठ्यक्रम चलाने वाले विषय को चुनने का अधिकार होता है। अनु. 30(1) में कहा गया है कि राज्य अनुदान व सहायता बिना किसी भेदभाव के शिक्षा संस्थाओं को दे सकती है।

भारत का संविधान अल्पसंख्यक समुदाय को विशेष संरक्षण देने के लिये चिर्तित है। हमारी पंथ निरेपक्षता की अवधारणा के लिए यह आवश्यक भी है। वस्तुत: अनु. 30 में इस भावना पर जो दिया गया है कि अल्पसंख्यक समुदाय के ज्ञान विज्ञान भाषा का संरक्षण करना है। जिसका लोप हो जाने का भय है। लेकिन इस अनु. की यह कहकर आलोचना की जाती है कि अल्पसंख्यकों को तो रूचि की शिक्षा संस्था की स्थापना व पोषण का अधिकार है परन्तु बहुसंख्यकों को नहीं, आलोचना यह भी होती है कि अत प्रतिशत राज्य निधि में पोषित संस्थाओं में राज्य को किसी भी तरह के हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है।

इस संदर्भ में यह सवाल भी खड़ा किया जाता है कि अभियांत्रिकी व चिकित्सा जैसी अध्ययन की आधुनिक विधाओं में संरक्षण का क्या औचित्य है क्योंकि यह आधुनिक विधा सबके लिये समान है। यहां पर किसी की पहचान को कोई संकट नहीं है।

भारतीय संविधान द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को दिये गये अधिकारों की बजह से कई समुदाय स्वयं को अल्पसंख्यक कहलवाने के मनवाने के लिये न्यायालय का दरवाजा खटखटाने लगते हैं। उदा. के लिये आर्य समाजियों ने पंजाब में स्वंय को अल्पसंख्यक घोषित कर दिया इसी तरह पं. बंगाल में राम कृष्ण मिशन वालो ने जोर देकर यह कहा इसका हिंदू धर्म से सम्बद्ध नहीं है हमें अल्पसंख्यक सन्दर्भ में मान्यता मिलनी चाहिये। खेदजनक स्थिति यह रही कि कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इसे स्वीकार भी कर लिया। शुक है कि अपने 2 july 1995 के निर्णय में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने अपनी भूल स्वीकार करते हुये इन्हें हिन्दू धर्म का ही एक अंग माना और एक पंथ के रूप में परिभाषित किया चूंकि भारतीय संविधान अल्पसंख्यक वर्ग को परिभाषित नहीं करता अत: संकुचित सोच वाले समुदाय विशेष लोग ऐसे अवसरों के लाभ लेने की ताक में रहते हैं।

प्र. अधोलिखित पर 50-50 शब्दों में संक्षिपत टिप्पणी लिखिये

1. प्रतिषेध,

2. अधिकार पृच्छा,

3. उत्प्रेषण,

4. परमादेश,

5. बंदी प्रत्यक्षीकरण,

6. जनता के द्वारे न्याय,

7. नैसर्गिक न्याय,

8. लोक हित वाद

9. दूसरे पक्ष को सुने,

10. सुनवाई का अधिकार,

11. जानने (सूचना) का अधिकार

12. न्यायिक पुर्नावलोकन

उ.1. **प्रतिषेध :** यह एक सकारात्मक अधिकार है जो उच्च तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा जारी किया जाता है। इसके अंतगर्त अध ीनस्थ न्यायालय को अधिकार क्षेत्र अथवा सहज न्याय के सिद्धान्त के उल्लंघन को रोकने के लिये आदेशित किया जाता है। यह प्रलेख उस समय जारी किया जाता है जब अधीनस्थ न्यायालय के समझ किसी ऐसे मामले की सुनवाई लंबित हो जिसका अधिकार उसे हो ही न।

2. **अधिकार पृच्छा :** किसी सार्वजनिक अथवा विधि द्वारा सृजित पद के पदाधिकारी के विरुद्ध न्यायालय द्वारा जारी किया जाने वाला लेख अधिकार पृच्छ कहलाता है यह इस संशय पर जारी किया जाता है कि व्यक्ति ने यह पद असंवैधानिक तरीके से प्राप्त किया है, सत्य पाये जाने पर उसे अपदस्थ कर दिया जाता है यह लोक पदों को हथियाने के विरुद्ध एक शक्तिशाली उपकरण है।

3. **उत्प्रेषण :** यह न्यायिक या अर्द्धन्यायिक के विरुद्ध उच्च या उच्चतम न्यायालय द्वारा जारी किया जाने वाली लेख है, इसकी प्रकृति नकारात्मक है। इसके द्वारा किसी अभियोग को निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में लाने का आदेश दिया जाता है यह तब किया जाता है जब निम्न न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार का उल्लंघन करते हुये निर्णय भी दे दे।

4. **परमादेश :** यह प्रलेख सर्वोच्च अथवा उच्च न्यायालयों द्वारा उस समय जारी किया जाता है जब कोई सार्वजनिक या अर्द्ध सार्वजनिक वैधानिक द्वारा अपने सार्वजनिक कर्तव्यों का निर्वहन न किया जा रहा हो। यह लेख व्यक्तियों ही नही वरन् सरकार और अधीनस्थ न्यायालयों को भी जारी की जा सकती है। यह रिट राष्ट्रपति या राज्यपाल के विरुद्ध अपनी शक्तियों के प्रयोग न पालन के लिये तथा निजी निकायों या व्यक्ति के खिलाफ जारी नहीं किया जाता।

5. **बंदी प्रत्यक्षीकरण :** इसका शाब्दिक अर्थ है सशरीर उपस्थिति करना। यह प्रलेख गिरफ्तारी के विरुद्ध उपबंध करता है भारत में इसे जारी करने का अधिकार उच्च तथा उच्चतम न्यायालय दोनों को है। यह गिरफ्तार किये गये व्यक्ति निर्णयक होने के कारण संवैधानिक संबंधों की अपेक्षा गैर संवैधानिक संबंध भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार अनु. 78 कहता है कि प्रध ानमंत्री समय-समय पर प्रशासन संबधी सूचनाओं से राष्ट्रपति को अवगत कराये किन्तु इसके लिये कोई समय न तय होने के कारण स्थिति गैर संवैधानिक हो जाती है।

की प्रार्थना के आधार गिरफ्तार करने वाले अधिकारी को आदेश देती है। कि व्यक्ति को निश्चित समय स्थान पर उपस्थिति करे जिसमें उसके गिरफ्तारी के कारणों पर विचार किया जा सके। निर्दोष पाये जाने पर व्यक्ति को तत्काल रिहाई न्यायालय द्वारा प्रदान की जाती है। यह रिट उस व्यक्ति को मुक्त करने के लिये नहीं निकाली जाती जिसे न्यायालय द्वारा पहले ही कारावासित किया जा चुका है।

6. **जनता के द्वारा न्याय :** अनु. 32 के अधीन सांविधिक उपचारों के लिये केवल वही व्यक्ति आवेदन कर सकता है जिसके मूल अधिकारों का हनन हुआ हो। वर्तमान में जनहित वादों के माध्यम से अनु. 32 का विस्तार किया है। एस.पी. गुप्ता व अन्य बनाम राष्ट्रपति विवाद में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधिपति श्री पी. एन. भगवती ने कहा कि कोई व्यक्ति पत्र लिखकर भी

उपचार मांग सकता है। इसी तरह एक अन्य मामले पी. यूनियन कॉर डेमोक्रेटिक राइट बनाम भारत संघ में पी. एन. भवगती ने यह ऐतिहासिक निर्णय दिया कि न्यायाधीश के नाम पत्र लिखकर भी नागरिक अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है। यही फैसला जनता के द्वारे न्याय पहुंचने जैसा कहा जाने लगा।

अनु. 74 में राष्ट्रपति के परामर्श के लिये एक मंत्रिमंडल होती है 42वें संविधान संशोधन के पश्चातृ परामर्श बाध्यकारी हो गये लेकिन राष्ट्रपति परामर्श को पुर्नविचार के लिये वापस भेज सकते हैं ऐसी क्रिया राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के संबधों को महत्वपूर्ण बना देती है।

जहां तक परामर्शों की बाध्यता का प्रश्न है संवैधानिक स्थिति पारदर्शी नहीं है क्योंकि मंत्रिमंडल के परामर्श के पश्चात राष्ट्रपति के पास दो विकल्प है

(i) अनु. 143 के अंतगर्त सर्वोचच न्यायालय से परामर्श मांग सकते है।

(ii) अनु. 86 के अंतगर्त लोकसभा को परामर्श भेजना जिस सदन के प्रति सरकार उत्तरदायी है।

इस प्रकार वर्तमान मिली जुली राजनीति में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के संबधों में नये आयाम आये है जो संवैधानिक के साथ-साथ कारक तत्वों पर भी निर्भर करते हैं। जैसे-

1. प्रधानमंत्री के मंत्रिपरिषद के साथ संबध।

प्र. नीति निदेशक तत्वों के महत्व को प्रतिपादित करते हुये उन प्रयासों की विवेचना कीजिये जो इनकी प्राप्ति के लिये राज्य द्वारा उठाये गये। या राज्य के नीति निदेशक तत्व बाध्यकारी तो नहीं है परन्तु ये संविधान वर्णित मूल अधिकारों पर अग्रता प्राप्त करते हैं, स्पष्ट करें?

भारतीय संविधान के भाग 4 (अनु. 36-51) में राज्य के नीति निर्देशक तत्व समाहित किये गये हैं। संविधान में राज्य गठन एवं अधिकार पत्रों का ही वर्णन नहीं है वरन् वह दिशा भी निश्चित की गयी है जिनकी ओर बढ़ने की प्रेरणा राज्यों को दी गयी है। भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु नीति निर्देशक तत्वों में ऐसी बातों को समावेशित किया है ताकि लोककल्याणकारी राज्य मूर्त रूप पा सकें। ये तत्व हमारें सामने कुछ आदर्श उपस्थित करते हैं जिससे नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक, नैतिक उत्थान हो सके। वास्तविक प्रजातंत्र की रक्षा के लिये व्यवहार में सदैव इनका पालन राज्य को करना पड़ेगा।

संवैधानिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण से निदेशक तत्वों का बहुत अधिक महत्व है पहला, जैसे निर्देशक तत्वों के पीछे जनमत की शक्ति, अर्थात् कोई भी सरकार अंततः जनता के प्रति उत्तरदायी ही होती है। सरकार को निर्वाचन के समय निर्वाचकों को जवाब देना पड़ेगा। दूसरा महत्व नैतिक आदर्श के रूप में है, अर्थात् जो सर्वमान्य व सर्वहितकारी हो उसे प्राप्त करने का प्रयास, तीसरा इसका महत्व शासन के मूल्यांकन में है अर्थात् शासन की असफलता सफलता की जांच करने का मापदंड भी प्राप्त होता है। चौथा महत्व इसके द्वारा सामाजिक, आर्थिक क्रान्ति भी की जा सकती है क्योंकि निदेशक तत्व सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में जो निर्देश देते हैं वह देश समाज के हित में होता है। पांचवां महत्व संविधान की व्याख्या करने में है क्योंकि देश के प्रशासन के लिये उत्तरदायी सभी सत्तायें उसी के द्वारा निर्देशित होती हैं। एक और महत्वपूर्ण बात निर्देशक तत्वों में गांधीवादी आदर्शों को स्थान दिया गया है जिससे लोककल्याणकांरी राज्य की स्थापना में मदद मिल सकती है। कह सकते हैं कि वैधानिक महत्व न होने के बावजूद इन तत्वों की भारतीय शासन पद्धति में महती भूमिका है।

नीति निर्देशक तत्वों के क्रियान्वयन की समस्या पुलिस राज्य को कल्याणकारी राज्य और राजनीतिक लोकतन्त्र को आर्थिक लोकतन्त्र में परिवर्तित करने की समस्या है यद्यपि यह आसान कार्य नहीं है फिर भी राज्यों द्वारा इस कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया जैसे विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि, उद्योग, शिक्षा, चिकित्सा, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करने का निरंतर प्रयास किये जाना। दूसरा युवक वर्ग और बालकों के शोषक से रक्षा के लिये कानून बनाना जैसे रोजगार की सुविधा बढ़ाना तथा बेरोजगारी बीमा लागू करके, तीसरा हिन्दु कोडविल के तहत् विवाह अधिनियम 1955, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 आदि को पारित करना। चौथा अस्पृश्यता निवारण के लिये, अनु. जाति एवं पिछड़ी जातियों के लिये छात्रवृत्ति एवं अन्य सुविधा देकर उन्हें शिक्षित करना।

1971 के लोकसभा चुनाव द्वारा बैंकों का राष्ट्रीय करण, मौलिक अधिकारों को सीमित करने के लिये 24वां, 25वां व 42वां संशोधन तथा तस्करी रोकने के लिये कानून बनाना आदि कार्य किये गये। 1975 में बेधक मजूदर निवारण अधि. लाकर बंधुआ मजदूरी को समाप्त किया गया। 1977 में चुनाव में जनता पार्टी अपने घोषणा पत्र के अनुसार संपत्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया क्योंकि इससे सामाजिक आर्थिक विकास को बाधा पहुंचती थी।

इस प्रकार निदेशक तत्वों में निहित लक्ष्य को पूरा करने के लिये काफी कुछ किया गया है आगे भी राज्य अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये प्रयत्नशील है उसे मालूम है बहुत कुछ किया गया है लेकिन अत्यधिक किया जाना शेष है और भारतीय लोकतंत्र के हित में अब यह कार्य विशेष तथा सामजिक, आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने का कार्य सच्चे मन से शीघ्र अतिशीघ्र किया जाना चाहिये।

राज्य के नीति निर्देशक तत्व की घोषणायें मूल अधिकारों की तलुना में अधिक व्यापक हैं यह अलग बात है कि मूल अधिकार न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय हैं अर्थात् न्यायालय इस बात के लिये आबद्धकर है कि मूल अधिकारों से असंगत किसी विधि को शून्य घोषित करे तथा प्रपीड़ित व्यक्ति का अभिरक्षक बनकर उसके अधिकारों की रक्षा करे। जबकि नीति निर्देशक तत्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय न होने के कारण न्यायालय द्वारा किसी विधि को इस आधार पर शून्य घोषित नहीं कर सकती कि वे निर्देशक का उल्लंघन करते हैं।

चपकम दोरई राजन एवं मद्रास राज्य मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा ही निर्णय दिया था। राज्य तथा न्यायपालिका में बार-बार इस बात को लेकर मतभेद होता रहा है कि दोनों में से किसे वरीयता दी जाये। राज्य ने यह महसूस किया कि मौलिक अधिकार कल्याणकारी राज्य की स्थापना में अड़चन पैदा करते रहते हैं अनेक बार न्यायालय ने सरकार के प्रगतिशील कानूनों को इसी आधार पर अवैध घोषित करार दिया कि वे मूल अधिकारों का हनन कर रहे हैं। इसी तनावूपर्ण स्थिति को दूर करने के लिये सरकार ने 42वें सं. संशो. अधियिम द्वारा यह तय कर लिया कि नीति निर्देशक तत्वों को लागू करने के दौरान किसी कानून को मूल अधिकारों के विपरीत होने की दृष्टि से अवैध करार नहीं दिया जायेगा। अतएव 42वें से. संशो. अधिनियम ने इस नीति निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान की। भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व. पं. जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि जब मूल अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में परस्पर विरोध हो तो नीति निर्देशक तत्वों को ही वरीयता दी जानी चाहिये।

27 फरवरी 1967 को एक मुकदमे में निर्णय देते हुये सर्वोच्च न्यायालय की एक खण्डपीठ के निर्णय ने यहां तक कह दिया कि मौलिक अधिकारों और राज्य के निर्देशक तत्वों में विरोध हो ही नहीं सकता उनकी राय में मौलिक अधिकारों को सीमित किये बिना राज्य के नीति निर्देशक तत्व लागू करवाये जा सकते हैं हां हमें पहले वैसी परिस्थितियां बनानी पड़ेंगी।

यहां पर स्पष्ट हो जाना चाहिये कि न्यायालय और राजनीतिविद्ों के विचारों में कोई मौलिक अंतर नहीं हैं क्योंकि दोनों इस बात पर सहमत हैं कि सामाजिक हित के मद्देनजर संविधान के किसी भी भाग को परिवर्तित किया जा सकता है। यदि संविधान का कोई भाग सामाजिक हित से पड़ जाता है तो संशो. किया जा सकता है। संविधान के प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ संशो. तथा नवीं अनुसूची का निर्माण ऐसे ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया गया था। 42वें सं. संशो. से मूल अधिकारों की तुलना में निति निर्देशक तत्वों को वरीयता दी गयी किन्तु मिर्नवा विवाद 1980 में न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय से यह प्राथमिकता समाप्त हो गयी। लेकिन अनु. 39 में वर्णित सामाजिक व आर्थिक तत्वों के क्रियान्वयन के लिये मौलिक अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। वर्तमान में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार स्थिति यह है कि मूल अधिकार तथा निर्देशक तत्वों के बीच एक सूक्ष्म संतुलन है वे दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के मध्य संतुलन व सामंजस्य संविधान का आधारभूत ढांचा है तथा एक को दूसरे पर प्राथमिकता देना मूल ढांचे को नष्ट करना होगा। वैसे नीति निर्देश सदा प्रभावी रहे हैं फिर तो वैसी ही गति राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की भी है।

मूल अधिकार व नीति निर्देशक तत्व विवाद

भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकार की प्रकृति व स्वरूप नकारात्मक है अर्थात् राज्य अपने लोगों के इनसे वंचित नहीं करेगा यह न्यायालय में बाद योग्य है। जबकि नीति-निर्देशक तत्वों का स्वरूप सकारात्मक है अर्थात् राज्य से लोककल्याण की अपेक्षा की गयी है ये बाद योग्य नहीं हैं इस आधार पर कहा जा सकता है कि मूल अधिकार राज्य के नीति निर्देशक तत्वों पर वरीय हैं। सच है कि विवाद के समय मूल अधिकार प्रभावी होंगे लेकिन इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि नीति निर्देशक तत्व सदा दिशा बोध होकर राज्य की प्रेरणा निर्मित करते रहेगे।

काला धन एवं करारोपण अधिनियम : 2015

विदेशों में कालाधन रखने वालो के लिए कठोर सजा के प्रवधान वाला 'काला धन (अघोषित विदेशी आय एवं आस्ति) और करारोपण अधिनियम 2015 केंद्रिय विधि एवं न्याया मंत्रालय द्वारा अधिसूचित कर दिया गया। इस अधिनियम के प्रावधान उन सभी लोगो पर लागु होगे जिनके पास अघोषित विदेशी आय और संपत्तियां है। इस अधिनियम के प्रावधान 1 अप्रैल 2016 से लागू होगे। इस अधिनियम के तहत विदेशी आय और संपत्ति पर 30 प्रतिशत की दर से कर आरोपित किया जाएगा।